ओ३म्

वेदान्त दर्शन का इतिहास

वेदान्त विषयक बहिरंगपरीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्ताचार्य शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ______ आगत नं० 119636

लेखक उदय वीर

शीर्षक वेदान्त दर्शन का इतिहास

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संदस्य	दिनांक	सदस्य संख्या

भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि वेद व्यास 'वेदान्त-दर्शन' के कर्ता हैं। यह वेदव्यास कोई मध्यकालीन व्यक्ति नहीं, अपितु पर्याप्त प्राचीन आचार्य हैं। वेदान्त-दर्शन के कतिपय स्थल ऐसे हैं, जिनसे बौद्ध, जैन, पाशुपत और पाञ्चरात्र आदि मतों की मान्यताओं का निराकरण उद्भासित होता है। इस उद्भास के आधार पर पाश्चात्य विद्वान् वेदान्त दर्शन को बौद्ध-जैनोत्तर काल की कृति मानते हैं। श्री पं. उदयवीर शास्त्री ने अपनी कृति वेदान्तदर्शन का इतिहास के अध्यायों में ऐसे समस्त स्थलों की चीरफाड़ की है।

अतिदीर्घ ऊहापोह के पश्चात् पंडित जी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वेदान्त दर्शन के कर्त्ता सुप्रसिद्ध बादरायण वही व्यक्ति हैं जिन्होंने महाभारत की रचना की और जो 'वेद व्यास' और 'कृष्ण द्वैपायन' नामों से भी प्रख्यात हैं। इस ग्रन्थ में नाना पक्ष-विपक्षों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये एक दिशा सुझाई है।

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं। इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

ओ३म्

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

१०

वेदान्तदर्शन का इतिहास

[वेदान्तविषयक बहिरंग-परीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ]

विद्याभास्कर, वेदरत्न
उदयवीर शास्त्री
न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

हमारे यहाँ से प्रकाशित लेखक द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

१. न्यायदर्शन भाष्य
२. वैशेषिकदर्शन भाष्य
३. सांख्यदर्शन भाष्य
४. योगदर्शन भाष्य
५. मीमांसादर्शन का विद्योदय भाष्य
६. ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन भाष्य)
७. सांख्यदर्शन का इतिहास
८. सांख्य सिद्धान्त
९. प्राचीन सांख्य सन्दर्भ
१०. वेदान्तदर्शन का इतिहास
११. वीर तरंगिणी (लेखों का संग्रह)

ग्रन्थावली के ११ खण्डों का मूल्य : २०००.००

मूल्य : २००.००

प्रकाशक :
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९९१

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय,
सुभाषपार्क एक्सटेंशन, दिल्ली-३२

ओ३म्

ग्रन्थकार का निवेदन

वर्तमान काल में वेदान्तदर्शन की कुछ भी चर्चा कहीं चलती है, अथवा कोई चिन्तन इस विषय में किया जाता है, तो सर्वप्रथम मस्तिष्क में आचार्य शङ्कर का नाम उभर आता है। वेदान्त के साथ आज शङ्कर का इतना गहरा सम्बन्ध जोड़ लिया गया है, जैसे इन दोनों का ऐकात्म्य हो गया हो। इनमें से किसी एक को छोड़कर केवल दूसरे की चर्चा मानो अधूरी रह जाती है। ऐसी भावना में डूबा हुआ विचारक वेदान्त के मूल सूत्रकार बादरायण को भी दृष्टि से ओझल कर बैठता है। वहाँ पहले शङ्कर आसन पर विराजमान रहता है, बादरायण का नाम कहीं बाद में ही याद आता है।

इसका विशेष कारण है; वह है—बादरायण-सूत्रों की वास्तविक मूल-भावना को आचार्य शङ्कर द्वारा दिया गया एक विशिष्ट मोड़; अपने काल की सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल तात्कालिक भारतीय भावनाओं की रक्षा के लिए आचार्य शङ्कर का प्रबल प्रयास। उस मोड़ के प्रचार-प्रसार एवं स्थिरता के लिए आचार्य शङ्कर ने भारत के चारों कोनों में अपने चार मठों की स्थापना की, जो आज तक उस दिशा में बराबर प्रयत्नशील रहे हैं। अब तो उनकी शाखा-प्रशाखाओं के रूप में मठों की संख्या सैकड़ों को पार कर गई हो, तो आश्चर्य नहीं। इसी का परिणाम है, आज हम वेदान्त और शङ्कर को एक-दूसरे में अन्तर्हित हुआ जैसा पाते हैं।

वेदान्तसूत्रकार बादरायण—भारतीय परम्परा में आध्यात्मिक जीवन का बड़ा महत्त्व है। भारत के ऋषि-मुनि, आचार्य, सद्गृहस्थ सदा इस दिशा में निष्ठावान् रहे हैं। आध्यात्मिक चिन्तन में साहित्य के नाम पर उपनिषदों के अनन्तर वेदान्तसूत्रों का ही स्थान है। इनके रचयिता आचार्य बादरायण हैं, यह तथ्य सूत्रों के आधार पर निश्चित होता है। बादरायण कब हुए, कहाँ हुए, यह विषय विवादास्पद समझा जाता है; और यह भी कहा जाता है कि बादरायण का प्रादुर्भाव तथा उसके द्वारा सूत्रों की रचना, भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के अनन्तर मानी जानी चाहिए।

भारतीय परम्परा में यह बात दृढ़मूल है कि सूत्रों के रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास मुनि हैं। अध्यातम की गुरु-परम्परा में सूत्रकार के स्थान पर वेदव्यास कृष्ण

द्वैपायन का नाम लिया जाता है। इनका प्रादुर्भाव महाभारत-युद्ध-काल से पूर्व हुआ। ये युद्धकाल और उसके अनन्तर भी कुछ समय तक विद्यमान रहे। इसी कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का अपर नाम बादरायण है। द्वीप-अयन उसके जन्मस्थान का द्योतक है, और बादर-अयन कार्यक्षेत्र का।

बदरी वन में वेदव्यास का विशाल शिक्षा-केन्द्र था। बदरी वन से उपलक्षित प्रदेश में निवास के कारण वेदव्यास का बादरायण नाम प्रसिद्ध हुआ। वहीं पर वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र की रचना की गई। यह एक भावुकता की बात है कि ऐसी आन्तरिक भावनाओं से प्रेरित होकर दक्षिण देश—केरल में उत्पन्न होकर भी आचार्य शङ्कर ने उसी [बदरी] प्रदेश में निवास करते हुए इन सूत्रों पर भाष्य की रचना की। यह प्रदेश अब भी बदरीनाथ अथवा बदरिकाश्रम नाम से पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत रचना में किया गया है। ऐसा कथन नितान्त भ्रान्त है कि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से अतिरिक्त कोई व्यक्ति 'बादरायण' नाम का था, जिसका प्रादुर्भाव बुद्ध भगवान् के प्रादुर्भाव के अनन्तर हुआ, और उसी ने इन सूत्रों की रचना की।

सूत्रों के भाष्यकार—वर्तमानकाल में ब्रह्मसूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य आचार्य शङ्कर का उपलब्ध होता है। परन्तु यह एक प्रमाणित तथ्य है कि शङ्कर से पूर्व इन सूत्रों पर अनेक भाष्य लिखे जा चुके थे। उनमें से कुछ भाष्य तो ऐसे थे, जो भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव-काल से भी पूर्व लिखे गये। इन व्याख्याकारों की परम्परा के कतिपय आचार्यों का यथोपलब्ध विवरण इस इतिहास-ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। साधन-सामग्री की मात्रा अत्यल्प होने पर भी उतने के आधार पर जो परिणाम प्रकाश में आये हैं, किसी विशिष्ट पक्ष की भावना का परित्याग कर उन्हें स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

सन्देह की स्थिति से पर्याप्त दूर रहकर लेखक इस परिणाम पर पहुँचा है कि शङ्कर के पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों की जो भावनाएँ सूत्रार्थ के विषय में थीं, अथवा रही होंगी, उनमें पर्याप्त परिशोधन व परिवर्त्तन आचार्य शङ्कर ने अपने काल की परिस्थितियों से बाधित होकर किया। आचार्य शङ्कर के परवर्त्ती व्याख्याकारों ने तो इस दिशा को इतना तूल दिया कि उन सबको देखते हुए एक निष्पक्ष जिज्ञासु विचारक के लिए यह निश्चय करना असम्भव-सा हो जाता है कि सूत्रकार का आशय वस्तुतः किस अर्थ की अभिव्यक्ति में रहा होगा। इस भावना को दृष्टिगत रखते हुए यथासम्भव यथावसर ऐसा विवेचन प्रस्तुत रचना में किया गया है, जो ऐतिहासिक तथ्यों पर उपयुक्त सीमा तक प्रकाश डालता है।

इतिहास की दृष्टि से प्रस्तुत रचना का लक्ष्य कुछ सीमित रक्खा गया है। वेदान्तविषयक समस्त इतिहास का बहुत अधिक विस्तार है। इस विषय की रचनाओं का लेखा ही बहुत लम्बा है। फिर अध्यात्म के सन्तों की परम्परा भी

कम लम्बी नहीं। इन विषयों पर अनेक विद्वानों द्वारा—अपने विचार, प्रतिभा व जानकारी के अनुरूप—पर्याप्त साहित्य का निर्माण किया गया है; उन्हीं विषयों को दुहराना अधिक उपयोगी नहीं। इसी कारण प्रस्तुत रचना में मुख्य रूप से केवल दो विषयों पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है—(१) सूत्र व सूत्रकार; (२) सूत्रों के भाष्यकार, वे भी आचार्य शंकर व उसके पूर्ववर्त्ती भाष्यकार।

(१) पहली संख्या के पेटे में सूत्र, सूत्रकार तथा सूत्रों में संस्मृत प्राचीन आचार्यों को अन्तर्हित कर लिया गया है।

(२) दूसरी संख्या के पेटे में आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्त्ती लगभग बारह आचार्यों का उल्लेख हुआ है। उनके विषय में जो अल्प विवरण प्राप्त किये जा सके, उनको यथामति विचारपूर्वक प्रस्तुत कर दिया गया है। इस विषय का अधिक भाग आचार्य शंकर के विवरण का है। इसमें भी शङ्कर के काल के विषय में अधिक विस्तृत विवेचन है।

वेदान्त के साम्प्रदायिक साहित्य तथा सन्त-परम्परा का विवरण देना इस रचना का लक्ष्य नहीं रक्खा गया।

ग्रन्थ का कलेवर—मुख्य विवेच्य विषय और उसके अङ्गभूत विषय का निरूपण पन्द्रह अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। यद्यपि इस विषय का और अधिक विस्तार हो सकता था, पर जहाँ तक हो सका है, यथाज्ञात विषयों को संक्षेप में ही अभिव्यक्त कर देने का प्रयत्न किया गया है। विद्वानों द्वारा एतत्सम्बन्धी अधिक आलोडित विषयों की यथासम्भव उपेक्षा भी कर दी गई है। पन्द्रह अध्यायों का स्थूलरूप से प्रतिपाद्य विषय निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्याय—ब्रह्मसूत्र-विवेचन।
द्वितीय अध्याय—ब्रह्मसूत्र-रचयिता कौन ?
तृतीय अध्याय—ब्रह्मसूत्रों का वेदव्यासकर्तृत्व और पाणिनि।
चतुर्थ अध्याय—ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल।
पंचम अध्याय—आर्हत, पाशुपत, पाञ्चरात्र-मत निराकरण।
षष्ठ अध्याय—अध्यात्म की प्राचीन आर्ष परम्परा।
सप्तम अध्याय—ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य द्वैत अथवा अद्वैत में।
अष्टम अध्याय—ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार (१)।
नवम अध्याय—ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार (२)।
दशम अध्याय—आचार्य शङ्कर और उसकी गुरु-परम्परा।
एकादश अध्याय—आचार्य शङ्कर का काल।
द्वादश अध्याय—आचार्य शङ्कर के उक्त काल में आपत्ति-विवेचन।
त्रयोदश अध्याय—आचार्य शङ्कर और बौद्ध दार्शनिक।
चतुर्दश अध्याय—भगवान् बुद्ध और बौद्ध दार्शनिकों का तथाकथित काल।

पञ्चदश अध्याय—दो विद्वानों के विशिष्ट लेख।

इन शीर्षकों के नीचे जिन विषयों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत हुआ है, पाठक विषयानुक्रम से उन्हें देख सकते हैं। समस्त ग्रन्थ में किसी भी अभिलषित विषय को अनायास देखने के लिए ग्रन्थ के अन्त में अकारादि-क्रमानुसार 'विषय-निर्देशिका' संलग्न है। अन्तिम पञ्चदश अध्याय में दो विद्वानों के विशिष्ट लेखों की अविकल प्रतिलिपि दे दी गई है। इन लेखों द्वारा उक्त विद्वानों ने आदि-शङ्कराचार्य के प्रादुर्भावकाल के विषय में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। ये लेख 'कल्याण' और 'वेदवाणी' नामक मासिक पत्रों में यथावसर प्रकाशित हुए थे। उन विचारों के स्थायित्व एवं आगे अधिक विवेचन में सुगमता व सुविधा की भावना से उनको यहाँ सम्मिलित कर दिया गया है। उन विचारों का उत्तरदायित्व विद्वान् लेखकों पर है।

मुख्य विवेच्य विषय का सार

(क) ब्रह्मसूत्रों में आचार्य शङ्कराभिमत अद्वैत की भावना स्पष्ट नहीं है।

(ख) ब्रह्मसूत्रों का रचयिता महाभारत-कालिक कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास है। उसी का अपर नाम बादरायण है।

(ग) आदि-शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव-काल विक्रम संवत् प्रारम्भ होने से ४५२ वर्ष पूर्व, अथवा ख्रीस्ट एरा से ५०९ वर्ष पूर्व है।

(घ) अश्वघोष, नागार्जुन आदि बौद्ध विद्वानों का–पाश्चात्य लेखकों द्वारा सुझाया–तथाकथित काल अशुद्ध है। उसे यदि लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व ले-जाया जाय, तो वह काल उन विद्वानों के यथार्थ काल के अधिक समीप होगा।

(ङ) भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भावकाल ख्रीस्ट एरा से लगभग पाँच सौ-छह सौ वर्ष पूर्व न होकर अठारह सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व है।

(च) किसी काल के निर्धारण में लिपि और भाषा को जो आधार बनाया गया है, काल की दृष्टि से वह केवल कल्पना है। उनके तथाकथित काल से पर्याप्त पूर्व भी लिपि और भाषा का अस्तित्व सम्भव है।

सभी विद्वान् महानुभावों तथा अनिर्दिष्ट स्नेही जनों का मुझपर बराबर कृपाभाव रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ का इस रूप में सम्पन्न होना उसी सहयोग का फल है। ऐसे सहयोग के प्रति जिस आदर व स्नेहपूर्ण भावनाओं की छाया में इस ज्ञानराशि का संकलन कर सका हूँ, उन भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों के ढूँढने में अपने-आपको पूर्ण असमर्थ पा रहा हूँ—'भावत्कं वस्तु विद्वांसो भवदङ्के निधीयते'।

—उदयवीर शास्त्री

अनुक्रमणिका

(अध्यायक्रमानुसार)

उद्भावना निराधार एवं उत्सूत्र है, अनेकान्तवाद सब दर्शनों में अभिमत ।

पाशुपतमत निराकरण सूत्रार्थ के साथ उपहास, सूत्रकार के काल में 'शैव' 'वैष्णव' आदि सम्प्रदाय न थे, 'आनुमानिकेश्वर-वाद का निराकरण उक्त सूत्रों में है' यह कथन स्वयं सूत्रकार की भावना के विरुद्ध है, सूत्रकार ब्रह्म को जगत् का उपादान नहीं बताता, उक्त सूत्रों [२।२।३७-४१] में ब्रह्म के शरीरी मानने का विवेचन है, पाशुपत सम्प्रदाय का अन्य दर्शनों पर प्रभाव-कथन सारहीन, वेदों में अनेक पत्यन्त पद ब्रह्म के वाचक, आनुमानिकेश्वरवाद किसी विशेष दर्शन से सम्बद्ध सिद्धान्त नहीं, शङ्कर का प्रयास 'बौद्धवाद' का 'ब्रह्मवाद' के रूप में कायाकल्प, क्या श्रुति और अनुमान से भिन्न प्रकार का ब्रह्म सिद्ध होता है, प्रशस्तपादभाष्य में 'महेश्वर' पद ।

पाञ्चरात्रमत-निराकरण में व्याख्याकारों का संघर्ष, इस प्रसंग में न पाञ्चरात्र मत का न शक्तिवाद का निराकरण, भागवत और पाञ्चरात्र एक ही सम्प्रदाय, भागवत नाम कैसे पड़ा, पाञ्चरात्र अवैदिक नहीं, पाञ्चरात्र संहिताओं में वेद-निन्दा नहीं, वैसे प्रसंग उपनिषद् में भी, परा-अपरा विद्या में उत्कर्षापकर्ष नहीं, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में जीव की उत्पत्ति नहीं, जीव का वैसा वर्णन शांकरमत में भी, प्रस्तुत सूत्रों का शङ्करकृत व्याख्यान सर्वथा उत्सूत्र, चार्वाकदर्शन का जीव-उत्पत्तिविषयक निराकरण सम्भव, प्रसंग का निगमन ।

आर्यों का देव-असुर विभाग, आर्य फैलते हुए वर्तमान आर्यावर्त में आ गये, अध्यात्म और अधिभूत के उपासक देव और असुर वर्ग की विशेषता, अध्यात्मभावनाओं के प्रभाव में ब्रह्मसूत्रों की रचना, आर्षपरम्परा के प्राचीन आचार्य— **आचार्य आत्रेय** (महाभारत में आत्रेय नाम के अनेक ऋषियों का उल्लेख, निर्गुणब्रह्म-प्रवक्ता आत्रेय, आत्रेय-मत का ज्ञान बादरायण को कैसे, जैमिनि-सूत्रों में आत्रेय-मत) ; **आचार्य आश्मरथ्य** (आश्मरथ्य भेदाभेदवादी, आचार्य शङ्कर का लेख सन्देहजनक, आश्मरथ्य के विचार से जीव-ब्रह्म का कार्य-कारणभाव कैसे जाना, जैमिनिसूत्र में आश्मरथ्य) ; **आचार्य औडुलोमि** (वाचस्पति द्वारा औडुलोमि का मतनिर्देश) ;

ओ३म्

वेदान्त दर्शन का इतिहास

प्रथम अध्याय

ब्रह्मसूत्र-विवेचन

ग्रन्थ का नाम—भारतीय दर्शनों में वेदान्त का अपना एक विशिष्ट स्थान है। 'वेदान्त' पद का तात्पर्य है—वेदादि के विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्त्व जाना जाय, उस तत्त्व का विशेषरूप से जहाँ निरूपण किया गया हो, उस शास्त्र को 'वेदान्त' कहा जाता है। इस रूप में समस्त उपनिषद् 'वेदान्त' हैं। उसी तत्त्व का उपपादन इन सूत्रों द्वारा होने के कारण इनका नाम 'वेदान्त' है। वह तत्त्व ब्रह्म है, अतः इनको 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है। उपनिषदों के 'वेदान्त' नाम में यह भावना नहीं है कि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं। उपनिषद् पद का अभिप्राय है 'रहस्य' अथवा 'निगूढ़ अर्थ'। अध्यात्मविषयक रहस्य का निरूपण वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य के विभिन्न स्थलों में बिखरा हुआ उपलब्ध होता है, उसको वहाँ से अलग कर एकत्र संकलन 'उपनिषद्' का रूप है, जो इस नाम से प्रसिद्ध है।

'उत्तरमीमांसा' अथवा 'ब्रह्ममीमांसा' आदि नामों का वेदान्त या ब्रह्मसूत्रों के लिए प्रयोग किया जाता है। 'मीमांसा' पद का अर्थ है—समन्वय की भावना से श्रुति-वाक्यों पर प्रमाणानुकूल विचार; श्रुति-सन्दर्भों की एकार्थपरता का विवेचन। जैमिनि के द्वादशाध्यायी शास्त्र में श्रुति-वाक्यों का कर्म-परक समन्वय की भावना से विवेचन प्रस्तुत हुआ है, इसी कारण वह 'मीमांसाशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि बादरायण के इस चतुरध्यायी शास्त्र के सोलह पादों में मुख्य रूप से केवल साढ़े तीन पाद में ब्रह्मविषयक श्रुतिसमन्वय का विवेचन है, तो भी इतनी समानता के आधार पर इन सूत्रों को 'मीमांसा' नाम दिया गया।

इस नामकरण का यह भी एक कारण सम्भव है कि शास्त्र के उपक्रम के थोड़े अंश को छोड़कर सर्वप्रथम इसी विवेचन को सूत्रकार ने प्रस्तुत किया है। स्वभावतः 'कर्म' के अनन्तर अध्यात्म-विवेचन का अवसर उपयुक्त समझा जाता है, इसी कारण जैमिनीय मीमांसा को 'पूर्वमीमांसा' और इन सूत्रों को 'उत्तर-मीमांसा' नाम दिया गया। पूर्व-उत्तर में ऐसी कोई भावना नहीं है कि 'पूर्व' का

'उत्तर' कोई अपना भाग या अंश हो। ये दोनों विभिन्न शास्त्र विभिन्न विषयों का उपपादन करते हैं। पूर्वमीमांसा में कर्मविषयक विवेचन के समान उत्तर-मीमांसा में ब्रह्मविषयक विवेचन होने से इसका 'ब्रह्ममीमांसा' नाम है, तथा पूर्व-मीमांसा को 'कर्ममीमांसा' कहा जाता है।

चार विद्यास्थान—प्राचीन भारतीय साहित्य में विद्या के चार स्थान[1] अथवा क्षेत्र बताये गये हैं। उनके अवान्तर विभाग कर चौदह[2] विद्याओं का भी उल्लेख है; उससे आगे और सूक्ष्म विभाग करने से विद्या की अनेक शाखा-प्रशाखाओं[3] का आचार्यों ने उद्भावन किया है; पर मुख्य रूप से मूल में विद्या के चार स्थानों का उल्लेख है—त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति, आन्वीक्षकी।

त्रयी—ऋक्, साम, यजुष् इन रचनामूलक विभागों[4] के अनुसार चार वेद त्रयी हैं। इनमें धर्म-अधर्म का निरूपण व विवेचन है। इसके अनुसार मीमांसा-शास्त्र को त्रयी का क्षेत्र [प्रयोग-स्थान] माना जाना सर्वथा उपयुक्त है।

वार्त्ता—उचित समय एवं परिस्थितियों के अनुसार कृषि, वाणिज्य, उद्योग आदि में प्रवृत्ति से सुफल व कुफल आदि का यथायथ परिज्ञान जिस विद्या के द्वारा प्राप्त होता है, वह वार्त्ता है। इसमें अर्थोपार्जन की समस्त विद्याओं का यथायथ समावेश समझना चाहिए।

---

१. **आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।**
विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥
आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।...चतस्र एव विद्या इति कौटल्यः। कौ० अ० १।२।१,८॥

२. **अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।**
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥वि०पु० ३।६।२८॥
[गो०पु० संस्करण]

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ [या० स्मृ० १।३॥]

द्रष्टव्य—नैषधीय श्लोक, १।४॥ रघुवंश, ५।२१॥ इस टिप्पणी के पहले श्लोक को नैषध के टीकाकार नारायण ने तथा रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ ने मनुस्मृति का लिखा है, परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

३. इसी के विस्तार-रूप में ६४ कलाओं का वर्णन है। द्रष्टव्य—वात्स्यायन कामसूत्र, १।३॥ निर्णयसागर बम्बई का सन् १९०० ई० का संस्करण, पृ० ३२–३४॥

४. जै० मी०, २।१।३५–३७॥

दण्डनीति—साम, दान, दण्ड, भेद ये चार उपाय तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव ये छह अङ्ग [गुण] नाम से राजनीतिशास्त्र में समझे जाते हैं। इन सबके उचित उपयोग, वास्तविक स्वरूप एवं बलाबल आदि का जिस शास्त्र में उपपादन होता है, वह दण्डनीतिशास्त्र कहा जाता है।

आन्वीक्षकी—कौटल्य के अर्थशास्त्र में बताया है—'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी' [१।२।१०]। सांख्य, योग और लोकायत ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं। यहाँ 'सांख्य' पद, कापिल दर्शन, पातञ्जल योगदर्शन तथा बादरायण का वेदान्तदर्शन इन तीनों का ग्रहण करता है, 'योग' पद न्याय-वैशेषिक का तथा 'लोकायत' पद चार्वाक आदि अन्य अवैदिक दर्शनों का बोधक है। वात्स्यायन मुनि ने 'योग' पद का प्रयोग न्यायसूत्र [१।१।२९] के भाष्य में उक्त अर्थ को प्रकट करने के लिए किया है।

वेदान्त तथा अन्य दर्शन

इस प्रकार आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत प्रायः सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है। सृष्टिविज्ञान का पूर्ण विवरण देना इन दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय है। दर्शनों के मध्यकालिक व्याख्याकारों ने अपने साम्प्रदायिक अखाड़े जमाने के लिए इनमें परस्पर विरोध को उभारकर दार्शनिक संघर्ष को जन्म दिया। दर्शनकारों की उस मूलभावना को ओझल कर दिया गया, जिससे प्रेरित होकर जिज्ञासु अधिकारियों को विभिन्न क्षेत्रों में तत्त्व का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए उन लोक-कर्त्ता महान् आत्माओं ने इन दर्शनशास्त्रों को प्रस्तुत किया। दर्शनों की मूल-भावना परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक है। भारतीय दर्शन के आस्तिक-नास्तिक भेद को सामने रखकर विचार करने पर भी यह तथ्य प्रकट होता है। आस्तिक दर्शन छह हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त। नास्तिक दर्शनों में चार्वाकदर्शन, जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शन आदि का समावेश है। संक्षेप से इनके मुख्य प्रतिपाद्य विषयों पर विचार कीजिये।

न्याय—इस दर्शन में प्रमाण-प्रमेय आदि का वर्णन है। वस्तुतत्त्व को समझाने के लिए जिस प्रणाली का आश्रय लिया जाना चाहिये, अथवा जो रीति इसके लिए अपेक्षित है, उसको समझाने और स्पष्ट करने के लिए इस दर्शन का प्रयास है। वस्तुमात्र की सिद्धि के लिए प्रत्येक स्तर पर प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है। इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। प्रमाणों की संख्या के आधार पर कदाचित् कोई विरोध की उद्भावना करे; पर यह सर्वथा नगण्य है। प्रमाणों का जो प्रकार आवश्यक रूप से अपेक्षित है, उसमें न्यूनाधिकता की कल्पना करने-वाले आचार्यों ने किसी विशेष अथवा नवीन अर्थ को प्रकट नहीं किया। प्रमाणों

की संख्या साधारणरूप में एक से लेकर आठ[1] तक मानी जाती है; पर सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुसिद्धि के लिए जो प्रकार आवश्यक रूप में अपेक्षित हैं, उनमें किसी का आंशिक समानता के आधार पर अन्तर्भाव करने तथा ऐसी ही विशेषता से स्पष्टीकरण करने पर संख्या में न्यूनाधिकता मान ली जाती है। वस्तुतः वस्तुसिद्धि के उस प्रकार की उपेक्षा नहीं की जाती। न्यायदर्शन [२।२।१-१२] में आठ प्रमाणों की उद्भावना कर उनका चार में अन्तर्भाव स्पष्ट किया है। प्रमाणों के तीन या चार प्रकार अपने मौलिक रूप में इतने आवश्यक हैं कि उनको और सीमित नहीं किया जा सकता। फलतः प्रमाणों का संख्याविषयक विरोध नगण्य ही समझना चाहिए। कोई ऐसा शास्त्र नहीं, जो 'प्रमाण' तत्त्व से नकार करता हो। केवल बुद्धि की निष्प्रयोजन कसरत करते रहना अलग बात है।

वैशेषिक—तत्त्वविषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में उस विषय की शिक्षा का उपक्रम इसी दर्शन से होता है। जीवन के सीधे सम्पर्क में आनेवाले भूत-भौतिक तत्त्वों का विवेचन इस दर्शन का विषय है। मानव-जीवन अथवा प्राणिमात्र जिस वातावरण से आवेष्टित है और अपने निर्वाह तथा अपने अस्तित्व को जब तक सम्भव हो—बनाये रखने के लिए जिन भूत-भौतिक तत्त्वों की साक्षात् अपेक्षा रखता है, उनका तथा उनके स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप एवं उनके गुणधर्मों का विवेचन करना वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसको जानकर आगे तत्त्वों की अतिसूक्ष्म अवस्थाओं को जानने-समझने की ओर प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। इसके विरोध का कहीं अवसर नहीं आता, तत्त्वविषयक जानकारी का यह एक स्तर है। वेदान्त आदि का अध्ययन भी इसके बिना अधूरा रहता है। वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय को समझने के लिए ज्ञान-साधन के इस स्तर से गुजरना आवश्यक है। वेदान्त अथवा कोई अन्य दर्शन इसका विरोध नहीं करता।

सांख्य—तत्त्वों की उन अतिसूक्ष्म अवस्थाओं और चेतन-अचेतनरूप में उनके विश्लेषण को तथा उनके वस्तुभूत भेद-ज्ञान की आवश्यकता को सांख्यदर्शन प्रस्तुत करता है। प्रमाणों से वस्तुसिद्धि तथा वैशेषिक के तत्त्वविषयक प्रतिपाद्य अंश को

---

१. प्रत्यक्ष, एकमात्र प्रमाण—चार्वाकदर्शन ; प्रत्यक्ष, अनुमान, दो प्रमाण—वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन; प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, तीन प्रमाण—सांख्य, योगदर्शन। उक्त तीन में 'उपमान' मिलाकर चार प्रमाण—न्याय तथा जैन; चार में 'अर्थापत्ति' तथा 'अनुपलब्धि' जोड़कर छह प्रमाण—मीमांसा तथा वेदान्तदर्शन। इनमें 'ऐतिह्य' और 'सम्भव' जोड़कर आठ प्रमाण—पौराणिक तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती।

अपनी सीमा में समेटे रखता है। तब न्याय-वैशेषिक के साथ उसके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। न वे दोनों सांख्य का विरोध करते हैं; उनका अपना—प्रतिपाद्य विषय का—सीमित क्षेत्र है। वेदान्त आदि के साथ सांख्य का कोई विरोध नहीं, क्योंकि वेदान्त के मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार करने से वह नकार नहीं[1] करता; और न मीमांसा—प्रतिपाद्य वर्णाश्रम-धर्मों के अनुष्ठान—का वह विरोधी है।

योग—सांख्य ने चेतन-अचेतन के जिस विश्लेषण को प्रस्तुत किया है, उसके साक्षात्कार की प्रक्रियाओं का वर्णन योगदर्शन में है। इसका विरोध कोई दर्शन नहीं करता। वेदान्त केवल ब्रह्म के अस्तित्व तथा उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करता है; वेदान्त का अध्ययनमात्र उस चेतन तत्त्व ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करा सकता; उसके लिए योग की प्रक्रियाओं तथा औपनिषद उपासनाओं का आश्रय लेना होता है। तब वेदान्त आदि के साथ इसका विरोध कैसा?

कहा जा सकता है, सांख्य-योग का न्याय-वैशेषिक के साथ सत्कार्य-असत्कार्यवाद के आधार पर विरोध कैसे उपेक्षित किया जाय? प्रत्येक दर्शन के अपने विषय-प्रतिपादन की प्रक्रिया में साधारण भेदों की उपेक्षा की जा सकती है; यदि उतना भेद न रहे, तो अन्य शास्त्र के प्रारम्भ का अवकाश ही नहीं रहता, पर सत्कार्य-असत्कार्यवाद तो एक मूलभूत सिद्धान्त है। इस विपरीत वाद के रहते इन दर्शनों में विरोध को न मानना उपहासास्पद होगा। दर्शनों के व्याख्याकारों एवं विवरणकारों ने इस वादमूलक संघर्ष को इतना तूल दिया है कि यह परस्पर-विरोध की एक प्रबल चट्टान बनकर खड़ा हो गया है।

निस्सन्देह यह वाद आपाततः विरोध की रूप-रेखा को सम्भव बनाता है; पर सूत्रकार ऋषियों ने इस विषय में अपने जो विचार दिये हैं, उन्हें गम्भीरतापूर्वक मनन करने से यह चट्टान धराशायी हो जाती है। जब केवल शाब्दिक आधार पर संघर्ष होता है, तो उसके अन्त होने की सम्भावना कम रहती है; पर उन शब्दों के द्वारा वक्ता जिस अर्थ को प्रकट करना चाहता है, उसपर ध्यान देने और अर्थ के याथातथ्य को समझ लेने से केवल शाब्दिक आधार पर उभारी गई विरोध की भावना शिथिल हो जाती है।

'सत्कार्य' और असत्कार्य' ये दोनों पद परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं।

---

१. इसके लिए देखें हमारी रचना—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ५३–६३ तथा 'सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य' सूत्र १।५७; ३।५६, ५७; तथा ५।७९।। यह सूत्र-संख्या हमारे भाष्य के अनुसार है। यहाँ पहली सूत्र-संख्या [५७] में ३५ तथा दूसरी [७९] में ३७ जोड़कर अन्य संस्करणों में सूत्र देखा जा सकता है।

देखना चाहिए, आचार्यों ने इनके द्वारा किस अर्थ को अभिव्यक्त किया है। सत्कार्यवाद का कहना है कि प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। कार्य अपनी जिस विशिष्ट आकृति आदि के साथ अभिव्यक्त होने को है, वह उसके कारणों में अन्तर्हित है। यदि ऐसा न हो, तो उनका परस्पर कार्य-कारणभाव सम्भव न होगा। कारणों में अन्तर्हित कार्यरूप को शिल्पी व कर्त्ता अनुकूल प्रक्रिया से अभिव्यक्त कर लेता है। असत्कार्यवाद का केवल इतना तात्पर्य है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व उसी अवस्था में नहीं रहता, जिस अवस्था में उत्पत्ति के अनन्तर विद्यमान रहता है। कार्य की यही अवस्था व्यवहारयोग्य है; इस दशा में ही वस्तु की अर्थक्रियाकारिता सम्भव है। फलतः व्यवहार में जब कारण को महत्त्व दिया जाय तो 'सत्कार्यवाद', और कार्य को महत्त्व दिया जाय तो 'असत्कार्यवाद' का प्रयोग होता है।

न्यायदर्शन[1] में सूत्रकार गौतम[2] ने उत्पत्ति से पूर्व कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता कारण में स्वीकार की है। यदि ऐसा न माना जाय, तो कार्य-कारण की व्यवस्था सम्भव नहीं; क्योंकि कारण में यदि कार्य का सर्वात्मना अभाव है, तो सर्वत्र अभाव के समान होने से कोई भी कार्य चाहे जहाँ से हो जाना चाहिए। इसलिये यह आवश्यक है कि किन्हीं विशिष्ट कारणों से कार्यविशेष का प्रादुर्भाव सम्भव है। कार्य के कर्त्ता या शिल्पी को पहले ही यह निश्चय होता है कि अमुक कार्य का प्रादुर्भाव किन कारणों से हो सकता है। वह उन्हीं का उपादान कर कार्य को प्रादुर्भूत कर देता है। इसी स्थिति का नाम है—कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता। सत्कार्यवाद में भी यह नहीं माना जाता कि कार्य की जो अवस्था प्रादुर्भाव के अनन्तर स्पष्ट होती है, ठीक वही अवस्था पहले रहती हो। प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य, कारणरूप से विद्यमान रहता है, पर बुद्धि में कार्य का पूर्ण आभास कार्य की अभिव्यक्ति से पूर्व भी है। इस मान्यता का केवल इतना तात्पर्य है कि वह कार्य उन विशिष्ट कारणों से ही आत्मलाभ कर सकता है। यह तथ्य दोनों वादों के आपाततः प्रतीयमान शाब्दिक विरोध को समाप्त कर देता है।

मीमांसा—योगप्रतिपाद्य प्रक्रियाओं के मुख्य साधनभूत मन अथवा अन्तःकरण की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन किया गया है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का एक केन्द्रभूत आधार है। समाज की

१. 'बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' न्या० सू० ४।१।५०॥ प्रादुर्भाव से पूर्व जिस कार्य को 'असत्' कहा जाता है, उसकी बुद्धिसिद्ध सत्ता रहती है। हम जानते हैं, यह कार्य इन्हीं कारणों में से अभिव्यक्त होगा।

२. सूत्रकार का 'गौतम' गोत्रनाम है। सांस्कारिक नाम 'मेधातिथि' था, यह महाकवि भास के 'प्रतिमा'नाटक [पञ्चम अङ्क] से ज्ञात होता है। वहाँ पद हैं—'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्'।

समस्त गति-प्रगतियों की डोर इसीके हाथ में रहती है। तब समाज के कर्त्तव्यों-अकर्त्तव्यों का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत करनेवाले मीमांसाशास्त्र का इससे विरोध कैसा ? मीमांसा समाज के लिए उन अनुष्ठानों का वर्णन करता है, जो वर्त्तमान में उसके अभ्युदय और मृत्यु के अनन्तर कल्याण के साधन हैं। वस्तुतः यह उन मनोदशाओं का प्रदीप है, जो अन्तर्निहित रहती हुई इस समाज को प्रगति दिया करती हैं।

वेदान्त—समस्त विश्व के संचालक व नियन्ता चेतन तत्त्व का वर्णन वेदान्त करता है। जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता के रूप में प्रत्येक शास्त्र ने इसे स्वीकार किया है। इसका प्रतिषेध कोई नहीं करता। वेदान्त का तात्पर्य केवल ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने और उसके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने में है; अन्य तत्त्वों के प्रतिषेध में नहीं। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अनुष्ठित उपासनाओं में ब्रह्म के उसी स्वरूप का ध्यान अपेक्षित होता है। उस स्वरूप का स्पष्टीकरण वेदान्त का मुख्य विषय है। ब्रह्मसूत्रों के वे व्याख्याकार भी—जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नहीं करते—इस बात को सिद्ध करने में असफल रहे हैं कि इन सूत्रों का तात्पर्य ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के प्रतिषेध करने में है। इससे दर्शनों में परस्पर-विरोध की भावना उन्मूलित हो जाती है।

दर्शनशास्त्रों द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत यह ज्ञान-साधन का कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम-धर्मों एवं कर्त्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन मूलभूत लक्ष्यों व सिद्धान्तों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय ही समझा जाना चाहिए। ऐसी विवेचना की छाया में अन्य भारतीय दर्शनों पर भी विचार किया जा सकता है।

नास्तिक दर्शन—उक्त विचार भारतीय दर्शनों में से केवल आस्तिक दर्शनों को लक्ष्य कर प्रस्तुत किये गये। यदि विवेचना की इसी तुला पर तथाकथित नास्तिक दर्शनों को तोला जाय और गहराई से उनका परीक्षण किया जाय, तो उन दर्शनों में भी आस्तिक कहे जाने वाले दर्शनों से कोई उत्कट अथवा मूलभूत विरोध की भावना नहीं पाई जाती, यह पर्याप्त सीमा तक स्पष्ट हो जाता है।

चार्वाकदर्शन—आस्तिक दर्शनों के समान चार्वाक अथवा जैन-बौद्ध दर्शनों द्वारा चेतन-अचेतनरूप में तत्त्वों का विवेचन किया गया है। चार्वाकदर्शन की इस मान्यता को जब हम अपने सामने विचार-कोटि में रखते हैं कि इस समस्त चर-अचर एवं जड़-चेतन जगत् का मूल आधार-तत्त्व केवल जड़ है, तब उसका तात्पर्य हमें केवल इतने अर्थ के प्रतिपादन में समझना चाहिए कि इस लोक में हमारी सुख-सुविधा और सब प्रकार के अभ्युदय के लिए सर्वप्रथम तथाकथित जड़तत्त्व की यथार्थता और उसकी प्राणि-कल्याणकारी उपयोगिता को जानना

परम आवश्यक है; उसकी उपेक्षा कर संसार में हमारा सुखी रहना सम्भव नहीं।

इस मान्यता के विरोध में चार्वाकदर्शन के सामने जब यह आशंका प्रस्तुत की जाती है कि क्या जड़तत्त्व से अतिरिक्त चेतनतत्त्व का नित्य अस्तित्व नहीं माना जाना चाहिए ? तब इसके समाधान में चार्वाकदर्शन का यही कहना है कि चेतन के अस्तित्व से उसे कोई नकार नहीं है; पर वह नित्य है, कैसा है, कहाँ से आता है, कहाँ जाता है, इत्यादि विचार-मन्थन उस समय तक अनपेक्षित है, जब तक उन तत्त्वों की यथार्थता व उपयोगिता को नहीं जान लिया जाता, जिन पर हमारा वर्त्तमान अस्तित्व निर्भर करता है। मरने के बाद क्या होगा ? इसकी अपेक्षा यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं ? वर्त्तमान जीवन के आधारभूत जड़तत्त्व की रहस्यमय वास्तविकता व उपयोगिता के जान लेने से पहले यदि हम ऐसा मान लें कि चेतनतत्त्व जड़ में से ही उभर आता है, तो इसमें क्या हानि है ? चार्वाकदर्शन का यह मन्तव्य 'अन्तिमेत्थम्' नहीं है; मानव-समाज के विचार-प्रवाह और कर्त्तव्य का एक स्तर है, इसकी उपेक्षा किया जाना मंगल का मूल नहीं। यह प्रत्यक्ष है कि प्रायः मानव करता वही है, जो चार्वाकदर्शन बताता है; पर कहता वह है, जो उस दर्शन का विषय नहीं है—यह स्थिति स्वभावतः मानव-जीवन में संघर्ष को जन्म देती है। फलतः इस दर्शन का तात्पर्य केवल इतने में है कि सर्वप्रथम हमें उन तत्त्वों को समझने व प्रयोग में लाने का प्रयास करना चाहिए, जिनको हम अपने चारों ओर बिछा पाते हैं, जो हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उससे अतिरिक्त के प्रतिषेध में उसका कोई तात्पर्य नहीं। तब किसी से विरोध की भावना का अवकाश ही नहीं रहता।

चार्वाकदर्शन में सबकुछ अमान्य, हेय एवं अवाञ्छनीय हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि तात्कालिक भारतीय समाज में—प्रतीत होता है—इस दर्शन का उग्र विरोध हुआ। सम्भवतः उसीके परिणामस्वरूप पर्याप्तकाल से चार्वाकदर्शन का कोई मूल सिद्धान्त—ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता; काल-वात के सहयोग से विरोधानल में वह भस्म हो गया, इसी कारण उनके समग्र सिद्धान्तों का विस्तृत लेखा-जोखा हमारे सम्मुख आज नहीं; फिर भी भारतीय दर्शन-वाङ्मय में विवेचन की भावना से उल्लिखित एवं विकीर्ण कतिपय चार्वाकसिद्धान्तों का मध्यकालिक विद्वानों ने चयन कर जितना संकलन कर दिया है, उससे अनन्तर-वर्त्ती विचारकों का बड़ा उपकार हुआ है। उतने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक समाज में उभरती हुई बुराइयों का विरोध इस दर्शन ने कितनी कठोरता के साथ किया। इसके लिये मृतक श्राद्ध तथा सामिष यज्ञों आदि के घोर विरोधों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन शब्दों द्वारा इनका विरोध हुआ है, वह न केवल इनकी जड़ पर कुल्हाड़े से भी अधिक आघात पहुँचानेवाला है, प्रत्युत अपने रूप में वैज्ञानिक व व्यावहारिक भी है। गम्भीरता

से देखा जाय, तो यह किसी मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त का विरोध नहीं है, प्रत्युत अपनी दुर्बलताओं से समाज में पनपती बुराइयों को उच्छिन्न करने का प्रयास था। इससे समाज के ऐहिक अभ्युदय व सुख-सुविधाओं के प्रति इस दर्शन की अनुकूल प्रवृत्ति व भावनाओं का पता लगता है।

जैन-बौद्धदर्शन—चार्वाकदर्शन की अपेक्षा इन दोनों दर्शनों में विशेषता यह है कि वे जड़तत्त्व से अतिरिक्त चेतनतत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व का उपदेश करते हैं। यह सम्भावना की जा सकती है कि इन दर्शनों के मूल प्रवक्ताओं ने विचार की दृष्टि से कुछ उन्नत जिज्ञासु जनों को तत्त्वज्ञान के इस स्तर का अधिकारी समझकर चेतन-अचेतन-तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया।

जैनदर्शन चेतन [आत्म-] तत्त्व को जहाँ संकोच-विकासशील बताता है, दूसरा दर्शन उसे ज्ञानस्वरूप मानकर क्षणिक कहता है, और उसके निर्विकार भाव को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है।

बौद्धदर्शन में विभिन्न अधिकारी-स्तर की भावना से ज्ञानरूप [अथवा विज्ञानरूप] चेतनतत्त्व का विवेचन उस स्थिति तक पहुँचा दिया गया है, जहाँ यह प्रतिपादन किया जाता है कि समस्त चराचर जड़-चेतन जगत् उस 'विज्ञान' का ही आभास है, बाह्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं; वस्तुभूत सत्ता एकमात्र विज्ञान है, भले वह क्षणिक हो। यह सम्भव है, कदाचित् मूलरूप में उसका भी वस्तुभूत अस्तित्व न हो।

इस प्रकार हम संसार के मूलतत्त्व की विवेचना व खोज करते हुए एक रहस्यमय स्थिति पर पहुँच जाते हैं। ये सब तत्त्व-विचार के विभिन्न स्तर हैं। सम्भवतः इनमें कोई एक ऐसा ठिकाना नहीं, जिसे 'अन्तिमेत्थम्' कहकर निश्चय रूप से वहाँ टिका जा सके। इससे उन-उन विचारों के मूल प्रवक्ताओं को अज्ञानी बताने का हमारा तात्पर्य नहीं है; वे वस्तुतः सर्वज्ञ-कल्प रहे होंगे; उनके वैसे उपदेश में लोक-कल्याण की भावना अधिक हो सकती है। फलस्वरूप चेतन-अचेतन का यह विवेचन जो इतने अनेक प्रकारों में प्रस्तुत किया गया है, इसमें परस्पर-विरोध की भावना न होकर जिज्ञासु अधिकारी के कल्याण की भावना अधिक है।

आस्तिक-नास्तिक दर्शन के भेद का कारण ईश्वर अथवा ब्रह्म-तत्त्व की मान्यता-अमान्यता कहा जा सकता है। आस्तिकदर्शन उसके अस्तित्व को सब प्रकार से स्वीकार करते हैं, जबकि दूसरे नहीं। इसी आधार पर उनका यह नाम-भेद हुआ। दूसरा कारण वेदप्रामाण्य को स्वीकार करना, न करना है। परन्तु यह पहले कारण पर आश्रित है। वेद को माननेवाले उसे ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। जिन्होंने ईश्वर को न माना, वे ईश्वरीय ज्ञान वेद को और उसके प्रामाण्य को क्यों मानेंगे ?

हमारा विचार है कि तथाकथित नास्तिकदर्शन के मूल प्रवक्ताओं ने ईश्वर —अथवा ऐसी चेतन परमशक्ति, जो समस्त संसार का नियन्त्रण करती है—के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। उनकी रचनाओं से ऐसा अवगत होता है कि उन्होंने किन्हीं विशेष परिस्थितियों से बाधित होकर वैसा प्रवचन किया। वे परिस्थितियाँ चाहे जिज्ञासु जनों की योग्यता पर आधारित रही हों, अथवा ईश्वर या वेद के माननेवालों द्वारा अपनी मान्यताओं को अन्यथा प्रस्तुत करने से उत्पन्न हुई हों, या तात्कालिक सामाजिक प्रवृत्तियाँ आदि अन्य कारण रहे हों। ऐसा प्रतीत होता है कि उस-उस काल के लोककर्त्ता व्यक्तियों ने ईश्वर या तत्सम्बन्धी मान्यताओं को अवाञ्छनीय सामाजिक संघर्ष का अनवेक्षित कारण समझकर लोगों को समझाया हो, कि भाई! इन अदृश्य अज्ञेय तत्त्वों को थोड़े समय के लिए एक ओर रहने दो, अपने वर्त्तमान जीवन को सुधारो, सबके कल्याण के लिए सदाचार पर ध्यान दो, परस्पर सहानुभूति से रहना सीखो; उससे हमारा यह लोक सुखमय होगा, और परलोक भी। ऐसे आचरणों से ईश्वर तक भी पहुँचा जा सकता है। उन्होंने समाज के सदाचार पर अधिक बल दिया; इसकी तब अपेक्षा रही होगी। वस्तुतः इसकी अपेक्षा सदा रहती है। उन प्रवक्ताओं का तात्पर्य ईश्वरास्तित्व के नकार में नहीं समझना चाहिए। तब इन दर्शनों में ऐसे विरोध की भावना नहीं रह जाती।

स्थिति यह है कि अनन्तर-काल में उन-उन विचारों के अनुयायियों ने आदि-प्रवक्ता के तात्पर्य को यथार्थ रूप में न समझते हुए परस्पर विरोध की भावना को उभारने में सहयोग दिया। धीरे-धीरे ऐसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती गईं; कालान्तर में उन्होंने विभिन्न वर्ग, सम्प्रदाय अथवा पन्थ का रूप धारण कर परस्पर-विरोधी अखाड़ों के रूप में स्थायिता प्राप्त कर ली। प्रत्येक विचार के व्याख्याकार विद्वानों ने उसी रूप में अपने विषय के विशाल साहित्य का सर्जन किया। उसमें कारण चाहे उनके कोई निजी स्वार्थ रहे हों अथवा अन्य कारण हों, यह कहना कठिन है; पर आज हम उसी आदर्श के आधार पर मूल तत्त्व-विवेचना को परखने का प्रयास करते हैं। निश्चित है, मूल उद्देश्य से हम बहुत दूर भटक गये हैं। आदि-प्रवक्ताओं के जनकल्याणकारी लक्ष्य, विचारों की इन काली-पीली आँधियों में तिरोहित हो चुके हैं। तत्त्व की खोज में यही भावना हमें सचाई के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा सकती है कि सृष्टि के इस अनवरत प्रवाह में वे सब विचार अपने स्थान व अपने स्तर पर ठीक हैं, सत्य से अधिधारित हैं। उनमें छिपे यथार्थ को उभार लाने में आज तक जो सफल प्रयास किये गये हैं, उनसे चेतन और अचेतन के यथार्थ सत्यस्वरूप को समझने में पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है।

विचारों के अवतरण की इस छाया में यह स्पष्ट समझ आता है कि सृष्टि-

विषयक तत्त्व-ज्ञान के उस लम्बे मार्ग के अपेक्षित विभिन्न अंशों अथवा अंगों का विस्तृत विवेचन अपनी उपयोगी भूमिकाओं के साथ विभिन्न शास्त्रों में प्रस्तुत किया गया है, जो सब मिलाकर पूरे मार्ग के सत्यस्वरूप को प्रकट करता है। उसीके अनुसार वेदान्तदर्शन में समस्त ब्रह्माण्ड के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता सर्वशक्ति चेतनतत्त्व ब्रह्म के अस्तित्व का शास्त्र-समन्वय तथा ऊहापोह-पूर्वक प्रतिपादन है। इसी कारण इस शास्त्र को 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है।

वेदान्तदर्शन का इतिहास लिखे जाने के प्रसंग में यह लम्बी प्रस्तावना इसी भावना से दी गई है कि हम दर्शनों के मूल प्रवक्ताओं की यथार्थ आन्तर भावना को समझने के लिए प्रयास करने में अपनी अभिरुचि को जागृत कर सकें। मूल-रूप में दर्शनों का प्रवचन पारस्परिक विरोध को उभारने व बहलाने के लिए नहीं हुआ, प्रत्युत तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित लोककर्त्ता महान् पुरुषों ने अपेक्षित तात्त्विक विज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए विशुद्ध जन-कल्याण की भावना से वैसा प्रयास किया। अन्तर्हित तत्त्वों को विभिन्न उपायों द्वारा अभिव्यक्त करने व समझाने का प्रयास ही तो 'दर्शन' है। वस्तुतत्त्व एकरूप हो सकता है। उसमें विभेदों व विभिन्न रूपों की कल्पना, उसकी वस्तुसत्ता से हमें दूर भटका देती है। साक्षात्कृतधर्मा ऐसा उपदेश करें, यह विश्वास नहीं होता। यदि करते हैं, तो कहना चाहिए—उन्होंने यथार्थ का उपदेश नहीं किया। तब क्या यह सब लोक-प्रवञ्चनामात्र है? ऐसे कथन में पूरा सन्देह प्रकट करता हूँ। उन साक्षात्कृतधर्मा पुरुषों ने जन-मानस को समान मार्ग पर ले चलने का प्रयास किया है; पर कालान्तर में नैसर्गिक मानव-सुलभ वैषम्य से अभिभूत व्याख्याकारों ने मूल दर्शन-प्रवक्ताओं की भावना को उपेक्षित कर अपनी भावनाओं को प्राधान्य दिया। उसकी सफलता के लिए महान् प्रयासों के आटोप में सचाई दफ़ना दी गई।

ब्रह्मसूत्रों की रचना पर हमें इसी भावना से विचार करना चाहिए कि यहाँ ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उपपादन किया गया है। उसके लिए जिन उपायों अथवा साधनों का प्रयोग किया है, उनका तात्पर्य केवल ब्रह्मस्वरूप की यथार्थता को अभिव्यक्त करने में है; किसी अन्य दर्शन अथवा सर्गक्रम के अन्य स्तर की किसी वास्तविकता का प्रतिषेध करने में नहीं है। ब्रह्मसूत्रों के जिन व्याख्याकारों ने ऐसा किया है, उसके अनुसार ब्रह्म का जो स्वरूप अभिव्यञ्जित होता है, न वह शास्त्रीय है न तर्कानुमोदित। दूसरे व्याख्याकारों द्वारा अनेक मार्गों में उसे चुनौती दी गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह मूलसूत्रानुसारी भी नहीं है। तब सूत्रों की भावना को अभिव्यक्त करना अधिक अपेक्षित होता है। किन्हीं भी व्याख्याकारों की भावनाओं से अभिभूत न होकर स्वतन्त्र रूप से सूत्रों का विवेचन किस मार्ग पर ले जाता है, ब्रह्म के कैसे स्वरूप को अभिव्यक्त करता है,

यह देखना-परखना भी इस रचना का उद्देश्य है।

किसी साहित्य का सर्जन अपने काल के प्रभाव से अछूता नहीं रहता। इस कारण सूत्रों की आन्तर भावना, उसके प्रतिपाद्य की वास्तविकता को परखने के लिए यह आवश्यक है कि पहले यह निश्चय किया जाय कि इन सूत्रों की रचना कब हुई? रचना के काल का निर्णय करने के लिए रचयिता का निश्चय करना आवश्यक है। रचयिता और उसके काल का निश्चय हो जाने पर सूत्र-रचना-काल स्वतः निर्णीत हो जाता है।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मसूत्र-रचयिता कौन

इस विषय का मन्थन अनेक विद्वानों द्वारा अभी तक पर्याप्त मात्रा में हो चुका है। वह कदाचित् इतना अधिक हुआ है कि 'नवनीत' तक्र में ही घुल गया है। एक जिज्ञासु विचारक उस मन्थन पर दृष्टि डालता है, पर किसी एक निर्णय की दिशा में निराश रह जाता है। यह स्थिति प्रस्तुत विषय पर अधिक उपयुक्त विवेचन के लिए प्रत्येक विचारक को प्रेरित करती है।

ब्रह्मसूत्रों में नौ[1] स्थलों पर 'बादरायण' नाम का निर्देश जिस रूप में किया गया है, उससे यह संकेत मिलता है कि इन सूत्रों का रचयिता 'बादरायण' है। इस मान्यता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं हुई। आचार्य बादरायण का प्रादुर्भाव किस काल में हुआ? इसके कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं होते। इसके साथ सूत्र-रचयिता के विषय में भारतीय परम्परा के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इन सूत्रों की रचना की। यह अन्वेष्य है कि ब्रह्मसूत्रकार के रूप में वेदव्यास का कहीं निर्देश अथवा संकेत उपलब्ध होता है या नहीं। बादरायण के काल अथवा वेदव्यास के विषय में अन्य विवेचन करने से पूर्व यह एक बड़ी समस्या सन्मुख है कि ये दोनों विभिन्न व्यक्ति हैं अथवा एक ही व्यक्ति के ये दो नाम हैं? यदि इस विषय पर उपयुक्त प्रकाश पड़ सके, तो इनके काल आदि का निर्णय करने में बहुत सहयोग प्राप्त हो सकता है। यदि ये एक व्यक्ति के दो नाम हैं, तो निश्चित ही इसका काल महाभारत-काल के साथ द्वापर के अन्तिम भाग में माना जा सकता है। पर इस मान्यता को कतिपय आधुनिक[2] विद्वानों ने बड़ी आरभटी के साथ चुनौती दी है।

---

१. ब्रह्मसूत्र १।२।२६, ३३।। ३।२।४१।। ३।४।१, ८, १६।। ४।३।१५।। ४।४।७, १२।।

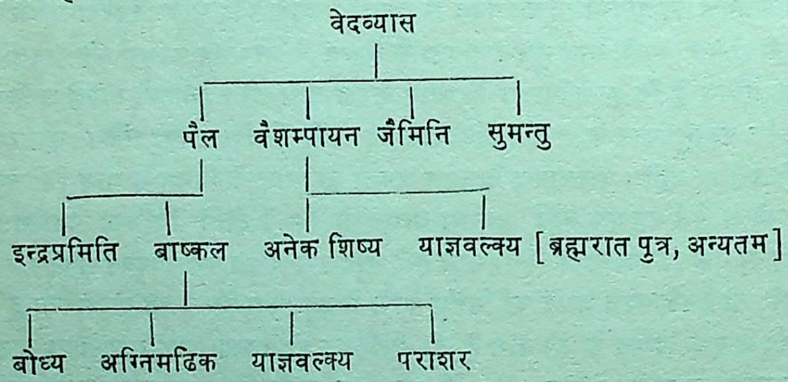
२. डॉ० रामकृष्ण आचार्य, 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० १३–१७। डॉ० कीथ, A History of Sanskrit Literature, पृ० ४७५।

इनका कहना है कि ब्रह्मसूत्रों में अनेक ऐसे दार्शनिक वादों का खण्डन होने से—जिनका महाभारत-काल में अस्तित्व प्रमाणसिद्ध नहीं है, तथा ऐसे ही अन्य अनेक कारणों से—यह निश्चित है कि ब्रह्मसूत्रकार महाभारत-काल से वहुत अनन्तर-काल में होना चाहिए; उस काल के भी अनन्तर जो बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन का प्रखर काल माना जाता है। इसलिये एक ही व्यक्ति के ये दो नाम होना सम्भव नहीं। फलतः महाभारतकार कृष्ण द्वैपायन महाभारत-काल में रहे हों, पर ब्रह्मसूत्रकार बादरायण का समय बौद्धदर्शन के प्रादुर्भाव से अनन्तर होना चाहिए। इस विचार की पुष्टि के लिए डॉ० रामकृष्ण[1] आचार्य ने अपनी रचना में अनेक युक्तियों एवं प्रमाणों का एकत्र उल्लेख किया है। देखना चाहिए, इन आधारों पर तथ्य कहाँ तक प्रकाश में आया है। पहली युक्ति अवान्तर विभेदों के साथ इस प्रकार है—

"१ (अ) वेदव्यास को सूत्रकार मानने पर स्वयं परम्परा के अनुसार विरोध पड़ता है, क्योंकि सूत्रकार ने बृहदारण्यकोपनिषद् में संकलित याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की मीमांसा की है और परम्परा के अनुसार उक्त याज्ञवल्क्य वेदव्यास की शिष्य-परम्परा में तीसरी या चौथी पीढ़ी में आते हैं।"

[विष्णुपुराण, ३।४ के आधार पर]

विष्णुपुराण [३।४।७–१८] में वेदव्यास की शिष्य-परम्परा का निर्देश इस प्रकार है—



१. 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० १३–१७। इन विचारों को माननेवाले विभिन्न विद्वानों का यहाँ उल्लेख नहीं किया, अपेक्षित भी नहीं। किसी के खण्डन-मण्डन की भावना का यहाँ लेशमात्र भी भाव नहीं, केवल वस्तुतत्त्व की विवेचना मुख्य लक्ष्य है, जिससे सचाई की खोज की जा सके। इसलिये जहाँ ये विचार संकलित उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया है; इसमें वे सभी ज्ञात-अज्ञात विद्वान् आ जाते हैं, जो इन विचारों को मानते हैं।

यहाँ वेदव्यास के दो शिष्यों—पैल और वैशम्पायन—की शिष्य-परम्परा दिखलाई है, जिसमें दो याज्ञवल्क्य पृथक् निर्दिष्ट हैं। एक ऋग्वेदशाखाध्यायी है, जो पैल की तीसरी पीढ़ी में है, और वेदव्यास की चौथी। यह ध्यान देने की बात है इस याज्ञवल्क्य का साथी एक पराशर भी है। निश्चित है कि यह पराशर वेदव्यास का पिता नहीं हो सकता; यह इस नाम का अन्य व्यक्ति है। इसी प्रकार दो जगह निर्दिष्ट याज्ञवल्क्य भी एक व्यक्ति नहीं होना चाहिए। वैसे भी इनमें एक ऋग्वेदशाखाध्यायी है, दूसरा यजुर्वेदशाखाध्यायी। पहला वेदव्यास-शिष्य-परम्परा की चौथी पीढ़ी में है, दूसरा तीसरी पीढ़ी में। डॉ० आचार्य की अन्तिम पंक्ति अपनी संदिग्ध स्थिति को अभिव्यक्त करती है, यह कहकर कि याज्ञवल्क्य वेदव्यास की शिष्य-परम्परा में तीसरी या चौथी पीढ़ी में आता है। जिस याज्ञवल्क्य का बृहदारण्यक उपनिषद् से सम्बन्ध सम्भव है, वह तीसरी पीढ़ी का हो सकता है।

अब विचारना चाहिए, इस याज्ञवल्क्य का बृहदारण्यक उपनिषद् से क्या सम्बन्ध है? विष्णुपुराण के उक्त प्रसंग से आगे पाँचवें अध्याय में याज्ञवल्क्य-विषयक उल्लेख उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है–वैशम्पायन ने यजुर्वेद की सत्ताइस[1] शाखाओं का प्रवचन किया और अनेक शिष्यों को उसने इन सबका अध्ययन कराया। उनमें ब्रह्मरात का पुत्र याज्ञवल्क्य नामक एक शिष्य था। किसी घटना पर गुरु वैशम्पायन उससे रुष्ट हो गये। गुरु ने कहा, जो कुछ तुमने मुझसे सीखा है, उसे यहीं छोड़ दो और चले जाओ, अब तुम्हारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। याज्ञवल्क्य अधीत शास्त्र का परित्याग[2] कर चला गया।

विष्णुपुराण के श्लोक में कथन है कि रुधिर से सने मूर्त्त यजुषों को छर्दन

---

१. वर्त्तमान में यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा मानी जाती हैं—'एकशतमध्वर्युशाखाः' [महाभाष्य, पस्पशा०]। इसमें पन्द्रह 'शुक्ल' तथा छियासी 'कृष्ण' परिगणित हैं। वैशम्पायन द्वारा प्रोक्त सत्ताइस शाखा कौन-सी हैं, इसका उल्लेख यहाँ नहीं है। 'कृष्ण' शाखाओं में वे कोई-सी होनी चाहिएँ। इससे प्रतीत होता है, शाखा-विभाजन बहुत पूर्वकाल में हो चुका था। वैशम्पायन आदि उनमें से किन्हीं का केवल अध्यापन आदि कराते थे।

२. इस विषय में विष्णुपुराण के शब्द इस प्रकार हैं—

इत्युक्तो रुधिराक्तानि सरूपाणि यजूंषि सः।
छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ स स्वेच्छया मुनिः॥—३।५।१२॥

ऐसा कहे जाने पर उस मुनि याज्ञवल्क्य ने रुधिर से सने मूर्त्त यजुषों को उगलकर गुरु के लिए दे दिया, और अपनी इच्छानुसार चला गया।

[वमन = उगल देना] कर याज्ञवल्क्य ने गुरु को दे दिया। अगले श्लोक[1] में है कि याज्ञवल्क्य द्वारा परित्यक्त [विसृष्टानि] यजुषों को तित्तिर होकर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने ग्रहण किया, इस कारण वे तैत्तिरीय कहलाये गये। इस कथन में कतिपय निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(क) यजुःश्रुतियों का रुधिर से सना होना।
(ख) इनका मूर्त्तरूप [सरूपाणि] होना।
(ग) ज्ञानरूप यजुषों का उगलना या वमन करना।
(घ) अन्य शिष्यों द्वारा तित्तिर होकर उसे ग्रहण करना।

(क) इस प्रकार के कथन में ऐतिहासिक तथ्य क्या हो सकता है, यह विचारणीय है। कारण यह है कि 'वेद' ज्ञानरूप है। वैशम्पायन ने यजुर्वेद की जिन शाखाओं का याज्ञवल्क्य को अध्ययन कराया, वे वही सत्ताइस अथवा उनमें से कतिपय शाखा हो सकती हैं, जिनका प्रवचन वैशम्पायन ने किया। उस अधीत ज्ञान अथवा श्रुतियों का रुधिर से सना होना क्या है? यह किसी प्राचीन लेख से स्पष्ट नहीं होता। यह किसी प्रकार सम्भव नहीं कि परित्याग किया अधीत ज्ञान अथवा श्रुति-समुदाय शारीरधातु रुधिर से सना हुआ हो। विष्णुपुराण में इस ज्ञान के परित्याग के लिए जिन पदों का प्रयोग किया गया है, उनके आधार पर यह कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य ने अधीत यजुषों को वमन कर गुरु को दे दिया [छर्दयित्वा ददौ तस्मै]। चिन्तनीय है कि ज्ञान अथवा अधीत श्रुतिसमुदाय के वमन का क्या तात्पर्य हो सकता है? निश्चित ही भुक्त अन्न आदि के समान ज्ञान का वमन होना सम्भव नहीं। भुक्त अन्न आदि का आधार उदर तथा ज्ञान का आधार मस्तिष्कगत आत्मतत्त्व है। अन्न आदि के वमन में भौतिक रुधिर का सम्मिश्रण सम्भव है, ज्ञान के वमन [परित्याग] में ऐसा कहना या समझना सर्वथा अवैज्ञानिक तथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

तब उक्त कथन का यही तात्पर्य सम्भव है कि जिस ज्ञान को खून-पसीना एक करके याज्ञवल्क्य ने प्राप्त किया, उसका अब उसे परित्याग करना पड़ रहा है। खून-पसीने की कमाई को छोड़ने के अवसर पर उक्त पदों द्वारा ऐसी भावना का प्रकट किया जाना उपयुक्त है। इसी अभिप्राय से यजुषों का 'रुधिराक्त' होना कहा जा सकता है। शरीर रुधिर धातु से ज्ञानरूप वेद का सना हुआ होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। फलतः विष्णुपुराण के वर्णन के आधार पर ऐसा समझना सर्वथा निराधार है कि याज्ञवल्क्य ने अधीत यजुषों का 'वमन' अन्नवमन के समान किया, और वह शारीर धातु रुधिर से सना हुआ था।

---

१. **यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज।**
जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः॥ ३।५।१३॥

(ख) उक्त विवेचन के आधार पर हमें यजुषों के मूर्त्तरूप कहे जाने की भावना को समझने में सहयोग प्राप्त होता है। ग्रन्थ अथवा पुस्तक के रूप में उस ज्ञान को मूर्त्तरूप कहना सर्वथा व्यर्थ होगा। ग्रन्थ को लौटा देने पर भी उसमें निहित ज्ञान का विशेषज्ञ व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उसका चाहे जब उपयोग कर सकता है; फिर वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य को केवल यजुषों के ग्रन्थ दिये हों, और उनको वह वापस माँग रहा हो, ऐसी बात नहीं है। उसका आग्रह अथवा आदेश तो यजुषों के रूप में अधीत ज्ञान को छुड़वा देने का है। याज्ञवल्क्य का उस ज्ञान को मूर्त्तरूप में छोड़ने का यही तात्पर्य हो सकता है कि वह उसका कदापि उपयोग नहीं करेगा। न वह किसी को उसका अध्ययन करायेगा, न उसका प्रचार व व्याख्यान आदि द्वारा विस्तार करेगा। भविष्यत् में उस ज्ञान का सर्वथा उपयोग न करना ही मूर्त्तरूप से उसका परित्याग है। अध्ययन-अध्यापन आदि में ज्ञान का सतत उपयोग उसका मूर्त्तरूप माना जा सकता है, अन्य कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य ने उसी का परित्याग किया। भुक्तान्न के वमन के समान अन्य कोई मूर्त्तरूप ज्ञान का सम्भव नहीं।

(ग) ज्ञानरूप यजुषों का उगलना या वमन करना किस रूप में सम्भव है, इसपर उक्त विवेचन से उपयुक्त प्रकाश पड़ जाता है। पुराण के उक्त प्रसंग में 'छर्दि' धातु का प्रयोग सर्वथा परित्याग कर देने के अर्थ में हुआ है। वस्तुतः अन्य के कहे व बतलाये को उसी रूप में उलटकर कह देने के अर्थ में इस धातु का प्रयोग होता है। इसी भाव को स्वयं विष्णुपुराण में आगे 'विसृष्टानि' पद 'यजूंषि' का विशेषण देकर स्पष्ट किया है। जैसा पढ़ा था, उसी तरह गुरु के सामने उलट दिया, उसका कभी किसी तरह का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा के साथ गुरु को वापस दे दिया। यही छर्दन [वमन] का तात्पर्य है। इन्हीं पदों से पुराण में कहा— 'छर्दयित्वा ददौ तस्मै' [३।५।१२], उलटकर वह ज्ञान गुरु को दे दिया। आज भी ऐसी भावना को प्रकट करने के लिए हिन्दी में लोकोक्ति है, उसने बात को बहुत छिपाना चाहा, पर मैंने उससे सब उगलवा लिया है। इसी को अन्य प्रकार से कहा जाता है—आखिर मार पड़ने पर उसने अपने-आप सब उगल दिया। यह 'उगलना' या 'उगलवाना' अन्नादि के समान 'वमन' नहीं है, प्रत्युत किसी जानकारी को बाहर निकालना या निकलवाना है।

साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग अनेकत्र देखे जाते हैं। महाकवि कालिदास ने 'गॄ' [निगरणे] धातु का प्रयोग—दूसरे व्यक्ति के कथन व उपदेश को उसी रूप से उलट देने [उलटकर कह देने] के अर्थ में किया है। रघुवंश के चौदहवें सर्ग में प्रसंग है, लोकापवाद से त्रस्त राम ने सीता को जंगल में वाल्मीकि के आश्रम के समीप छुड़वा देने का संकल्प किया। एकान्त में सब भाइयों से अपना संकल्प प्रकट किया, और लक्ष्मण को यह कार्य कर देने का आदेश दिया। कुछ काल पूव

सीता ने जंगल में जाने की दोहद भावना प्रकट की थी। इसी बहाने को सामने कर लक्ष्मण एक दिन सीता को रथ में बैठाकर वाल्मीकि के आश्रम की ओर जंगल में ले गया। अभी तक लक्ष्मण ने सीता के सन्मुख उसे जंगल में लाने के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट नहीं किया था। जंगल में आ, नाव द्वारा गंगा पार कर वाल्मीकि-आश्रम के समीप पहुँच, लक्ष्मण ने सीता को वहाँ लाने का यथार्थ उद्देश्य प्रकट किया। उसने राम के कहे उन्हीं शब्दों को दुहरा दिया, जो राम ने सीता के विषय में लक्ष्मण को आदेश-रूप में कहे थे। कालिदास ने इसके लिए 'महीपतेः[1] शासनमुज्जगार' पदों का प्रयोग किया है—राजा के आदेश को उगल दिया। 'उज्जगार' क्रियापद का अर्थ मल्लिनाथ ने 'उद्गीर्णवान्' लिखा है। उगल देने के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ इसका है नहीं। शासन [आज्ञा, आदेश] का उगल देना यही है कि जो शब्द राम ने कहे, उन्हीं को लक्ष्मण ने सीता के सन्मुख कह दिया; अपनी ओर से उसमें कुछ भी सम्मिश्रण नहीं किया। ऐसा ही भाव याज्ञवल्क्य-सम्बन्धी गाथा में 'छर्दन' का है। इतना विशेष है कि यहाँ उसके सर्वथा परित्याग कर देने की भावना है। किसी भी जगह खाद्य आदि के वमन के समान स्थिति नहीं है।

(घ) ऐसी दशा में यह समझने के लिए कोई कठिनाई नहीं रहती कि वैशम्पायन के अन्य शिष्यों द्वारा तित्तिर होकर उस वान्त [परित्यक्त] ज्ञान को ग्रहण करने का क्या तात्पर्य होना चाहिए। वमन को चाटना यह एक घृणित वर्णन है। कहा जाता है कि ब्राह्मण होकर वमन को चाटना सम्भव न था; ब्राह्मण के लिए यह एक अति निन्दनीय कार्य हो सकता है, इसलिये वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिर बनकर उस वान्त को चाटा।

न केवल ब्राह्मण के लिए, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वान्त को चाटना-जैसा कार्य अत्यन्त घृणित है। तित्तिर बनकर चाट लेने से ब्राह्मणत्व सुरक्षित रह गया, ऐसा कहना या समझना केवल एक भ्रान्त धारणा से मन को बहलाना मात्र है। फिर यह भी सर्वथा अप्रामाणिक तथा कल्पनामात्र है कि वैशम्पायन के ब्राह्मण शिष्य तीतर बन बये, और वान्त को चाटकर फिर ब्राह्मण हो गये। ऐसी निराधार बात को कौन विचारशील व्यक्ति मान सकता है? इस घटना में ऐतिहासिक तथ्य इतना हो सकता है कि याज्ञवल्क्य ने जिन यजुःशाखाओं को वैशम्पायन से पढ़ा था, उनका सर्वथा परित्याग कर दिया; पर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने याज्ञवल्क्य से परित्यक्त शाखाओं का पूर्ववत् अध्ययन तथा आगे अध्यापन व प्रचार-प्रसार आदि कार्य जारी रखा। इसी स्थिति को काव्य का रूप देनेवाले

१. **अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित् सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः।**
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥ [१४।५३]

व्यक्तियों ने उक्त रूप में वर्णन किया है। इस दिशा में यह भी विचारणीय है कि कृष्णशाखाओं में केवल एक संहिता 'तैत्तिरीय' नाम से निर्दिष्ट की जाती है, अन्य संहिताओं के--उनके प्रवक्ताओं आदि के आधार पर—विभिन्न[1] नाम हैं। फलतः विष्णुपुराण के इस याज्ञवल्क्य-सम्बन्धी वर्णन से यह परिणाम निकलता है कि याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से यजुषों की जिस शाखा का अध्ययन किया था, वह तैत्तिरीय शाखा थी; गुरु के आदेश पर शिष्य [याज्ञवल्क्य] ने न केवल उसी शाखा के अध्यापन आदि का परित्याग कर दिया, प्रत्युत उस वर्ग की समस्त शाखाओं के अध्ययनाध्यापन के परित्याग का प्रण कर लिया।

यजुषों की समस्त शाखाओं का विभाजन वैशम्पायन तथा वेदव्यास आदि के काल से पर्याप्त पहले हो चुका था। तैत्तिरीय संहिता का प्रवक्ता भी 'तित्तिर' नामक ऋषि था, जिसका उल्लेख पाणिनि ने एक सूत्र [अष्टा० ४।३।१०२] में किया है। ब्राह्मणों के 'तित्तिर' बनने की कल्पना सर्वथा निराधार है। विष्णुपुराण के लेख का ऐसा तात्पर्य समझना उसके साथ अन्याय है। पाणिनि के उसी सूत्र में एक अन्य शाखा-प्रवक्ता ऋषि 'वरतन्तु' का उल्लेख है। कालिदास[2] के वर्णन के अनुसार यह ऋषि राजा रघु के काल में था। अयोध्या के इक्ष्वाकुवंश में महाराज रघु श्री राम के पूर्वजों में थे। महाकवि कालिदास ने वरतन्तु का नाम मन्त्रकृत्[3] (मन्त्रद्रष्टा) ऋषियों में लिखा है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के प्रवक्ता ऋषियों में 'वरतन्तु' भी एक थे, जिनकी प्रोक्त शाखा 'वारतन्तवीय' नाम से प्रसिद्ध है। राजा रघु का काल महाभारत-युद्ध अथवा कौरव-पाण्डव-युद्ध से अतिप्राचीन है। कालिदास का वर्णन साधार माना जाने पर यह निश्चित है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के काल से बहुत पहले वेद की शाखाओं का प्रवचन अथवा विभाजन हो चुका था। वेदव्यास ने अपने काल में उसका पुनः संस्करण अथवा सम्पादन किया, तथा शिष्यों द्वारा उनके अध्ययनाध्यापन एवं प्रचार-प्रसार आदि का आयोजन किया।

---

१. कृष्णयजुःशाखाओं के छियासी भेदों [यजुर्वेदस्य षडशीतिभेदा भवन्ति, च० व्यू०२] में से निम्नलिखित कतिपय नाम विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कापिष्ठलकठ, चारायणीय, वारतन्तवीय, श्वेत, श्वेततर, औपमन्यव, पाताण्डिनेय, मैत्रायणीय। मैत्रायणीयों के अवान्तर भेद छह—मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, हारिद्रवीय, श्यामायनीय। चरकों की विशेष शाखा तैत्तिरीय है। तैत्तिरीयों के दो अवान्तर भेद हैं—औखीय, खाण्डिकीय। खाण्डिकीयों के पाँच भेद हैं—आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी, शाटचायनी।

२. रघुवंश, ५।१-२०॥

३. रघुवंश, ५।४॥

वैशम्पायन के शिक्षा-केन्द्र में यजुषों की सत्ताइस[1] शाखाओं के अध्ययनाध्यापन का प्रबन्ध था। ये सब शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद की थीं। शुक्ल यजुः की शाखाओं के अध्ययन का वहाँ कोई प्रबन्ध न था; यह विष्णुपुराण के वर्णन से स्पष्ट है, जहाँ बताया गया है कि याज्ञवल्क्य के गुरु [वैशम्पायन] को उस वेद का ज्ञान न था,[2] जिसका अध्ययन बाद में याज्ञवल्क्य ने किया। इस वेद का अध्ययन याज्ञवल्क्य ने आदित्य नामक आचार्य से किया। विष्णुपुराण के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य ने आकाशस्थित भौतिक आदित्य-मण्डल की तपस्या द्वारा उससे यजुषों का ज्ञान प्राप्त किया। आदित्य ने उस समय अश्व का रूप धारण कर उपदेश दिया, इसी कारण इस वेद का नाम 'वाजसनेय' है।[3]

विष्णुपुराण का यह वर्णन उसी रीति के अनुसार है, जिसे किसी वस्तुतत्त्व के वर्णन में पुराणकर्त्ताओं द्वारा प्रायः अपनाया जाता रहा है। किसी घटना को सीधा न कहकर अद्भुत चमत्कारपूर्ण रीति पर प्रस्तुत किया जाता है। जैसे तित्तिर ऋषि के नाम से ब्राह्मणों के तीतर बन जाने की कथा घड़ ली गई, ऐसे ही आदित्य द्वारा यजुर्वेद के अध्यापन की घटना को यह रूप दिया गया। यह सम्भव है, ऋषि का नाम 'आदित्य वाजसनि' रहा हो। संस्कृत-साहित्य में व्यक्ति-नाम को भी उसके पर्यायवाची पदों के द्वारा प्रयोग करने में कोई अनौचित्य नहीं माना जाता; इसी कारण 'आदित्य' के स्थान पर दिवाकर, रवि, सूर्य, विवस्वान्, भास्कर आदि पदों का प्रयोग खुले रूप में हुआ है, और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक आकाशस्थित भौतिक तेजोमण्डल समझ उसी रूप में उसका वर्णन कर दिया गया है। नाम के 'वाजसनि' अंश को लेकर सूर्य को उपदेश के लिए 'अश्व' का रूप धारण कर लेने की कल्पना में कोई संकोच नहीं किया गया। ध्यान देने की बात

---

१. यजुर्वेदतरोश्शाखाः सप्तविंशन्महामुनिः।
वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै॥
शिष्येभ्यः प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेऽप्यनुक्रमात्॥ [वि० पु० ३।५।१-२]

२. याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम्।
यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ॥
एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः।
अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः॥ [वि० पु० ३।५।२७-२९]

३. यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तम।
वाजिनस्ते समाख्याताः सूर्योऽप्यश्वोऽभवद्यतः॥ [वि० पु० ३।५।२]

विष्णुपुराण के इस प्रसंग में यह उक्ति पराशर की मैत्रेय के प्रति है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस पुराण के प्रवक्ता यहाँ पराशर ऋषि हैं।

है, जब आकाशस्थित सूर्य उपदेश के लिए 'अश्व' बन गया, तब पृथिव्यादि लोकों को प्रकाश कौन दे रहा होगा ? फिर क्या सूर्य का 'अश्व'-रूप धारण करना किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से सिद्ध किया जा सकता है ? क्या यह भी सम्भव है कि अश्व के रूप में वेदों का शुद्ध उच्चारण व अध्यापन हो सके, तथा उसी रूप में वेदप्रतिपाद्य गम्भीर तत्त्वों का उद्घाटन किया जा सके ?

वस्तुतः यह सब चमत्कृत वर्णन पौराणिक कल्पनाओं का परिणाम है। तथ्य इतना ही समझना चाहिए कि याज्ञवल्क्य जब एक ऐसे शिक्षाकेन्द्र से बहिष्कृत हो गया, जहाँ केवल कृष्ण यजुषों के अध्यापन का प्रबन्ध था, तब उस घटना की पृष्ठभूमि का स्मरण कर उसने संकल्प किया कि अब ऐसे शिक्षाकेन्द्र में अध्ययन करना उचित होगा, जहाँ दूसरे वर्ग की शाखाओं का अध्यापन कराया जाता हो। इसके परिणामस्वरूप वह 'आदित्य वाजसनि' के शिक्षाकेन्द्र में चला गया, और गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा कर उसने उस वेद का अध्ययन किया, जिसको वैशम्पायन ने न पढ़ा था, न उसके शिक्षाकेन्द्र में उसके अध्यापन का प्रबन्ध था।

अयातयाम-यजुष्

याज्ञवल्क्य द्वारा अधीत यजुषों को यहाँ 'अयातयाम' क्यों कहा गया ? विचारणीय है। अभी तक ये यजुष् लोक में विदित नहीं थे, ऐसी बात नहीं; इस समय से बहुत पहले के साहित्य[1] में, यहाँ तक कि वेदों में[2] भी यजुष् का स्पष्ट निर्देश है। इसलिए ये यजुष् लोक में अभी तक अविदित थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनकी अयातयामता अथवा नवीनता याज्ञवल्क्य के लिए इसी आधार पर सम्भव है कि याज्ञवल्क्य ने अभी तक यजुषों की केवल कृष्णवर्ग की शाखाओं का अध्ययन किया था, शुक्ल वर्ग से वह अपरिचित था; उसने पहले-पहल इसका अध्ययन किया, इसी कारण उसके लिए यह सब 'अयातयाम' था। वह जिस परम्परा में अभी तक पढ़ता रहा, वहाँ यजुषों के इस वर्ग के अध्ययनाध्यापन का प्रबन्ध न था, क्योंकि वह वर्ग दूसरी परम्परा का अनुयायी था।

यजुषों में कृष्ण और शुक्ल का भेद उनमें केवल ब्राह्मणभाग के मिश्रण और अमिश्रण के आधार पर है। शुक्ल यजुर्वेद में, जिसे वाजसनेयिसंहिता अथवा माध्यन्दिनसंहिता कहा जाता है—दर्श-पौर्णमास आदि सब यज्ञों में उपयुक्त होने-वाले मन्त्रों का यथायोग्य क्रम निर्दिष्ट है, अर्थात् दर्श आदि यागों में यजुर्मन्त्रों का उपयोग यथायोग्य उसी क्रम से होता है, जो क्रम शुक्ल यजुर्वेद में है; उसमें ब्राह्मणभाग का सांकर्य नहीं है। अतः उक्त यज्ञों के अनुष्ठान में याज्ञिकों को इसके

---

१. वा० रा०, ४।३।२८॥
२. ऋ० १०।९०॥

अनुसार कोई व्यामोह अथवा किसी प्रकार का भ्रम या असामञ्जस्य नहीं होता, इसी आधार पर इन यजुषों को 'शुक्ल' कहा जाता है। यजुषों के दूसरे वर्ग में ब्राह्मणभाग के सम्मिश्रण अथवा सांकर्य के कारण याज्ञिकों को अनुष्ठानकाल में केवल मन्त्रभाग का यथायथ उपयोग करने के लिए अनेक प्रकार की असुविधाएँ सामने आती हैं। मन्त्रों का अनुक्रम भी यज्ञिय अनुष्ठान के अनुरूप वहाँ नहीं है, इस कारण उनके आधार पर यज्ञानुष्ठान का मार्ग दुर्ज्ञेय हो जाता है; इसीलिए उनको यह 'कृष्ण' नाम दिया गया है। इन नामों में याज्ञवल्क्य के वमन करने या न करने का कोई आधार नहीं है।

मध्यकाल के अनन्तरवर्त्ती कतिपय आचार्यों को यह भ्रान्ति रही है कि कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन, और शुक्ल अर्वाचीन है। उनकी भ्रान्ति का आधार कदाचित् विष्णुपुराण का वह लेख रहा है, जहाँ याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त अथवा अधीत यजुषों को 'अयातयाम' बताया है। सम्भवतः उन लेखकों ने इस तथ्य पर विचार नहीं किया कि मूलभूत यजुर्वेद [वाजसनेयि संहिता] के प्रादुर्भाव का काल अतिप्राचीन है। पुराणकर्त्ता के चमत्कार तथा अलंकारपूर्ण लेख की यथार्थता की ओर ध्यान न देकर केवल आपाततः प्रतीयमान अर्थ को यथार्थ समझकर अपनी सम्मति को प्रकट कर दिया है। ऐसी भ्रान्ति के आधार पर काशिकाकार तथा भट्टोजि दीक्षित आदि ने पाणिनि-सूत्र [४।३।१०५] के प्रत्युदाहरण में 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' प्रयोग दिया है। परन्तु ऐसे प्रयोगों में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति को रोकने के लिए भट्टोजि दीक्षित आदि के बहुत पहले तथा पाणिनिकाल के लगभग समीप होने-वाले वार्त्तिककार कात्यायनमुनि ने 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्' वार्त्तिक बनाया। उसके सामने यह तथ्य स्पष्ट रहा है कि भाल्लव, शाट्यायन, ऐतरेय आदि ब्राह्मण-प्रवचनकर्त्ताओं के समानकाल में याज्ञवल्क्य का अस्तित्व था, इसलिये 'याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि' में भी 'पुराणप्रोक्तेषु' सूत्र [४।३।१०५] से 'णिनि' प्रत्यय प्राप्त होता है, जो प्रयोग की दृष्टि से अभीष्ट नहीं है, इसलिये वार्त्तिक बनाकर कात्यायन ने उसका निषेध किया। पुराण का लेख कात्यायन के सामने भी रहा होगा, पर उसने पुराणलेख की यथार्थता को समझा था, इसीलिये उसको यह भ्रान्ति नहीं हुई कि याज्ञवल्क्यप्रोक्त ब्राह्मण नवीन है।

इस विषय में मुख्यरूप से एक बात और ज्ञातव्य है। वह है—कृत, उपज्ञात और प्रवचन पदों के अर्थों का अन्तर समझ लेना। किसी की नवीन रचना 'कृत' कही जाती है, यद्यपि औपचारिक रूप से इसका प्रयोग 'दृश्' धातु के अर्थ में होकर वेदद्रष्टा ऋषियों के विषय में अनेकत्र इसका उपयोग आचार्यों ने किया है। मूल आधार के साथ अपने प्रतिभात व ज्ञात अर्थों को जोड़कर किसी रचना को प्रस्तुत करना 'उपज्ञात' की श्रेणी में आता है। पुरानी रचनाओं का यथावसर आवश्यक-

तानुसार पुनः संस्करण 'प्रवचन' कहा जाता है। अनेक वार ऐसे प्रवचनकर्त्ताओं के नाम पर पुरानी रचनाएँ प्रसिद्ध हो जाती हैं। आयुर्वेद की अग्निवेश-रचित संहिता ऐसे ही आधार पर आज चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य ने जिन ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन किया है, वे प्राचीन रहे हों, यह सम्भव है।

याज्ञवल्क्य ने पहले गुरु के रुष्ट हो जाने के कारण जिस शिक्षाकेन्द्र का तथा शिक्षापरम्परा का परित्याग कर अन्य शिक्षाकेन्द्र का आश्रय लिया, उसके प्रचार-प्रसार के लिए सर्वात्मभाव से अपने-आपको अर्पण कर देना याज्ञवल्क्य के लिए स्वाभाविक था। प्रतियोगिता में सामने आ जाने पर यह कोई अनहोनी बात नहीं कि वैदिक शिक्षा के उस वर्ग के अभ्युत्थान का श्रेय अपने काल में याज्ञवल्क्य को मिला, और वह सब साहित्यकार्य उसके नाम पर प्रसिद्ध हुआ। याज्ञवल्क्य का वह प्रोक्त साहित्य है, कृत नहीं। तब निश्चित रूप से वेदव्यास के पूर्वकाल में उसके विद्यमान रहने की सम्भावना की जा सकती है।

याज्ञवल्क्य-दर्शन मीमांसा

ब्राह्मणविषयक इतनी विवेचना के अनन्तर हम इस विषय पर आते हैं कि ब्रह्मसूत्रकार ने बृहदारण्यकोपनिषद् में संकलित याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की जो मीमांसा की है, उसमें क्या असामञ्जस्य हो सकता है? पहली बात यह है कि वेदशाखा-विभाजन तथा मुख्य ब्राह्मणग्रन्थों की रचना वेदव्यास के काल से पहले प्रायः हो चुकी थी। वेदव्यास के काल तक वह साहित्य जनमानस की उपेक्षा के कारण क्षीण हो रहा था; आसन्न भविष्यत् में उसके नष्टप्राय हो जाने की सम्भावना सामने दिखाई दे रही थी। ऐसे समय वेदव्यास के मस्तिष्क में उसके पुनरुद्धार की भावना जागृत हुई। उससे प्रेरित होकर स्वयं वेदव्यास और उसके शिष्य-प्रशिष्यों ने एक सीमितकाल में इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में सफलता प्राप्त की। यही कारण है कि तब अध्यात्म तथा समाज के दैनिक लोकव्यवहार की भावना को लक्ष्य कर गुरु और शिष्य दोनों ने यथाक्रम 'ब्रह्मसूत्र' और 'धर्मसूत्र' रूप से दो शास्त्रों का निर्माण किया। उस काल की जनता अपनी बाह्य वैषयिक प्रवृत्तियों के कारण इन भावनाओं से दूर हटती जा रही थी; ऐसी दशा में जनराष्ट्र को सन्मार्ग पर लाने के लिए यह प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक था। लोक-कर्त्ता महानुभावों की यही विशेषता होती है कि वे काल की नाड़ी को यथायथ रूप में परख लेते हैं, और उसके अनुसार कार्य कर जनता एवं राष्ट्र का मार्गदर्शन करते हैं। इससे ब्रह्मसूत्रकार को उन दार्शनिक विचारों की मीमांसा करने में कोई बाधा नहीं आती, जिनके पुनरुद्धार के लिए चालू प्रवाह में याज्ञवल्क्य ने हाथ बटाया। वेदव्यास की तीसरी शिष्य-पीढ़ी की समानता में होने पर भी याज्ञवल्क्य वेदव्यास का समकालिक था, इस आधार पर उसके दार्शनिक विचारों

की वेदव्यास द्वारा ब्रह्मसूत्रों में मीमांसा किया जाना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है।

याज्ञवल्क्य और बृहदारण्यक

दूसरी बात यह है, हमें परीक्षा करनी चाहिये कि बृहदारण्यक उपनिषद् से याज्ञवल्क्य का क्या व कैसा सम्बन्ध है? यह उपनिषद् शतपथब्राह्मण का आरण्यक भाग है। जब हम यह आशंका करते हैं कि याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों का वेदव्यास द्वारा ब्रह्मसूत्रों में विवेचन करना असमञ्जस है, तब हम ब्राह्मण के प्रवक्ता याज्ञवल्क्य को लक्ष्य कर यह आशंका उठाते हैं, और ब्राह्मण-प्रवक्ता को सूत्रकार से परवर्त्ती काल में होने के कारण असामंजस्य प्रस्तुत करते हैं; अथवा हमारा लक्ष्य उस याज्ञवल्क्य की ओर है, जिसका वर्णन स्वयं बृहदारण्यक उपनिषद् अथवा शतपथब्राह्मण में उपलब्ध है?

पहले विकल्प के आधार पर विवेचन प्रस्तुत है। शतपथब्राह्मण का अन्तिम चतुर्दश काण्ड ब्रह्मविद्या का निरूपण करता है। इसमें नौ अध्याय हैं। इसके अन्तिम छह अध्याय [चतुर्थाध्याय से नवमाध्याय तक] बृहदारण्यक उपनिषद् के रूप में पृथक् कर लिये गये हैं। उपनिषद् के दूसरे, चौथे और छठे अध्याय के अन्त में तथा ब्राह्मण के पाँचवें, सातवें और नौवें अध्याय के अन्त में वंशावली का उल्लेख है। उपनिषद् का अध्ययन करनेवाले आधुनिक विद्वानों के द्वारा इन वंशावलियों के विषय में अभी तक गम्भीर विचार नहीं किया गया। कम-से-कम मेरी दृष्टि में अभी तक कोई ऐसा विवेचन नहीं आया। इन तीनों स्थलों की वंशावलियों में कुछ समानता और कुछ विभिन्नता है। इन वंशावलियों के आधार पर मैं किसी विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य को अभी स्पष्ट नहीं कर सकता; पर प्रस्तुत ब्राह्मण के प्रवचन के विषय में विवेचना करते समय इन वंशावलियों की उपेक्षा करना, इस विषय की सचाई को समझने के एक साधन का ठुकराना होगा। इसके आधार पर ब्राह्मण के मूल प्रवक्ता का सम्बन्ध ब्रह्मा से जा जुड़ता है, जो इस कल्प का आदि-पुरुष माना जाता है। वंशावलियों में जो नाम प्रवक्ताओं के दिये गये हैं, वे हमारी तरह के कोई मानव ही सम्भव हैं। न वे कोई देव व भौतिक तत्त्व प्रतीत होते हैं, और न उन्हें सर्वथा काल्पनिक कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कहने या मानने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है। इस वंश-परम्परा में एक 'आदित्य' का नाम है; वह अवश्य कोई व्यक्तिविशेष रहा होगा। वंशावली से यह स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुषों को सीधा आदित्य से प्राप्त नहीं किया। अन्तिम वंशावली के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के अनन्तर कालान्तर में 'आदित्य' नामक ऐसा व्यक्ति उस परम्परा में हुआ, जिसने शुक्ल यजुषों का पहली बार संकलन किया। इसी कारण ये यजुष 'आदित्य'-सम्बन्धी कहे जाने लगे।

आदित्य ने इन यजुषों की छिन्न हुई प्राचीन अध्ययनाध्यापन-परम्परा को पुनः चालू किया। इस लम्बी शिष्य-परम्परा के बीच एक अन्य प्राचीन याज्ञवल्क्य का नाम आता है, जो वैशम्पायन-शिष्य याज्ञवल्क्य से बहुत पुराना है। सम्भवतः वह याज्ञवल्क्य, उससे भी अन्य हो, जिसका वर्णन प्रस्तुत ब्राह्मण के अन्तर्गत है। इस वंशावली में सबसे अन्तिम व्यक्ति पौतिमाष्य अथवा पौतिमाषीपुत्र है। ब्रह्मा से लेकर इस व्यक्ति तक जिन यजुषों व ब्राह्मणों का प्रवचन परम्परा द्वारा होता आ रहा था, अपने काल में वैशम्पायनशिष्य याज्ञवल्क्य ने उसी को प्राप्त किया। वंशावली की अन्तिम पंक्तियों से ध्वनित होता है[1] कि ब्राह्मण का आख्याता वाजसनेय याज्ञवल्क्य था। इस विवेचन से स्पष्ट है, महाभारतकालिक याज्ञवल्क्य से बहुत पहले शुक्लयजुषों तथा उनके ब्राह्मण आदि का अस्तित्व था। उस आधार पर ब्रह्मसूत्रों में उपनिषद्गत विचारों की मीमांसा का होना किसी तरह असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। इसमें कालिक क्रम की कोई बाधा नहीं आती।

ब्राह्मण के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से याज्ञवल्क्य के विषय में जब हम दूसरे विकल्प के अनुसार विवेचन करते हैं, तो यह तथ्य स्पष्टरूप से सन्मुख आता है कि वह याज्ञवल्क्य—जिसका ब्राह्मण अथवा उपनिषद् में साक्षात् वर्णन है—जनककालिक था। जनक नाम का एक राजवंश है, जो लम्बे समय तक मिथिला-प्रदेश में शासन करता रहा है। इस प्रकार 'जनक' नाम से अनेक राजा कार्यक्षेत्र में आये। तब इस बात की परीक्षा करनी होगी कि उपनिषद्वर्णित याज्ञवल्क्य किस जनक राजा के काल में हुआ? क्या वह जनक महाभारतकालिक है, अथवा उससे पहले किसी काल में हुआ? इस विषय में महाभारत ग्रन्थ से हमें उपयुक्त सहायता मिलती है।

वहाँ[2] याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद का वर्णन है। उस जनक राजा को देवरात का पुत्र [दैवराति] बताया गया है। वाल्मीकि रामायण में जनक-

---

१. वहाँ लेख है—"कश्यपो नैध्रुविर्वाचः, वाक् अम्भिण्याः, अम्भिणी आदित्यात्" वंशक्रम यहाँ समाप्त हो जाता है। आगे लेख है—'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' [बृ० ६।५।३] यहाँ याज्ञवल्क्य द्वारा शुक्ल यजुषों का केवल आख्यान—कथन करना अध्यापन-प्रसारण आदि कहा गया है। याज्ञवल्क्य का 'वाजसनेय' विशेषण भी विचारणीय है।

२. अत्र ते वर्त्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत॥
याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरः॥
[गो० पु० संस्करण, म० भा० १२।३१०।२-३]

राजाओं के वंश का जो विवरण उपलब्ध है, उसके अनुसार सीता [राम-पत्नी] के पिता जनक का सांस्कारिक नाम सीरध्वज है, इसका छोटा भाई कुशध्वज। इन भाइयों के पूर्व सोलहवीं पीढ़ी में 'बृहद्रथ'[1] नाम का जनक राजा देवरात का का पुत्र था। इस प्रकार राम के श्वसुर तथा सीता के पिता सीरध्वज जनक के वंश में सोलह पीढ़ी पूर्व दैवराति जनक राजा था, जिसके साथ याज्ञवल्क्य के संवाद का महाभारत में वर्णन किया गया है। यह समय भीष्म पितामह के काल से बहुत प्राचीन होना चाहिए, क्योंकि भीष्म ने स्वयं इसको 'पुरातन इतिहास' कहकर वर्णन किया है। ऐसा इतिहास भीष्म के पूर्व सौ, दो सौ, पाँच सौ वर्ष के अन्दर का न माना जाकर उससे बहुत पहले का कहा जा सकता है।

इस विसंवाद अथवा विवेचन में मैं नहीं पड़ना चाहता कि श्री राम का समय कौन-सा है। पर यह निश्चित है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, और महाभारत-काल के आस-पास की घटनाओं से उनके प्रादुर्भाव का काल अतिप्राचीन है। उससे भी जनक-वंश की सोलह पीढ़ी पहले उस याज्ञवल्क्य का काल है, जिसके संवाद का वर्णन दैवराति जनक के साथ महाभारत में किया गया है।

महाभारत के इस लम्बे प्रसंग[2] में जनक नामक राजाओं के साथ चार विस्तृत संवादों का वर्णन है, जिनमें पृथक् तीन जनक राजाओं का उल्लेख है। पहला संवाद है, करालजनक और वसिष्ठ का। किसी अंश तक यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वसिष्ठ' यह नाम विभिन्न व्यक्तियों की एक लम्बी परम्परा के लिए प्रयुक्त होता रहा है, जो एक विशिष्ट स्थान अथवा पद पर नियुक्त होकर उस पद के निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करते रहे हैं। उस समय के साहित्य से ज्ञात होता है कि यह पद इक्ष्वाकु राजवंश के कुलपुरोहित का रहा है। जो व्यक्ति इस कार्य के लिए नियुक्त होता था, उसका सांसारिक निजी नाम अन्य कुछ भी रहा हो, वह 'वसिष्ठ' इस विशिष्ट नाम से सम्बोधित व व्यवहृत होता था। आज हम उन अनेकानेक व्यक्तियों के निजी नामों से सर्वथा अपरिचित हैं, जो काल की एक लम्बी परम्परा तक इस एकमात्र नाम से व्यवहृत होते रहे। यह स्थिति आज तात्कालिक किसी व्यक्ति का काल-निर्णय करने की दिशा में अत्यन्त बाधक है। यह सर्वथा असम्भव है कि जिस 'वसिष्ठ' नाम से व्यवहृत व्यक्ति ने कराल जनक के साथ संवाद किया, वही श्री राम के काल में अथवा उसके अव्यवहित पूर्व अथवा पर-काल में अवस्थित

---

१. **सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः।**
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः॥ [वा० रा०, १।७१।६]

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३०० से अध्याय ३२० तक; गोरखपुर संस्करण के अनुसार।

रहा हो। यह स्मरण रखना चाहिए कि भीष्म द्वारा वर्णित यह इतिहास अति-पुरातन है—राम के प्रादुर्भावकाल से भी बहुत प्राचीन।

याज्ञवल्क्य-दैवराति जनक संवाद

महाभारत के इस प्रसंग में दूसरा संवाद दैवराति जनक और याज्ञवल्क्य का है, जिसका उल्लेख अभी ऊपर की पंक्तियों में किया गया है। संवाद की यह घटना भी राम के श्वसुर सीरध्वज जनक के प्रादुर्भाव-काल से कम-से-कम सोलह पीढ़ी पहले की है। यदि हम इस याज्ञवल्क्य को महाभारत के आसपास रखने का प्रयास करते हैं, तो यह मानना होगा कि सीता के पिता सीरध्वज और पति राम का प्रादुर्भाव महाभारत-काल के सदियों बाद हुआ; जिसके लिए कोई भी आधार सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें इस याज्ञवल्क्य के विषय में गम्भीरतापूर्वक विवेचन करना होगा। कारण यह है कि महाभारत इसी याज्ञवल्क्य के विषय में कहता है कि उसने आदित्य से यजुषों को प्राप्त किया, और शतपथ ब्राह्मण की रचना की।[1] महाभारत के इस प्रसंग में यह एक ध्यान देने की बात है कि याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध को प्रकट करने की भावना से यहाँ वैशम्पायन अथवा व्यास आदि का कोई उल्लेख नहीं है। यजुषों को प्राप्त करने के विषय में वहाँ केवल इतना लिखा है—

यथाऽऽर्षेणेह विधिना चरताऽवनतेन ह।
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप॥ [१२।३१८।२]

'आर्ष विधि से आचरण करते हुए विनयसम्पन्न मैंने आदित्य से यजुषों को प्राप्त किया।' इससे यही ज्ञात होता है कि ऋषियों के द्वारा बताये हुए मार्ग के अनुसार आचरण करते हुए शिष्यभाव से विनयपूर्वक याज्ञवल्क्य ने आदित्य नामक आचार्य से यजुषों का अध्ययन किया। अनन्तर अपने अनेक शिष्यों को अध्ययन कराते हुए शतपथब्राह्मण की रचना की। यह याज्ञवल्क्य दैवराति जनक

---

१. **ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।**
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह॥ [१२।३१८।१६]

सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप।
कर्त्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया॥ [१२।३१८।२२,२३]

इस प्रसंग में 'कृ' धातु के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि पूर्व से ही अध्ययनाध्यापन में चली आ रही इस विद्या का क्रमबद्ध ग्रथन सर्वप्रथम इस याज्ञवल्क्य ने किया। अनन्तर-काल में इस ग्रन्थ के संस्करण तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार होते रहे हों, यह सम्भव है।

के काल में हुआ, जो दाशरथि राम के श्वसुर सीरध्वज के पूर्वजों में कम-से-कम सोलह पीढ़ी पहले हुआ था। इस याज्ञवल्क्य के साथ महाभारतकालिक वैशम्पायन आदि का कोई सम्पर्क नहीं कहा जा सकता। इससे निश्चय होता है कि शतपथ-ब्राह्मण की रचना महाभारतकाल अथवा कृष्णद्वैपायन एवं वैशम्पायन आदि के काल से बहुत पहले हो चुकी थी। इसके अनेक संकलन व संस्करण अनन्तर-काल में होते रहे हों, और वर्त्तमान संस्करण महाभारतकाल में हुआ हो, यह सम्भव है।

वैशम्पायन के काल में याज्ञवल्क्य नाम के अनेक व्यक्ति थे, ऐसा निर्देश प्रथम किया गया है।[1] एक याज्ञवल्क्य ऋग्वेदशाखाध्यायी था, जिसका एक अन्य साथी पराशर नाम का व्यक्ति था। यह निश्चित है कि यह पराशर व्यक्ति कृष्णद्वैपायन का पूर्वज पराशर नहीं हो सकता। याज्ञवल्क्य आदि नाम के अनेक व्यक्तियों का होना इससे सिद्ध होता है। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि दैवराति जनक के काल में प्रादुर्भूत याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण की रचना की; यद्यपि उस विद्या का अध्ययनाध्यापन और भी पूर्वकाल से चला आ रहा था, जिसका पता शतपथब्राह्मण में उल्लिखित वंशक्रम से लगता है। वंशक्रम की समाप्ति पर कहा गया है कि आदित्य नाम से प्रसिद्ध इन शुक्ल यजुषों का आख्यान करने-वाला 'वाजसनेय याज्ञवल्क्य' है।[2] वैशम्पायन के काल में होनेवाला वह याज्ञवल्क्य—जिसका वैशम्पायन से बिगाड़ हुआ—ब्रह्मरात[3] का पुत्र है, जो निश्चित वाजसनेय याज्ञवल्क्य से भिन्न होना चाहिए। प्रतीत यह होता है कि दैवराति जनक के काल में प्रादुर्भूत याज्ञवल्क्य के कार्य को वैशम्पायन-शिष्य याज्ञवल्क्य पर आरोपित कर दिया गया है; अथवा द्वितीय याज्ञवल्क्य के साथ बीती घटना को पहले याज्ञवल्क्य के साथ पुराणलेखकों द्वारा जोड़ दिया गया है। सम्भवतः नामसाम्य इस भ्रान्ति का कारण रहा हो; यद्यपि उनमें से एक वाज-सनेय और दूसरा ब्राह्मराति है।

ब्राह्मण तथा उपनिषद् में जो वंशक्रम दिये गये हैं, वहाँ अन्तिम वंशक्रम के मध्य में एक याज्ञवल्क्य पठित है, जिसका उल्लेख आसुरि और उद्दालक के बीच हुआ है।[4] यह कहना कठिन है कि यह याज्ञवल्क्य कौन-सा है; अधिक सम्भव है

१. वि० पु०, ३।४।१८।। तथा ३।५।३।।

२. **'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।'** [बृ० ६।५।३]

३. **याज्ञवल्क्यस्तु तत्राभूद् ब्रह्मरातसुतो द्विज।**
शिष्यः परमधर्मज्ञो गुरुवृत्तिपरस्सदा।। [वि० पु० ३।५।३]

४. **'आसुरिः ।।२।। याज्ञवल्क्याद् याज्ञवल्क्य उद्दालकात्'** [श० ब्रा० १४।६।४।३३, तथा बृ० ६।५।२,३]

कि यह उन सबसे अतिरिक्त हो, जिनका उल्लेख प्रथम किया गया है।

प्रसंग यह था कि ब्राह्मण अथवा उपनिषद् के मध्यगत संवादों में—जनक द्वारा किये गये यज्ञ के अवसर पर—जिस याज्ञवल्क्य का उल्लेख है, वह कौन-सा याज्ञवल्क्य है ? अनुगत विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह यही याज्ञवल्क्य होना चाहिए, जिसके संवाद का वर्णन दैवराति जनक के साथ महाभारत में हुआ है। वह अतिप्राचीन काल का व्यक्ति है। उसके उपनिषद्वर्णित दार्शनिक विचारों का विवेचन अथवा उल्लेख, महाभारतकाल में बादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों में होना कोई असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पंचशिख-धर्मध्वजजनक संवाद

महाभारत के उक्त प्रसंग में तीसरा संवाद पञ्चशिख और धर्मध्वजजनक का है। इसी धर्मध्वजजनक के साथ आगे एक लम्बा संवाद सुलभा ब्रह्मवादिनी का है। इस अवसर पर धर्मध्वजजनक ने अपने-आपको बड़े गर्व व गौरव के साथ पञ्चशिख का शिष्य[1] बताया है। यह कहकर सुलभा के सम्मुख उसने स्वयं को सांख्यज्ञान में अतिनिपुण होना प्रमाणित किया है। इन संवादों में तीन पृथक् जनक राजाओं का उल्लेख स्पष्ट है। निश्चित ही ये पूर्वापर-काल में रहे होंगे। जिस क्रम से महाभारत में इनका वर्णन है, वह कालिक क्रमानुसार सम्भव हो सकता है। ये सभी जनक राजा राम के श्वसुर सीरध्वज जनक के पूर्वजों में हैं, यह प्रमाणित है।

इन संवादों का यहाँ उल्लेख भीष्म के सम्मुख युधिष्ठिर के एक जिज्ञासापूर्ण सांख्यज्ञानविषयक प्रश्न के उत्तररूप में हुआ है। भीष्म ने इन संवादों को 'पुरातन इतिहास' कहकर सुनाया है, जो सब प्रकार से उनकी प्रामाणिकता का पोषक है। यह प्राचीन इतिहास है, केवल कल्पनामूलक कथानक नहीं।

भीष्म के काल में कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को समस्त विद्याओं का अध्ययन पूरा हो जाने पर अध्यात्मविद्या के विषय में पूर्ण एवं परिपक्व ज्ञानप्राप्ति के लिए जनक के समीप भेजा। जनक राजाओं की वंशपरम्परा में अध्यात्मविद्या का प्रचलन निरन्तर रहा है। प्रायः सभी जनक राजा इस विद्या में निपुण होते रहे हैं, और अपने काल में जनता व विशिष्ट व्यक्तियों ने इस आधार पर उनको प्रतिष्ठा व आदर दिया है। वेदव्यास स्वयं अध्यात्मविद्या के पारंगत ज्ञाता थे, फिर भी अपने पुत्र को तात्कालिक जनक के पास इस विद्या के

---

१. 'पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥
[म० भा०, १२।३२०।२४॥ गो० पु० संस्करण]

रहस्यों को समझने के लिए भेजा। महाभारत के एक संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि इस जनक का सांस्कारिक नाम 'धर्मराज'[1] था। निश्चित है, यह जनक उन जनक राजाओं से सर्वथा भिन्न है, जिनके विभिन्न संवादों का वर्णन भीष्म द्वारा 'पुरातन इतिहास' कहकर किया गया है। फलत: किसी भी पाठक को इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि जिस जनक के साथ याज्ञवल्क्य का संवाद हुआ, उसी के पास व्यास ने अपने पुत्र को भेजा, और इसलिए वह याज्ञवल्क्य महाभारतकालिक होना चाहिए। कारण यह है कि शतपथ-प्रवक्ता याज्ञवल्क्य का संवाद जिस दैवराति [बृहद्रथ नामक] जनक के साथ हुआ है, वह उस वंश की निर्दिष्ट वंशावलियों के अनुसार व्यासपुत्र शुकदेव के काल से अतिप्राचीन है।

वेदव्यासकालिक अन्य जनक

इस विषय में यह भी एक विशेष ध्यान देने की बात है कि प्रथम तीन संवादों को—जो वसिष्ठ-करालजनक, याज्ञवल्क्य-बृहद्रथ [दैवराति] जनक और पञ्चशिख-धर्मध्वजजनक के बीच हुए—भीष्म द्वारा 'पुरातन इतिहास' बताया गया है; पर इसके विपरीत शुक-जनक संवाद के विषय में ऐसा कोई निर्देश व संकेत तक महाभारत में नहीं है। यह हो भी नहीं सकता; क्योंकि अपने ही काल में होनेवाली घटना को भीष्म अथवा भीष्ममुखद्वारा कृष्णद्वैपायन व्यास 'पुरातन इतिहास' कैसे कह सकता है? इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को जिस जनक के पास भेजा, वह जनक इनका समकालिक है; यह वे जनक नहीं, जिनको 'पुरातन इतिहास' का वर्ण्य व्यक्ति कहकर स्मरण किया गया है। यह ऐतिहासिक घटना इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि शतपथ-ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य दैवराति [बृहद्रथ नामक] जनक के काल का व्यक्ति है, महाभारतकालिक नहीं। महाभारतकाल का याज्ञवल्क्य भिन्न व्यक्ति है, जिसने पहले से विद्यमान उस वैदिक अंश का गुरुजनों से पूर्ण अध्ययन कर उसका प्रवचन अथवा संकलनमात्र किया। नामसाम्य की भ्रान्ति से उसी को कालान्तर में ब्राह्मण आदि का मूल प्रवक्ता समझ लिया गया। शिष्यपरम्परा द्वारा उसके अध्ययनाध्यापन को प्रवृत्त करना 'प्रवचन' तथा परिमार्जित संस्करण प्रस्तुत करना 'संकलन' है। ऐसी स्थिति में शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की ब्रह्मसूत्रों द्वारा मीमांसा किया जाना कालिक पौर्वापर्य के आधार पर किसी प्रकार असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है, जबकि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता वेदव्यास बादरायण को माना जाता है।

---

१. **सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह। रक्षितान् 'धर्मराजेन' जनकेन महात्मना॥** [म० भा०, १२।३२५।१९], गो० पु० सं०।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि महाभारतकालिक याज्ञवल्क्य ने माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मण का प्रवचन किया है। परन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड का भाग है, माध्यन्दिन का नहीं; यद्यपि यह समस्त साहित्य वेदव्यास के काल से पहले विद्यमान रहा है। यह सम्भव है कि वेदव्यास के काल में अथवा उसके कुछ अनन्तर भी इन ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत परिशोधन अथवा परिवर्द्धन होता रहा हो, पर आज ऐसा कोई साधन नहीं, जिसके आधार पर उसे यथार्थरूप में छाँटा जा सके।

याज्ञवल्क्य और विदग्ध शाकल्य

मूल शतपथब्राह्मण के महाभारतकालिक होने में एक अन्य प्रमाण इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—शतपथब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड में वर्णन है, विदेह देशों के राजा जनक ने बहुत दक्षिणा के साथ एक यज्ञ किया; उसमें अनेक याज्ञिक ऋषि उपस्थित थे। राजा ने यह जानने की इच्छा से कि इनमें सर्वोच्च ब्रह्मिष्ठ कौन है, उनमें परस्पर संवाद की चर्चा चलाई। इसके लिए निर्धारित दक्षिणा को याज्ञवल्क्य ने अधिकृत किया; फलस्वरूप उपस्थित अनेक ऋषियों के साथ याज्ञवल्क्य का संवाद हुआ। संवाद में भाग लेनेवाले ऋषियों में एक विदग्ध-शाकल्य था। यहाँ पर यह निश्चित नहीं होता कि 'विदग्ध' उसका निजी नाम था अथवा एक विशेषणमात्र, जिसका अर्थ है—जलाभुना, स्वभाव से क्रोधी, किसी की बात को न माननेवाला। जो हो, इसका विवरण वायुपुराण [पूर्वार्द्ध, ६०/३२-६०, मोर संस्करण] में भी उपलब्ध होता है। वहाँ इसका 'देवमित्र शाकल्य' नाम लिखा है, तथा वैशम्पायन के शिष्य ऋग्वेदाध्यायी पैल की शिष्य-परम्परा में आगे इसका उल्लेख है। पैल के दो शिष्य वहाँ बताये हैं—इन्द्रप्रमति और बाष्कल। इन्द्रप्रमति की पाँचवीं शिष्यपरम्परा में देवमित्र शाकल्य का नाम है। बाष्कल के प्रथम शिष्यों में ही याज्ञवल्क्य का उल्लेख है। विचारकों का कहना है कि वैशम्पायन और उसका शिष्य पैल निश्चितरूप से महाभारतकालिक हैं। उनकी शिष्य-परम्परा में वायुपुराण के अनुसार शाकल्य और याज्ञवल्क्य के संवाद का शतपथब्राह्मण में उल्लेख उसी अवस्था में सम्भव है, जब उक्त ब्राह्मण की रचना महाभारतकाल के आसपास मानी जाय।

इस विषय में ये तथ्य विचारणीय हैं—

(१) याज्ञवल्क्य, बाष्कल का सीधा शिष्य है, पर बाष्कल के साथी इन्द्रप्रमति के शिष्यों की पाँचवीं पीढ़ी में देवमित्र शाकल्य का नाम है। वायुपुराण की वंशावली के अनुसार इनके समकालिक होने में पूरा सन्देह है।

(२) ये दोनों व्यक्ति ऋग्वेदाध्यायी पैल की शिष्य-परम्परा में हैं, परन्तु शतपथब्राह्मण का याज्ञवल्क्य यजुर्वेदाध्यायी ऋषियों की परम्परा का व्यक्ति

है। इन दोनों को एक समझना भ्रान्तिमूलक है।

(३) महाभारत [शा०, ३००-३२०, गो० पु० सं०] के अनुसार शतपथ-ब्राह्मणकार याज्ञवल्क्य का संवाद दैवराति जनक के साथ हुआ ज्ञात होता है। विदेह देशों का राजा यह जनक सीता के पिता जनक से प्राचीन है। महाभारत-काल के आसपास इस संवाद का होना असम्भव है।

(४) महाभारत [१२।३१८।१०६, गो० पु० सं०] के आधार पर जो यह कहा जाता है कि इस ज्ञान को भीष्म ने जनक से और जनक ने याज्ञवल्क्य से प्राप्त किया, इसके अनुसार याज्ञवल्क्य के साथ संवाद करनेवाले जनक को भीष्म का समकालिक मानना चाहिए,—यह सर्वथा चिन्त्य है। मैं आज कहता हूँ कि अमुक अर्थ को मैंने पाणिनि से सीखा है, अथवा गौतम से प्राप्त किया है, इसका यह तात्पर्य कदापि सम्भव नहीं कि पाणिनि या गौतम मेरे समकालिक हैं। ऐसे लोकव्यवहार व प्रयोग को चुनौती नहीं दी जा सकती। ये प्रयोग सर्वसम्मत व लोकसिद्ध हैं।

(५) यह निश्चित है कि याज्ञवल्क्य के साथ ऋषियों के संवाद की घटना का विवरण प्रथम किसी एक रचना में प्रस्तुत किया गया। वह रचना शतपथ-ब्राह्मण सम्भव है, क्योंकि स्वयं याज्ञवल्क्य उसका प्रवक्ता है। वायुपुराण का वह भाग—जिसमें इस संवाद का विवरण दिया गया है—ब्राह्मण के आधार पर ही सम्भव है। पुराण का यह अंश कब लिखा गया, यह कहना कठिन है; पर उस प्रसंग के गम्भीर अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वह वेदव्यास के पर्याप्त अनन्तर लिखा गया; स्वयं वेदव्यास उसका लेखक नहीं है, यह निश्चित है। लेखक के समय तक घटना के विवरण तथा उसके यथार्थरूप में जो कुछ परि-वर्त्तन हो चुके थे, जिनका होना सम्भव है, उसका पुराण के विवरण में आ जाना असम्भाव्य नहीं है। इसमें मुख्य बात यह है कि ब्राह्मण में शाकल्य के 'देवमित्र' नाम का उल्लेख नहीं है। पुराणकार का मुख्य लक्ष्य आख्यान को कह देना मात्र रहा; वह किस काल में घटित हुआ, इसका कोई ध्यान उसने नहीं किया। परिणामस्वरूप याज्ञवल्क्य-शाकल्य संवाद की घटना को पैल की शिष्यपरम्परा में होनेवाले देवमित्र शाकल्य के साथ जोड़ लिया गया। शाकल्य गोत्रनाम होने से विभिन्नकालिक अनेक व्यक्तियों के लिए इसका प्रयोग हो सकता है। याज्ञ-वल्क्य नाम के अनेक व्यक्तियों का होना पुराण-साहित्य से निश्चित है। पैल की शिष्यपरम्परा का याज्ञवल्क्य तथा वैशम्पायन का शिष्य याज्ञवल्क्य निश्चितरूप से भिन्न व्यक्ति हैं। इनसे पहले भी इस नाम के अनेक व्यक्ति सम्भव हैं; कुछ का निश्चित पता लगता है, इनमें शतपथब्राह्मण-प्रवक्ता भी एक है। एक के साथ घटी किसी घटना को कालान्तर में दीर्घकाल का व्यवधान नामसाम्य से अन्य के साथ जोड़ने में अनायास कारण बन जाता है। विदेह देशों का प्रत्येक

राजा 'जनक' कहा जाता रहा; पर 'दैवराति जनक' [देवरात का पुत्र, 'बृहद्रथ' नामक जनक] अनेक हुए हों, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस लम्बे विवेचन में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि याज्ञवल्क्य नाम के अनेक व्यक्ति विभिन्न कालों में हुए; नामसाम्य तथा एक क्षेत्र में कार्य करने के कारण भ्रान्ति से उनको एक समझ लिया गया, इस कारण मध्य काल में अनेक ऐसे लेख लिखे गये, जिनसे ऐतिहासिक तथ्य विपर्यस्त समझा जाने लगा। इन विपर्यासों को हटा देने से ऐतिहासिक तथ्यों की यथार्थता सामने आ जाती है। इसके फलस्वरूप शतपथब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य के काल को दैवराति जनक के काल से अलग नहीं किया जा सकता। इस आधार पर वेदव्यास को ब्रह्मसूत्रकार मानने में जो प्रथम आपत्ति[1] डॉ० रामकृष्ण आचार्य ने प्रस्तुत की है, वह निराधार हो जाती है।

वेदव्यास को क्या शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त न था

उक्त आपत्ति के पेटे में डॉ० आचार्य ने तीन बातें और प्रस्तुत की हैं। पहली बात कही है—

"(आ) यदि बृहदारण्यक को परम्परा के अनुसार नित्य माना जावे, तब भी विष्णुपुराण से स्पष्ट है कि उक्त उपनिषद् क्या, उसका मूलवेद—शुक्ल-यजुर्वेद—भी वेदव्यास को उपलब्ध नहीं था; उसे सर्वप्रथम इस भूतल पर याज्ञवल्क्य ने ही सूर्य से प्राप्त किया था।"

श्री आचार्य का यह लेख स्वयं में ही विरुद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से है, यह निश्चित है; क्योंकि शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण का यह एक भाग है। ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना वेद के अनन्तर मानी जाती है। डॉ० आचार्य के विचार से विष्णुपुराण के अनुसार वेदव्यास को शुक्लयजुर्वेद उपलब्ध नहीं था, क्योंकि उसके अनन्तर-काल में होनेवाले याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम इस भूतल पर शुक्लयजुर्वेद को सूर्य से प्राप्त किया। ऐसी स्थिति में बृहदारण्यक उपनिषद् को नित्य कैसे माना जा सकता है ?

कोई परम्परा उपनिषद् को नित्य नहीं मानती। उपनिषदों को नित्य माने जाने का कोई आधार भी नहीं है। पर इस विषय में ज्ञातव्य यह है कि वेदव्यास को शुक्लयजुर्वेद का पता था, या नहीं ? यह निश्चित है और इससे डॉ० आचार्य भी नकार नहीं कर सकते कि वेदव्यास को ऋग्वेद ज्ञात था; उसके शिष्यों में पैल नामक शिष्य ऋग्वेदाध्यायी था। जब ऋग्वेद[2] में स्पष्ट 'यजुष्' का उल्लेख है,

---

१. देखें—पृ० १४

२. **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ [ऋ० १०।९०।९]

तो वेदव्यास उससे अपरिचित था, यह कहना सर्वथा निराधार है। विष्णुपुराण के लेख का क्या तात्पर्य है, यह समझने का प्रयास नहीं किया गया; और साहस-पूर्वक लिख दिया गया कि वेदव्यास को शुक्लयजुर्वेद का पता न था। पुराणलेख का केवल इतना तात्पर्य सम्भव है कि वेदव्यास के शिक्षाकेन्द्र में इसके अध्ययनाध्यापन का प्रबन्ध न था; अन्य शिक्षाकेन्द्रों में वैसा प्रबन्ध था, इसमें सन्देह नहीं है।

विष्णुपुराण के लेखानुसार कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्ल यजुषों को प्राप्त किया, और वह सूर्य यही कहा जाता है, जो आकाश में चमकता तथा पृथिवी पर प्रकाश देता है; यह भौतिक जड़ पिण्ड है। क्या डॉ० आचार्य इस बात को किसी वैज्ञानिक रीति पर स्पष्ट कर सकते हैं कि इस भौतिक जड़ पिण्ड सूर्य ने घोड़े का रूप बनाकर याज्ञवल्क्य को 'शुक्ल यजुषों' का उपदेश दिया? इस तथाकथित पुराणलेख को कौन बुद्धिमान् स्वीकार कर लेगा? डॉ० आचार्य ने किस आधार पर इसे यथालिखित प्रमाण मानकर स्वीकार कर लिया कि सर्वप्रथम भूतल पर इस रीति से शुक्ल यजुषों का प्रादुर्भाव हुआ? इस विषय में पहले भी विस्तृत विवेचन कर दिया गया है।

डॉ० आचार्य ने पहली आपत्ति के पेटे में दूसरी बात यह लिखी है—

"(इ) यदि याज्ञवल्क्य के समय भी वेदव्यास की स्थिति मान ली जावे, तो भी बृहदारण्यकोपनिषद् के जिन दो प्रमुख शाखा-भेदों का सू० १।२।२९ में निर्देश है, उसकी संगति नहीं लग सकती, क्योंकि वे याज्ञवल्क्य के भी बहुत बाद अध्ययन-कर्त्ताओं के भेद से अस्तित्व में आये हैं।"

यह आपत्ति उस अवस्था में निराधार हो जाती है, जब यह प्रामाणिक रूप से मान लिया जाता है कि शतपथब्राह्मण की मूलरचना वेदव्यास के काल से बहुत प्राचीन है। इस काल में वैदिक साहित्य का केवल संकलन अथवा संस्करण होना कहा जा सकता है, जैसाकि पहले प्रमाणित किया गया है।

वेदान्तदर्शन के उक्त सूत्र [१।२।२९] में किसी शाखाभेद का कोई निर्देश, उल्लेख या संकेतमात्र तक नहीं है। वहाँ प्रसंग है कि शतपथब्राह्मण [१०।६।१।११] अथवा छान्दोग्य [५।१८।२] एवं बृहदारण्यक [५।६।१] आदि उपनिषदों के विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त 'वैश्वानर' पद का क्या अभिप्राय है? यह प्रसंग चौबीसवें [१।२।२४] सूत्र से प्रारम्भ होकर पाद के अन्त [१।२।३२] तक जाता है। वेदान्त के इन सूत्रों में 'वैश्वानर' पद के अर्थविवेचन का आधार उक्त स्थलों के अतिरिक्त ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ[1] भी हैं। ऐसा विवेचन अध्यात्मज्ञान की परम्परा में शतपथब्राह्मण आदि की रचना से भी

---

१. ऋ० १।९८।१॥ १०।८८।१२॥

बहुत प्राचीन है, जो ब्रह्मसूत्रों के इस प्रसंग का आधार है; यद्यपि सूत्ररचना से पूर्व शतपथब्राह्मण आदि की रचना हो चुकी थी, शतपथ का रचयिता याज्ञवल्क्य वेदव्यास से अतिप्राचीन है, जैसा प्रथम स्पष्ट किया जा चुका है। वेदव्यास को ब्रह्मसूत्रों का रचयिता मानने पर उक्त सूत्रों द्वारा किये गये विवेचन में कोई असंगति नहीं आती।

पहली आपत्ति के पेटे में डॉ० आचार्य ने तीसरी बात यह लिखी है—

"(ई) यह कथमपि सम्भव नहीं कि याज्ञवल्क्य के द्वारा उक्त उपनिषद् को प्राप्त करते ही निरीश्वर सांख्यदर्शन ने उसके प्रकरणों को स्वानुकूल लगा लिया हो, जिसका कि निराकरण सूत्रकार ने सूत्र १।२।२०, १।४।११, १।४।१६ आदि में किया है।"

इस विषय में पहली बात यह जान लेने की है कि कापिल सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी नहीं है; मध्यकालिक आचार्यों के ऐसे भ्रम का कारण तात्कालिक अथवा कुछ पूर्ववर्त्ती बौद्ध विद्वानों का सांख्य के विषय में वैसा प्रचार रहा है, जो उन्होंने वैदिकधर्म के साथ संघर्ष के अवसर पर अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए उस समय आवश्यक समझा।[1] ब्रह्मसूत्रकार ने कापिल दर्शन का अपने सूत्रों में कहीं निराकरण नहीं किया है। यदि कहीं ऐसा प्रसंग[2] सम्भव है, तो वह सामान्यरूप से प्रकृति की चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति मानने का हो सकता है। सांख्य-परम्परा में ऐसी मान्यता आचार्य वार्षगण्य की है, जिसका प्रादुर्भाव कपिल के पर्याप्त अनन्तर तथा वेदव्यास के काल से बहुत पूर्व हुआ। कापिल दर्शनविषयक प्रचारित भ्रम को यथार्थ समझकर आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों की व्याख्या सांख्यनिराकरण के रूप में की है, जो सर्वथा उत्सूत्र है। सूत्रों में कोई ऐसें संकेत नहीं, जिनसे उस तरह की व्याख्या को बल मिलता हो; आचार्य शंकर ने बलात् उस स्थिति को उभारने का शिथिल प्रयास किया है। उसके अनन्तर अन्य व्याख्याकार तथा वैष्णव आचार्यों ने वेदान्त की व्याख्या में उसी का अन्धानुकरण किया। उन स्थलों में सूत्रकार का यथार्थ आशय क्या सम्भव है, इसके लिए पाठक 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य'[3] का अवलोकन कर सकते हैं।

सुजनतोषन्याय से यदि विचार के लिए ऐसा मान लिया जाय कि सांख्य निरीश्वर है, तो भी उपनिषद् के प्रकरणों को स्वानुकूल लगाने का कोई प्रश्न सामने नहीं आता। डॉ० आचार्य ने जिन सूत्रों का उल्लेख कर कहा है कि वहाँ

---

१. इस विषय की अधिक जानकारी के लिए देखें, हमारी रचना—'सांख्य-सिद्धान्त' पृ० ३६–४२; ६४–६६; तथा ११३।

२. देखें, वेदान्त ब्रह्मसूत्र, २।२।१–१०।।

३. विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद—से प्रकाशित।

ब्रह्मसूत्रकार ने उस व्याख्या का निराकरण किया है, जो सांख्यदर्शन ने याज्ञवल्क्य के कथनों की अपने अनुसार प्रस्तुत की है; यह सब बात आचार्य शंकर के अपने मस्तिष्क की उपज है। सांख्यदर्शन के किसी सूत्र अथवा किसी अन्य ग्रन्थ एवं किसी भी व्याख्या-ग्रन्थ में याज्ञवल्क्य के किसी सन्दर्भ का कोई ऐसा किया गया अर्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसका उल्लेख आचार्य शंकर ने उक्त सूत्रों में किया है, अथवा उक्त सूत्रों के शांकरभाष्य से अभिलक्षित होता है। आचार्य शंकर सांख्य को अपना प्रधान प्रतियोगी समझकर—जहाँ चाहते हैं—उसके प्रत्याख्यान के लिए बहाना खड़ा कर लेते हैं। आचार्य शंकर की भावनाओं को सूत्रकार पर आरोपित करना न्याय नहीं कहा जा सकता। फलतः डॉ० आचार्य द्वारा प्रस्तुत यह प्रसंग याज्ञवल्क्य और वेदव्यास की पूर्वापरता में किसी बाधा व असामञ्जस्य को उद्भावित नहीं करता।

प्राचीन परम्परा क्या ब्रह्मसूत्रों के व्यासकर्त्तृक होने में बाधक है

डॉ० आचार्य ने दूसरी आपत्ति —वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र-रचयिता होने में— इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"२—(अ) प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदव्यास का ब्रह्मसूत्रकर्त्तृत्व सिद्ध भी नहीं होता, क्योंकि महाभारत तथा विष्णुपुराण आदि में जिस प्रकार वेदव्यास के द्वारा वेद-विभाजन, महाभारतादि-प्रणयन और उक्त ग्रन्थों के विभिन्न शिष्यों को अध्यापन का निर्देश है, उस प्रकार उनके द्वारा ब्रह्मसूत्र-प्रणयन या उसके अध्यापन का कोई निर्देश[1] नहीं।"

वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ब्रह्मसूत्रों के रचयिता हैं, ऐसे किसी प्रामाणिक उल्लेख के अभाव को पुष्ट करने में डॉ० आचार्य ने इतनी सावधानता बरती है कि वे वेदव्यासप्रणीत माने जानेवाले अथवा उतने ही प्राचीन साहित्य में ऐसे उल्लेख को प्रमाण मान सकते हैं; अनन्तर-काल में यदि किसी का ऐसा लेख होगा, तो इस विषय में वह उनके लिए मान्य न होगा।[2] ऐसा विचार किसी पूर्वाग्रहमात्र का द्योतक कहा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है, डॉ० आचार्य के मस्तिष्क में यह शंकु उन्हें कष्ट दे रहा है कि महाभारत अथवा वेदव्यास के

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्यकृत 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' पृ० १४।

२. उक्त सन्दर्भ के आगे कोष्ठक में डॉ० आचार्य ने लिखा है—'महाभारत के समान प्राचीन और स्वयं वेदव्यासप्रणीत माने जानेवाले परम्परा-ग्रन्थ में उक्त निर्देश के न होने से अपेक्षाकृत अर्वाचीन किसी परम्परा-ग्रन्थ के उक्त निर्देश को प्रामाणिक मानना उचित नहीं।'

परवर्त्तीकाल के साहित्य में वेदव्यास के ब्रह्मसूत्रकर्त्तृत्व का उल्लेख सम्भव है।

मध्यकाल के अथवा वेदव्यास के पर्याप्त परवर्त्ती बौद्ध विद्वानों, स्वयं बुद्ध भगवान् तथा अनेक वैदिक दार्शनिक विद्वानों आदि के काल का उल्लेख उनकी रचनाओं एवं तात्कालिक अन्य रचनाओं में उपलब्ध नहीं है। आधुनिक पाश्चात्य ईसाई विद्वानों तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने फिर भी इस विषय में प्रयत्नपूर्वक खोजकर उनके प्रादुर्भावकाल आदि का पता लगाने व निश्चय करने की दिशा में अभिनन्दनीय प्रयास किया है। वे अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुए, यह बात अन्य है; पर तात्कालिक साहित्य में उस विषय का उल्लेख न होने पर भी उनके प्रयासों के परिणाम को प्रायः प्रामाणिक माना जाता है। जहाँ तक किसी विषय के अनुसन्धान का प्रश्न है, उसके चारों ओर लक्ष्मण-रेखा खींच देना, सचाई को जानने के लिए प्रयास करने में बाधा डालने के बराबर ही होगा, जो इस क्षेत्र में उचित व उपयुक्त नहीं समझा जाना चाहिये।

यह विचार भी सर्वात्मना सिद्ध व सुपुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित नहीं है कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता वेदव्यास कृष्णद्वैपायन नहीं। इस प्रसंग के उल्लिखित प्रमाणों के विषय में विवेचन डॉ० आचार्य द्वारा प्रस्तुत तीसरी आपत्ति के विवेचन के अवसर पर किया गया है।

गीता में 'ब्रह्मसूत्र' पद

डॉ० आचार्य ने इस दूसरी आपत्ति के पेटे में एक अन्य बात यह लिखी है—

"(आ) यदि 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' (गीता, १३।४) के द्वारा वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों का निर्देश माना जाता है, तो स्पष्ट है कि महाभारत के वर्त्तमान रूप में आने तक यह मान्यता प्रवृत्त नहीं हो सकी थी कि ये वेदव्यासप्रणीत हैं; अन्यथा जब महाभारत इनसे परिचित है, तो उसमें इनके वेदव्यासप्रणीतत्व की चर्चा अवश्य होती, और यदि उक्त श्लोक में इन ब्रह्मसूत्रों का निर्देश नहीं माना जाता है, तब भी स्पष्ट है कि महाभारत को इनका कोई परिचय नहीं, उक्त मान्यता की बात तो बहुत दूर है।"

इस कथन से प्रतीत होता है—डॉ० आचार्य का बल इस बात पर अधिक है कि वर्त्तमान महाभारत में इसकी चर्चा नहीं कि ब्रह्मसूत्र कृष्णद्वैपायन की रचना है। विचारना चाहिये, महाभारत में कृष्णद्वैपायन की कौन-सी रचनाओं की चर्चा है? जहाँ तक वेदों के विस्तार और पुराणों की चर्चा का प्रश्न है, यह सब साहित्य वेदव्यास से बहुत प्राचीन है। वेदव्यास ने इनका पुनरुद्धार व संकलनमात्र किया है। वेद व अन्य वैदिक साहित्य पर्याप्त प्राचीन है। वेदव्यास ने अध्ययन-अध्यापन तथा विशिष्ट प्रवचनों द्वारा अपने काल में उसका प्रचार व प्रसार आदि किया। समस्त पुराण भी वेदव्यास की मूल रचना नहीं हैं। पुराणरूप में उस समय तक जो

प्राचीन इतिहास बिखरा पड़ा था, वेदव्यास ने उसका संकलनमात्र तथा अपेक्षित परिवर्द्धन-संशोधन आदि करके उसको व्यवस्थित किया। इस रूप में यह सब साहित्य वेदव्यास की मूल रचना नहीं कही जा सकती; इन्हीं की चर्चा वेदव्यास के कार्यरूप में महाभारत में है। इनके अतिरिक्त महाभारत की रचना की चर्चा है। वेदव्यास की अपनी मौलिक रचनाएँ केवल दो प्रतीत होती हैं—महाभारत और ब्रह्मसूत्र; महाभारत की चर्चा महाभारत में और ब्रह्मसूत्र की ब्रह्मसूत्र में है।

हमारा तात्पर्य यह स्पष्ट करना है कि महाभारत में वेदव्यास के नाम से जिस साहित्य की चर्चा है, वह सब महाभारत के अतिरिक्त उसका अपना निजी रचित साहित्य नहीं है; निजी रचना में से केवल महाभारत का महाभारत में उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र की रचना की वहाँ चर्चा का प्रश्न नहीं उठता, वह चर्चा ब्रह्मसूत्रों में है। नवीन रचना का अपनी उसी रचना में उल्लेख है, अन्यत्र नहीं।

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना में 'कृष्णद्वैपायन' आदि नामों का प्रयोग किया गया है, 'बादरायण' का नहीं; परन्तु ब्रह्मसूत्रों में केवल 'बादरायण' का प्रयोग है; सम्भव है, ये भिन्न व्यक्ति हों। इस आशंका का विवेचन अभी तीसरी आपत्ति के प्रसंग में किया जायगा।

पुराणों का संकलनमात्र वेदव्यास ने किया, यह बात पुराणों की आन्तरिक परीक्षा से स्पष्ट है। पुराणों का संकलन वेदव्यास के पर्याप्त अनन्तर-काल तक बराबर होता रहा है; यद्यपि उसके साथ नाम वेदव्यास का जुड़ा रहा, क्योंकि अपने संकलन के समय वेदव्यास ने इसकी रूपरेखा को व्यवस्थित किया। संकलन के जिस क्रम को उसने प्रस्तुत किया, अनन्तरवर्त्ती विद्वानों ने पर्याप्त समय तक उसी को चालू रक्खा। मेरे विचार से यह क्रम उस समय तक निरन्तर चालू रहा, जब तक राजा और प्रजा दोनों की मान्य भाषा संस्कृत बनी रही। वैसे मेरे अपने काल तक में पुराण के नाम से संस्कृत-पद्य-रचना होती रही है।[1] अन्य पुराणों

---

१. ईसवी सन् १९१५ के हरद्वार कुम्भ के अवसर की एक घटना है। मैं उस समय महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्ययन करता था। कुम्भ पर्व से कुछ पूर्व कलकत्ता से न्यायतीर्थ परीक्षा देकर आया था, उसी समय लगभग पचास छात्र समान वेश में हरद्वार कुम्भ मेला देखने गये। अनेक मठाधीशों ने छात्रों की समान वेश-भूषा व संस्कृत में वार्त्तालाप आदि से प्रभावित होकर अपने मठों की छावनियों में उपाहार आदि से ब्रह्मचारियों का सन्मान किया। उसके अनन्तर उन्हीं दिनों राजस्थान के कोई मठाधीश महाविद्यालय पधारे। उन्होंने सब देखभालकर जान लिया कि यहाँ संस्कृत के अनेक विद्वान् रहते हैं। उन्होंने चाहा कि उनके मान्य देवता के विषय में कोई पण्डित काव्य-रचना कर दे। अपनी इच्छा उन्होंने महाविद्यालय के तात्कालिक आचार्यजी

के समान महाभारत की भी यही दशा रही है। सम्भवतः इसी आधार पर डॉ० आचार्य ने अपने उक्त सन्दर्भ में लिखा है—'महाभारत के वर्तमान रूप में आने तक यह मान्यता प्रवृत्त नहीं हो सकी थी।'

यह प्रश्न होता है—महाभारत के वर्त्तमान रूप में आने तक कितना समय लगा ? अर्थात् वह कौन-सा काल है, जब वेदव्यास के काल के अनन्तर अन्य पुराणकर्त्ता विद्वानों के संकलन द्वारा महाभारत का वर्त्तमान रूप बन पाया ? इस विषय में डॉ० आचार्य ने कोई संकेत नहीं दिया है, फलतः वह कोई समय रहा हो ! इस विषय में दूसरा प्रश्न यह सामने आता है कि डॉ० आचार्य ने यह बात गीता [१३।४] के 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' वाक्य के प्रसंग में लिखी है। तब क्या इससे श्री आचार्य का यह तात्पर्य है कि उक्त श्लोक से उपलक्षित गीताग्रन्थ वेदव्यास की रचना न होकर अनन्तर-काल में किसी विद्वान् ने महाभारत के अन्तर्गत प्रक्षिप्त किया है ? यद्यपि, ब्रह्मसूत्रों के वेदव्यासकर्त्तृत्व से इस लेख का कोई सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में इसके उल्लेख न होने का सम्भावित कारण अभी गत पंक्तियों में बता दिया गया है। यह सम्भव है कि गीता में कुछेक अंश अनन्तर-काल में प्रक्षिप्त किये गये हों; पर समस्त गीता मूलरूप से वेदव्यास की रचना नहीं है, यह बात अनायास समझ में नहीं आती। अपने प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण विषय के अतिरिक्त गीता की मान्यता का बड़ा कारण यही है कि वह वेद-प्रवक्ता, वेदव्यास की रचना है। फलतः महाभारत को जिस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का परिचय है, इसी प्रकार उनके वेदव्यासकर्त्तृत्व के परिचय में भी कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस दूसरी आपत्ति के पेटे के डॉ० आचार्य ने तीसरी बात यह लिखी है—

"(इ) शंकर ने सूत्र ४।४।१२ में बादरायण को सूत्रकार माना है और महाभारतकार वेदव्यास को 'स्मरन्ति च' (शांकरभाष्य २।३।४७) आदि सूत्रों में सूत्रकार के द्वारा प्रामाणिक रूप में निर्दिष्ट माना है, जिससे, जैसा कि विद्वानों का विचार है, यह स्पष्ट है कि वे सूत्रकार को वेदव्यास से पृथक् और परवर्त्ती मानते हैं।"

के सन्मुख प्रकट की। परन्तु उन्होंने इस विषय में अपनी कोई रुचि नहीं दिखाई, प्रत्युत उनकी उपेक्षा ही की। परन्तु मठाधीश महोदय ने एक प्राध्यापक पं० दिलीपदत्त उपाध्यायजी को यह कार्य करने के लिए मना लिया। उनके मान्य देव कोई जांगड़ा-जांगड़ी नामक थे। पुराण के ढंग पर शिव-पार्वती संवाद के रूप में काव्यरचना कर दी गई, जिसमें लगभग आठ-दस अध्याय थे। मेरा हस्तलेख सुन्दर होने के कारण उस रचना की सुपाठ्य सुन्दर प्रतिलिपि मुझे करनी पड़ी। वह बाद में कहीं छपा या नहीं, इसका मुझे ज्ञान नहीं।

उक्त [४।४।१२] सूत्र में स्वयं सूत्रकार को अपना नाम 'बादरायण' दिया है। शंकर ने ऐसा माना है, ऐसी कोई बात नहीं। न केवल इस सूत्र में, अपितु इससे अतिरिक्त आठ सूत्रों में सूत्रकार ने[1] अपने इसी नाम का निर्देश किया है। इसमें आचार्य शंकर के ऐसा मानने न मानने का कोई प्रश्न नहीं उठता। अन्य एक सूत्र [२।३।४७] के शांकरभाष्य से अवश्य ऐसी ध्वनि प्रस्फुटित होती है कि कदाचित् आचार्य शंकर सूत्रकार को वेदव्यास से अतिरिक्त मानता है। वहाँ आचार्य की पंक्ति है—'स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति।' व्यास आदि स्मरण करते हैं कि जीवसम्बन्धी दुःख से परमात्मा दुःखी नहीं होता। आगे इसी विषय के दो पद्य[2] महाभारत से उद्धृत किये हैं। ब्रह्मसूत्रों के प्रस्तुत प्रकरण में जिस अर्थ का उपपादन होता आ रहा है, उसमें प्रमाणरूप से व्यास के महाभारतस्थित वाक्यों को यहाँ शांकरभाष्य में उपस्थित किया गया है। यह स्थिति सूत्रकार और प्रमाणरूप से प्रस्तुत महाभारतकार वेदव्यास के भेद को प्रकट करती है।

इस विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं कि आचार्य शंकर के लेख से यह भाव ध्वनित होता है। आचार्य शंकर का अपना विचार ऐसा रहा हो, यह सम्भव है; पर इस विचार को विवेचना की कोटि में रखने के लिए कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। हमें तो ऐसा भास रहा है कि आचार्य शंकर ने इस दिशा में गम्भीर विचार अथवा दृष्टिपात करने की कोई आवश्यकता न समझी हो। साधारण रूप से उक्त प्रसंग में वह महाभारत के उक्त पद्यों को प्रमाणरूप में उपस्थित करना चाहते हैं। उन्होंने 'व्यासादयः' कहकर पद्य उद्धृत कर दिये; पर सूत्र [स्मरन्ति च, २।३।४७] में कोई ऐसा संकेत नहीं है कि यहाँ व्यास के महाभारतस्थित वचन का निर्देश होना चाहिए। आज का विचारक जिस भावना व दृष्टि को लेकर विवेचना प्रस्तुत करता है, वह स्थिति आचार्य शंकर के सन्मुख नहीं थी; उसे अपनी—अथवा सूत्रगत—बात को पुष्ट करने के लिए प्रमाण उपस्थित करना अभीष्ट था, वह कर दिया। यह अथवा अन्य संकेत अन्य स्मृतिप्रमाण के लिए भी हो सकता है।

प्रस्तुत आपत्ति में ध्यान देने योग्य केवल इतनी बात है कि सूत्रकार 'बादरायण' है, और उसके किसी कथन की पुष्टि में 'व्यास' का प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है। फलतः ये भिन्न व्यक्ति होने चाहिएँ; अथवा जिसने प्रमाण

१. देखें सूत्र १।३।२६, ३३।। ३।२।४१।। ३।४।१, ८, १९।। ४।३।१५।। ४।४।७, १२।।

२ म० भा०, शान्ति० ३३९।१६-१८।। पी०पी०एस० शास्त्री द्वारा सम्पादित मद्रास संस्करण। गो० पु० सं० के अनुसार इन श्लोकों को इस पते पर देखना चाहिए—शान्ति० ३५१।१४-१६।।

प्रस्तुत किया, वह ऐसा समझता है। पर एक व्यक्ति के किसी एक जगह कहे गये अर्थ को, उसी के दूसरी जगह कहे गये अर्थ से सन्तुलित करके उस अर्थ को पुष्ट किया गया माना जाय, तो क्या यह कोई अवाञ्छनीय या अयुक्त विधान होगा ? यह आये दिन होता रहता है कि एक व्यक्ति के अनेक अवसरों पर कहे अर्थ को सन्तुलित करके उसकी यथार्थता व वास्तविकता को स्पष्ट किया जाता है। बादरायण के कथन को यदि अन्यत्र कहे गये वेदव्यास के कथन से पुष्ट किया जाता है, तो यह बादरायण और वेदव्यास के भेद का साधक नहीं माना जाना चाहिये, जबकि ऐसा अभेद में भी सम्भव है।

डॉ० आचार्य की दूसरी आपत्ति के (इ) भाग का अन्तिम अंश इस प्रकार है—

"उन्होंने (आचार्य शंकर ने) जो गीता के उक्त श्लोक में 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों का निर्देश नहीं माना, उससे भी यही प्रतीत होता है कि वे ब्रह्मसूत्रों की स्थिति महाभारत-कर्त्ता वेदव्यास के समय में मानने के पक्ष में नहीं।"

डॉ० आचार्य का यह तर्क अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। आचार्य शंकर ने उक्त स्थल में 'ब्रह्मसूत्र' पद से वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों का ग्रहण नहीं माना, तो इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि ये सूत्र वेदव्यास के समय में नहीं थे, या उसकी रचना नहीं है ? इस प्रसंग में आचार्य शंकर ने कोई ऐसा हेतु नहीं दिया कि वेदव्यास के समय में इन सूत्रों की सम्भावना नहीं, इसलिये मैं यहाँ उक्त पद से वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों का ग्रहण नहीं मानता। किसी के द्वारा किसी पद का कोई अर्थ ग्रहण न किया जाना, उस अर्थ की कालस्थिति का नियामक नहीं माना जा सकता।

आचार्य शंकर द्वारा उक्त पद का वैसा अर्थ न माने जाने के अन्य भी कारण हो सकते हैं। आचार्य ने उक्त पद का अर्थ इस प्रकार किया है—"ब्रह्मसूत्रपदैः··· ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते। तैः एव च क्षेत्रक्षेत्रज्ञोः याथात्म्यं गीतं इति अनुवर्त्तते। 'आत्मेत्येवोपासीत' [बृ० १।४।७] इत्यादिभिः हि ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते। हेतुमद्भिः युक्तियुक्तैः विनिश्चितैः न संशयरूपैः निश्चितप्रत्ययोत्पादकैः इत्यर्थः।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य यहाँ उक्त पद से उपनिषदों का ग्रहण करना चाहता है। ऐसा अर्थ करना आचार्य का प्रौढ़िवाद ही कहा जा सकता है। कारण यह है कि गीता के 'ब्रह्मसूत्रपदैः' के दो विशेषण श्लोक में पठित हैं—'हेतुमद्भिः' और 'विनिश्चितैः'। वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों में 'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' का विवेचन विशेषरूप से निश्चित हेतुयुक्त पदों से किया गया है। ब्रह्मसूत्रों के द्वितीयाध्याय के तीसरे पाद के प्रारम्भ में 'क्षेत्र' का तथा आगे 'क्षेत्रज्ञ' का इसी प्रकार का विवेचन उपलब्ध होता है। ऐसा विवेचन वहीं कहा जाता है, जहाँ साधक-बाधक प्रमाणों

को दिखाकर एक निश्चित सन्देहरहित अर्थ का उपपादन कर दिया जाय। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ऐसा विवेचन वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों में उपलब्ध है, इसलिये गीता के उक्त पदों का यहाँ अन्य कोई अर्थ किया जाना न जँचता है, न उपयुक्त है।

इन पदों का तात्पर्य 'उपनिषद्' समझना तो व्यर्थ है, क्योंकि वह अर्थ गीता-श्लोक[1] के पूर्वार्द्ध से स्पष्ट हो जाता है। विविध छन्दों द्वारा ऋषियों ने उसका [क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का] बहुत प्रकार से वर्णन किया है। गीता का यह लेख स्पष्ट ही उपनिषदों की ओर संकेत करता है। उपनिषदों में यह विवेचन बिखरा हुआ है, विविध प्रकार से हुआ है। वहाँ परिमित हेतुयुक्त पदों से विवेचन नहीं है; ऐसा विवेचन केवल वर्त्तमान वेदान्तसूत्रों में है। इसलिये गीता के उक्त पदों का अर्थ यही होना स्वारस्यपूर्ण है।

आचार्य शंकर ने इतने स्पष्ट अर्थ की उपेक्षा क्यों की, इसके पीछे आचार्य की यह भावना हो सकती है कि वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन जिस प्रकार प्रस्तुत कर उनके स्वरूप को अन्तिम स्तर तक निर्धारित किया गया है, वह उस रूप में आचार्य शंकर के विचारों से मेल नहीं खाता। आचार्य की रचनाओं से उसकी इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का पता लगता है कि जहाँ कोई प्रसंग उसके विचारों से विपरीत अर्थ का द्योतक होता है, उसे आचार्य अपने अनुकूल मोड़ देने का पूर्ण प्रयास करता है। इस कला में आचार्य का नैपुण्य कल्पनातीत है। ब्रह्मसूत्रों की रचना का उद्देश्य, उपनिषदों में विविध रूप से बिखरे हुए अर्थ का सामञ्जस्य करना है, यह समझकर आचार्य ने ब्रह्मसूत्र-प्रतिपाद्य अर्थ को उपनिषदों का अनुगामी बनाकर गौण कर दिया है। सूत्रों में प्रतिपादित सूत्रकार की विचारधारा के अनुसार उपनिषदों में विकीर्ण अर्थ का सामञ्जस्य करने की ओर से आचार्य विचारक का मुँह फेर देना चाहता है। सूत्रों में किये गये विवेचन के अनुसार उपनिषद् के विकीर्ण अर्थों की संगति न लगाओ, प्रत्युत उपनिषद् की भावना को सूत्रों में देखो; और वह भावना वही है, जिसे आचार्य स्वयं प्रस्तुत करता है। वस्तुतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय में सूत्रों के आधार पर जो निर्णय स्पष्ट ज्ञात होता है, आचार्य ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर[2] उपनिषद् के कुछ नियत सन्दर्भ उद्धृत कर उसको अन्यथा प्रस्तुत करने का बराबर प्रयास किया है। इसका विस्तृत अपेक्षित विवेचन अन्यत्र[3] किया गया है।

---

१. गीता का श्लोक इस प्रकार है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३।४॥

२. देखें, शांकरभाष्य, ब्र० सू० १।२।३-६॥ १।२।२०॥ २।३।१७॥ २।३।४०॥

३. आगे 'सूत्ररचना का उद्देश्य व सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय' नामक प्रसंग देखें।

इस प्रसंग में एक बात आवश्यक रूप से विवेचनीय है। कतिपय आधुनिक विद्वानों ने ब्रह्मसूत्रों पर शांकरभाष्य के अनुसार उन सूत्रों में गीता के संकेत को स्वीकार किया है, जिनमें 'स्मृतेः' 'स्मर्यते' या 'स्मरन्ति' आदि पदों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त में ऐसे आठ[1] सूत्र हैं। उनमें विशेषरूप से दो सूत्रों[2] में गीता का संकेत माना जाना आवश्यक है,–ऐसा उन विद्वानों का विचार है। आठ, दो या एक सूत्र में भी यदि ऐसा है, तो विवेचनीय बात यह है कि गीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख व ब्रह्मसूत्रों में गीता का संकेत कैसे सम्भव है, जबकि महाभारतान्तर्गत गीता का रचयिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास और ब्रह्मसूत्रों का रचयिता बादरायण है, जो भिन्न कालों में होनेवाले विभिन्न व्यक्ति बताये जाते हैं।

इस असामञ्जस्य को दूर करने के लिए गीता रहस्य[3] में लोकमान्य तिलक ने बड़ी कलाबाजियाँ खाई हैं; निराधार कल्पनाओं का ढेर लगा दिया है। यह सब मुसीबत खड़ी की है आचार्य शंकर द्वारा किये गये ब्रह्मसूत्रों के उस अंश के भाष्य ने, जहाँ सूत्रों में से बौद्ध-जैन के पारिभाषिक पदों के प्रयोग तथा विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रत्याख्यान को उभारा गया है। शांकरभाष्य पर हम अंगुली नहीं[4] उठा सकते; इसलिये कहना पड़ता है कि इन सूत्रों की रचना बादरायण ने बौद्ध-काल के अनन्तर की,–यही माना जाना चाहिए। इस विचार ने वस्तुतः कृष्ण-द्वैपायन और बादरायण को विभिन्न व्यक्ति बनाकर अलग-अलग कालों में फेंक दिया है।

असामञ्जस्य को दूर करने के लिए यह सम्भव है कि ब्रह्मसूत्रों में 'स्मर्यते' आदि पदों से अन्य किसी स्मृति आदि अथवा किसी विशिष्ट रचना का संकेत[5] हो। यदि किसी स्थल में गीता का संकेत मान लिया जाय, तो उस अवस्था में कोई असामञ्जस्य नहीं रहता, जब 'कृष्णद्वैपायन' और 'बादरायण' नाम एक व्यक्ति के मान लिये जाते हैं। इसके विवेचन का अब अवसर है।

वेदव्यास का बादरायण नाम

डॉ॰ आचार्य ने वेदव्यास कृष्णद्वैपायन को ब्रह्मसूत्रों का रचयिता माने जाने

---

१. आठ सूत्रों के निर्देश-स्थल हैं—ब्र० सू० १।२।६।। १।३।२३।। २।१।३६।। २।३।४५।। ३।२।१७।। ३।३।३१।। ४।१।१०।। ४।२।२१।।

२. दो सूत्र हैं—३।२।१७।। ४।२।२१।।

३. गीतारहस्य, हिन्दी रूपान्तर, सन् ईसवी १९२८ का छठा संस्करण, पृष्ठ ५३२-३९।। विशेष द्रष्टव्य पृष्ठ ५३६।

४. इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है; देखें 'ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल' प्रसंग।

५. इसके लिए देखें उक्त स्थलों का 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य'।

में तीसरी आपत्ति का प्रथम अंश इस रूप में प्रस्तुत किया है—

"३—(अ) प्राचीन परम्परा से वेदव्यास कृष्णद्वैपायन का 'बादरायण' नाम भी वस्तुतः समर्थित नहीं होता। महाभारत में वेदव्यास की उत्पत्ति के समय उनके नामों की व्युत्पत्ति बताने के प्रसंग में यही कहा गया है कि—

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे च यद्बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः।। [१।६३।८६]

ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः।। [१।६३।८८]

यदि वेदव्यास का 'बादरायण' नाम भी मूलतः होता, तो उसका भी निर्देश उक्त प्रकार से व्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वक किया जाता।"

निस्सन्देह महाभारत के इस प्रसंग में व्यास के 'बादरायण' नाम का कोई उल्लेख नहीं है। पर इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि व्यास की उत्पत्ति के समय जो एक विशिष्ट स्थिति थी, उसके आधार पर बालक के सांस्कारिक नाम के साथ सम्भवतः उस अवस्था के स्मृत्यर्थ, 'द्वैपायन' पद जोड़ा गया हो, या बाद में जोड़ लिया गया हो; इस प्रकार 'कृष्णद्वैपायन' पूरा नाम प्रसिद्ध हुआ। अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझकर उसने वेद तथा वैदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन आदि द्वारा विस्तार का प्रधान कार्य किया, इस आधार पर 'वेदव्यास' नाम पड़ा। भारतीय साहित्य के मूर्द्धन्य ग्रन्थ वेद हैं, उनके आराधन के आधार पर एक नाम प्रसिद्ध हो जाने पर अन्य कार्य एक प्रकार से उसी में अन्तर्भुक्त होकर गौण हो जाते हैं; उनका उल्लेख नहीं किया गया, यह एक साधारण बात है। जो नाम अनायास परम्परा से स्वतः प्राप्त होता हो, उसके उल्लेख की आवश्यकता का प्रश्न नहीं उठता। 'बादरायण' नाम का उल्लेख इस प्रसंग में नहीं है, यह कोई इतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं। समस्त महाभारत में वेदव्यास का 'अष्टादशपुराणकर्त्ता' के रूप में कहीं उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। प्रबोधकाल से सुनते चले आ रहे हैं—**'अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः'**,—यह किसी पुराण का कथन सम्भव है।

पुराणों में ऐसे उल्लेख हैं, जहाँ वेदव्यास के 'बादरायण' नाम का पता लगता है। कतिपय श्लोक निम्न प्रकार देखने में आते हैं—

व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्।।
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः।।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥[1]

इन श्लोकों के आधार पर वेदव्यास के 'बादरायण' नाम का निश्चय होता है। इन श्लोकों में तथा अन्यत्र भी वेदव्यास के पूर्वज पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा गिनाये जाते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि का आदिपुरुष माना जाता है। ज्यौतिष शास्त्रों के आधार पर बताई जाने वाली कालगणना के अनुसार यदि ब्रह्मा को वैवस्वत मन्वन्तर का आदिपुरुष माना जाय, तो भी इस मन्वन्तर की अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के द्वापर के अन्तिम भाग में होने वाले वेदव्यास के पूर्वज अतिदीर्घकाल में केवल चार व्यक्ति हुए हों, यह सर्वथा असम्भव है। निश्चित है कि इस वंशपरम्परा में अनेकानेक व्यक्ति हुए; पर अतिसमीप के पिता का नाम, मध्य में हुए प्रसिद्धतम पिता-पुत्र वसिष्ठ और शक्ति का नाम तथा सबसे आदि-पुरुष ब्रह्मा का नाम निर्दिष्ट कर दिया जाता है। यह कोई असम्भावित एवं आश्चर्य की बात नहीं है कि पराशर के पिता, पितामह या प्रपितामह आदि में 'बदर' नाम के व्यक्ति रहे हों। बदर के अपत्य 'बादरि' नामक आचार्य का ब्रह्मसूत्रों में बादरायण ने स्वयं उल्लेख किया है, और उसके मतों का विवेचन[2] किया है। फलतः महाभारत के उक्त प्रसंग में कृष्णद्वैपायन के 'बादरायण' नाम का उल्लेख न होने पर भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जबकि उसी स्तर के प्रमाणान्तरों से यह बात सिद्ध है।

डॉ० आचार्य की इस तीसरी आपत्ति के पेटे में दूसरा अंश इस प्रकार है—

"(आ) पराशर-पुत्र वेदव्यास के लिए 'बादरायण' नाम किसी प्रकार

---

१. कल्याण, वर्ष १४, अङ्क १; गीतातत्त्वाङ्क, पृष्ठ १५३ के आधार पर। इनमें से अन्तिम पद्य अलङ्कार-ग्रन्थों में उदाहरणरूप में उद्धृत हुआ मिलता है। देखें—कुवलयानन्द, अप्पय्य दीक्षित कृत, रूपकालङ्कार प्रसंग। तथा रसगंगाधर, पृ० ४३६। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से ई० १९१६ में प्रकाशित, तृतीय संस्करण। इस ग्रन्थ में श्लोक के अनन्तर लिखा है—'इति पौराणपद्येऽपि रूपकमेव।' उक्त ग्रन्थकार के विचार से यह पद्य किसी पुराण का है। किस पुराण का है, इसका पता नहीं लगाया जा सका। गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रसिद्ध तपस्वी श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी, श्री डॉ० राम-शंकर भट्टाचार्य आदि अनेक संस्थाओं तथा पुराणों के विशेषज्ञ विद्वानों से ज्ञात किया। कतिपय जगद्गुरु शङ्कराचार्यों की सेवा में भी मैंने मौखिक रूप से इस विषय को प्रस्तुत किया, पर उक्त श्लोक के मूल-स्थान का पता नहीं लग सका। मूलस्थान के पूर्वापर-प्रसंग के अवलोकन से यह निश्चय किया जा सकता है कि उक्त श्लोक में बादरायण नाम से की गई प्रशंसा किस व्यक्ति की है।

२. देखें ब्रह्मसूत्र, १।२।३०॥ ३।१।११॥ ४।३।१७॥ ४।४।१०॥

उपपन्न भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जैसा कि उक्त श्लोक से स्पष्ट है, वे अपने 'अयन' के कारण तो 'द्वैपायन' कहे ही गये हैं, परिशेषत: पाणिनि के अनुसार नडादिगण (पा० सू० ४।१।९९) में परिगणित 'बदर' शब्द से गोत्रापत्य में 'फक्' प्रत्यय से इसकी निष्पत्ति माननी पड़ेगी; किन्तु परम्परा के अनुसार वेदव्यास के कोई पूर्वज 'बदर' नहीं हुए हैं; उनके पूर्वज केवल ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति और पराशर[1] हैं।"

वेदव्यास का 'बादरायण' नाम उपपन्न न होने में यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया कि उसके पूर्वज केवल चार व्यक्ति हुए, जिनमें 'बदर' का नाम नहीं है, जिसके गोत्रापत्य-रूप में 'बादरायण' नाम वेदव्यास का कहा जा सके। इस विषय में अभी ऊपर की पंक्तियों द्वारा संकेत किया गया है कि वेदव्यास के आदिपुरुष ब्रह्मा से लेकर पराशर तक केवल चार व्यक्तियों में इतना लम्बा लाखों वर्षों का समय व्यतीत हो जाना किसी भी रीति पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता। महाभारत, पुराण एवं अन्य साहित्य में वेदव्यास के पूर्वज-रूप से जो केवल चार नामों का उल्लेख पाया जाता है, वह अवश्य किसी धारणा के अनुसार माना जा सकता है, जबकि निश्चित रूप में ब्रह्मा से लेकर पराशर तक सहस्रों व्यक्ति वेदव्यास के पूर्वज हो चुके होंगे। इतने लम्बे काल के इतिहास में पूर्वजों की अविकल सूची का दिया जाना सर्वथा असम्भव है। इस विषय में यह सुझाव अधिक उपयुक्त एवं युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट चार व्यक्तियों की सूची में एक वेदव्यास के साक्षात् पिता का नाम है, दो नाम उस वंशपरम्परा के मध्य बहुत पहले होने वाले अतिप्रसिद्ध व्यक्ति वसिष्ठ और उनके पुत्र शक्ति के हैं। एक नाम आदिपुरुष ब्रह्मा का है। इस प्रकार आदिपुरुष एवं मध्यगत दो व्यक्तियों के साथ पिता का नाम देकर उस लम्बी वंशपरम्परा का संकेत कर दिया गया है।

इस प्रसंग के जहाँ कहीं उल्लेख हैं, यह निश्चित है कि उनमें केवल कोई एक स्थल सर्वप्रथम निर्दिष्ट किया गया होगा; अनन्तरवर्त्ती समस्त लेखकों ने उसी का अनुसरण किया। इतिहास जितना अधिक पुराना हो जाता है, उतना ही अधिक अति-संक्षिप्त। यदि आज हम उसको उसी रूप में उतना ही यथार्थ समझें, तो

१. म० भा०, १२।३४९।३-७।। गो० पु० सं०।। महाभारत के इस प्रसंग में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि ब्रह्मा से छठे कृष्णद्वैपायन हुए। महाभारत का यह प्रसंग किसने कब लिखा, यह कहना कठिन है, पर यह अधिक निश्चित कहा जा सकता है कि स्वयं कृष्णद्वैपायन का यह लेख कदाचित् नहीं है। इस प्रसंग में कृष्णद्वैपायन के मुख से अपने पूर्व-जन्म और नारायण के अंश से अपने-आपका उत्पन्न होना वर्णित है। ५९वें श्लोक में कहा है कि पहले मैं 'अपान्तरतमा' ऋषि हुआ, और अब वसिष्ठकुल में उत्पन्न हुआ हूँ।

ऐसा समझना विचारपूर्ण नहीं कहा जा सकता। फलतः पूर्वजों की इस लम्बी परम्परा में 'बदर' नाम के ऋषि या आचार्य का होना असम्भावित नहीं है। यदि वेदव्यास के 'बादरायण' अपर नाम होने के प्रमाण उपलब्ध हैं, तो इसीसे उसके पूर्वजों में 'बदर' नामक व्यक्ति का होना सिद्ध होता है। यह सम्भव है कि पराशर के पिता, पितामह या प्रपितामह आदि में से इस नाम का कोई पूर्वज रहा हो।

वेदव्यास के 'बादरायण' नाम का आधार

वेदव्यास कृष्णद्वैपायन का शिक्षा-केन्द्र हिमालय की घाटियों में किसी ऐसे स्थान पर था, जहाँ दूर तक फैला बेर के वृक्षों व झाड़ियों का जंगल था। उनके बादरायण अपर नाम का विशेष कारण उनका यही 'बदरीवन' में निवास बताया जाता है। उनके इस निवास का पुराणों में अनेकत्र वर्णन पाया जाता है। उसका नाम बदरी-आश्रम अथवा बदरिकाश्रम प्रसिद्ध है। उसी आधार पर वेदव्यास का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। **'बदरीणां समूहो यत्र प्रदेशे स बादरः प्रदेशः, बादरः अयनं यस्य सः बादरायणः।'** व्यवहार में लोग उनको इस नाम से पुकारते रहे। यह अधिक सम्भव है कि उन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना इसी आश्रम में रहते हुए की हो; यह उनका शिक्षाकेन्द्र था, सूत्रों में इसी कारण केवल 'बादरायण' नाम का निर्देश हुआ है। द्वीप-अयन उनका जन्मस्थान है, इस कारण वे द्वैपायन हुए; उनके कार्य-काल का अयन बदरीवन है, इस निमित्त से उनका नाम 'बादरायण' प्रसिद्ध हुआ।

ब्रह्मसूत्रों की रचना, क्या वेदव्यासकर्त्तृकता में बाधक है ?

ब्रह्मसूत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास की रचना है, इसमें चौथी आपत्ति डॉ० आचार्य ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"(४) ब्रह्मसूत्रों के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि ये वेदव्यास की कृति नहीं हो सकते; उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा का स्वरूप बहुत-कुछ विशुद्ध विचारात्मक होता, इतना निराकरणात्मक नहीं, जैसा कि ब्रह्मसूत्रों में है; ब्रह्म-कारणवाद-स्थापना का स्वरूप भी इतना आक्षेप-निराकरणात्मक नहीं होता, परमत-निराकरण में भी इतना अभिनिवेश न होता। इसके अतिरिक्त शैली भी 'इति चेन्न' आदि के समान अर्वाचीन प्रयोगों से इतनी व्याप्त नहीं होती।"

इस आपत्ति के दो अंश हैं, एक ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विचारों का अधिक निराकरणात्मक होना तथा दूसरा सूत्रों की अर्वाचीन रचनाशैली। जहाँ तक पहली बात का प्रश्न है, डॉ० आचार्य के सन्मुख ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषय के आदर्शरूप में आचार्य शंकरकृत सूत्रभाष्य है। प्रतीत होता है, डॉक्टर महोदय ने

स्वतन्त्ररूप से सब वादों से ऊपर उठकर, किसी भाष्य से अभिभूत न होकर, सूत्रों की आन्तरिक प्रवृत्ति को परखने का समुचित प्रयास नहीं किया। गम्भीरता से विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि सूत्रों में निराकरण की प्रवृत्ति को उभारने का भारी प्रयत्न, कदाचित् अपने काल की परिस्थितियों से अभिभूत होकर आचार्य शंकर ने किया है; अनन्तरवर्त्ती समस्त व्याख्याकारों ने आँख मूँदकर उसका अनुसरण किया। आचार्य शंकर की प्राञ्जल भाषा और चातुर्यपूर्ण युक्तिप्रदर्शन की रीति के चमत्कार ने सभी को चौंधिया दिया। वस्तुतः देखा जाय तो सूत्रों में प्रतिपाद्य अर्थ के विशुद्ध विवेचन की भावना का ही प्राधान्य है।[1]

इस प्रसंग में जहाँ तक ब्रह्मकारणवाद की स्थापना का प्रश्न है, उसके स्वरूप का विवेचन सूत्रों के आधार पर यह स्पष्ट नहीं करता कि सूत्रों में आक्षेप निराकरणात्मक रूप से उसकी स्थापना का प्रयास किया गया है। इसके लिए सूत्रों पर हमें एक साधारण दृष्टिपात करना होगा। इससे पूर्व 'ब्रह्मकारणवाद' पद के प्रयोग की विशेषता को जाँचना है। सभी प्रधान दार्शनिक ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं, तब विशेषरूप से उसकी स्थापना का यहाँ क्या प्रयोजन है? तात्पर्य निकाला गया कि यहाँ ब्रह्म की जगदुपादानकारणता की स्थापना की गई है, जो अन्य दर्शनों में नहीं; स्थापना का यही विशेष प्रयोजन है। पर इससे ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उपपादन होता है, या नहीं?—यह भी विचारणीय है। कहीं ऐसा तो नहीं कि इस स्थापना में ब्रह्म को विद्रूप बना दिया जाता हो? इसके साथ यह भी विचारना है कि ब्रह्मसूत्ररचना का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उपपादन करना है, या उसकी जगदुपादानकारणता की स्थापना करना?

सूत्ररचना का उद्देश्य व सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय

सूत्रों का गम्भीर विवेचन इस परिणाम पर पहुँचाता है कि वस्तुतः इस शास्त्र की रचना का प्रयोजन ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उपपादन करना है, न कि ब्रह्म की जगदुपादानकारणता की स्थापना करना। प्रथम सूत्र से ब्रह्मविषयक अथवा ब्रह्मस्वरूप की जिज्ञासा कर अगले तीन सूत्रों से अनुमान एवं शब्द-प्रमाण के आधार पर उसके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। क्योंकि जिसकी सत्ता सम्भव नहीं, उसके स्वरूप का विवेचन निराधार आकाशताड़ितमात्र होगा, इसलिए आवश्यक है—जिसके स्वरूप की जिज्ञासा की गई उसके अस्तित्व को

१. इस रूप में सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को समझने के लिए कोई भी विचारक अध्येता 'ब्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य' के सहयोग को अनुकूल पायेगा।

सर्वप्रथम सिद्ध किया जाय, जो अगले तीन सूत्रों से किया गया। जिस रीति पर यहाँ ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध किया है—अनुमान और शब्द-प्रमाण के आधार पर, ठीक इसी रीति पर अन्य दर्शनों में ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है; यहाँ जगदुपादानकारणता की बहस को उभारना सर्वथा उत्प्रकरण है। आचार्य शंकर ने सर्वप्रथम इस अप्रसक्त अर्थ को यहाँ उभारा है। शंकर अथवा उनकी विचारधारा को माननेवाले कोई भी अन्य आचार्य इस समस्या के समाधान में सर्वथा अक्षम रहे हैं कि जगत् को ब्रह्म का विकार या परिणाम मानकर ब्रह्म अविकारी या अपरिणामी कैसे रह सकता है? इस विषय पर जितना ग्रन्थभार है, वह सब शब्दजालमात्र है, यथार्थ का उसमें लेश नहीं। तब ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को बतलाने की प्रतिज्ञा कर उसको विकृत रूप में प्रस्तुत करना शास्त्ररचयिता की भावना कभी नहीं हो सकती।

इस प्रकार प्रथम चार सूत्रों से ब्रह्म के सत्तास्वरूप को सिद्ध कर अगले अधिकरण [सूत्र ५–११] से उसके चित्स्वरूप का उपपादन किया गया है। इस प्रकरण में सांख्य के निराकरण का संकेतमात्र तक नहीं है। वह सब अपनी कल्पना से आचार्य शंकर ने बलात् उभारा है। जो कुछ पूर्वपक्ष बनाकर सांख्य की ओर से आचार्य ने प्रस्तुत किया है, उसका लेश भी प्राचीन सांख्यग्रन्थों में कहीं उपलब्ध नहीं होता। यदि सूत्रकार को ऐसा अभिमत होता, तो उसने जिस प्रकार अनेक आचार्यों का नाम लेकर उनके मतों का विवेचन किया है, यहाँ पर भी वह ऐसा कर सकता था। केवल आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रों की व्याख्यारीति के आधार पर ऐसा कहना या समझना कि सूत्रों में आक्षेप-निराकरण की भावना का प्राधान्य है, सर्वथा निराधार है। इस प्रकार सूत्रकार ने यहाँ तक ब्रह्म के सत् और चित्स्वरूप का उपपादन किया है। अगले कतिपय [१२–१६] सूत्रों में ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का प्रतिपादन है। शास्त्र के प्रारम्भ में यहाँ तक सूत्रकार ने ब्रह्म के वास्तविक सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप का उपपादन किया, जो शास्त्रकार की दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। इसमें अन्य किसी प्रसंग का कोई अवकाश नहीं।

इसके आगे प्रथम अध्याय की समाप्ति तक सूत्रकार ने ऐसे शास्त्रीय [वैदिक अथवा औपनिषद] सन्दर्भों का विवेचन किया है, जिनमें ब्रह्म का वर्णन करते हुए ब्रह्म के लिए ऐसे पदों का प्रयोग है, जो अर्थान्तरों को भी कहते हैं। उन प्रसंगों में अन्य अर्थों का वर्णन न समझकर केवल ब्रह्म का वर्णन समझना चाहिए, ऐसा निर्णय सूत्रकार ने किया है। प्रसंगागत अन्य सम्बद्ध अर्थों का कहीं विवेचन हो गया है। समस्त अध्याय में परमत-निराकरण की भावना का कोई संकेत सूत्रकार का प्रतीत नहीं होता।

द्वितीय अध्याय के पहले-दूसरे पाद में आचार्य शंकर ने परमत-निराकरण

की आँधी उठा दी है। वस्तुतः शास्त्र के प्रारम्भ में जिस ब्रह्मस्वरूप का प्रतिज्ञा-पूर्वक उपपादन किया है, उसी स्वरूप की दृढ़ता के लिए—'स्थूणानिखननन्याय' के अनुसार विविध आशंका उठाकर उनके समाधान के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन पादों में आचार्य शंकर ने जिन सूत्रों के द्वारा बौद्धमत का निराकरण प्रस्तुत किया है, उससे पूर्व का समस्त प्रसंग केवल इस विषय का उपपादन करता है कि ब्रह्म की अपेक्षा के बिना प्रकृति आदि के द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया का सम्पादन नहीं किया जा सकता। जगत्सर्ग में प्रकृति ब्रह्म का प्रतियोगी तत्त्व नहीं है कि जगत् का कारण या तो प्रकृति को मानो या ब्रह्म को; वस्तुतः अपनी-अपनी जगह पर दोनों कारण हैं। इस प्रसंग के विवेचन का केवल इतना तात्पर्य है कि ब्रह्म के बिना केवल प्रकृति द्वारा जगत्सर्ग सम्भव है, या नहीं? सूत्रकार ने निश्चय किया, यह सर्वथा असम्भव है। जगत्सर्ग के लिए प्रकृति को ब्रह्म-प्रेरणारूप में उसका सहयोग नितान्त अपेक्षित है, इसलिये जगत्सर्ग में ब्रह्म की उपेक्षा करना सर्वथा असम्भव है। यह सब शास्त्रारम्भ के दूसरे सूत्र का विस्तृत युक्तिपूर्ण उपपादन है। इसका आधार ब्रह्म के अस्तित्व और यथार्थस्वरूप के विवेचनमात्र की भावना है, किसी के निराकरण की नहीं।

आगे वह प्रसंग है, जिसमें बौद्ध-जैन मतों का निराकरण बताया जाता है। विचारना चाहिए, ब्रह्म के अस्तित्व को उसी अवस्था में स्वीकार करना पड़ता है, जब यह कहा जाता है कि जगत् उत्पन्न होता है। जब जगत् को उत्पन्न हुआ माना जाता है, तो उसके उत्पादक से नकार नहीं किया जा सकता, उसे अवश्य मानना पड़ेगा। इस अवसर पर सूत्रकार के सामने यह विकल्प प्रतिभात हुआ कि जगत् को उत्पन्न हुआ न माना जाय, तो ब्रह्म के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर जगत् कैसे? जगत् 'मूल उपादान-तत्त्वों का समुदायमात्र' है। जगत् मूलतत्त्वों से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत समुदित मूलतत्त्व ही जगत् है। ब्रह्म साफ उड़ गया इस विकल्प के सामने। इसी आशंका का समाधान सूत्रकार ने उक्त प्रसंग में किया है। सूत्रकार की भावना किसी विशेष मत का निराकरण करने की नहीं है। उसने एक साधारण विकल्प की उद्भावना कर उसके समाधान द्वारा केवल ब्रह्म के सत्तास्वरूप को दृढ़ किया है। विचार की कुछ समानता पाकर भाष्यकार आचार्य शंकर ने उसमें से बौद्धमत का निराकरण उछाल लिया। कहा जाता है कि इस प्रसंग के सूत्रों में बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पदों का प्रयोग हुआ है; इसका विवेचन पाँचवीं आपत्ति के अवसर पर किया गया है। यह सब ब्रह्मसूत्रों के डेढ़ अध्याय का विषय है। आगे शास्त्र की समाप्ति तक परमत-निराकरण का कोई प्रसंग नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है—आक्षेप-निराकरणात्मक रूप से किसी विषय की स्थापना करने का प्रयास सूत्रकार का अपना भाव नहीं है। इस भावना को भाष्यकार आचार्य शंकर ने अपने काल की

परिस्थिति से अभिभूत होकर सर्वप्रथम उभारा है।

प्रस्तुत आपत्ति का दूसरा अंश है—वर्त्तमान सूत्रों की अर्वाचीन रचना-शैली, जिसमें 'इति चेन्न' इत्यादि पदों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग सूत्रों की अर्वाचीन रचना को प्रकट करते हैं।

इस विषय में विचारणीय है—प्राचीन-अर्वाचीन की सीमा-रेखा क्या है? कौन-से काल से पहला प्राचीन और अनन्तर का अर्वाचीन समझा जाय, इसका निर्णय कठिन है; इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों[1] में भी ऐसी रचनाएँ देखी जाती हैं। इतने आधार पर उन सबको किसी एक नियत काल की रचना कहते रहना सर्वथा निराधार है। वस्तुतः दर्शनग्रन्थों में इस प्रकार की रचना का होना स्वाभाविक है, क्योंकि वहाँ साधक-बाधक युक्तियों का प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होता है। ऐसे प्रयोग अथवा उनकी न्यूनाधिकता किसी विशेष काल में रचना होने के नियामक नहीं माने जा सकते।

डॉ० आचार्य की पाँचवीं आपत्ति महत्त्वपूर्ण है। उसके रहते हुए ब्रह्मसूत्रों के व्यासप्रणीतत्व की सम्भावना समाप्त हो जानी चाहिए। उसके उपयुक्त विवेचन के लिए लम्बे सन्दर्भ को अविकल उद्धृत कर देना सुविधाजनक होगा। आपत्ति इस प्रकार है—

"(५) सूत्रों के द्वारा 'तर्कपाद' (अ० २।२) में निराकृत मतों के निराकरण को देखकर ब्रह्मसूत्रों के वेदव्यासप्रणीतत्व की सम्भावना बिल्कुल समाप्त हो जाती है। उक्त पाद में निराकृत अन्य मतों तथा बौद्धों की जगन्नास्तित्व-वादिनी विचारधारा के निराकरण को, चाहे, यह कहकर टाल दिया जावे कि उक्त मत अनादि प्रवाह से चले आ रहे हैं, किन्तु बौद्धों की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा के निराकरण की संगति किसी प्रकार भी नहीं लग सकती। सूत्रों में 'इतरेतरप्रत्ययत्व' (सू० २।२।१८), 'पूर्व-निरोध' (सू० २।२।१९), 'प्रतिसंख्या-प्रतिसंख्यानिरोध' (सू० २।२।२१) आदि असाधारण पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग, वह भी उन्हीं अर्थों तथा भावों में जो एकमात्र बौद्धमत में परिगृहीत हैं, और उनके साथ 'संघातवाद' 'प्रतीत्यसमुत्पाद' 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध', 'क्षणिकत्ववाद', 'असंस्कृतत्रयवाद' आदि एकमात्र बौद्धमत के विशिष्ट एवं असाधारण सिद्धान्तों के निराकरण से पूर्णतया स्पष्ट है यह महात्मा गौतम बुद्ध के मूल से प्रवर्त्तित परम्परा में विकसित प्रसिद्ध ऐतिहासिक बौद्धमतविशेष का निराकरण है, जो कि महात्मा गौतमबुद्ध से दीर्घकाल के व्यवधान से पूर्ववर्त्ती

---

१. ऐसी रचना के लिए देखें, जैमिनीय मीमांसादर्शन, १।२।२०-२१।। १।३।११-१२; ४४-४५।। ३।६।२१-२२; २३-२४।। ३।७।३-४; ३४-३५, इत्यादि। न्याय-दर्शन—२।१।३६।। २।२।६।। ३।२।६६।।

वेदव्यास के लिए कथमपि सम्भव नहीं; और इसको प्रक्षिप्त न तो भाष्यकारों की परम्परा मानती है और सूत्रों के निराकरणात्मक स्वरूप, विषयों की परस्पर संगति और प्रतिपादन-शैली आदि की दृष्टि से न ऐसा मानना उचित ही है। सूत्रों का वर्त्तमान रूप ही उनका मौलिक रूप है और वे एक ही कर्त्ता की कृति हैं।"

उक्त सन्दर्भ द्वारा ब्रह्मसूत्रों के वेदव्यासप्रणीतत्व में प्रकट की गई आपत्तियों का विश्लेषण इस प्रकार समझना चाहिए—

(क) तर्कपाद [अ० २।२] में बौद्धों की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण।

(ख) बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पदों का सूत्रों में प्रयोग तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का निराकरण।

(ग) इन सूत्रों का किसी भी आधार पर प्रक्षिप्त न माना जाना।

यह स्थिति वेदव्यास द्वारा इन सूत्रों की रचना की सम्भावना को सर्वथा समाप्त कर देती है, क्योंकि सूत्रों में प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक पद तथा ये सिद्धान्त महात्मा गौतम बुद्ध के मूल से प्रवर्त्तित परम्परा में विकसित हुए, जिनका निराकरण दीर्घकाल के व्यवधान से पूर्ववर्त्ती वेदव्यास के लिए किसी तरह सम्भव नहीं। आइये, इसपर विचार करें।

ब्रह्मसूत्रों के द्वितीय अध्याय का दूसरा पाद 'तर्कपाद' कहा जाता है। इस पाद के जिन सूत्रों द्वारा बौद्धमतविशेष का निराकरण किया गया है, वे पन्द्रह [१८–३२] सूत्र हैं। आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार इन सूत्रों में दो अधिकरण हैं—पहला दस सूत्र का, दूसरा पाँच का। पहले में बौद्धदर्शन की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण है, दूसरे अधिकरण में विज्ञानवादी विचारधारा का। यह एक ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में बौद्धदर्शन के मुख्य सिद्धान्त माध्यमिक मत अर्थात् शून्यवाद का कोई उल्लेख नहीं हुआ।

प्रथम अधिकरण के सूत्रों में जिन पारिभाषिक पदों का प्रयोग बताया जाता है, वस्तुतः वे पद बौद्धदर्शन के पारिभाषिक हैं, इसका कोई आधार नहीं है। आचार्य शंकर ने इन सूत्रों का व्याख्यान जिस रीति पर किया है, सम्भवतः वह इन पदों की पारिभाषिकता के लिए एक आधार कल्पना कर लिया गया है। इतरेतरप्रत्ययत्व की व्याख्या के लिए आचार्य ने जिन अविद्या संस्कार नाम रूप षडायन आदि का निर्देश किया है, वह स्वयं संघात है; इनको संघात की उपपत्ति के लिए इतरेतरकारणता के रूप में प्रस्तुत करना संशयकोटि से बाहर नहीं जाता। कहना यह चाहिए कि कोई भी संघात सर्वप्रथम मूल उपादान में चेतना की प्रेरणा बिना तथा उसमें [मूल उपादान में] कोई भी परिवर्त्तन हुए बिना कैसे बन जाता है? वस्तुतः सूत्रभावना की उपेक्षा कर व्याख्याकार आचार्य ने

एक अप्रसक्त संदिग्ध आधार को लेकर व्याख्या कर दी है; उसके आधार पर हम इन पदों की बौद्ध पारिभाषिकता की कल्पना कर लेते हैं, जो सर्वथा अन्यथा-विचार है। यही स्थिति 'पूर्वनिरोध' पद की है।

इस सब स्थिति को समझने के लिए हमें उस आधार की वास्तविकता को प्रथम जान लेना चाहिए, जिसके अनुसार सूत्रकार ने इस प्रकरण को प्रस्तुत किया है। ब्रह्मसूत्रों की रचना का मुख्य उद्देश्य सूत्रकार के सन्मुख है—ब्रह्म की निर्बाध एवं निर्भ्रान्त सत्ता को स्पष्ट सिद्ध करना। ब्रह्मजिज्ञासा की अभिव्यक्ति के अनन्तर 'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १।१।२] इत्यादि से प्रारम्भ कर समस्त प्रथमाध्याय में युक्ति और प्रमाणों के आधार पर ब्रह्म के यथार्थ सच्चिदानन्द-स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करने के लिए सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि जगत् की उत्पत्ति आदि के लिए किसी चेतन नियन्ता का माना जाना आवश्यक है, क्योंकि जड़ जगत् का कोई भी जड़ उपादान-तत्त्व चेतनप्रेरणा के बिना कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। ब्रह्म-सूत्रों के द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद के प्रारम्भिक सूत्रों द्वारा इस अर्थतत्त्व को पुष्ट किया है।

इस स्तर पर आकर 'स्थूणानिखननन्याय' से उक्त अर्थ को और अधिक पुष्ट करने की भावना से सूत्रकार एक विकल्प की उद्भावना करता है। सूत्रकार के सामने विकल्प है कि ब्रह्म की सत्ता को अनिवार्यरूप से स्वीकार करने के लिए उसी अवस्था में बाध्य होना पड़ता है, जब मूल उपादानतत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति होना माना जाता है; क्योंकि जगत् की उत्पत्ति मानने पर उत्पादक के अस्तित्व से नकार नहीं किया जा सकता। इसलिये यदि मूल उपादानों से जगत् की उत्पत्ति न मानकर यह मान लिया जाय कि मूल उपादानतत्त्व स्वयं दृश्यमान जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं, तो फिर ब्रह्म की अपेक्षा नहीं रहती। जब जगत् उत्पन्न नहीं होता, तो उत्पादक अनावश्यक है। सूत्रकार ने उक्त प्रकरण में इसी विकल्प का विवेचन किया है।

मूल उपादानतत्त्वों के जगद्रूप में प्रतीत होने के लिए उनमें कुछ विशेषताओं को मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि अदृश्य अव्यक्त उपादानतत्त्व दृश्य एवं व्यक्तरूप में कैसे प्रतीत होने लगते हैं, इसके लिए आवश्यक है उनको परि-वर्त्तनस्वभाव माना जाय। कोई परिवर्त्तन कितना काल ले लेता है, इसके नियमन व व्यवस्थापन का कोई तुला-मान सम्भव न होने के कारण यही स्वीकार कर लिया जाता है कि उपादानतत्त्व प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील हैं। प्रस्तुत प्रकरण की व्याख्या इतनेमात्र विकल्प को आधार मानकर की जानी चाहिए। अठारहवें सूत्र से लगाकर बत्तीसवें सूत्र तक [२।२।१८–३२] इसी आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सूत्रकार की भावना बौद्धदर्शन अथवा किसी अन्य विशेष

सिद्धान्त के निराकरण की नहीं है, न यह सम्भव है। सूत्रकार तो केवल ब्रह्मसत्ता को दृढ़तर आधारों पर सुपुष्टरूप में सिद्ध करना चाहता है; उसमें जो विरोधी विकल्प हो सकते हैं, उनकी उद्भावना कर उसी आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया है।

प्रकृत विकल्प में जिन मान्यताओं का उद्भावन सम्भव है, किसी सीमा तक उनकी समानता अनन्तर-काल में विकसित बौद्धदर्शन के साथ होने से आचार्य शंकर ने अपने काल में उस समानता के आधार पर सूत्रों में से बौद्धदर्शन के कतिपय वादों को उभारने का प्रयास किया है। आचार्य को अपने काल में अवैदिक बौद्धमत का निराकरण अभीष्ट था। प्रस्तुत सूत्रों में उसके लिए अनुकूल संकेत पाकर आचार्य ने अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए इनको उपयुक्त समझा। केवल बौद्धदर्शन का प्रतिवाद अभिलषित सिद्धि के लिए इतना अधिक फलप्रद न समझा जाता, इसलिये आचार्य ने अनेक आस्तिक-नास्तिक वादों का निराकरण सूत्रों में से उभारने का प्रबल प्रयास किया, जिससे बौद्धनिराकरण एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया में आ गया प्रतीत होने लगा। इसके फलस्वरूप सूत्रों की भावना निराकरणात्मक कही जाने लगी, तथा सूत्रकार की अपनी मूलभूत—केवल वस्तुतत्त्वविषयक विवेचनात्मक—भावना ओझल कर दी गई। सूत्रों के आन्तरिक यथार्थ आशय को समझने के लिए इस भावना की उपेक्षा से विरत होना होगा।[1]

सूत्रों में बौद्ध पारिभाषिक पद

सूत्रार्थविवेचन की इस पद्धति का ध्यान रखते हुए देखना चाहिए कि प्रकृत सूत्रों में बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पद तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्देश कहाँ तक उपलब्ध है। पूर्वोक्त आपत्ति-सन्दर्भ [सं० ५] में जिन तीन पारिभाषिक पदों के सूत्रगत प्रयोग का उल्लेख किया गया है, उनकी बौद्धदर्शन-पारिभाषिकता किसी प्रकार प्रमाणित नहीं है। जिस विकल्प के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत है, उसमें अभिप्रेत अर्थ की उपपत्ति के लिए जिन पदों का साधारणरूप में प्रयोग अपेक्षित है, वैसे पदों का यह प्रयोग है। इन अर्थों का उपपादन करनेवाला कोई दर्शनकार या आचार्य स्वभावतः इन पदों का प्रयोग करेगा।

'प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' [ब्र० सू० २।२।२२] पदों के प्रयोग की ओर विशेषरूप से ध्यान दिलाया जाता है कि यह असाधारण प्रयोग है, तथा प्रकरण के अभिप्रेत अर्थ में इनका प्रयोग केवल बौद्धदर्शन में परिभाषित है। व्याख्याकार इन पदों का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

---

१. इस भावना से सूत्रों की व्याख्या के लिए देखें हमारी रचना—'ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य'।

'प्रति' उपसर्ग का अर्थ है—प्रतिकूल, विरोधी; 'संख्या' का अर्थ है—बुद्धि, ज्ञान। यह पद 'सम्'-उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातु को 'ख्या' आदेश होकर बनता है, जिसके अर्थ का निर्देश धातुपाठ में किया गया है—'व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेपि'। यह धातु व्यक्त वाणी बोलने तथा 'दर्शन'-'ज्ञान' अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार 'विद्यमान भाव को मैं अविद्यमान करता हूँ, इस प्रकार किसी भाव के प्रतिकूल बुद्धि 'प्रतिसंख्या' कही जाती है। ऐसी बुद्धि से जो भाव [वस्तु] का विनाश [-न होना] द्योतित होता है, वह 'प्रतिसंख्यानिरोध' है। इसके विपरीत भावों का जो स्वभावतः एवं कारणवैकल्य से अभाव-विनाश होता रहता है, वह 'अप्रतिसंख्यानिरोध' है।

प्रकरण यह चल रहा है कि यह जगत् मूल उपादान परमाणु-तत्त्वों का समुदायमात्र है। इस मान्यता में परमाणु एवं समुदाय को अनिवार्यरूप से प्रति-क्षण परिवर्त्तनशील मानना पड़ता है; इसमें परमाणु-समुदाय को तथा पूर्वसमुदाय परसमुदाय को परिवर्त्तितरूप में प्रस्तुत किया करता है,—यह प्रक्रिया स्वीकार की जाती है। न्यूनाधिकता का कोई नियामक न होने से यह परिवर्त्तन प्रतिक्षण होता माना जाता है। प्रकरण के गतसूत्रों में बताया गया कि इस मान्यता के अनुसार पूर्वसमुदाय के सर्वथा नष्ट होने पर उत्तरसमुदाय का उत्पन्न होना सम्भव नहीं; क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक है।

प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि किसी भाव [वस्तु] का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं। वस्तु का विनाश या अभाव दो प्रकार से कहा जाता है, एक—वस्तु-सत्ता को बुद्धिपूर्वक वस्तु-असत्ता के रूप में समझना। यह उन बुद्धिमान् विद्वान् ज्ञानियों के विषय में है, जो जगत् की क्षणिक=अस्थायी सत्ता को वास्तविक असत्ता के रूप में समझ सकते हैं। दूसरा प्रकार—वस्तु की वह स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसे समु-दायवाद में इस रूप से माना जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होने पर जब उसकी समान सन्तति का आघात एवं कारणवैकल्य आदि से क्षय हो जाता है। इन दोनों प्रकारों में वस्तु के सत्ताक्षण के अनन्तर उस वस्तु का किसी प्रकार का कोई अस्तित्व नहीं समझा जाता।

सूत्रकार ने इस विचार को यह हेतु देकर असंगत बताया कि किसी वस्तु का सर्वथा विच्छेद [उच्छेद—विनाश] नहीं होता। उत्पत्ति के समान विनाश भी एक परिवर्त्तन है; परिवर्त्तन-क्रिया आश्रय के बिना असम्भव है। जैसे उत्पत्ति में कार्य कारणतत्त्वों से अन्वित [सम्बद्ध—युक्त] रहता है, कारण से अनन्वित कार्य नहीं हो सकता, ऐसे ही कार्य का विनाशरूप परिवर्तन कारण से अन्वित रहता है। कपड़े के फट जाने पर अथवा घड़े के फूट जाने पर उनके कारणतत्त्व तन्तुओं एवं मृण्मय खण्डों को पहले के समान उपलब्ध किया जाता है।

वस्तु की सामान्य दशा में उस वस्तु को पूर्वापर काल में एकरूप से पहचाना जाता है। यद्यपि वस्तु की क्षणिकता में यह युक्ति दी जा सकती है कि बालक-शरीर युवा और युवाशरीर वृद्ध अथवा जीर्ण हो जाता है। यह परिवर्त्तन एक-साथ नहीं होता, प्रतिक्षण धीरे-धीरे होता हुआ कालान्तर में अनुभूत होता है; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें एक अन्वित धर्मी आवश्यक रूप से विद्यमान रहता है। बाल-युवा-वृद्धशरीर में धर्मों का उपचय-अपचय अवश्य रहता है, जो इस अनुभूत परिवर्त्तन का निमित्त है; पर वहाँ उस अन्वित धर्मी से नकार नहीं किया जा सकता, जिसके आधार पर बालक-युवा-वृद्ध देवदत्त को कालान्तर व देशान्तर में एकरूप से बराबर पहचाना जाता है। दार्शनिक भाषा में इसका नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। इसके आधार पर लोकव्यवहार सम्पन्न होता है; अन्यथा समस्त वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि सम्बन्धों का विच्छेद होकर लोकव्यवहार असम्भव होगा। यह स्थिति प्रत्येक वस्तु के विषय में स्वीकार्य है। देशान्तर व कालान्तर में उसी वस्तु का होना व पहचाना जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक क्षण में वस्तु का पूर्ण विनाश माना जाना सर्वथा असंगत है। फलतः समुदायवाद में विभिन्न प्रकारों से वस्तुओं का तथा-कथित अभाव [निरोध] सिद्ध न होने के कारण यह वाद सर्वथा अमान्य है।

उक्त पदों की प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार इन पदों में बौद्धदर्शनबोधित पारि-भाषिकता का कोई संकेत नहीं है। 'संख्या' पद का 'ज्ञान' अर्थ में प्रयोग अन्यत्र स्पष्ट है। कापिल दर्शन का 'सांख्य' नाम इसी आधार पर है। वहाँ प्रकृति-पुरुष अर्थात् जड़-चेतन के विवेकज्ञान का निरूपण है। इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने जिस 'असंस्कृतत्रयवाद' का उद्भावन किया है, सूत्र में उसका कोई किसी प्रकार का संकेत नहीं है।

उक्त पदों की व्याख्या बौद्धदर्शन में समान प्रकार से की गई हो, ऐसी बात भी नहीं है। बौद्धदर्शन के मुख्यरूप में चार मत अपने-अपने विचारों के अनुसार इन पदों की विभिन्न व्याख्या करते हैं। सूत्रकार ने पहले पद से वस्तु के ऐसे निरोध [अभाव] को प्रकट किया है, जो आत्मज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि से कहा जाता है। ऐसे आधार पर इस पद [प्रतिसंख्यानिरोध] का प्रयोग बौद्धदर्शन में 'निर्वाण—मोक्ष' पद के पर्यायरूप में देखा जाता है। दूसरे पद का प्रयोग सूत्रकार ने ऐसे निरोध में किया है, जो वस्तु के टूट-फूट जाने से प्रकट होता है। एक साधा-रण [अनात्मज्ञानी] व्यक्ति भी उस अभाव को देखता है। सूत्रकार ने स्वतन्त्र-रूप से इन पदों का प्रयोग किया है, जिससे उसका स्वाभिलषित अर्थ अभिव्यक्त होता है। बौद्ध आचार्यों द्वारा इन पदों का सब मतों के अनुसार सर्वथा समान अर्थ न किया जाना यह स्पष्ट करता है कि सूत्रकार ने इस पद को बौद्धदर्शन से नहीं लिया, प्रत्युत विभिन्न बौद्ध आचार्यों ने अन्यत्र से लेकर स्वाभिमत अर्थ में

इसका प्रयोग किया है।

जापानी विद्वान् 'यामाकामी सोगन' ने आचार्य शंकर द्वारा किये गए इन पदों के अर्थों को बौद्धदर्शन में अभिमत अर्थों के अनुकूल नहीं माना।[1] यह स्थिति उक्त पदों की बौद्धदर्शन-पारिभाषिकता को शिथिल बना देती है। इस कारण असंस्कृतत्रयवाद का यहाँ उद्भावन कल्पनामात्र रह जाता है। आगे [२।२।२४] सूत्र में आकाश तत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार यह है कि सूत्रकार द्वारा उद्भावित पूर्वपक्ष की कल्पना में दृश्य जगत् को चार प्रकार के मूल उपादान-तत्त्वों का समुदाय माना है। इस दृष्टि से 'आकाशतत्त्व' का अस्तित्व उपेक्षित हो जाता है। इसी प्रसंग से उसके अस्तित्व को सिद्ध कर समुदायवाद की न्यूनता को स्पष्ट किया है। सूत्र [२।२।२२] में 'असंस्कृतत्रयवाद' का कोई निदेश नहीं है। आचार्य शंकर ने बौद्ध विचारों से अभिभूत होकर अपने भाष्य में इसका उल्लेख किया है।

इसी के समान 'प्रतीत्यसमुत्पाद' आदि वादों व पारिभाषिकताओं का ब्रह्म-सूत्रों में कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। सूत्रकार द्वारा उद्भावित—जगत् को मूलकारणों का समुदायमात्र माने जाने वाले—विकल्प की विवेचना में कतिपय समानताओं को पाकर आचार्य शंकर ने यहाँ अपने काल में विकसित बौद्धदर्शन की मान्यताओं को उभार लिया है। सूत्रकार का मूल तात्पर्य किसी दर्शनविशेष अथवा मतविशेष के निराकरण में कदापि नहीं।

उन समस्त[2] युक्तियों के विषय में यह विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो यह सिद्ध करने के लिए उपस्थित की जाती हैं कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता वेदव्यास नहीं है। ये समस्त युक्तियाँ प्रायः इस आधार पर अवलम्बित हैं कि सूत्रों में बौद्धदर्शन आदि का निराकरण है, जो महाभारतकालिक वेदव्यास द्वारा किया जाना सम्भव नहीं। पर यह अनेक बार इस रचना में स्पष्ट कर दिया गया है कि सूत्रों में कोई संकेत बौद्धदर्शन आदि के निराकरण के उपलब्ध नहीं हैं। उस प्रसंग की साधारण समानता के आधार पर यह सब आचार्य शंकर ने तात्कालिक बौद्धदर्शन-निराकरण की भावना से उभार लिया है; तथा इस निराकरण के औचित्य को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रसंगों में विभिन्न दर्शनों के निराकरण को बलात् उभारने का प्रयास किया है, जहाँ मूलसूत्रों में ऐसी भावना

---

१. 'यामाकामी सोगन' कृत—सिस्टम ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६७। ['ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' डॉ० रामकृष्ण आचार्य कृत, पृ० २८२ के अनुसार]।

२. युक्तियों का यह आपूर डॉ० रामकृष्ण आचार्य ने अपनी रचना 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' के पृ० १३–१७ में बाँध दिया है।

का लेश भी नहीं है ।

ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य संक्षेप में—स्वतन्त्ररूप से, किसी भाष्यकार अथवा मतवाद की भावना से अभिभूत न होकर यदि सूक्ष्म दृष्टि से केवल सूत्रों के आधार पर पर्यालोचन किया जाये, तो समस्त वेदान्तदर्शन में संक्षेप से निम्न-लिखित विषयों का उपपादन उपलब्ध होता है—ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन, ब्रह्म को माने बिना अथवा केवल ब्रह्म को मानकर सृष्टि-प्रक्रिया का निर्दोष-निर्बाध उपपादन न किये जाने का विवेचन, प्राणी के सीधे सम्पर्क में आने-वाले भूततत्त्वों का विवेचन, ब्रह्मप्राप्ति व जिज्ञासा के अभिलाषी आत्म-[जीवात्म-] स्वरूप का विवेचन, जीवात्मा के साधनभूत प्राणापरनामक इन्द्रिय आदि का विवेचन, जीवात्मा के लिए ब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत औपनिषद उपास-नाओं का विवेचन, उपासक की मरणानन्तर गति तथा उपासना से प्राप्त होने-वाले फल का निरूपण । इन विषयों के विवेचन व निरूपण में समस्त शास्त्र पूरा होता है । सूत्रों से प्रतिपाद्य विषय के यथार्थ विवेचनमात्र की भावना प्रस्फुटित होती है, उनमें परमतनिराकरण की भावना का प्राधान्य किसी रूप से उपपादित नहीं होता ।

तृतीय अध्याय

ब्रह्मसूत्रों का वेदव्यासकर्तृत्व और पाणिनि

ब्रह्मसूत्रों के वेदव्यासकर्तृत्व को लेकर पाणिनि के एक सूत्र के आधार पर बड़ा ऊहापोह चलता है। उसी के आधार पर परस्पर दो विरुद्ध विचारों को प्रस्तुत किया जाता है। पाणिनि का वह सूत्र है—'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनट-सूत्रयोः' [४।३।११०]। ऐसी चर्चा चलती रही है कि सूत्र में 'पाराशर्य' पद के सम्बन्ध से 'भिक्षुसूत्र' का तात्पर्य 'ब्रह्मसूत्र' समझा जाना चाहिए, जो आज वेदान्त-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य विद्वानों[1] का कहना है कि 'पराशर' गोत्र में उत्पन्न कोई भी व्यक्ति 'पाराशर्य' कहा जा सकता है [पा० ४।१।१०५]। यद्यपि यह प्रयोग गोत्रापत्य में अभीष्ट है, पर यथाकथञ्चित् पराशर के अनन्तर अपत्य वेदव्यास के लिए भी 'पाराशर्य' पद का प्रयोग होता है। यदि वेदव्यास ने कोई सूत्र बनाये होंगे, जिनमें भिक्षुओं के नियमों को विधानात्मक रीति से प्रतिपादित किया होगा, ब्रह्मसूत्रों के समान निराकरणात्मक रीति से नहीं, तो वे सूत्र आज अन्य अनेक ग्रन्थों के समान उपलब्ध नहीं हैं। इसलिये प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रों को वेदव्यासकर्त्तृक मानने में यह आधार सर्वथा शिथिल है।

हमारा विचार है पाणिनि के उक्त सूत्र में 'पाराशर्य' पद से वेदव्यास कृष्ण-द्वैपायन का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। यथाकथञ्चित् वेदव्यास के लिए 'पाराशर्य' पद के प्रयोग को सिद्ध भले मान लिया जाय, जिसका प्रचुर प्रयोग भी पौराणिक साहित्य में देखा जाता है, परन्तु पाणिनि के उक्त [४।१।१०५] सूत्र में गोत्रापत्य का अधिकार है। मुख्यरूप से यह प्रयोग गोत्रापत्य अर्थ में होने से इतिहास द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को खोजना होगा, जिसके लिए 'पाराशर्य' पद

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्य की रचना—'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' पृ० १७।

का प्रयोग गोत्र के आधार पर किया जा सके। वेदव्यास कृष्णद्वैपायन का तो आगे वंश ही नहीं चला। उसका पुत्र शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहता हुआ वेदव्यास के जीवित रहते पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। इसलिये वेदव्यास के पिता पराशर का गोत्र सर्वथा अनभिप्रेत है। इस नाम के गोत्रप्रवर्तक ऋषि अत्यन्त प्राचीन अन्य हैं। अतिप्राचीन होने से साधनों के अभाव में हम उसके विषय में कोई निश्चित जानकारी न पा सकें, यह अलग बात है; पर आज भी 'पराशर' गोत्र के अनेकानेक ब्राह्मण-परिवार हैं; और वेदव्यास के पिता पराशर का वंश नहीं चला, इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि अतिप्राचीन काल में 'पराशर' नाम के कोई गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि अवश्य थे।

वेदव्यास से बहुत पहले उत्पन्न एक व्यक्ति का पराशर गोत्र होने का उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है। यह व्यक्ति है, प्रसिद्ध परमर्षि कपिल का प्रशिष्य पञ्चशिख। महाभारत के जनक-सुलभासंवाद में जनक ने अपने-आपको बड़े गौरव के साथ पञ्चशिख का शिष्य बताया है। इस प्रसंग में महाभारत का पद्य है—

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥[1]

'पराशर गोत्र वाले वृद्ध श्रेष्ठ महात्मा भिक्षु पञ्चशिख का मैं अत्यन्त सम्माननीय शिष्य हूँ।' महाभारत के अनुसार पञ्चशिख के शिष्य जनक का सांस्कारिक नाम 'धर्मध्वज' है, जो सीता के पिता सीरध्वज के पूर्वजों में था। इससे स्पष्ट होता है, पञ्चशिख का काल वेदव्यास से अतिप्राचीन था। प्राचीन साहित्य के ऐसे उल्लेखों से स्पष्ट है, उस समय कापिल सम्प्रदाय के विरक्त साधु 'भिक्षु' कहे जाते थे। महाभारत में[2] अन्यत्र भी पञ्चशिख नाम के साथ 'भिक्षु' पद का प्रयोग उपलब्ध होता है। यह केवल कल्पना है कि 'भिक्षुसूत्र' नाम से उन सूत्रों का स्वरूप यह स्पष्ट होता है कि उनमें भिक्षुओं के नियमों का विधानात्मक रीति से प्रतिपादन किया गया होगा। वस्तुतः सूत्रों का यह नाम रचयिता के सम्प्रदाय-प्राप्त नाम के आधार पर है। जैसे अन्य सभी सूत्रग्रन्थों का कोई अन्य नाम होने पर भी रचयिता के नाम से 'पाणिनिसूत्र' 'जैमिनिसूत्र' 'गौतमसूत्र' आदि नामों का प्रयोग प्रायः होता है, ऐसा ही यह नाम है। प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रों की रचना भी निराकरणात्मक रीति पर न होकर विवेचनात्मक रीति पर है, इस तथ्य को अनेकत्र स्पष्ट किया जा चुका है। फलतः उक्त पाणिनिसूत्र [४।३।११०] के

१. म० भा०, १२।३०८।२४॥ पूना भण्डारकर संस्करण। गो० पु० सं० के अनुसार १२।३२५।२४-२५॥

२. म० भा०, १२।३०६।५८; पू० भं० सं० ॥१२।३१९।३; गो० पु० सं०॥

आधार पर 'पाराशर्य' पद से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर 'पाराशरिणः' प्रयोग उन भिक्षुओं के लिए होता रहा है, जो पराशर गोत्र के भिक्षु [पञ्चशिख] द्वारा प्रोक्त सूत्रों का अध्ययन करते थे। यह एक निर्बाध प्रतीति है कि कापिल-दर्शन में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए उस काल में कपिल के प्रशिष्य भिक्षु पञ्चशिख की रचनाओं के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा। पाणिनि ने पञ्चशिख की सांख्यविषयक रचना का 'भिक्षुसूत्र' पद से निर्देश किया है। फलतः पाणिनि के इस सूत्र के आधार पर कविराज डॉ० गोपीनाथ द्वारा की गई कल्पना पूर्णरूप से सन्दिग्ध है।[1]

जैमिनि आचार्य क्या बुद्ध का परवर्त्ती है ?

प्रस्तुत प्रसंग का निगमन करते हुए डॉ० रामकृष्ण आचार्य ने एक नई भ्रान्ति को जन्म दिया है, जिसके अनुसार पूर्वमीमांसाकार जैमिनि मुनि को बुद्धकाल का अनन्तरवर्त्ती माना जाना चाहिए।

यह एक सिद्ध बात है, ब्रह्मसूत्रकार बादरायण तथा पूर्वमीमांसाकार जैमिनि समकालिक आचार्य हैं। इतिहासप्रसिद्ध महाभारतकालिक वेदव्यास कृष्णद्वैपायन के शिष्य जैमिनि को पूर्वमीमांसा का रचयिता माना जाता है। ब्रह्मसूत्रों का कर्त्ता बादरायण निश्चित है। समस्या केवल इतनी है कि बादरायण और कृष्णद्वैपायन भिन्न व्यक्ति हैं, अथवा एक व्यक्ति के ये दो नाम हैं? डॉ० आचार्य ने अपने विचार से बादरायण को भिन्न[2] व्यक्ति मानकर उसका प्रादुर्भाव बुद्धोत्तर-काल में माना। तब आवश्यक था कि वह जैमिनि आचार्य को भी इसी काल में मानें। वेदव्यास के ब्रह्मसूत्रकार न होने में डॉ० आचार्य ने जिन युक्तियों व प्रमाणों का उल्लेख किया है, उनका यथाक्रम विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। बादरायण और जैमिनि की समकालिकता को क्योंकि हटाया नहीं जा सकता, इसलिये डॉ० आचार्य ने जैमिनि को भी बलात् बुद्धोत्तर-काल में ला घसीटा है। स्वतन्त्र रूप से जैमिनि के विषय में कोई ऐसे युक्ति-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये, और न ऐसे प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर जैमिनि का प्रादुर्भाव-काल बुद्धोत्तर माना जा सके। केवल बादरायण के सहारे से ऐसा समझना, एक नई भ्रान्ति को जन्म देना है। कारण, बादरायण का विषय स्वयं सन्दिग्ध है। डॉ० आचार्य ने यह भी माना है कि शंकरोत्तर-काल[3]

१. देखें, कविराज गोपीनाथकृत ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के हिन्दी रूपान्तर की भूमिका पृ० १-२। यह भूमिका 'अच्युत' नाम से पृथक् प्रकाशित है।
२. वस्तुतः ये भिन्न व्यक्ति हैं, या एक,—इसका अपेक्षित विवेचन गत पृष्ठों में कर दिया गया है।
३. रचना वही, पृ० १७

में वेदव्यास को बादरायण समझे जाने की भ्रान्त परम्परा का उदय हुआ। इसपर भी प्रकाश डाला जाना अपेक्षित है।

बुद्धप्रादुर्भावकाल से पूर्व सूत्रों का अस्तित्व

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को वेदव्यास कृष्णद्वैपायन से भिन्न व्यक्ति मानने का सबसे बड़ा आधार है, सूत्रों में बौद्धदर्शन का तथाकथित निराकरण। यह प्रथम स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्मसूत्रों के आधार पर उस प्रकार बौद्धदर्शन के निराकरण की भावना को आचार्य शंकर ने उभारा, क्योंकि उन्हें वह अभीष्ट था; अन्य व्याख्याकारों ने उसका अन्धानुकरण किया। सूत्रकार की ऐसी भावना का होना सम्भव नहीं। कारण यह है कि अनेक प्रमाणों के आधार पर सूत्रों का अस्तित्व बुद्ध-प्रादुर्भावकाल से बहुत पूर्व सिद्ध होता है—

(१) आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में दो स्थलों [१।३।२८ तथा ३।३।५३] पर भगवान् उपवर्ष का स्मरण किया है। दूसरे स्थल से सूचित होता है, उपवर्ष ने जैमिनीय मीमांसासूत्रों पर तथा चतुरध्यायी-ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या लिखी थी।[1] उपवर्ष का काल आधुनिक विद्वानों ने पाणिनि के समकालिक माना है। पाणिनि के गुरु वर्ष का भाई था उपवर्ष, ऐसा ऐतिहासिक[2] आधारों पर प्रमाणित होता है। पाश्चात्य ईसाई विद्वानों ने भारतीय प्राचीन आचार्यों के काल-सरोवर में प्रायः मिथ्या एवं सन्दिग्ध तर्कों के ऐसे पत्थर फेंके हैं, जिससे वह सरोवर सर्वथा आविल हो उठा है। पाणिनि के काल में भी ऐकमत्य नहीं। पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुवर्त्ती भारतीय विचारकों ने पाणिनि का काल बहुत खींच-तान के साथ विक्रम संवत् प्रारम्भ होने से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व माना है।[3] इसके विपरीत पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने भारतयुद्ध-काल के लगभग तीन सौ वर्ष अनन्तर पाणिनि का होना सिद्ध किया है।[4] इन दोनों कालों में बहुत लम्बा अन्तर है, लगभग दो सहस्र वर्ष से भी अधिक का। पर हम विचार करने की भावना से इस समय पहले मत को मान लेते हैं।

पाणिनि के इस काल के आस-पास ही आधुनिक विद्वानों ने भगवान् बुद्ध के

---

१. **अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः।**—शां० भा० ३।३।५३ ॥

२. कथासरित्सागर, १।२।४६–५४॥

३. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० ४१ तथा ४७२।

४. देखें, पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, पृ० १८५–१९७।

प्रादुर्भाव का समय माना है। उस काल में बौद्धदर्शन का विकास उस रूप में किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिस रूप का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने सूत्रों के आधार पर प्रस्तुत किया है। यह सब प्रकार से निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव से कम-से-कम ढाई-तीन सौ वर्ष के अनन्तर बौद्धदर्शन का उस रूप में विकास प्रारम्भ हो सका, जिसका प्रत्याख्यान शांकरभाष्य में उपलब्ध है। आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत उक्त सूत्रों के भाष्य के आधार पर यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना इसके अनन्तर हुई, तो इन सूत्रों की रचना का काल विक्रमाब्द प्रारम्भ होने से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व आता है। तब यह कैसे सम्भव है कि विक्रमाब्द प्रारम्भ होने से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व होनेवाला बुद्ध-समकालिक व्यक्ति उपवर्ष इन सूत्रों पर व्याख्या लिख सके। वस्तुतः किन्हीं विशिष्ट भावनाओं से अभिभूत केवल पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार करनेवाले आधुनिक विद्वानों ने भारतीय इतिहास में भयावह घोटाला उपस्थित कर दिया है। आचार्य शंकर द्वारा की गई उक्त सूत्रों की वैसी व्याख्या में चाहे जो कोई निमित्त रहे हों, पर आधुनिक विद्वानों को अपने अन्यथा विचारों को भी तथ्य का आवरण पहनाने के लिए वह एक आधार बन गया है। भाष्यकार आचार्य सूत्रों की वैसी व्याख्या करने के लिए क्यों बाध्य हुआ, इसको अनेकत्र स्पष्ट किया जा चुका है।

(२) बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व न केवल उपवर्ष ने इन ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या लिखी, प्रत्युत उपवर्ष से अनेक शताब्दी पूर्व अन्य एक व्याख्या इन सूत्रों पर लिखी गई। उसी व्याख्या का संक्षेप भगवान् उपवर्ष ने किया, ऐसा वर्णन 'प्रपञ्चहृदय' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।[1] उसका सारांश है—साङ्गोपाङ्ग वेद के समस्त वाक्यार्थ का विचार करने के लिए पूर्वोत्तरकाण्डरूप में मीमांसा शास्त्र है। उनमें जैमिनि-रचित पूर्वमीमांसा शास्त्र है, जहाँ पूर्वकाण्ड का धर्मविषयक विचार प्रस्तुत किया गया है। उससे अन्य चार अध्याय का व्यासरचित उत्तरमीमांसा शास्त्र है, जिसमें उत्तरकाण्ड का ब्रह्मविषयक विचार प्रस्तुत है। इस समस्त उभयात्मक मीमांसा शास्त्र का 'कृतिकोटि' नामक भाष्य बोधायन ने रचा। वह अति विस्तृत था, उसमें से कुछ उपेक्षित कर उपवर्ष ने उसका संक्षेप किया।

---

१. 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ का पाठ इस प्रकार है—

साङ्गोपाङ्गस्य वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्डसंभिन्नस्याशेषवाक्यार्थविचारपरायणं मीमांसाशास्त्रम्। तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम्। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रं पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्। तदन्यदध्यायचतुष्कमुत्तरमीमांसाशास्त्रमुत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्। तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य 'कृतकोटि' नामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम्। [उपाङ्गप्रकरण, पृ० ३९]

ऐसा प्रायः होता रहा है जब अतिविस्तृत ग्रन्थों के अध्ययन के लिए कालांतर में लोग असामर्थ्य एवं क्षमताह्रास आदि अन्य कारणों से अधिक समय नहीं दे सकते थे, तब विस्तृत ग्रन्थों का अपेक्षित संक्षेप कर लिया जाता था। यास्कीय निरुक्त [१।२०।२] में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं। यह सम्भव है, उपवर्ष का ऐसा प्रयास रहा हो। इस प्रकार की स्थिति आने के लिए बोधायन और उपवर्ष के काल का अन्तर दस, बीस या पचास वर्ष न मानकर सैकड़ों की संख्या में मानना होगा। उपवर्ष से चाहे कितने भी पूर्व बोधायन का समय माना जाय, जब उसने इन ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत व्याख्या लिखी; पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि बौद्धदर्शन के उस विकास से बहुत पहले ये सूत्र विद्यमान थे, जिसका उल्लेख प्रत्याख्यान के रूप में आचार्य शंकर ने उक्त सूत्रों की व्याख्या में किया है।

शंकर द्वारा बौद्धदर्शन के प्रत्याख्यान का कारण—आधुनिक[1] विद्वानों ने इस विषय पर लिखते हुए ब्रह्मसूत्रों के आचार्य शंकर द्वारा उद्भावित बौद्ध-प्रत्याख्यान प्रसंग में तथा पाणिनिसूत्रों में प्रयुक्त कतिपय पदों के आधार पर यह प्रकट किया है कि ब्रह्मसूत्र एवं पाणिनिसूत्रों की रचना बौद्धदर्शन-विकास के अनन्तर मानी जानी चाहिए। यद्यपि इस विषय का ब्रह्मसूत्र-सम्बन्धी उपयुक्त विवेचन प्रस्तुत रचना में अन्यत्र[2] किया गया है, पर इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि इस प्रकार के कतिपय पदों का घटाटोप तत्त्वनिर्णय में एक विडम्बनामात्र है। किन्हीं विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट पदों का प्रयोग अपेक्षित अवसरों पर सदा किया जाता है; एक विशिष्ट विषय के साथ वह बँधा होता है। ऐसे पदों के आधार पर किसी पूर्वापरता का निर्धारण किया जाना अन्याय्य है।

जिज्ञासा होती है, आचार्य शंकर ने उक्त सूत्रों का व्याख्यान विशेषरूप से बौद्धदर्शन-प्रत्याख्यान-परक क्यों किया? वस्तुतः आचार्य शंकर के सम्मुख महती समस्या थी—बौद्धसिद्धान्तों का निराकरण कर वैदिकमत की स्थापना करना। आचार्य का समस्त जीवन इसी महान् कार्य में व्यतीत हुआ। भविष्यत् में उसके प्रचार और स्थायित्व के लिए आचार्य ने ब्रह्मसूत्रों को आधार बनाया, क्योंकि इनमें मुख्यरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन है, जबकि बौद्धदर्शन ब्रह्म की सत्ता से नकार करता है। उसके प्रत्याख्यान के लिए यह आधार उपयुक्त था। सूत्ररचनाकाल

---

१. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' डॉ० वासुदेवशरण कृत, पृ० ३७६, तथा ४७०-७१॥ पारिभाषिक पदों पर विवेचन यथाप्रसंग आगे विस्तार के साथ करना है, पाणिनि और ब्रह्मसूत्र दोनों में।

२. पृ० ५४ से ५७ तक।

में बौद्धदर्शन नाम से किसी प्रत्याख्यान की भावना सूत्रकार के सम्मुख रही हो, इसके कोई आधार प्रतीत नहीं होते। ब्रह्म के अस्तित्व की स्पष्टता के लिए केवल 'समुदाय' के आधार पर जगत्प्रक्रिया की कल्पना पर उसका विवेचन सूत्रकार ने उस प्रसंग में प्रस्तुत किया है। किन्हीं मूलतत्त्वों का समुदायमात्र जगत् है, इस विचार को आगे बढ़ाने के लिए इसके सिवाय कोई मार्ग नहीं कि उन तत्त्वों को प्रतिक्षण परिवर्तनशील माना जाय। उस नैसर्गिक परिवर्तनशीलता का यह चमत्कार है कि वे तत्त्व समुदित हो दृश्यमान जगत् के रूप में प्रतिभासित होने लगते हैं। इस मान्यता में ब्रह्म का अस्तित्व उपेक्षित कहा जा सकता है। इसी कारण सूत्रकार ने उपर्युक्त प्रसंग में इस विकल्प की उद्भावना कर उसपर विवेचन प्रस्तुत किया। आचार्य शंकर ने अपने काल में उन विकल्पप्रसूत विचारों के साथ बौद्धदर्शन की समता को देखकर उस दर्शन के विशिष्ट वादों का सूत्रों के आधार पर प्रत्याख्यान के लिए अवसर प्राप्त कर लिया।

यह एक स्पष्ट स्थिति है कि सूत्रकार के सम्मुख विवेच्य एवं प्रत्याख्येय रूप में यदि बौद्धदर्शन उपस्थित रहा होता, तो सूत्रकार ने जैसे अन्य जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, बादरि आदि समकालिक अथवा पूर्ववर्त्ती आचार्यों का नामोल्लेखपूर्वक उनके विचारों का अपनी रचना में विवेचन किया है, वह बौद्ध आचार्यों का भी नाम लेकर विवेचन कर सकता था। ऐसा न होना इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सूत्रकार के सामने कोई ऐसा विशिष्ट दर्शन उपस्थित न था, जो बौद्धदर्शन नाम से सूत्रकार को परिचित हो।

कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि आचार्य सूत्रकार के स्वयूथ्य थे। अपने समानशास्त्र वर्ग के होने से उनका नामोल्लेख आदर आदि की भावना से कर दिया गया। पर ऐसी कल्पना अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए बलवती प्रतीत नहीं होती। कारण यह है कि उन आचार्यों के विचारों का सूत्रकार ने अनभिमतरूप में विवेचन किया है; ऐसा नहीं कि उनके विचारों को सर्वात्मना स्वीकार किया गया हो, जिससे उनके प्रति आदरभाव प्रकट हो, भले ही वे आदरणीय रहे हों। वह स्थिति तो अपने विचारों को प्रमाणित करने के लिए अन्य आचार्यों की अनुकूल सम्मति देकर उपयुक्त हो सकती है। विवेचन चाहे प्रत्याख्यानमूलक हो, उसमें भी प्रत्याख्येय अनादरणीय नहीं हो जाता। वस्तुतः विवेचन में व्यक्ति के आदर-अनादर की भावना नहीं रहती; वहाँ वस्तुतत्त्व की यथार्थता को स्पष्ट करना ही मुख्य भावना है। इसमें स्वयूथ्य-परयूथ्य का कोई प्रश्न नहीं उठता। सूत्रकार के सम्मुख यदि बौद्धदर्शन उपस्थित होता, और उसका निराकरण उसे अभीष्ट होता, तो उसके लिए इसमें कोई भय का स्थान न था; वह स्पष्ट रूप से उसका नाम लेकर विवेचन क्यों न करता ?

आचार्य का नाम लेकर विवेचन—यह कहना भी शिथिलप्राय है कि सूत्र-

रचना में इस प्रक्रिया को अपनाया जाता रहा है कि विभिन्न विचारकों का नाम लेकर उनके विचारों का विवेचन न किया जाये। पर सूत्रग्रन्थों में नामोल्लेख-पूर्वक विभिन्न विचारों का विवेचन स्पष्ट है। दोनों मीमांसा, सांख्य तथा पाणिनि-सूत्रों में ऐसे निर्देश हैं। यह सम्भव है कि वहाँ अनेक स्थलों में उन-उन आचार्यों के विचारों को किसी अंश तक स्वीकार किया गया हो, पर सर्वत्र ऐसा नहीं है। यदि विचारों की एकता हो, तो विवेचन का प्रश्न नहीं उठता; विवेचन तो विभिन्नता में अवकाश पाता है। जहाँ तक पाणिनि-सूत्रों का प्रश्न है, वह केवल व्यावहारिक शब्द की साधुता तक सीमित है। शब्द का प्रयोग विविध प्रकार से होना सम्भव है; उसमें आचार्यों की जानकारी तथा प्रयोग के आधार पर विकल्प की सम्भावना हो सकती है। मीमांसा के विषय कर्मानुष्ठान में भी आचार्यों की अनुमति से विकल्प सम्भव है; पर जहाँ तक वस्तुतत्त्व का प्रश्न है, उसमें विकल्प की सम्भावना को अवकाश नहीं। वस्तुतत्त्व अपने स्वरूप में सदा एक है। उसके विषय में किसी भी सूत्रकार को विभिन्न आचार्यों के विचारों को सन्मुख रख विवेचन करना और वस्तुतत्त्व की स्पष्ट प्रतिपत्ति कराना अभीष्ट होता है। ऐसे विवेचन दर्शनसूत्रों में स्पष्ट हैं, जब वहाँ कतिपय अपने समकालिक एवं पूर्ववर्त्ती आचार्यों का नाम लेकर उनके विचारों का विवेचन प्रस्तुत है, तो अन्य जिन आचार्यों के विचारों का विवेचन ब्रह्मसूत्रों में प्रस्तुत किया बताया जाता है, सूत्रकार उनका भी नाम ले सकता था। न होने से स्पष्ट है कि सूत्रकार के काल में वे न थे। सूत्रकार ने स्वयं उन विचारों का उद्भावन कर वस्तुतत्त्व की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वैसा विवेचन प्रस्तुत किया।

दर्शनों का लक्ष्य सत्य की खोज—सूत्रग्रन्थों में, विशेषकर छहों दर्शनों के सूत्रों में, विभिन्न विचारों के विवेचन की इस रीति को देखकर यह कहने का साहस होता है कि दर्शनों की रचना परमत-निराकरण की भावना से न होकर विभिन्न स्तरों पर केवल वस्तुतत्त्व की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए विवेचनात्मक भावना से हुई है। विवेचन में विवेचक का सद्भाव सदा उसका सहयोगी रहा है; उसे न किसी व्यक्ति से राग है न द्वेष। वह केवल यथार्थ से राग करता है, अयथार्थ से द्वेष। उसका कार्य सत्य की खोज करना है, उस तक पहुँचने का प्रयास करना, तथा उसी के अनुसार सबके लिए मार्ग-दर्शन करना। मूल दर्शनकारों की भावना यही प्रतीत होती है।

ब्रह्मसूत्र के प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'प्रतिसंख्यानिरोध' पद पर बड़ा बल दिया जाता है कि यह बौद्धदर्शन का पारिभाषिक पद है। इस विषय पर अभी पूर्व-पंक्तियों में[1] लिखा जा चुका है। यदि इस पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लेकर

---

१. देखें पृ० ५४ से ५७।

प्रकरण का सामञ्जस्य सुव्यवस्थित है, तो इसमें पारिभाषिकता की बाधा को उपस्थित करना शिथिलप्राय होगा। किसी पद का किसी अर्थ में प्रयोग पहले व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर प्रवृत्त होता है; व्युत्पत्ति चाहे पदप्रधान हो अथवा अर्थप्रधान। किसी पद की परिभाषिकता की स्थिति अनन्तर-काल में आती है। बौद्ध विद्वानों ने अपने काल में उक्त पद को उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रश्रय दिया, यह सम्भव है। अनेक पदों के ऐसे प्रयोग, विशिष्ट समाज में प्रश्रय पा जाते हैं, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। तब उनको एक तथाकथित पारिभाषिकता का रूप मिल जाता है। अनन्तरवर्त्ती पाठक उस पद की पारिभाषिकता को एक जनसमुदाय में अधिक प्रयोग के कारण उसका मूल समझ लेता है, जो अनायास प्राप्त है; पर वह उसकी वास्तविक व्युत्पत्तिलभ्य मूल प्रवृत्ति को विस्मृत कर देता है, जिसपर उसकी आत्मा आधारित है; भले ही उसका प्रयोग अत्यल्प हो, अथवा अन्यत्र न हुआ हो। वर्तमान लोकव्यवहार में 'महाशय, महात्मा, हज़रत' आदि पदों की यही स्थिति है। बौद्धदर्शन 'प्रतिसंख्यानिरोध' आदि पदों का उपज्ञ है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है।

अष्टाध्यायी में बौद्ध पारिभाषिक पद—इसी प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त कतिपय पदों के विषय में कहा जाता है कि ये बौद्ध वाङ्मय के पद हैं, पाणिनि ने वहाँ से लेकर इनका उपयोग किया है। विशेषरूप से श्रमण, निर्वाण, मस्करी, चीवर आदि पदों पर अधिक बल दिया जाता है। यह अद्भुत खोज पाश्चात्य लेखकों द्वारा की गई है, अनेक भारतीय लेखकों ने इसका अनुकरण किया है।[1]

उक्त पदों का प्रयोग पाणिनि ने बौद्ध साहित्य के आधार पर किया है, इसकी यथार्थता को परखने के लिए केवल दो मार्ग सम्भव हैं। एक—इन पदों का बुद्धप्रादुर्भाव के पूर्ववर्त्ती साहित्य में प्रयोग; दूसरा—पाणिनि के प्रादुर्भावकाल का निश्चय।

श्रमण-पद—जहाँ तक इन पदों के प्रयोग का प्रश्न है, इनमें से 'श्रमण' पद का प्रयोग वैदिक साहित्य में[2] उपलब्ध होता है, जिसका प्रवचन बुद्ध-प्रादुर्भाव-काल से सहस्राधिक वर्ष पूर्व हो चुका था। बौद्धसाहित्य में इस पद का अर्थ संन्यासी अथवा परिव्राजक है; ठीक इसी अर्थ में वैदिक साहित्य का प्रयोग है।

---

१. द्रष्टव्य—श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की रचना 'पाणिनिकालीन भारत-वर्ष' पृ० ३७६-७७; ४७०-७१।

२. शत० ब्रा० १४।७।१।२२॥ तैत्ति० आर० २।७।१॥ बौधा० श्रौ० १६।३०॥ इस विषय का विस्तृत विवेचन श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी रचना 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण के पृष्ठ १८५—९८ पर किया है।

बौद्ध संन्यासियों ने अपने लिए—अथवा बौद्ध लेखकों ने स्वसम्प्रदाय के संन्यासियों के लिए—श्रमण पद का प्रयोग अधिक किया; परिव्राजक आदि का नहीं। इसका यह परिणाम किसी प्रकार नहीं निकाला जा सकता कि उक्त अर्थ में इस पद का सर्वप्रथम प्रयोग बौद्ध साहित्य में प्रारम्भ हुआ, और वहाँ से पाणिनि ने लिया।

पाणिनि के एक सूत्र [२।१।७०] में 'श्रमणा' आदि कतिपय पदों के साथ 'कुमार' पद के समास के लिए निर्देश है। यह पदों का छोटा-सा गण है, जिसमें कुछ पद स्त्रीलिंग[1] और कुछ पुंल्लिग हैं। महाभाष्य में इस सूत्र का व्याख्यान नहीं है। काशिका में बताया है कि गण में पठित स्त्रीलिंग पदों के साथ 'कुमार' पद के स्त्रीलिंग रूप का ही समास होगा। जैसे—कुमारी चासौ श्रमणा = कुमारश्रमणा; कुमारी चासौ प्रव्रजिता = कुमारप्रव्रजिता, इत्यादि। परन्तु पुंल्लिग पदों के साथ उभयलिंग 'कुमार' पद का समास इष्ट है। जैसे—कुमारश्चासौ अध्यापकः = कुमाराध्यापकः; तथा—कुमारी चासौ अध्यापिका = कुमाराध्यापिका, इत्यादि।

आधुनिक लेखकों का कहना है कि कुमारी अवस्था में संन्यासिनी बन जाने की प्रथा बौद्ध समाज में रही; उसी के अनुसार पाणिनि ने इसका प्रयोग किया। परन्तु ऐसा विचार व्यक्त करनेवाले लेखकों ने क्या यह भी सोचा कि इस पद के आगे गण में प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, दासी आदि पद भी पठित हैं? क्या ये सब प्रवृत्तियाँ व स्थितियाँ केवल बौद्धसमाज में ही सम्भव रही हैं? कोई भी सद्विचार रखनेवाला व्यक्ति इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। ये स्थितियाँ प्रत्येक समाज में साधारण हैं; उसके लिए जैसा पद-प्रयोग साधारण समाज में होता रहा है, उसी का निर्देश पाणिनि ने किया है। इसके अतिरिक्त 'श्रमणा' के साथ 'प्रव्रजिता' पद भी पठित है, जो पहले पद के साथ पूर्ण समानार्थक है। यह सीमित करने के लिए कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है कि इन पदों में कोई बौद्ध साहित्य से, कोई अबौद्ध से तथा कोई उभय साहित्य से लिये गये हैं। फलतः ये प्रयोग बौद्ध साहित्य की छाया बिना, समाज में पूर्णतः सम्भव हैं। बुद्धप्रादुर्भाव से पूर्व-काल में इनका प्रयोग बराबर होता रहा है। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा में अनेक ऐसी कुमारी परिव्राजिकाओं का[2] निर्देश मिलता है, जिन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यात्म-चिन्तन में व्यतीत किया।

---

१. **स्त्रीलिङ्ग—श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी, बन्धकी। पुंल्लिङ्ग—अध्यापक, अधिरूपक, पण्डित, पटु, मृदु, कुशल, चपल, निपुण।**

२. महाभारत, शल्यपर्व के ४५वें अध्याय में महात्मा शाण्डिल्य की एक पुत्री का वर्णन है, जिसे कौमारब्रह्मचारिणी, साध्वी व तपस्विनी लिखा है। इसके अतिरिक्त गर्गी वाचक्नवी, घोषा काक्षीवती, यमी वैवस्वती, अपाला

'ब्राह्मणश्रमणम्' का समाधान

पाणिनि के सूत्र [२।४।१२] पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक उदाहरण शाश्वतिक विरोध का—'श्रमणब्राह्मणम्' दिया है। आधुनिक लेखक इससे अभिप्राय प्रकट करते हैं कि यहाँ 'श्रमण' पद बौद्ध तथा 'ब्राह्मण' पद वैदिक आर्य का बोधक हैं। इन दोनों समाजों में किसी समय ऐसा विरोध रहा है, जिसे 'अहि-नकुल' के समान शाश्वतिक रूप दिया गया। इसके अनुसार हम सम्भावना कर सकते हैं कि जैसा विरोध आजकल हिन्दू-मुसलमान, भारत-पाकिस्तान, भारत-चीन, अरब-इज़राइल आदि में समझा जाता है। आधुनिक लेखकों का कथन है कि उक्त समास-पद में 'श्रमण' पद निश्चित रूप से बौद्ध सम्प्रदाय का वाचक है।

इस विरोध की स्थिति पर जब गम्भीरता से 'श्रमण' पद के बौद्ध अर्थ की छाया में विचार किया जाता है, तो इस विरोध की शाश्वतिकता हवा हो जाती है। पाणिनि का संकेत 'शाश्वतिक विरोध' से जिस ओर है, उसके उदाहरण 'अहि-नकुल' व 'उष्ट्र-महिष' आदि ही सम्भव हैं। मानव-समाज के किन्हीं विभिन्न वर्गों में शाश्वतिक विरोध की उक्त रूप में कल्पना की जानी असम्भव है। ऐसे विरोध शाश्वतिक न होकर केवल नैमित्तिक होते हैं। आधुनिक लेखकों के विचारानुसार जिस समाज का संकेत 'श्रमणब्राह्मणम्' पद में हुआ है, वह समाज आज हमसे सहस्रों वर्ष पूर्व बीत गया; फिर भी हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उस समय सहस्रों बौद्ध एवं आर्य परिवारों का परस्पर पूर्ण स्नेह व आनुकूल्य रहा होगा। तथाकथित आजकल के हिन्दु-मुस्लिम विरोध का इतना ढिंढोरा पीटे जाने पर भी भारत में लाखों परिवार परस्पर मिलकर रहते हैं, व्यापार करते हैं, एक-साथ उठते-बैठते व खाते-पीते हैं; ऐसे अनेक परिवारों को मैं जानता हूँ और स्वयं सम्बद्ध हूँ, जो एक-दूसरे से मिले बिना रह नहीं सकते। निश्चित है, समाजों का कोई विरोध शाश्वतिक नहीं कहा जा सकता।

उक्त उदाहरण में तब हमें शाश्वतिकता जैसी स्थिति कहीं ढूंढनी होगी। ऐसा उदाहरण या तो व्यङ्ग्य की भावना से दिया जा सकता है, जिसकी यहाँ सम्भावना नहीं, अथवा महाभाष्यकार के सन्मुख इसके लिए अन्य कोई आधार है, जिसके अनुसार उसने यहाँ शाश्वतिक विरोध देखा। 'श्रमण' पद का बौद्धसम्प्रदाय अर्थ न समझ, साधारण परिव्राजक अर्थ समझा जाय, तो वह आधार स्पष्ट हो

आत्रेयी, शश्वती आंगिरसी, रोमशा ब्रह्मवादिनी, सुलभा आदि अनेक ब्रह्मवादिनी कुमारी तापसी अबौद्ध महिलाओं के नाम प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं।

जाता है। उसके साम्मुख्य में 'ब्राह्मण' पद का साधारण बोध्य अर्थ 'गृहस्थ' है, जो शास्त्रानुसार गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है। शास्त्रीय आधार पर इन दोनों के विरोध में शाश्वतिकता है। गृहस्थ और परिव्राजक ये दोनों स्थितियाँ एक-साथ नहीं चल सकतीं; गार्हस्थ्य और संन्यास का सहभाव असम्भव है। यही इनका शाश्वतिक विरोध है––परस्पर दो आश्रमों का विरोध। उदाहरण का सामञ्जस्य इसी में है। फलतः उक्त उदाहरण में 'श्रमण' पद साधारण संन्यासी व परिव्राजक के अर्थ में प्रयुक्त है; इसका केवल बौद्ध आदि किसी विशेष वर्ग से सम्बन्ध नहीं।

यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि अनन्तरकाल में इस पद का प्रयोग बौद्ध भिक्षुओं व संन्यासियों के लिए अधिकता से होने लगा, जो कालान्तर में उक्त अर्थ को प्रकट करने के लिए सीमित-सा हो गया। परन्तु ऐसा समय पाणिनि से पर्याप्त परवर्ती है, जब 'श्रमण' के साथ वेदानुयायी 'परिव्राजक' का पृथक् उल्लेख किया जाने लगा; जैसा कि कहीं-कहीं बौद्ध साहित्य[1] में उपलब्ध होता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कभी कोई पद किसी विशेष वर्ग के लिए अपना लिये जाते हैं, तो वे उसी अर्थ में रूढ़ि-जैसे हो जाते हैं। आजकल भारत में 'आर्य' पद एक विशेष वर्ग 'आर्यसमाज' के व्यक्ति के लिए रूढ़ि-जैसा हो गया है। भारतीय जनता का अतिप्राचीन परम्परा से यह नाम होते हुए भी अब आर्य-समाजेतर व्यक्ति अपने-आप को 'आर्य' कहने में झिझकता है। 'हिन्दू' कहने में अपना गौरव समझता है, जो यहाँ के निवासियों को विदेशियों द्वारा दिया हुआ नाम है; अपने पूर्वजों के दिये नाम से बिदकता है। यही दशा पाणिनि के किसी परवर्त्ती काल में 'श्रमण' पद की हुई है।

निर्वाण-पद—इस पद का प्रयोग महाभारत[2] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ढूंढने पर अन्यत्र भी मिल सकता है। इस मान्यता में कोई प्रमाण नहीं कि पाणिनि ने इसका प्रयोग बौद्ध साहित्य के अनुसार अथवा वहाँ से लेकर किया है। श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक[3] ने तो यह लिखा है कि पाणिनि ने इस पद का

---

१. उदान में कहा है—"**संबहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका नाना-दिट्ठिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सता**" पाली संस्करण, पृ० ६६-६७। अंगुत्तरनिकाय में 'ब्राह्मण-परिव्राजक' और 'अन्यतित्थिय (अन्यतीर्थिक) परिव्राजक' रूप से संन्यासियों के दो भेद बताये हैं। [पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३७७ के अनुसार]

२. गीता, २।७२।। ५।२४-२६।। ६।१५।। शान्ति अर्थ में यह अन्तिम श्लोक विचारणीय है।

३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १९०।

जो अर्थ अपने 'निर्वाणोऽवाते' [८।२।५०] सूत्र में दिया है, उसी रूप में वह अर्थ बौद्ध सम्प्रदाय में मान्य नहीं। वहाँ इसका शुद्ध अर्थ मोक्ष है। पाणिनि इस पद को 'अवात' अर्थ में निष्पन्न करता है। 'वात' पद का अर्थ है—दोष, बाधा, अशान्ति आदि। इससे विपरीत दशा में 'निर्वाण' पद का प्रयोग होता है, जैसे—निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो भिक्षुः। इनमें निर्वाण पद का अर्थ है—शान्त होना। बाधा आदि के राहित्य में अन्तिम उदाहरण के संकेत से इसका मोक्ष अर्थ भी सम्भव है, परन्तु पाणिनि यदि इस पद को बौद्ध साहित्य के अनुसार प्रयोग करता, तो वह सूत्र में 'अवाते' न कहकर 'मोक्षे' कहता। स्पष्ट है, इस पद के प्रयोग में पाणिनि का आधार बौद्ध साहित्य नहीं। लोक तथा बौद्धेतर साहित्य में इस पद का प्रयोग पाणिनि का आधार मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

मस्करी-पद—पाणिनि ने 'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' [६।१।१५४] सूत्र में 'मस्कर' और 'मस्करी' पदों को यथाक्रम वेणु (बाँस अथवा दण्ड) तथा परिव्राजक (संन्यासी) अर्थ में निष्पन्न हुआ बताया है। कतिपय[1] आधुनिक विद्वानों का कहना है कि इनमें 'मस्करी' पद बौद्धसाहित्य में चर्चित 'मक्खलि गोशाल' नामक व्यक्ति के 'मक्खलि' नाम के संस्कृत रूप का ही पाणिनि ने उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि महाभारत[2] में 'मङ्कि' नाम से जिस एक प्राचीन मुनि का उल्लेख हुआ है, वह निश्चय से मंखलि का ही दूसरा रूप है।

पाणिनि-प्रयुक्त 'मस्करिन्' पद के विषय में उक्त विचार वस्तुतः पाणिनि के साथ एक मज़ाक है। पाश्चात्य रीति की अनुसन्धान-प्रणाली में ऊपर-ऊपर हाथ से टटोलकर अपनी अभिवाञ्छित बात बड़े दावे के साथ कह दी जाती है; गहराई से सोचने का प्रयास नहीं किया जाता। इस पद के विषय में पतञ्जलि ने महाभाष्य की जिन पंक्तियों द्वारा विवरण प्रस्तुत किया है, उनकी अच्छी दुर्दशा की गई है। भाष्यकार ने लिखा है—

"न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि। मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याह, अतो मस्करी परिव्राजकः।"

श्री डॉ० अग्रवाल ने इसका अर्थ व विवरण इस प्रकार दिया है—"मस्करी वह साधु नहीं है, जो हाथ में मस्कर या बाँस की लाठी लेकर चलता हो। फिर

---

१. द्रष्टव्य—श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालकृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० ३७६-७७।

२. महाभारत, शान्ति०, अ० १७७।

क्या है ? मस्करी वह है, जो यह उपदेश देता है कि कर्म मत करो; शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है। यह निश्चित रूप से मक्खलि गोशाल के कर्मापवाद-सिद्धान्त का उल्लेख है। वे कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा करके नियति या भाग्य को ही सब-कुछ मानते थे। किसी प्रकार के फल की प्राप्ति अपने या पराये कर्म या पराक्रम पर निर्भर नहीं करती, यह तो सब भाग्य का खेल है। पुरुषार्थ कुछ नहीं है, दैव ही प्रबल है। मक्खलि के दर्शन में यदृच्छा को कोई स्थान न था। वे तो मानते थे कि क्रूर दैव ने सब-कुछ पहले से ही नियत कर दिया है।···अन्य प्रमाण से भी इंगित होता है कि पाणिनि को मस्करी के आजीवक दर्शन का परिचय था। 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' [४।४।६०] सूत्र में आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक तीन प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख है। आस्तिक वे थे, जिन्हें बौद्ध ग्रन्थों में 'इस्सरकारणवादी' कहा गया है, जो यह मानते थे कि यह जगत् ईश्वर की रचना है (अयं लोको इस्सर निमित्तो)। पाली ग्रन्थों के 'नत्थिकदिट्ठि' दार्शनिक पाणिनि के नास्तिक थे। इसमें केसकम्बली के 'नत्थिकदिट्ठि' अनुयायी प्रधान थे···। यही लोकायत दृष्टिकोण था, जिसे कठ उपनिषद् में कहा है—**'अयं लोको नास्ति पर इति मानी।'** पाणिनि के तीसरे दार्शनिक दैष्टिक या मक्खलि के नियतिवादी लोग थे जो पुरुषार्थ या कर्म का खण्डन करके दैव की ही स्थापना करते थे।

······मस्करी या मक्खलि या मंखलि का दर्शन सुविदित था। महाभारत में मंकि ऋषि की कहानी में नियतिवाद का ही प्रतिपादन है (**शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्;** शान्ति पर्व १७७।११-४)।[1] मङ्कि ऋषि का मूल दृष्टिकोण निर्वेद, या जैसा पतञ्जलि ने कहा है—शान्तिपरक था, अर्थात् अपने हाथ-पैर से कुछ न करना। यह पाणिवाद का ठीक उल्टा था। मंखलि गोशाल के शुद्ध नाम के विषय में कई अनुश्रुतियाँ थीं। जन प्राकृतरूप मंखलि था। भगवतीसूत्र के अनुसार गोशाल मंखसंज्ञक भिक्षु का पुत्र था (भगवतीसूत्र, १५। १)। शान्तिपर्व का मंकि निश्चयरूप से मंखलि का ही दूसरा रूप है। कहा जाता है कि मंखलि का जन्म गोशाला या गोष्ठ में हुआ था, जिससे उनका यह नाम पड़ा। पाणिनि ने भी गोशाला में जन्म लेनेवाले को गोशाल कहा है (गोशालायां जातः गोशालः, ४।३।३५, स्थानान्तगोशालखरशालाच्च)।"

इस लम्बे[2] उद्धृत सन्दर्भ से लेखक का अभिप्राय अग्रलिखित रूप में अभि-

१. गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण के अनुसार इस पद्यांश का पता—१७७।१२ है।

२. इतना लम्बा सन्दर्भ उद्धृत करने का प्रयोजन यही है, जिससे प्रत्येक पाठक वस्तुस्थिति का पूर्णरूप से विचार कर सके, तथा विवेचन की दृढ़ता व शिथिलता को परख सके।

व्यक्त होता है—

(क) 'मस्करी' पद के विषय में जो कुछ पाणिनि ने लिखा है, उस सबका पूर्ण आधार बौद्ध साहित्य है। महाभाष्य के इस पद के विवरण में निश्चितरूप से मक्खलि गोशाल के कर्मापवाद-सिद्धान्त का उल्लेख है।

(ख) आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक पदों के विवरण का आधार भी वही है।

(ग) मंकि ऋषि का महाभारतीय वर्णन, मक्खलि का ही दूसरा रूप है। मंकि के नाम से मंखलि गोशाल का ही यह वर्णन हुआ है।

(घ) सन्दर्भ के अन्तिम भाग से यह भी ध्वनित होता है, जैसे मंखलि उसका व्यक्तिगत नाम है, गोशाला में उत्पन्न होने से नाम के साथ गोशाल पद जुड़ गया है। मानो इस पद का निर्देश भी पाणिनि ने उसी को लक्ष्य कर किया हो।

ये मान्यताएँ कहाँ तक युक्तियुक्त व तथ्य पर आधारित हैं; इसका विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

इस विषय में सर्वप्रथम विचारणीय यह है कि पाणिनि संस्कृतभाषा का व्याकरण लिख रहा है, अथवा पालि व प्राकृत का। क्या यह सम्भव है कि 'मक्खलि' प्राकृत व पालि पद का संस्कृत-रूप 'मस्करी' बनाकर पाणिनि ने उसकी निष्पत्ति के लिए सूत्र की रचना की ? इसका तात्पर्य यह होता है कि यह पद प्राकृत से संस्कृत में आया, संस्कृत से प्राकृत में नहीं, और ऐसा पाणिनि ने किया।

यह एक आश्चर्य की बात होगी कि संस्कृतभाषा का व्याकरण लिखने-वाला आचार्य एक प्राकृत पद की सिद्धि के लिए इस प्रकार सूत्र-रचना करे। वस्तुत: यदि पाणिनि ने उक्त व्यक्ति के नाम के आधार को लेकर सूत्र की रचना की होती, तो सूत्र में अर्थनिर्देश का अंश—'वेणुपरिव्राजकयो:' न होकर 'वेणु-गोशालयो:' होता। पाणिनि ने 'मस्करिन्' पद का अर्थ साधारण 'परिव्राजक' पद से अभिव्यक्त किया है। इसका वाच्य कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। साधारण रूप से प्रत्येक परिव्राजक व संन्यासी के लिए इसका प्रयोग अभीष्ट है। पाणिनि का निर्देश ऐसा ही है। यह अलग बात है कि किसी पदविशेष के प्रयोग को कोई वर्ग अपना ले, और कालान्तर में वह उतने सीमित अर्थ का बोधक समझा जाने लगे।

पाणिनि के निर्देश से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पाणिनि ने जिस लोकभाषा का व्याकरण लिखा, पाणिनि के काल तक उसमें 'मक्खलि' पद का

प्रयोग न था। अन्यथा, पाणिनि उसी पद की निष्पत्ति का निर्देश करता।[1] पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा, उसके ग्रन्थ के अनुसार भाषा के केवल दो रूप उसके सामने हैं–एक छन्दोभाषा, दूसरी लोकभाषा। पहली वेद व वैदिक साहित्य में प्रयुक्त है; दूसरी जो साधारण लोक में व्यवहृत होती है, अर्थात् सर्व-साधारण जनता की बोलचाल की भाषा। पाणिनि का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि लोकभाषा का 'मस्करिन्' पद परिव्राजक अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला उसके सन्मुख है, 'मक्खलि' पद नहीं। यह सर्वथा मिथ्या कल्पना है कि पाणिनि ने बौद्धसाहित्य-र्चाचित 'मक्खलि' मूल पद का संस्कृत-रूप 'मस्करिन्' निर्दिष्ट किया है। यह वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देना मात्र है।

यह भी एक ध्यान देने की बात है कि 'मस्कर' पद से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय करके 'मस्करिन्' पद निष्पन्न किया गया है। यदि 'मक्खलि' पद का ही यह संस्कृत-रूपान्तर होता, तो पाणिनि का यह सब विधान निरर्थक होता, तथा 'मस्कर' पद का 'मस्करिन्' के साथ कोई सम्बन्ध न माना जाता। पर यह निश्चित है, वेणुवाचक 'मस्कर' पद से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय द्वारा 'मस्करिन्' पद की सिद्धि मानी गई है। वेणुवाचक 'मस्कर' पद का प्रयोग पाणिनि से प्राचीन साहित्य[2] में होता रहा है।

इस पद के विवरण में भाष्यकार की 'मा कृत कर्माणि' इत्यादि पंक्ति का जो उल्लेख किया गया है, उसका प्रयोजन सूत्र में 'मस्करिन्' पद के ग्रहण करने के आनर्थक्य का प्रत्याख्यान करना है।[3] 'मा कृत कर्माणि' में कर्म करने का जो निषेध है, उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि अपने हाथ-पैर से कुछ न करो, और शान्त-आलसी बनकर चुपचाप पड़े रहो। उसका वास्तविक अर्थ केवल इतना

---

१. अभी आगे पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प [पाणिनि का काल कौन-सा है] के विवरण में यह स्पष्ट होगा कि पाणिनि के काल में प्राकृत भाषा का अस्तित्व ही न था, तब उसके 'मस्करी' निर्देश का आधार 'मक्खलि' कैसे माना जा सकेगा ?

२. शौनक कृत ऋक्तन्त्रव्याकरण, ४।७।६॥

३. प्रश्न है—सूत्र में 'मस्करिन्' पद का पाठ निरर्थक है, क्योंकि वेणुवाचक 'मस्कर' पद से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होकर (मस्करोऽस्यास्तीति—) 'मस्करी' पद सिद्ध हो जायगा। जो मस्कर=वेणुदण्ड धारण करे, वह 'मस्करी।' भाष्यकार ने इसका समाधान किया, मस्कर=दण्ड धारणमात्र से वास्तविक 'मस्करी' नहीं होता, प्रत्युत परिव्राजक धर्म का वह उपदेष्टा भी होना चाहिए। यह कथन पूर्णरूप से वैसा ही है, जैसा आजकल हम कह देते हैं कि कपड़े रंगनेमात्र से संन्यासी नहीं हो जाता, उसके अनुकूल आचरण भी होना चाहिए।

है कि परिव्राजक (संन्यासी) को अर्थ-संचय के लिए कोई कार्य न करना चाहिए, शान्त होकर अध्यात्मचिन्तन व उपदेश आदि में अपना कल्याण समझना चाहिए। यदि गृहस्थ के समान संन्यासी व परिव्राजक अर्थ-संचय के कर्मों में अपना समय लगाये, तो न उन दोनों में कोई अन्तर रह जाता है, और न संन्यास धारण करने व परिव्राजक बनने का कोई प्रयोजन। भाष्य की प्रस्तुत पंक्ति का जो अर्थ उक्त लेखक महोदय ने समझा है, वह विशुद्ध पाश्चात्य अनुसन्धान-प्रणाली की देन है।

उक्त पंक्ति का ऐसा अर्थ किसी पुराने व्याख्याकार ने नहीं समझा। आधुनिक होने के साथ कुछ नवीनता तो होनी ही चाहिए। प्रदीपकार कैय्यट अपनी व्याख्या में लिखता है–यह मत करो, यह मत करो, इत्यादि प्रारम्भ करके शान्ति के साथ कामनापूर्ण कर्मों का परित्याग तुम्हारे लिए कल्याणकारी है, ऐसा उपदेश करनेवाला 'मस्करी' कहा जाता है।[1] इसी प्रसंग में उद्योतकार नागोजी भट्ट लिखता है—भाष्य में 'कर्म' शब्द से काम्य कर्म कहे जाते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्म तो मुमुक्षु (परिव्राजक) को भी करने पड़ते हैं। इसीलिये गीता [१८।२] में कहा है—**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**।[2] इससे स्पष्ट होता है, भाष्य की प्रस्तुत पंक्ति में उन्हीं कर्मों के करने का निषेध है, जो अर्थ-संचय की भावना से किये जाते हैं। संन्यासी के लिए ऐसा आचरण आवश्यक है।

गृहस्थ के लिए किया जाने वाला ऐसा उपदेश सर्वथा निरर्थक है कि हाथ-पैर न हिलाओ, चुपचाप पड़े रहो। 'शान्तिर्वः श्रेयसी' पदों का ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है। भारतीय नियतिवाद अथवा कर्मापवाद-सिद्धान्त में कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा की गई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता; चाहे उस विषय में मक्खलि गोशाल ने कुछ कहा हो, अथवा अन्य किसी ने। यह अलग बात है कि कभी परिस्थितियों से बाध्य होकर पुरुषार्थ किये जाने पर भी सफलता न पाने पर किसी ने मजबूरी के उद्‌गार अभिव्यक्त किये हों।[3] वहाँ भी व्यर्थ वस्तु-संग्रह के लिए कठिन श्रम न कर अर्थ-त्याग की भावना का सिद्धान्त अन्तर्निहित रहता है, जो अतिप्राचीन काल से आर्य संस्कृति का अंग माना जाता है। ऐसी बात नहीं कि इन भावनाओं का उपज्ञ मक्खलि गोशाल हो।

---

१. **"अयं मा कृत अयं मा कृतेत्युपक्रम्य शान्तितः काम्यकर्म-परिहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते।**

२. **"भाष्ये 'कर्म' शब्देन काम्यकर्माण्युच्यन्ते। नित्यनैमित्तिकानि तु मुमुक्षोरपि कर्त्तव्यान्येव। अतएव 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' इति गीतायामुक्तमिति भावः।"**

३. **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'** इत्यादि भर्त्तृहरि की उक्ति के समान।

मङ्कि ऋषि—महाभारतवर्णित मंकि मुनि के विषय में कहा गया है कि यह मक्खलि गोशाल का ही दूसरा रूप है। पर महाभारत का वह प्रसंग किन भावनाओं को अभिव्यक्त करता है, यह देखिये—

महाभारत शान्तिपर्व के १७७वें अध्याय में मङ्कि का आख्यान है। यह अध्याय 'मङ्किगीता' नाम से व्यवहृत होता है। धन की तृष्णा से दुःख और उसके त्याग से परमसुख की प्राप्ति होती है, यही इसका प्रतिपाद्य विषय है। युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया—कार्यों को करता हुआ यदि कोई अभीष्ट धन को प्राप्त नहीं कर पाता, और धन की तृष्णा से अभिभूत रहता है, ऐसा व्यक्ति क्या करता हुआ सुख प्राप्त करे ? भीष्म ने उत्तर दिया—सबके साथ समता की भावना रखना, व्यर्थ कठिन परिश्रम न करना, सत्य वाणी बोलना, अर्थ-संचय की ओर से उदासीन भाव रखना, कोई नया विधान प्रारम्भ करने की इच्छा न होना; इन पाँच पर जो आचरण करे, वह पुरुष सुखी रहता है। अनुभवी व्यक्तियों ने शान्ति के लिए ये पाँच वस्तुएँ बताई हैं, यही स्वर्ग, धर्म और सर्वश्रेष्ठ सुख माना गया है। इस विषय में मङ्कि का एक पुराना इतिहास कहा जाता है—धनप्राप्ति के लिए बराबर यत्न करने पर भी मङ्कि विफल हो जाता था, पर वह निरन्तर अपने प्रयास में लगा रहा, जिससे थोड़ा धन वह बचा पाया। उस धन से उसने दो बछड़े खरीद लिये। इधर-उधर दूर न भाग जायें, इस विचार से मङ्कि ने एक रस्सी उन दोनों की गर्दन में बाँध दी और उनकी जोट बना दी। फिर भी दोनों बछड़े निकल पड़े, इकट्ठे भागने लगे। सामने एक ऊँट गर्दन नीचे किये बैठा था। जैसे ही वे दोनों बँधे बछड़े ऊँट के इधर-उधर होकर निकलने लगे, उनके बँधी रस्सी ऊँट की गर्दन पर आ गई। रस्सी के छूते ही भड़भड़ाता हुआ ऊँट एकदम खड़ा हो गया। दोनों बछड़े इधर-उधर लटक गये। इस बवाल को सहन न करता हुआ ऊँट तेजी से भाग पड़ा। लटकते हुए बछड़े रस्सी की फाँसी से गला घुटकर मर गये। मङ्कि ने देखा, यह प्रमाथी (दुष्ट बलवान्) ऊँट बछड़ों को ले भागा है, और ये मर चुके हैं। उनकी इस दुर्गति को देखकर मङ्कि का कलेजा मुँह को आ गया; खेद-भरी वाणी में उसके ये उद्गार निकल पड़े—मेरे प्यारे दोनों बछड़े ऊँट के गले में दो मणियों के समान लटक रहे हैं; इसे विशुद्ध दैव ही कहा जा सकता है, पौरुष एक दुराग्रहमात्र है।[1] यदि हम पौरुष को कहीं सफल भी देखते हैं, तो खोजने पर उसके पीछे दैव को अवस्थित पाते हैं। इसीलिये अर्थ-संचय की ओर से उदासीन रहना ही सुख का साधन है, ऐसा सुखी व्यक्ति निःशंक सोता है।

इस अध्याय में धनसंचय के लिए तृष्णा की निन्दा और तृष्णा के परित्याग

---

१. "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥१२॥"

की प्रशंसा की गई है। एक व्यक्ति जो कामनाओं को प्राप्त कर ले और एक जो कामनाओं का परित्याग कर दे, इनमें दूसरा श्रेष्ठ है। आज तक कोई अपनी इच्छाओं का अन्त नहीं पा सका; जब तक जीवन है तृष्णा निरन्तर बढ़ती ही रहती है। यह निरी अज्ञानता है, जो इस तृष्णा ने हमें अपना खिलौना बनाया हुआ है। लोक में जो कुछ कामनाओं की सफलता से थोड़ा सुख मिलता है और जो स्वर्ग आदि के रूप में दिव्य महान् सुख कहा जाता है, वह सब तृष्णाक्षय से होनेवाले सुख का अंश भी नहीं है।[1] इस प्रकार मङ्कि के इस प्रसंग में तृष्णा की निन्दा की गई है। तृष्णा का क्षेत्र है—भ्रष्टाचार, आपाधापी, धोखाधड़ी, झूठ-सच जैसे भी हो, धन का संचय करना; जीवन के लिए चाहे उसकी कुछ आवश्यकता न हो। इसमें अपेक्षित सत्पुरुषार्थ की निन्दा अंशमात्र भी नहीं है। इसे चाहे नियतिवाद कहिये या कर्मापवाद-सिद्धान्त, पर इसका स्वरूप, इसका आत्मा वही है—अतितृष्णा का परित्याग। भारतीय वैदिक परम्परा के साहित्य में ये भाव बौद्ध साहित्य की जूठन नहीं हैं। फलतः पाणिनीय अष्टाध्यायी में श्रमण, मस्करी आदि पदों का प्रयोग अपनी मूलभूत परम्परा के अनुसार है, जिसका आधार विशुद्ध संस्कृत-साहित्य व लोकव्यवहार है।

चीवर-पद—यही स्थिति 'चीवर' पद अथवा नामधातुरूप में प्रयुक्त 'संचीवरयते' आदि पदों की है। चीर अथवा चीवर मुनियों के धारण करने का वस्त्र माना जाता है। केवल सुभूति[2] नामक एक विद्वान् लेखक ने 'चीवर' पद का अर्थ 'शाक्य भिक्षुओं के पहनने का कपड़ा' किया है, जो कालान्तर में उक्त अर्थ के लिए रूढ़ हो जाने पर सम्भव है। प्राचीन परम्परा के अनुसार इस पद का अर्थ साधारण रूप में 'मुनिवासः' किया जाता रहा है—मुनियों व साधु-संन्यासियों के पहनने का कपड़ा; चाहे वे विचार या सिद्धान्त की दृष्टि से अपनी कुछ भी मान्यता रखते हों।

राम के वनगमन के समय उनके मुनिवेष के लिए जो वस्त्र उन्हें धारण करने को दिये गये, उनके लिए रामायण में 'चीर' पद का प्रयोग हुआ है। 'चीर-चीवर' दोनों समानार्थक पद हैं। वक्ता या लेखक उक्त अर्थ में इन पदों का प्रयोग इच्छानुसार कर सकता है।

पाणिनि के सूत्र [३।१।२०] की व्याख्या पर काशिका में निर्देश है—"चीवरादर्जने परिधाने वा। संचीवरयते भिक्षुः।" 'चीवर' पद से अर्जन और परिधान करने के अर्थ में णिङ् प्रत्यय का विधान है। उदाहरण दिया गया—

---

१. द्रष्टव्य—श्लोक १६, १०, २१, ५१ आदि।

२. **"शाक्यभिक्षुप्रावरणमिति सुभूतिः"** अमरकोश के 'चीवर' पद पर रामाश्रमी व्याख्या।

संचीवरयते भिक्षुः—भिक्षु चीवर का अर्जन (प्राप्ति-संग्रह) अथवा परिधान (धारण) करता है।

आधुनिक लेखकों का कहना है कि बौद्ध साहित्य के अनुसार चीवर केवल भिक्षुओं के लिए आता था; जैसे तिचीवर (जा० ३।४७१), पंसुकुल चीवर (जा० ४।११४) भिक्षुवेष के लिए ही प्रयुक्त होते थे।[1]

यहाँ दो बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है, एक—भिक्षु पद के प्रयोग का क्षेत्र; दूसरा—चीवर का स्वरूप। प्राचीन काल में उन व्यक्तियों के लिए 'भिक्षु' पद का प्रयोग होता रहा है, जो घर-गृहस्थ को छोड़कर निर्वाहार्थ भिक्षामात्र[2] ले, शास्त्र एवं अध्यात्म-चिन्तन में तथा धर्मोपदेश आदि में अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते थे। परमर्षि कपिल का प्रशिष्य पञ्चशिख ऐसा ही एक भिक्षु था; इसका वर्णन महाभारत[3] में उपलब्ध है। स्पष्ट है, भिक्षु पद का प्रयोग बुद्ध-प्रादुर्भावकाल से बहुत पूर्व संन्यासीमात्र के लिए होता रहा है। ऐसा नहीं है कि इस पद का प्रयोग केवल बौद्ध संन्यासियों के लिए नियत हो। फलतः 'संचीवरयते भिक्षुः' प्रयोग बौद्ध-अबौद्ध सभी संन्यासियों के लिए सम्भव है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि के सूत्र [३।१।२०] में 'चीवर' पद-प्रयोग का आधार केवल बौद्ध साहित्य है।

'चीवर' का स्वरूप हमें समझना चाहिए। चीवर वह था जो—कपड़े की नकारा कतरनों को इकट्ठा कर सीं लिया जाता था। प्रारम्भ में चीवर का यही स्वरूप रहा। ऐसे ही वस्त्र को 'चीर' भी कहा जाता था। राम के वनवास के लिए जाने के समय मुनिवेष वस्त्र धारण करने की भावना से उन्हें ऐसे वस्त्र पहनने को दिये गये थे।[4] ऐसे वस्त्रों का धारण करना मुनिवृत्ति-व्यक्तियों का विशेष वेष माना जाता था। कालान्तर में यह एक प्रथा-सी बन गई; तब यह आवश्यक नहीं समझा जाने लगा कि चीवर बनाने के लिए नकारा कतरनें इकट्ठी की जायें; प्रत्युत कपड़े के नये थान को लेकर उसी के कुछ छोटे टुकड़े बना उन्हें आपस में सीं लिया, चीवर तैयार है। बौद्ध काल में प्रायः ऐसा ही होता रहा। इसमें त्याग व निर्वेद की भावना नष्ट हो गई थी; परम्परा का दिखावा-मात्र रह गया था, जो प्रायः अब भी कहीं-कहीं देखा जाता है। मुनिवेष के लिए चीवर-धारण की प्राचीनता निश्चित है। इस पद के प्रयोग में पाणिनि का वही आधार

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १७७।

२. भिक्षु का ऐसा स्वरूप ऋग्वेदीय दशम मण्डल के १७७वें सूक्त के आधार पर अभिव्यक्त होता है।

३. **भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः ।।१२।३०८।२४।।**

४. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय ३७।

सम्भव है। उक्त उदाहरण लिखे जाने से पूर्व बौद्ध भिक्षुओं में यह प्रथा प्रचलित रही, इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है!

गत पंक्तियों में उन पदों का विवेचन किया गया, जिनके विषय में कहा जाता है कि पाणिनि ने उनका प्रयोग बौद्ध साहित्य के आधार पर किया है। स्पष्ट किया गया कि इन पदों का प्रयोग बुद्ध-प्रादुर्भावकाल से बहुत पूर्व लोक-व्यवहार में प्रचलित रहा है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए दूसरा विकल्प प्रस्तुत किया था—पाणिनि के प्रादुर्भाव का काल। यदि यह प्रमाणित होता है कि पाणिनि का काल बुद्धप्रादुर्भाव से पूर्व है, तो इसके लिए अवकाश ही नहीं रहता कि उक्त पदों का प्रयोग पाणिनि ने बौद्ध साहित्य के अनुसार किया।

पाणिनि-काल—पाणिनि-काल के विषय में[1] पाश्चात्य एवं भारतीय विभिन्न विद्वानों ने विविध विचार अभिव्यक्त किये हैं। उनका सार इतना है कि पाणिनि का प्रादुर्भाव-काल ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी में सम्भव है। इसके अनन्तर सम्भावना नहीं की जा सकती। इसके लिए अष्टाध्यायी के अन्तः-साक्ष्य पर दो विशिष्ट हेतु प्रस्तुत किये जाते हैं—मस्करी परिव्राजक [६।१।१५४] तथा श्रविष्ठादि नक्षत्र-सूची [४।३।३४][2]। मस्करी परिव्राजक-विषयक विवेचन गत पंक्तियों में किया जा चुका है। श्रविष्ठादि नक्षत्र-सूची के विषय में विवेचन अपेक्षित है।

श्रविष्ठादि नक्षत्र सूची—पाणिनि के एक सूत्र [४।३।३४] में श्रविष्ठा आदि दस नक्षत्र-नामों का निर्देश है—श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढ़ा, बहुल (=कृत्तिका)। इसमें पाणिनि ने श्रविष्ठा नक्षत्र को सबसे पहले रक्खा है। यद्यपि शेष नामों में क्रम का अभाव है, फिर भी श्रविष्ठा से सूची का आरम्भ सकारण ज्ञात होता है। वेदांगज्योतिष में

---

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल [अब स्वर्गीय] ने अपनी रचना 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में किया है। वहाँ गोल्डस्टूकर, श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, श्री पाठक, श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, शारपेंतिए, श्री हेमचन्द्रराय चौधरी, ग्रियर्सन, मैकडानल, वॉटर्लिक, वेबर, लीविश, थीमे, उत्गीकर, कीथ, एँगर्लिंग, बूहलर, हर्नली, फ्लीट, हॉपकिन्स, श्री योगेशचन्द्र रे आदि भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के विविध विचारों का गम्भीर मन्थन कर जो नवनीत सामने आया, वह है—"श्रविष्ठादि नक्षत्रसूची और मस्करी परिव्राजक इन दो प्रमाणों के आधार पर अष्टाध्यायी के काल की अवधि ५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० के बीच में सम्भाव्य हो जाती है।" उक्त ग्रन्थ, पृ० ४७२। इस सबके लिए द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, पृ० १७५-८०, तथा आठवाँ अन्तिम अध्याय।

२. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' अध्याय ८।

नक्षत्रों की गणना श्रविष्ठा से होती थी, उससे भी पूर्व कृत्तिका से। महाभारत [आदि० ७१।३४; वन० २३०।१०; आश्व० ४४।२, गो० पु० सं०] में यह गणना श्रवण से है। श्रविष्ठा का अन्य नाम धनिष्ठा है। धनिष्ठा को छोड़कर श्रवण नक्षत्र की गणना कब से आरम्भ हुई, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। धनिष्ठादि गणना किस समय तक चालू रही और उसका स्थान श्रवणादि सूची ने कब लिया, यदि यह ज्ञात हो जाय, तो वही पाणिनि के समय की अन्तिम अवधि माननी होगी। श्री योगेशचन्द्र रे ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है कि १३७२ ई० पूर्व में श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्र संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे। लगभग ९६३ वर्ष पूरे नक्षत्र के परिवर्त्तन में लगते हैं। इसलिये पाँचवीं शती ईसवी पूर्व में श्रवण नक्षत्र उसी स्थान पर आ गया था, जहाँ पहले श्रविष्ठा था। १३७२ ई० पू० से गणना करते हुए ४०५ ई० पू० तक श्रविष्ठादि गणना का काल था। अतएव श्रविष्ठादि सूची को मान्यता देनेवाले लेख या विद्वानों का समय ४०० ई० पू० के बाद नहीं होना चाहिए।[1]

उक्त लेख में श्री योगेशचन्द्र रे की विवेचना के अनुसार जो यह लिखा गया है कि "१३७२ ई० पू० में श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्र संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे।" वह अन्य चाहे कोई संक्रान्ति हो, पर नक्षत्र-क्रान्तिवृत्त के अनुसार वसन्त-संपात की संक्रान्ति वह किसी प्रकार न थी। वर्त्तमान परिशोधित[2] सारणियों के अनुसार इस समय वसन्त-संपात पूर्वाभाद्र में चल रहा है। वसन्त-संपात एक नक्षत्र में लगभग ९५२ वर्ष रहता है। इसके अनुसार गणना करने पर[3] धनिष्ठा [अथवा श्रविष्ठा] में वसन्त-संपात अब से लगभग २४००० [चौबीस सहस्र] वर्ष पूर्व था। ईसा पूर्व १३७२वें वर्ष वसन्त-संपात श्रविष्ठा [धनिष्ठा] नक्षत्र में किसी प्रकार सम्भव नहीं। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है—पाणिनि ने [४।३।३४] सूत्र में श्रविष्ठा का प्रथम पाठ इस आधार पर किया कि उस समय वसन्त-संपात श्रविष्ठा नक्षत्र में चल रहा था, ऐसा समझना सर्वथा असंगत है।

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४७१-७२।

२. द्रष्टव्य—(क) New Handbook of the Heavens. By Bernhaud-Bennett Rice. MENTOR BOOK, U.S.A. Star Charts. pages 152-55.

(ख) Astronomy. By Robert H. Baker. Chart on pages 29, 30, 31, 32. Princeton, New Jersey, U.S.A.

३. श्रविष्ठा से आगे पूर्वाभाद्र का स्थान २५ क्रमाङ्क पर है। ९५२ में २५ का गुणा करने से वसन्त-संपात का कालिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। १३७२ ई० पू० में वसन्त-संपात भरणी में सम्भव है, श्रविष्ठा में नहीं।

सूत्रगत दस नक्षत्र-नामों में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। व्याकरण-प्रक्रिया की पूर्त्ति के लिए जो नाम अपेक्षित थे, उनको पढ़ दिया गया है। पदों का अनुक्रम अथवा श्रविष्ठा पद का प्रथम पाठ सकारण नहीं है, यह केवल लेखक की इच्छा पर निर्भर है; वह किसी भी पद को पहले या पीछे रख सकता था, ऐसा ही उसने किया है। यदि श्रविष्ठा का सूत्र में प्रथम पाठ सकारण हो, और उसका यह कारण माना जाय कि पाणिनि द्वारा यह सूत्र लिखे जाते समय वसन्त-संपात श्रविष्ठा में था, तो पाणिनि का काल अब से लगभग चौबीस सहस्र वर्ष पूर्व होना चाहिए, जो किसी प्रकार सम्भव नहीं। फलतः यह समझना असंगत है कि पाणिनि ने सूत्र में श्रविष्ठा का प्रथम पाठ उक्त कारण के आधार पर किया है। इस विवेचन के अनुसार वे सब हेतु असिद्ध हैं, जो ई० पू० पाँचवीं शती में पाणिनिकाल बताने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्य विचार (पाणिनि कालविषयक)—पाणिनि के अन्तःसाक्ष्य पर पाणिनिकाल की जो सम्भावना, ईसा-पूर्व की पाँचवीं शती के अनन्तर न होने की की गई, और यह समझ लिया गया कि इसके अनुसार पाणिनि का काल ई० पू० पाँचवीं शती में स्वीकार कर लेना चाहिए, इसका सप्रमाण विवेचन गत पंक्तियों में किया गया। उससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वोक्त तथाकथित अन्तःसाक्ष्य अपने अभिलषित की सिद्धि में सर्वथा असफल रहा है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अब दूसरा विचार परखिये।

यह निश्चित है, बुद्धकाल में संस्कृत भाषा जनसाधारण की भाषा न थी।[1] उस समय सर्वसाधारण जनता पाली व प्राकृत भाषा का व्यवहार करती थी। इसी कारण बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने अपने विचारों के प्रचार के लिए इन्हीं भाषाओं का आश्रय लिया, संस्कृत का नहीं। परन्तु इसके विपरीत पाणिनि ने शतशः ऐसे प्रयोगों के साधुत्व का उल्लेख किया है जो नितान्त ग्राम्य व प्रायः अपठित जनता के व्यवहारोपयोगी हैं। कतिपय प्रयोग इस प्रकार हैं—

(१) शाक आदि बेचनेवाले कूंजड़े बिक्री की सुविधा के लिए पालक, मूली, मेथी, धनिया, पोदीना आदि की गड्डी बाँधकर मूल्य के अनुसार आजकल आवाज लगाते हैं—पैसा-पैसा, दो-दो पैसा आदि। पाणिनिकाल में ऐसा व्यवहार संस्कृत भाषा में होता था। उसके लिए—'मूलकपणः, शाकपणः, धान्यकपणः' आदि प्रयोगों के साधुत्व का निर्देश पाणिनि ने एक सूत्र 'नित्यं पणः परिमाणे' [३।३।६६] में किया है।

(२) इसी प्रकार रसोई बनानेवाले पाचक तथा खेती करनेवाले किसान के

१. इसके लिए देखें—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १६०–१६४।

दैनिक प्रयोग में आनेवाले पदों के साधुत्व का निर्देश अनेकत्र यथाप्रसंग[1] पाणिनि ने किया है, जैसे—दही या मठे में बना खाद्य 'दाधिकम्, औदश्वित्कम्' कहा जाता था; नमकीन शाकरस—'लवणः सूपः'। किसानों के धान्योपयोगी विभिन्न क्षेत्रों के वाचक—'प्रैयङ्गवीनम्, ब्रैहेयम्, यव्यम्, तैलीनम्, तिल्यम्' आदि पदों का साधुत्व निर्दिष्ट किया है।[2] कपड़े रंगनेवाले रंगरेज़ों के व्यवहार में आनेवाले—'माञ्जिष्ठम्, काषायम्, लाक्षिकम्' आदि पदों के साधुत्व के लिए पाणिनि ने सूत्र कहे हैं।[3]

(३) इस विषय में दो स्थलों का और उल्लेख किया जाता है, जो विशेष ध्यान देने योग्य हैं। व्यास नदी से उत्तर और दक्षिण की ओर बने कुओं के नाम, बनवानेवालों के नाम से व्यवहृत होते थे। दत्त का बनवाया हुआ[4] कुआँ **'दात्तः'** कहा जाता था, और गुप्त का बनवाया हुआ **'गौप्तः'**। नदी के दोनों ओर के प्रदेशों में व्यवहृत होनेवाले इन पदों का स्वरूप समान था, परन्तु दोनों ओर के उच्चारण में थोड़ा भेद था। उत्तर की ओर के लोग पद के अन्तिम अक्षर पर ज़ोर देते थे, अर्थात् वे इन पदों को अन्तोदात्त उच्चारण करते थे, तथा नदी से दक्षिण की ओर के निवासी इन पदों के पहले अक्षर पर ज़ोर देते थे, अर्थात् वे इन पदों का आद्युदात्त उच्चारण करते थे। पाणिनि ने साधारण जनता द्वारा इन पदों के उच्चारण की विशेषता पर ध्यान देकर अन्तोदात्त उच्चारण के लिए 'अञ्' प्रत्यय और आद्युदात्त उच्चारण के लिए 'अण्' प्रत्यय का विधान किया, जिससे पदों का स्वरूप समान रहे, और उच्चारण का भेद स्पष्ट किया जा सके।[5]

अन्य प्रसंग में पाणिनि ने कहा—जाति के एक होने से जातिवाचक पद का एकवचन में प्रयोग प्राप्त होता है, परन्तु लोकभाषा में एकवचन और बहुवचन दोनों रूपों में प्रयोग देखा जाता है, उसी के अनुसार आचार्य ने उन पदों के साधुत्व का निर्देश किया।[6] जैसे—**यवाः संपन्नाः। यवः संपन्नः। व्रीहिः संपन्नः। व्रीहयः संपन्नाः।** आज भी किसान यही प्रयोग करता है—जौ पक गया, अथवा जौ पक गये, काट डालो। धान पक गया, धान पक गये इत्यादि।

---

१. अष्टाध्यायी, ४।२।१६–२०।। तथा ४।४।२२–२६।।

२. अष्टाध्यायी, ५।२।१–४।।

३. तेन रक्तं रागात्। लाक्षारोचनाट्ठक्। ४।२।१-२।।

४. 'उदक् च विपाशः' अष्टा० ४।२।७४।।

५. काशिकाकार ने इस सूत्र पर लिखा है—**'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य'** ४।२।७४। अपने काल की लोकभाषा के विषय में आचार्य पाणिनि का इतनी गहराई व सूक्ष्मता से विचार करना आश्चर्यजनक है।

६. **'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'** अष्टा० १।२।५८।।

आज के और पाणिनिकाल के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं, केवल भाषा में अन्तर है। आज का किसान हिन्दी बोलता है, उस समय का संस्कृत बोलता था। उसी व्यवहार के अनुरूप पाणिनि ने नियमों का निर्देश किया।

पाणिनि-व्याकरण की उक्त अन्तःसाक्षियों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोकव्यवहार में आनेवाली जनसाधारण की भाषा थी। पाणिनि के यथार्थ काल का परिचय प्राप्त करने के लिए इस स्थिति पर ध्यान देना होगा। भगवान् बुद्ध[1] के काल में जनसाधारण की भाषा संस्कृत नहीं थी, यह सर्वसम्मत है। उस समय जनसाधारण के व्यवहार की भाषा पाली अथवा प्राकृत थी। भाषा का संस्कृत से पाली आदि में परिवर्त्तन कब से प्रारम्भ हुआ और कब तक पूर्ण रूप में परिणत हो गया, यह अभी अनुसन्धान-सापेक्ष है।

श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक का कहना है कि यह समय महाभारत-युद्ध के अनन्तर २०० से ३०० वर्ष के मध्य होना चाहिए। पाणिनि के एक सूत्र [१।२।५५] के आधार पर मीमांसक महोदय का कहना है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति उसी स्थिति में सम्भव है, जब महाभारत-युद्ध में नष्ट हुए पञ्चाल, अङ्ग, वङ्ग, मगध आदि देशों के इसी नाम के क्षत्रियों के अपने प्रदेशों में न रहने की जानकारी बनी रही हो। यह स्थिति महाभारत-युद्ध के अनन्तर लगभग दो सौ वर्ष तक रही। ढाई सौ वर्ष के आस-पास उन प्रदेशों में उन्हीं क्षत्रियों के अधिक संख्या में निवास का इतिहास से पता लगता है। इसलिए पाणिनि का काल महाभारत-युद्ध से २०० वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।[2]

ऐसा प्रतीत होता है, महाभारत-युद्ध के अनन्तर समाज की विविध उन्नत परिस्थितियों में—उत्तम नेता और साधनों की क्षीणता के कारण—धीरे-धीरे ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। उस संघर्ष से बचे हुए प्रजाजनों के विशिष्ट व्यक्तियों ने समाज के अभ्युदय को सुरक्षित रखनेवाली प्रगतियों को सामर्थ्यानुसार चालू रखने का प्रयास किया होगा। ऐसी दशा में सम्भव है, ह्रास की ओर जाती हुई भी वे प्रगतियाँ कतिपय शताब्दियों तक साँस लेती रही हों। पाणिनि का प्रादुर्भाव ऐसे क्रान्तिकाल में होना अधिक सम्भव है, जब उस समय की शत-प्रतिशत लोकभाषा संस्कृत को भी तात्कालिक ह्रास से अभिभूत होने का भय उपस्थित

---

१. यहाँ समस्या भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव-काल की भी है। आज वह काल ई० पू० पाँचवीं-छठी शती माना जाता है। पर यह केवल आधुनिक राजनैतिक प्रेरणाओं का चमत्कार है। बुद्ध का यह काल माने जाने में अनेक बाधाएँ हैं। इस काल से लगभग १२-१३ सौ वर्ष पूर्व बुद्धकाल होना चाहिए।

२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १९३-९४।

हो गया हो। पाणिनि ने इस स्थिति को गम्भीरता व दूरदर्शिता से समझकर ऐसा सुनियमित सुसम्बद्ध व्याकरण बनाकर उस लोकभाषा को सदा के लिए स्थायी कर दिया।

उस समय भाषा के लिए ऐसा क्रान्तिकाल होने का यह एक सुपुष्ट प्रमाण है कि पाणिनि के परवर्त्ती काल में जल्दी ही—जबकि गणना-योग्य कुछ शतियाँ भी नहीं बीती थीं—लोक-भाषा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया था, जिसकी व्यवस्था के लिए कात्यायन को 'वार्त्तिक-ग्रन्थ' की रचना करनी पड़ी। उसके परवर्त्ती काल में कतिपय शताब्दियों के बीच 'लोकभाषा' के रूप में संस्कृत समाप्त हो चुकी थी। अपभ्रंश, पाली या प्राकृत का—जो विभिन्न प्रदेशों में विविधता रखती थी—सर्वत्र व्यवहार था। ऐसे समय में यदि पाणिनि संस्कृत का व्याकरण बनाता, तो जनसाधारण की लोकभाषा के रूप में प्रयोगों के लिए नियम बनाना सम्भव न था, जिनका निर्देश गत पंक्तियों में किया गया है। पाणिनि के पूर्वनिर्दिष्ट प्रादुर्भाव-काल में सौ-पचास वर्ष का अन्तर भले हो जाये, अधिक आगा-पीछा होने की सम्भावना नहीं।

पाणिनि नन्दकालिक नहीं—सोमदेव के कथासरित्सागर, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी और राजशेखर के काव्यमीमांसा आदि में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर पाणिनि को नन्द राजा का समकालिक बताया जाता है। प्रतीत होता है, इस भ्रान्ति का कोई एक स्रोत रहा है, जहाँ से यह उत्तरोत्तर बह निकली। बौद्ध ग्रन्थ 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में इस भ्रान्ति का स्रोत दिखाई दे रहा है। वहाँ लिखा है—**'तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः।'**[1] परवर्त्ती लेखकों ने इसका क्या अर्थ समझा, यह उनके एतद्विषयक लेखों से अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने इस सन्दर्भ के **'माणवः'** पद को ओझल कर दिया है, और 'पाणिनि' को पकड़ लिया, क्योंकि वह एक सुप्रसिद्ध नाम था। कोष में 'माणव' पद का अर्थ 'बालक' और 'बीस लड़ियों का हार' है। पाणिनि के साथ पहला अर्थ संगत नहीं होता। दूसरे में यह कल्पना सम्भव है कि पाणिनि नन्द का सखा, उसके गले का श्रेष्ठ हार अथवा राजसभा का भूषण था।

अन्य सम्भावना यह है, नन्द के किसी सखा का नाम 'माणव' था, तथा गोत्र पाणिनि।[2] उसका सांस्कारिक नाम माणव व्यवहार में अप्रसिद्ध रहा, गोत्र नाम का व्यवहार होने से वही नाम प्रसिद्ध हो गया। कालान्तर में इस विशेषता से

---

१. मञ्जुश्रीमूलकल्प, पटल ५३, पृ० ६११-१२; जायसवाल कृत उसका अध्ययन, पृ० १४। [पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४७२ के अनुसार]

२. पं० युधिष्ठिर कृत 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १८६-८७।

अपरिचित हो जाने के कारण नन्द-सखा में प्राचीन अष्टाध्यायीकार पाणिनि का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। परवर्त्ती लेखक उसी का अनुकरण करते रहे। गोत्र उपनाम से व्यक्तियों की प्रसिद्धि तब भी रही है और आज भी। लोकव्यवहार में उपनाम के प्रयोग की परम्परा भारत में अतिप्राचीन है। गौतम,[1] कौटल्य, शाकटायन आदि ऐसे ही नाम हैं।

पाणिनिविषयक नन्द-कालिक भ्रान्ति की परम्परा राजशेखर तक इस रूप में आ गई कि उसने विभिन्नकालिक अनेक विद्वानों को नन्द के दरबार में इकट्ठा कर दिया है, जैसे बल्लाल ने 'भोजप्रबन्ध' में आगे-पीछे के अनेक कवियों को भोज के दरबार में एक-साथ ला बिठाया है।

प्रसंगवश यहाँ पाणिनिकाल के विषय में संक्षेप से कुछ विवेचन प्रस्तुत किया गया। उभयपक्ष की पुष्कल सामग्री इस विषय पर विवेच्य है, जिसका विस्तार के साथ विवेचन करना अपेक्षित है। पर यहाँ केवल इतना प्रकट कर देना अभीष्ट रहा है कि तथाकथित बौद्ध-पारिभाषिक एवं बौद्धसाहित्यचर्चित कतिपय पद, पाणिनि की रचना में वहीं से लेकर प्रयुक्त हुए हैं, यह विचार सर्वथा निराधार है। पाणिनि का काल बुद्ध-प्रादुर्भाव से पर्याप्त पूर्व है, ऐसा मानना अधिक प्रामाणिक है।

पाणिनि का काल बुद्ध-पूर्व प्रमाणित होने पर यह निश्चित है कि पाणिनि का गुरु आचार्य वर्ष उसका पूर्वसमकालिक है। वर्ष के भाई उपवर्ष का काल भी वही सम्भव है। ब्रह्मसूत्रों पर बोधायन-रचित वृत्ति का संक्षेप उपवर्ष ने किया। इस कारण ब्रह्मसूत्र-वृत्तिकार बोधायन का काल पाणिनि से अवश्य पूर्व था। ऐसी दशा में ब्रह्मसूत्रों की रचना बुद्ध-परवर्त्ती काल में मानी जानी सर्वथा असम्भव है। फलतः इसमें कोई बाधा नहीं कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास है, जिसका अपर नाम बादरायण लोकप्रसिद्ध रहा।

(४) ब्रह्मसूत्रों पर उपवर्ष और बोधायन द्वारा लिखी गई व्याख्याओं का काल बुद्धपूर्व है, इसपर विचार किया गया। पुराण आदि में ऐसे स्पष्ट लेख उपलब्ध हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता वेदव्यास द्वैपायन था। वायुपुराण [पू०, अ० १०४] में प्रसंग है—प्रवक्ता सूत ऋषि शौनक से कहता है, शौनक ! सुनो, इस कठिन प्रश्न के विषय में मैं तुमसे कहूँगा। यद्यपि इसे अति गोपनीय कहा जाता है, पराशर का पुत्र व्यास पौराणिकी कथा को कह-

१. न्यायसूत्रकार का 'गौतम' गोत्र-नाम है, 'मेधातिथि' सांस्कारिक नाम। कौटल्य का सांस्कारिक नाम विष्णुगुप्त है। गोत्र नाम से प्रसिद्ध अनेक व्यक्तियों के सांस्कारिक नाम आज अज्ञात हैं। आज भी तिलक, गोखले, भण्डारकर, आप्टे, भटनागर, त्रिपाठी, मिश्र आदि पदों का बहुल प्रयोग देखा जाता है।

कर अपने चित्त में समस्त वेदार्थ से युक्त चिन्तन करने लगा कि मैंने वर्ण एवं आश्रमियों के धर्मों का उपयुक्त कथन कर दिया है, वेदानुकूल मुक्तिमार्ग का विविध प्रकार वर्णन किया है। सूत्रों द्वारा किये गये निर्णय में जीव-ईश्वर-ब्रह्म के भेद का निरास किया है। श्रुत्यनुसारी विचार के साथ परब्रह्म का निरूपण किया है।[1]

इस प्रसंग में पुराण के मूलपद—'जीवेश्वरब्रह्मभेदो निरस्तः सूत्रनिर्णये' विशेष ध्यान देने योग्य हैं। यह निर्देश निश्चित रूप से वेदान्तदर्शनरूप ब्रह्मसूत्रों को पाराशर्य वेदव्यास की रचना माने जाने की ओर संकेत करता है। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से यह स्वीकार किया जाना कठिन है कि वस्तुतः यह निर्देश स्वयं पराशर-सुत वेदव्यास का है; क्योंकि ब्रह्मसूत्रों में जीव-ब्रह्म के अभेदप्रतिपादन की भावना वेदव्यास के पर्याप्त अनन्तर उद्भावित की गई है, भले ही उसके ठीक काल का निश्चय किया जाना अशक्य हो। पर यह निश्चित है कि सूत के द्वारा पुराण-प्रवचनकाल के पूर्व यह भावना उद्भूत हो चुकी थी। इसके साथ उस समय का विशिष्ट एवं मूर्द्धन्य विद्वत्समाज इस तथ्य को जानता था कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता पराशरसुत वेदव्यास है। यह काल निश्चित ही आचार्य शंकर के काल से पूर्व है। सूत द्वारा पुराण-प्रवचन का काल बुद्ध के तथाकथित प्रादुर्भाव से पहला है, यह स्वीकार किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। पुराणप्रवक्ता सूत का वास्तविक काल क्या है, यह जानना कठिन है। इस सबके फलस्वरूप यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि शङ्कर के प्रादुर्भाव से पर्याप्त पूर्व विद्वत्समाज यह जानता था कि ब्रह्मसूत्ररचना वेदव्यास की है, जिसका अपर नाम बादरायण प्रसिद्ध है।

(५) महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत वार्ष्णेयाध्याय में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार वेदान्तशास्त्र का रचयिता द्वैपायन है। यह पराशरपुत्र

---

१. सूत उवाच—

श्रृणु शौनक ! वक्ष्यामि प्रश्नमेनं सुदुर्लभम्।
अतिगोप्यतरं दिव्यमनाख्येयं प्रचक्षते ॥१९॥

पराशरसुतो व्यासः कृत्वा पौराणिकीं कथाम्।
सर्ववेदार्थघटितां चिन्तयामास चेतसि ॥२०॥

वर्णाश्रमवतां धर्मो मया सम्यगुदाहृतः।
मुक्तिमार्गा बहुविधा उक्ता वेदाविरोधतः ॥२१॥

जीवेश्वरब्रह्मभेदो निरस्तः सूत्रनिर्णये।
निरूपितं परं ब्रह्म श्रुतियुक्तविचारतः ॥२२॥

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास सम्भव है। महाभारत के इस प्रसंग में प्रथम कहा है[1] कि युग के अन्त में जो वेद और इतिहास अन्तर्निहित हो गये थे, उनको अब युग के प्रारम्भ होने पर तपःपूत ऋषियों ने परमात्मा की कृपा से प्राप्त किया। अनन्तर यह बताया है कि किस व्यक्ति ने किस शास्त्र का निर्माण किया। उसी प्रसंग में यह कहा गया है कि वेदान्त को द्वैपायन ने ग्रहण कर प्रवृत्त किया।[2] यहाँ 'वेदान्त' पद का प्रयोग वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के लिए माना जा सकता है; क्योंकि इस पद का प्रयोग ब्रह्मसूत्रों के अतिरिक्त उपनिषदों के लिए होता है, उपनिषदों की रचना के साथ द्वैपायन का कोई सम्बन्ध किसी आधार पर प्रमाणित नहीं है। फलतः उक्त पद्य में 'वेदान्त' पद से 'ब्रह्मसूत्र' ही ग्राह्य हो सकते हैं।

(६) वेदान्तदर्शन के लिए 'ब्रह्मसूत्र' पद का प्रयोग स्वयं वेदव्यास ने गीता [१३।४] में किया है, जो महाभारत का एक अंश है। गीता के 'ब्रह्मसूत्र' पद का अर्थ आचार्य शंकर ने 'उपनिषद्' किया है, जो गीता के उक्त श्लोक के अनुसार युक्त प्रतीत नहीं होता, इसका विवेचन प्रथम किया जा चुका है। गीता के श्लोक में 'ब्रह्मसूत्रपदैः' के अन्य विशेषण इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं कि यहाँ उक्त पद से उपनिषद् ग्राह्य नहीं हो सकते; वेदान्तदर्शन का ग्रहण किया जाना युक्तियुक्त है। इसके अतिरिक्त शंकरानन्द, रामानुज आदि अन्य आचार्यों ने ऐसा माना है। कृष्णद्वैपायन द्वारा रचित गीता में 'ब्रह्मसूत्र' पद से वर्तमान वेदान्तदर्शन का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि यह रचना बुद्ध के प्रादुर्भावकाल से बहुत पहले की है।

(७) इस विषय पर विवेचन किया जा चुका है कि कृष्णद्वैपायन पाराशर्य का अपर नाम 'बादरायण' है। रचयिता ने सूत्रों में अपने एक नाम 'बादरायण'

---

१. युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥
[१२।२०३।१७; पूना० भं० सं०]

२. महाभारत का पाठ इस प्रकार है—

न्यायतन्त्रं हि कात्स्न्येन गौतमो वेद तत्त्वतः।
वेदान्तकर्मयोगञ्च वेदविद्ब्रह्मविद्भिः।
द्वैपायनो निजग्राह शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः॥
[१२।२१२।३४; कुम्भघोण संस्करण]

लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य के पृ० ५३६ की टिप्पणी में इस श्लोक का उल्लेख किया है। पूना भण्डारकर संस्करण के शान्तिपर्व के पृ० ११३१ की टिप्पणी में चालू अध्याय [२०३] के १९वें श्लोक के अनन्तर कुम्भघोष संस्करण के अनुसार इसका निर्देश किया है।

का तथा अन्य रचनाओं में दूसरे नाम 'द्वैपायन' का प्रयोग किया है। इसके साथ पुराण आदि में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जिनसे ब्रह्मसूत्रकर्तृत्व पाराशर्य वेदव्यास का ज्ञात होता है, जिनका निर्देश गत पृष्ठों में संख्या ३ पर किया गया है। पाराशर्य वेदव्यास की रचना, और उसकी जानकारी की परम्परा विद्वत्समाज में उसी समय से बराबर चालू रही है। जैमिनीय मीमांसा के एक सूत्र [१।१।५] में 'बादरायण' का नाम-निर्देश है। परम्परागत जानकारी के अनुसार कुमारिल भट्ट ने वह नाम पाराशर्य वेदव्यास का बताया है।[1] भट्ट के मूलश्लोक में 'पाराशर्य' पद है। वार्त्तिक का टीकाकार उम्वेक लिखता है—'**व्यासवचनेन दर्शयति—तथा चेति।**' इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है कि बादरायण को वेदव्यास समझे जाने की परम्परा का उद्भावन शंकरोत्तरकाल में न होकर कुमारिल भट्ट के चिरपूर्व-काल से प्रचलित रहा है।

जैमिनि के सन्मुख ब्रह्मसूत्र—मीमांसा के प्रस्तुत सूत्र [१।१।५] में बादरायण का निर्देश इस बात की पुष्टि के लिए किया गया है कि परोक्ष ब्रह्मतत्त्व के समान धर्म-अधर्म का निश्चय शब्द-प्रमाण अथवा शास्त्र-प्रमाण के बिना सम्भव नहीं। इस कथन से मीमांसासूत्रकार, बादरायण के आरम्भिक ब्रह्मसूत्रों में तीसरे सूत्र[2] की ओर संकेत करता है, जिसमें ब्रह्म के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए शास्त्र को कारण [प्रमाण] बताया गया है। शास्त्र ब्रह्म के अस्तित्व को प्रमाणित करता है, इसलिए उसके स्वीकार करने में सन्देह का कोई अवकाश नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार धर्म और अधर्म के स्वरूप को जानने एवं उसकी यथार्थता में शास्त्र को प्रमाण मानना आवश्यक है; अन्य प्रमाणों से इसका निर्णय सम्भव नहीं।

पूर्वमीमांसा का यह निर्देश प्रमाणित करता है कि मीमांसाकार जैमिनि के सन्मुख ब्रह्मसूत्र विद्यमान हैं। समस्त भारतीय प्राचीन साहित्य में मीमांसाकार जैमिनि के रूप से एक ही व्यक्ति का पता लगता है, जो महाभारतकाल के कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के शिष्यों में अन्यतम है। बादरायण को वेदव्यास से अतिरिक्त व्यक्ति मानकर और उसे बुद्धोत्तरकाल में घसीट लाने पर जैमिनि के इस निर्देश का समाधान सम्भव न होगा। ऐसी कल्पना सर्वथा निराधार एवं प्रमाणहीन है कि मीमांसाकार जैमिनि तथाकथित बुद्धोत्तर-कालिक ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के

---

१. मीमांसा सूत्र [१।१।५] की व्याख्या करते हुए कुमारिल भट्ट का श्लोक है—
धार्मिकाधार्मिकत्वाभ्यां पीडानुग्रहकारिणौ। प्रसिद्धौ हि तथा चाह पारा-शर्योऽत्र वस्तुनि॥२॥ [श्लो०वा०, औत्पत्तिकसूत्र, १।१।५]

२. **शास्त्रयोनित्वात्॥** ब्र० सू० १।१।३॥

समकालिक हुआ। फलतः वेदव्यास एवं बादरायण को भिन्न व्यक्ति समझना भ्रान्तिमूलक है। एक ही व्यक्ति के ये विभिन्न नाम हैं। वेदव्यास का शिष्य होता हुआ जैमिनि स्वयं अपने सूत्र में उसको 'बादरायण' पद से स्मरण करता है।

शिलालेख सत्य प्रमाण—आधुनिक कतिपय विद्वान् यह कहते सुने जाते हैं कि वेदव्यास को बादरायण समझे जाने का मूल, पौराणिक आधार पर प्रादुर्भूत परम्परा है, जिसके लिए कोई अन्य ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। ऐसे विद्वानों का कहना है कि ऐतिहासिक तथ्य वही माना जा सकता है, जिसके लिए कोई उत्कीर्ण शिलालेख आदि प्रमाण उपलब्ध हो।

इस विषय में विचारणीय है कि संसार का कितना इतिहास-साहित्य है, जो सर्वात्मना शिलालेखों पर आधारित हो ? एक प्रतिशत इतिहास भी ऐसा बताया जाना कठिन होगा। अनेक बार शिलालेख भी ऐसे विद्वानों द्वारा असत्य घोषित कर दिये जाते हैं।[1] यदि किसी ऐतिहासिक तथ्य को शिलालेखों के आधार पर अतिरिक्त पुष्टि मिल जाती है, तो यह अच्छा है। अन्य साधनों के अभाव में शिलालेख एक साधन माना जा सकता है। पर शिलालेखों के समान विशाल साहित्य के रूप में इतिहास के अन्य साधन उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं, जबकि पहला साधन अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध है। लेख चाहे शिला पर हो, कागज़, ताड़पत्र, भोजपत्र अथवा अन्य किसी आधार पर हो, समान महत्त्व रखता है। लेखों में विरोध होने पर यही नहीं कि शिला का लेख ही सत्य हो, उसकी असत्यता में भी अनेक कारण छिपे रह सकते हैं।

पुराण-लेखों के आधार पर किये गये ऐतिहासिक निर्धारण अविश्वसनीय अथवा अमान्य हैं,–ऐसा समझना समस्त साहित्य पर हरताल लगाना है। विरोध में बलाबल को जाँचना आवश्यक होता है। इसके आधार पर विचार-विभिन्नता भी बनी रह सकती है; पर एकान्तरूप से ऐसा समझ लेना कि पुराणों के ऐतिहासिक निर्देश कल्पनामात्र हैं, कोई मूल्य नहीं रखता। यह माना जा सकता है कि पुराणों के अनेक अंश विभिन्न कालों में लिखे जाते रहे हैं; किसी सचाई तक पहुँचने के लिए उनकी पूर्वापरता की परीक्षा अपेक्षित होने पर की जा सकती है; परन्तु वेदव्यास व बादरायण का जहाँ तक सम्बन्ध है, पुराण तथा अन्य साहित्य में कहीं इनके विभिन्न व्यक्ति होने का संकेत उपलब्ध नहीं होता और न कोई ऐसा शिलालेख उपलब्ध है; जबकि ऐसे निर्देश उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर

१. जैसे—दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशि (द्वितीय) के समय के, एहोड़े की पहाड़ी पर के जैन मन्दिर का शिलालेख। द्रष्टव्य—प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६१–६३। अन्य अनेक शिलालेख व ताम्रपत्रों के विषय में विविध प्रकार के सन्देह प्रकट किये जाते हैं।

ये नाम एक व्यक्ति के निश्चित होते हैं।

यह केवल पौराणिक परम्परा है, इसमें कोई प्रमाणभूत पाषाणोत्कीर्ण लेख उपलब्ध नहीं, यह कहकर इसे टाला नहीं जा सकता। फलतः एक ही व्यक्ति के बादरायण व कृष्णद्वैपायन आदि विभिन्न नाम होने पर ब्रह्मसूत्रों का रचयिता महाभारतकालिक कृष्णद्वैपायन वेदव्यास है, इसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस परम्परा को सुरक्षित रखते हुए आचार्य रामानुज ने प्रारम्भिक द्वितीय श्लोक में ब्रह्मसूत्रों को पाराशर्यवचन लिखा है।[1] इससे भी पाराशर्य-बादरायण की अभिन्नता स्पष्ट होती है।

१. 'पाराशर्यवचःसुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम्' इत्यादि।
—श्रीभाष्य, मंगलश्लोक २।

चतुर्थ अध्याय

ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल

इस तथ्य के स्पष्ट हो जाने पर कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता बादरायण महाभारत-कालिक कृष्णद्वैपायन है, सूत्ररचना के काल के विषय में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए। परन्तु 'वादी भद्रं न पश्यति' लोकोक्ति के अनुसार प्रावादुक विचारकों द्वारा इस विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठाने का प्रयास किया जाता है।

उक्त तथ्य के स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा है, ब्रह्मसूत्रों में बौद्धदर्शन का उस रूप से प्रत्याख्यान, जिसका विवरण आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में प्रस्तुत किया है। इस विषय में कुछ भी लिखने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मूलरूप में सूत्रकार की भावना किसी विशेष मत का निराकरण करने की रही हो, ऐसी बात सूत्ररचना के आधार पर नहीं जानी जाती। सूत्रों का अपना स्वारस्यपूर्ण झुकाव किसी तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का विवेचनात्मक रीति से उपपादन किये जाने की ओर प्रतीत होता है। वस्तुतत्त्व के विवेचन के प्रसंग में 'इति चेन्न' इत्यादि शैली का अवलम्बन दर्शनसूत्रों में किया जाना साधारण बात है। सूत्रों में ऐसी रचना न उनके विशेष काल पर प्रभाव डालती है, और न उनकी सर्वात्मभाव से निराकरणात्मक प्रवृत्ति पर। इसका उपयुक्त निर्देश गत पृष्ठों में किया जा चुका है।[1] इस भावना की छाया में हमें उन सूत्रों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, जिन सूत्रों में तथाकथित बौद्धदर्शन का निराकरण बताया जाता है। यद्यपि इसका अपेक्षित विवेचन गत[2] पृष्ठों में किया गया है, परन्तु कुछ अतिरिक्त विवेचन यहाँ आवश्यक है।

नागार्जुन का शून्यवाद

यह समझना सर्वथा निराधार है कि बुद्धप्रादुर्भाव के काल से पूर्व ब्रह्मसूत्रों

---

१. देखें, प्रस्तुत रचना का पृ० ५१।

२. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० ५१ से ५७।

का रचनाकाल नहीं माना जा सकता। इस तथ्य के प्रमाण इतिहास में उपलब्ध हैं कि बुद्ध-प्रादुर्भाव-काल से पूर्व ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्याग्रन्थ[1] लिखे जा चुके थे। फिर भी यह कहा जाता है कि "ब्रह्मसूत्रों में[2] तथाकथित बौद्धनिराकरण के प्रसंग से यह स्पष्ट है कि सूत्रों में सर्वास्तित्ववादिनी विचारधारा के साथ जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण होते हुए भी नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण नहीं है। इस आधार पर ब्रह्मसूत्रों की रचना का काल नागार्जुन के बाद नहीं माना जा सकता। इन शाखाओं के बुद्ध-प्रवर्तित मत से प्रसूत होने के कारण बुद्धप्रादुर्भाव-काल [षष्ठ शताब्दी ई० पू०] और नागार्जुनप्रादुर्भाव-काल [द्वितीय शताब्दी ई०] के मध्य सूत्ररचनाकाल माना जाना चाहिए। पर इस लम्बे अन्तराल में सूत्र-रचना कब हुई, इसका अधिक निश्चय इस आधार पर किया जा सकता है कि सूत्रों में सर्वास्तिवादी बौद्धमत और विज्ञानास्तिवादी [बाह्य जगत् का अस्तित्व न माननेवाला] मतों का ही निराकरण है। तृतीय शताब्दी ई० पू० में बौद्धदर्शन की ये विचारधाराएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं। यद्यपि उस समय तक बौद्ध मत विभिन्न अठारह शाखाओं में विभक्त हो चुका था, पर यह कहना कठिन है कि उनके विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का क्या रूप रहा होगा। फिर भी शाखाभेद विचारविभिन्नता का आभास देता है, जो उनके दार्शनिक विकास का द्योतक है। बौद्धों की एक शाखा 'सर्वास्तिवादी' के कथन से सूचित होता है कि कोई शाखा ऐसी रही होगी, जो सब पदार्थों का अस्तित्व न मानती हो। आज ऐसी शाखा 'सौत्रान्तिक' नाम से ज्ञात है। इसके अतिरिक्त एक 'प्रज्ञप्तिवादी' शाखा है, जिसका उद्भव बुद्ध-निर्वाण के द्वितीय शतक में हुआ; उसका सिद्धान्त था कि द्वादशायतनों की वास्तविक सत्ता नहीं है।

इस प्रकार तृतीय शताब्दी ईसा-पूर्व में बौद्धमत की उक्त दोनों विचार-धाराओं के अस्तित्व का संकेत मिलता है। द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के प्रारम्भ में सर्वास्तिवादियों के महान् **आचार्य आर्यकात्यायनीपुत्र** की प्रौढ़ रचना '**अभि-धर्मज्ञान प्रस्थान-शास्त्र**' दार्शनिक क्षेत्र में आ जाती है।...जगदस्तित्ववादिनी दोनों शाखायें—सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक—निश्चित रूप से द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के प्रारम्भ में इतनी प्रबल मानी जा सकती हैं कि वे निराकरण के योग्य समझी जावें। अशोककालीन 'प्रज्ञप्तिवाद' तथा प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व की जगदभाववादी विचारों की स्पष्टतः प्रतिपादक रचना 'अष्टसाहसिकाप्रज्ञा-

---

१. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० ६२—६४।

२. 'ब्रह्मसूत्रों का वैष्णवभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', डॉ० रामकृष्ण आचार्य कृत; पृ० १८—२०।

पारमिता' को देखते हुए यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि जगन्नास्तित्व-वादिनी विचारधारा को भी इस समय (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) में कम-से-कम इतना महत्त्व तो प्राप्त हो ही चुका होगा कि सामान्यतः केवल 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' के बल पर उसका भी एक चलता-सा निराकरण कर दिया जावे। इस प्रकार यदि, जैसा कि डॉ० दासगुप्ता का विचार है [History of Indian Philosophy, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ४१८], ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व में किसी समय माना जावे, तो तथ्य से बहुत दूर न होगा।"

इस समस्त सन्दर्भ में विवेचनीय विषय निम्न प्रकार समझने चाहिएँ—

(१) नागार्जुन [द्वितीय शताब्दी ई०] के शून्यवाद का ब्रह्मसूत्रों में निराकरण नहीं है।

(२) ब्रह्मसूत्रों में बौद्धमत की केवल सर्वास्तित्ववादिनी तथा विज्ञानास्तित्व-वादिनी इन दो शाखाओं का निराकरण है।

(३) इन शाखाओं का निराकरणीय दार्शनिक अस्तित्व ईसा-पूर्व की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में प्रतीत होता है।

(४) ब्रह्मसूत्रों की रचना ईसा-पूर्व की द्वितीय शताब्दी में किसी समय की गई, ऐसा मान लेना चाहिए।

विचारना चाहिए कि ये स्थापनाएँ सचाई तक पहुँचाने में कहाँ तक समर्थ हैं। इनपर यथाक्रम विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

इतिहास-परिशोधन

(१) महाभारत-युद्ध के अनन्तर मध्यकालिक इतिहास में राजवंशों एवं विशिष्ट लोकनेता महानुभावों की तिथिगणना का लेखा-जोखा अभी तक विश्वसनीय रूप में निर्धारित नहीं हो सका है। स्वयं भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव-काल अभी अनिश्चित है। यद्यपि पिछले दिनों [**२०१३ विक्रमी एवं १९५६ ई० में**] समस्त संसार में भगवान् बुद्ध की २५००वीं जन्मशताब्दी मनाई गई, परन्तु इसका यह निश्चय राजनैतिक आधारों पर हुआ; विभिन्न देशों के महत्त्वपूर्ण लेखों, परम्पराओं तथा किन्हीं सम्भावित साधार विश्वासों को सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया। कहा जाता है कि ऐतिहासिक तथ्य के विषय में मूर्द्धन्य प्रमाण उत्कीर्ण लेख माने जा सकते हैं; परन्तु बुद्ध का यह काल बिना ऐसे प्रमाण के स्वीकार कर लिया गया है। अशोक के उत्कीर्ण लेखों को इसका आधार कहा जाता है; परन्तु महाराज अशोक का समय भारतीय तिथिगणना के अनुसार आज स्वीकृत समय से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व आता है। इन सब ऐतिहासिक समस्याओं पर न केवल गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया, प्रत्युत बहुत अंश तक—सम्भवतः राजनैतिक आधारों पर—इस विषय की उपेक्षा की गई

है। यह भावना इतिहास-परिशोधन के क्षेत्र में वस्तुतः शोचनीय व निन्दनीय है।

जब स्वयं भगवान् बुद्ध के विषय में तिथिगणना की यह स्थिति है, तब अन्य बौद्ध आचार्यों के विषय में क्रमिक तिथिगणना का तथाकथित निर्धारण कहाँ तक विश्वसनीय होगा, यह अनायास समझा जा सकता है। यह भी उस अवस्था में जबकि बौद्ध आचार्यों में से किसी ने अपनी रचनाओं में अपने काल का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः यह विषय अब भी पर्याप्त विवेचना की अपेक्षा रखता है। जिन आधारों पर अभी तक इस विषय के निर्धारण किये गये हैं, अब आये दिन उन विषयों पर अधिक सामग्री उपलब्ध होने की सम्भावना बढ़ गई है, तथा राजनैतिक दबाव ढीला हो गया है। विचारक का दृष्टिकोण सर्वात्मना उदार, पूर्वाग्रहों से अनभिभूत होना आवश्यक है।[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राच्यविद्याविषयक भारतीय साहित्य एवं विज्ञान की जो व्याख्या—अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में अर्द्धभारतीय तथा युरोपीय भाषा के माध्यम से की गई—अनेक लेखों में निर्दिष्ट है, अधिकतर वे लेख भारतीय एवं विदेशी विद्वानों द्वारा प्रामाणिक माने जाते रहे हैं। किन्तु इस समस्त समय में एक ऐसी विचारधारा बराबर बनी रही है, जिसने इन प्राच्य-विद्या के व्याख्याभूत लेखों को पूर्णरूप में स्वीकार नहीं किया। इस विचारधारा के समर्थकों का यह विश्वास रहा है, जो पर्याप्त सीमा तक सही है कि इन शताब्दियों में भारतीय साहित्य के अनुवादक, व्याख्याकार एवं विवेचक प्रायः पाश्चात्य विद्वान् थे। इन्हें उन भारतीय पण्डितों के चरणों में बैठकर भारतीय भाषाएँ सीखनी पड़ीं, जो उनके अधीनस्थ होने के कारण सच्चे अध्यापक की स्थिति में न थे। सीखनेवाले भी अपनी मानसिक एवं राजनैतिक स्थिति के कारण सीखनेवाले की उचित मर्यादा में न थे।[2] यदि उनके उद्देश्य को सच्चा मान लिया जाय—जैसाकि उनमें से अनेकों का था भी—तो वे भारतीय साहित्य को अपने ही सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं मानसिक ढाँचे के सन्दर्भ में समझ सकते थे, यह एक सन्देहरहित नैसर्गिक सचाई है। वे शासक-समाज के अङ्ग थे, अथवा उनके मित्र थे। उनकी बातें सुनी जाती थीं और

---

१. भारतयुद्ध के अनन्तरकालिक तिथिक्रम के विषय में द्रष्टव्य आधुनिक साहित्य —१—'एज ऑफ शंकर' श्री टी० एस० नारायण, बी० ए० बी० एल०, प्रकाशक—थाम्पसन् एण्ड कम्पनी, मद्रास। २—'एज ऑफ महाभारत-वार' श्री न० जगन्नाथराव, ए० जी० प्रेस, बैजवाड़ा। ३—'एन्शन्ट हिन्दू हिस्ट्री' पं० कोटा वेंकटाचल पाकयाजी, विजयवाड़ा (आन्ध्र)।

२. ऐसी एक घटना, हरदुआगंज-निवासी, कविमूर्द्धन्य, श्री पं० नाथूरामशंकर शर्मा के साथ घटित हुई। हमें इसकी व्यक्तिगत जानकारी है।

प्रामाणिक मानी जाती थीं, चाहे वे कैसी भी रही हों, यद्यपि उन्होंने पर्याप्त अच्छी बातें भी कही थीं। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों के वातावरण में एवं विश्व-विद्यालय-स्तर पर मान्यता प्राप्त करने के लिए उत्सुक भारतीय विद्वानों ने यह अधिक उपयुक्त समझा कि अधिकारी पुरुष जो कहें, उसे बिना किसी 'ननु नच' के नतमस्तक हो स्वीकार कर लेना चाहिए, तथा साहित्य के मूलभूत अर्थ एवं विवरण देने का खतरा नहीं उठाना चाहिए। परन्तु अब वह वातावरण विलीन हो चुका है। उस लकीर का फकीर बने रहना अब अज्ञानान्धकार को फैलाने में सहयोग देना है। यह उपयुक्त अवसर है, उस साहित्य की परीक्षा व समीक्षा किसी भी पक्षपात से ऊपर उठकर उदारतापूर्वक की जानी चाहिए; यद्यपि विश्वविद्यालयों में पहले जैसा ही स्तर बना हुआ है, जो चिन्तनीय है।

नागार्जुन और शङ्कर

प्रस्तुत विषय पर अपेक्षित विवेचना के लिए हम नागार्जुन आदि का वही समय मान लेते हैं, जो आज स्वीकृत किया जा रहा है। बौद्धमत की दार्शनिक शाखाओं में विज्ञानास्तित्ववादिनी शाखा बाह्य जगत् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। आचार्य शंकर ने तथाकथित बौद्धनिराकरण प्रसंग के सूत्रों में बाह्य जगत् को न माननेवाली इसी शाखा का निराकरण कतिपय सूत्रों द्वारा किया है। उन सूत्रों में सबसे पहला सूत्र है—'नाभाव उपलब्धेः [२।२।२८]। इस सूत्र में और इससे अगले सूत्रों में कोई ऐसा पद नहीं है, जिससे यह संकेत मिलता हो कि यहाँ विज्ञानास्तित्ववादिनी बौद्धशाखा का निराकरण मानना चाहिए। यह एक आश्चर्य की बात है, और गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय भी कि इन सूत्रों के द्वारा आचार्य शंकर ने नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण क्यों नहीं किया? जबकि, इन सूत्रों में कोई ऐसे संकेत नहीं, जो इस ओर आकृष्ट करते हों कि यहाँ बौद्धमत अथवा किसी विशिष्ट बौद्धमत का निराकरण अभीष्ट है। जैसे यहाँ आचार्य शंकर ने बौद्ध-विज्ञानवाद के निराकरण का उद्भावन किया है, वैसे शून्य-वाद के निराकरण का उद्भावन हो सकता है। आचार्य शंकर द्वारा इसकी उपेक्षा करने के दो कारण सम्भावना किये जा सकते हैं। एक—उन विचारों से शंकर का अभिमत होना; दूसरा—शून्यवाद की निराकरणीय दार्शनिक स्थिति का उस समय तक विकसित न होना।

जहाँ तक पहली सम्भावना का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि आचार्य ने बुद्धिपूर्वक इसके निराकरण की उपेक्षा की है; क्योंकि शून्यवाद की समस्त प्रक्रिया को स्वीकार कर आचार्य शंकर ने 'शून्यवाद' पद के स्थान पर 'ब्रह्मवाद' की स्थापना की। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि 'शून्यवाद' के रूप में जो एक अवैदिक विचारधारा आचार्य के सन्मुख थी, उसे 'ब्रह्मवाद' का नाम

देकर वैदिक विचारधारा के आवेष्टन में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यही कारण है, आचार्य ने उक्त सूत्रों में इस वाद के निराकरण की उपेक्षा की; जबकि इन सूत्रों में किसी बौद्धमत के निराकरण का कोई संकेत नहीं है। न यहाँ सूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण है, न विज्ञानवाद का। आचार्य की यह प्रवृत्ति स्पष्ट करती है कि इन सूत्रों से अपने अभिमत को बलात् उभारने का प्रयास किया गया है। आचार्य की इस प्रवृत्ति को देखकर ही तात्कालिक अथवा परवर्त्ती पुराण-लेखकों ने आचार्य शङ्कर के मायावाद-सिद्धान्त को 'असत् शास्त्र और प्रच्छन्न बौद्ध' लिखा।

यदि द्वितीय सम्भावना के अनुसार विशेषरूप से यह कहा जाता है कि नागार्जुन के शून्यवाद का यहाँ निराकरण नहीं है, और यह कथन आचार्य शंकर के भाष्य पर आधारित है, तो इसका यह परिणाम क्यों नहीं निकाला जा सकता कि शंकर के समय तक नागार्जुन का शून्यवाद अस्तित्व में न आया था? यदि यह सत्य है, तो आचार्य शंकर का काल नागार्जुन से पूर्व माना जाना चाहिए।

सूत्रों में बौद्धमत के किसी प्रकार के निराकरण का कोई संकेत न होने पर यदि आचार्य शंकर ने सूत्रार्थ को उस रूप में समझा, जैसा अपनी व्याख्या में प्रकट किया है, तो यही कहा जा सकता है कि यह आचार्य की अपनी उद्भावना है। यह स्थिति सूत्रार्थ के विषय में वैसी उद्भावना के लिए प्रेरित करती है, जो आचार्य शंकर एवं भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भावकाल से पूर्ववर्त्ती आचार्यों की रही होगी। फलतः यह स्थापना निराधार रह जाती है कि ब्रह्मसूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण न होने से सूत्र-रचनाकाल की उत्तरसीमा नागार्जुनकाल को मान लेना चाहिए।

बौद्ध शाखाओं का सूत्रों में निराकरण

(२) कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्रों के तथाकथित बौद्धमत-निराकरण-प्रसंग में बौद्धदर्शन की दो शाखाओं का निराकरण है। इस आधार पर कल्पना की जाती है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना उस काल में हुई होगी, जब तक बौद्धदर्शन में उन दो शाखाओं का उपयुक्त विकास हो चुका होगा। शेष शाखाएँ अभी ऐसे विकसित रूप में नहीं आई होंगी, जिनके निराकरण की अपेक्षा हो। निराकरणीय उन दो शाखाओं में भी जगदस्तित्ववादिनी शाखा का अधिक विस्तार के साथ तथा उसके दार्शनिक पारिभाषिक पदों का उल्लेख करते हुए निराकरण किया गया है; जबकि दूसरी जगदभाववादिनी शाखा का केवल 'उपलब्धेः' 'अनुपलब्धेः' आदि साधारण हेतु देकर चलता-सा निराकरण है। नागार्जुन और वसुबन्धु जैसे अभाववादी प्रबल तार्किकों के समक्ष 'उपलब्धेः' आदि हेतु कितना महत्त्व रख

सकते हैं, यह अनायास समझा जा सकता है।[1] यह स्थिति ब्रह्मसूत्रों के रचना-काल को एक नियत सीमा में निर्धारण के लिए सहयोग देती है।

पाश्चात्य पद्धति पर विवेचन करनेवाले विद्वान् प्रत्येक विषय को विकास की कसौटी पर परखने का प्रयास करते हैं। आज विकास का एक ऐसा सिद्धान्त मान लिया गया है, जो विश्व की प्रत्येक वस्तु पर लागू होना चाहिए। प्रस्तुत बौद्धदर्शन के विषय में यह किस परिणाम पर पहुँचाता है, विचारणीय है। क्या विकास का यह तात्पर्य समझा जाय कि नागार्जुन एवं वसुबन्धु आदि बौद्धदर्शन के अन्तर्गत जगदभाववादिनी शाखा के उपज्ञ हैं? उनसे पूर्व इस विचारधारा का कोई अस्तित्व न था? अथवा विकास का यह स्वरूप माना जाय कि सिद्धान्त-रूप में पहले से विद्यमान इस विचारधारा को अपनी मान्यताओं के लिए अधिक उपयोगी समझकर उक्त विद्वानों ने इसकी पुष्टि के हेतु साहित्य-रचना कर इसके महत्त्व को स्थापित किया?

पहली बात इसलिए युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वस्तुतः नागार्जुन आदि इस विचारधारा के उपज्ञ किसी तरह सम्भव नहीं। सर्वदर्शनसंग्रह में जिस रूप से बौद्धदर्शन को प्रस्तुत किया गया है, उससे ज्ञात होता है—बौद्धदर्शन की समस्त शाखाओं का उपदेश भगवान् बुद्ध ने शिष्यों को अधिकारी-भेद से किया। उन शाखाओं के विभिन्न नामों [वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी, माध्यमिक] का निर्वचनपूर्वक विवरण तक माधव के संग्रह में प्रस्तुत किया गया है।[2] विभिन्न शाखाओं के लिए इन नामों का उद्भव कब हुआ, यह अनुसंधान का विषय है; पर संग्रह की साक्षी से ऐसा ज्ञात होता है, जैसे भगवान् बुद्ध के द्वारा उन-उन शिष्यों के लिए ये नाम दिये गये हों, जिनको वैसा उपदेश दिया। कम-से-कम इस संग्रह-ग्रन्थ की रचना से पूर्व विद्वत्समाज में इस धारणा अथवा जानकारी का निश्चय होता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को विनयभेद से अपेक्षित विभिन्न विचारधाराओं में वस्तु-तत्त्व का उपदेश किया। बुद्ध का उपदेश केवल आचारप्रधान रहा है, यह कहकर अथवा मानकर इस तथ्य की कदापि उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि अपने उपदेशों का वस्तुतत्त्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए भगवान् बुद्ध ने उपयुक्त प्रयास किया। समस्त बौद्धदर्शन का वही एकमात्र आधार है। भारतीय साहित्य में बुद्ध के जीवन की जिन घटनाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है, उनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि बुद्ध ने प्राचीन दर्शनों का अध्ययन किया। ऐसी दार्शनिक योग्यता का व्यक्ति, और वह

---

१. 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', श्री डॉ० रामकृष्ण आचार्य कृत, पृ० १८।

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पूना, अभ्यंकर-संस्करण [१९२४ ई०], पृ० १९; ४३।

भी भगवान् बुद्ध जैसा व्यक्ति अपने उपदेशों को दार्शनिक दृष्टि से अपुष्ट छोड़ जाये, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती।

शंकर शून्यवाद से अपरिचित था, यह तो एक मज़ाक है। शङ्कर ने स्वयं शून्यवाद का उल्लेख कर उसके उपदेष्टा बुद्ध भगवान् पर एक नुकीली चुटकी ली है।[1] शङ्कर ने उसका प्रत्याख्यान न करना चाहा हो, यह बात अलग है; पर नागार्जुन से पहले के शून्यवाद और नागार्जुन के शून्यवाद में क्या कुछ अन्तर है ? भले ही व्युत्पादन-प्रक्रिया किसी आचार्य की अतिरिक्त रही हो, पर शून्यवाद सिद्धान्त के रूप में नागार्जुन के पहले या पीछे कोई अन्तर नहीं रहा है। यह असन्दिग्ध है कि शङ्कर बौद्धसिद्धान्त के शून्यवाद से सुपरिचित था।

इसके अतिरिक्त जगत् के अभाव को कहनेवाली विचारधारा के संकेत तो बुद्धपूर्वकाल के वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं।[2] इस मान्यता को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता कि जगत् को उसके दृश्यरूप में न मानना अथवा उसको अभावमात्र मानना बुद्ध-मूल से प्रवर्त्तित विचारधारा में आरम्भ हुआ है। जगत् को अभावमात्र मानने की उस प्राचीन कल्पना का विवेचन ब्रह्मसूत्रों में माने जाने पर कोई विशेष बाधा सन्मुख नहीं आती। यह सम्भव है, प्रतिपाद्य विषय की समानता से भाष्यकारों ने अपने समय की विचारधारा को सूत्रों के विवेच्य विषय के रूप में उभार लिया। फिर भी यह मानना प्रामाणिक न होगा कि भगवान् बुद्ध के उपदेशों में कोई ऐसे निर्देश न होने पर केवल नागार्जुन आदि ने अभाववादी सिद्धान्त का निरूपण किया। ऐसी दशा में तो उस सिद्धान्त का विकास न मानकर नागार्जुन आदि द्वारा एक नवीन सिद्धान्त की स्थापना किया जाना कहा जा सकता है। यदि बुद्ध के उपदेशों में अभाववाद के तत्त्व निहित हैं, तो ब्रह्मसूत्रों में दो ही शाखाओं का निराकरण किया गया, ऐसा क्यों ? गत पंक्तियों में इसपर विचार प्रकट कर दिया गया है कि आचार्य शंकर ने मुख्य अभाववादी शाखा के निराकरण की उपेक्षा क्यों की है।

यदि पूर्वोक्त दो विकल्पों में दूसरा स्वीकार किया जाता है, और इस तथ्य को

---

१. **"तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति ॥**
—[ब्र० सू० २।२।१८॥]

"अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति।" —[ब्र० सूत्र० २।२।३२॥]

२. इसके लिए देखें—ऋग्वेद का नासदीय सूक्त १०।१२६॥ ऋ० १०।७२।२॥ बृ० १।२।१॥ १।३।२८॥ छा० ६।२।१॥

मान लिया जाता है कि अभाववादी शाखा का सिद्धान्तरूप से भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया, तो कोई कारण नहीं है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना तद्विषयक बौद्ध दार्शनिक विचारधारा के निराकरण के लिए किये जाने पर भी निराकरण न किया जाये। फलतः वस्तुस्थिति का पता लगता है कि तथाकथित बौद्ध निराकरणपरक ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध विचारधारा का निराकरण न होकर केवल सूत्रकार द्वारा उद्भावित उस विकल्प का विवेचन है, जिसमें जगत् की उत्पत्ति न मानी जाकर उसके आधार पर जगत्कर्त्तृत्व के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व उपेक्षित हो जाता है। इस विवेचन के लिए 'उपलब्धेः' तथा 'अनुपलब्धेः' हेतु किसी प्रकार दुर्बल अथवा साधारण नहीं हैं। नागार्जुन आदि द्वारा प्रस्तुत किया गया विवरण उस विचारपद्धति से कोई विभेद नहीं रखता, जिसका आश्रय आचार्य शंकर ने इस विषय में लिया है। उससे स्पष्ट होता है, न आचार्य शंकर और न नागार्जुन आदि 'विषयोपलब्धि' का निराकरण कर सके हैं। केवल तर्करूप में वाग्जाल का विस्तार अलग बात है। इस विषय में 'उपलब्धि' हेतु को चलता-सा समाधान कहना विषय की गम्भीरता से मुँह मोड़ना है। परिणामस्वरूप यह स्थापना निराधार रह जाती है कि ब्रह्मसूत्रों में तथाकथित बौद्धमत की केवल सर्वास्तित्ववादिनी तथा विज्ञानास्तित्ववादिनी दो शाखाओं का निराकरण है, जबकि वस्तुस्थिति में वहाँ बौद्धमत का किसी शाखा का निराकरण नहीं है।

बौद्ध दार्शनिक शाखा-काल

(३) कहा जाता है, इन शाखाओं का निराकरणीय दार्शनिक अस्तित्व ईसापूर्व की तृतीय-द्वितीय शताब्दी में प्रतीत होता है।

गत पृष्ठों में इसका निर्देश कर दिया गया है कि भारतीय तिथिगणना का क्रम जिस रूप में अभी तक निर्धारित किया गया है, उसमें अनेक अंश सर्वथा अनिश्चित हैं, तथा अधिक अन्वेषण की अपेक्षा रखते हैं। स्वयं भगवान् बुद्ध और बौद्ध विद्वानों के कालविषयक निर्धारण की यही दशा है। इस कारण यह कहना सर्वथा सन्दिग्ध है कि बौद्धमत की किन्हीं दो शाखाओं का निराकरणीय दार्शनिक अस्तित्व ईसापूर्व की तृतीय-द्वितीय शती में माना जाना चाहिए। वह इससे अनेक शती पूर्व भी हो सकता है। अस्तु, वह चाहे कभी हो, इस समय केवल इतने अंश पर विचार करना अपेक्षित है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना उक्त शाखाओं का निराकरणीय दार्शनिक रूप अस्तित्व में आ जाने पर ही सम्भव है, उससे पूर्व नहीं।

ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध पारिभाषिक पद—इस विषय में जो युक्ति अथवा प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबका विवेचन गत पृष्ठों में कर दिया गया है। इस मान्यता में सबसे प्रबल कहा जानेवाला प्रमाण सूत्रों में उन शाखाओं के तथा-

कथित पारिभाषिक पदों का प्रयोग है। परन्तु ढूँढने पर भी 'प्रतिसंख्या-अप्रति-संख्यानिरोध' के अतिरिक्त अन्य कोई पद ऐसा नहीं बताया जा सका। इस पद के विषय में प्रथम पर्याप्त विवेचन कर दिया गया है।[1] तब कोई अन्य आधार ऐसा नहीं रह जाता, जिससे ब्रह्मसूत्रों की रचना बौद्ध मत की उक्त दो शाखाओं के अस्तित्व में आ जाने पर मानी जाय। उक्त प्रसंग के ब्रह्मसूत्रों की प्रकरणानुगत उपयुक्त व्याख्या अन्य प्रकार सम्भव होने से आचार्य शंकर द्वारा की गई व्याख्या पर पूर्ण विश्वास किया जाये, इसके लिए कोई आधार नहीं है। यह अधिक विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इन सूत्रों के आधार पर जो भावना आचार्य शंकर ने अभिव्यक्त की है, वही भावना सूत्रकार की रही होगी, इसमें पूर्ण सन्देह है।

इस दिशा में यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है कि तथाकथित सूत्र-रचनाकाल में जिन दो बौद्ध दार्शनिक शाखाओं के निराकरणीय अस्तित्व को बताया जाता है, उन शाखाओं का वह कौन-सा साहित्य है, और उस साहित्य के वे कौन-से लेखक आचार्य हैं, जिन्होंने ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से पहले उस स्तर के साहित्य को प्रस्तुत किया। 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' के रचयिता आर्य कात्यायनीपुत्र तथा 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' की रचना का जो समय उन आधुनिक विद्वानों के द्वारा बताया जाता है, जिनका यह कहना है कि ब्रह्मसूत्र ईसापूर्व द्वितीय शती में लिखे गये, वह समय का निर्देश सर्वथा काल्पनिक है। उस आधार पर ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल उतने में सीमित नहीं माना जा सकता। प्रस्तुत प्रसंग में इसकी भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि विभिन्न आचार्यों ने जिन शाखाओं को विकसित किया बताया जाता है, उन सिद्धान्तों के विषय में स्वयं भगवान् बुद्ध ने क्या उपदेश दिया। बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओं के अस्तित्व में ये सब परिस्थितियाँ, तथा बुद्ध-पूर्वकाल में ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या लिखे जाने के उपलब्ध प्रमाण, इस विचार को सर्वथा उच्छिन्न कर देते हैं कि ब्रह्मसूत्र-रचनाकाल में बौद्ध दर्शन की दो शाखाओं का निराकरणीय अस्तित्व था।

(४) पूर्व-निर्दिष्ट समालोच्य सन्दर्भ में चौथी बात, सन्दर्भ के परिणामरूप में प्रकट की गई है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में किसी समय की गई मान लेनी चाहिए।

उक्त विवेचन के आधार पर यह सब कथन निराधार हो जाता है। जिन हेतुओं के आधार पर उक्त विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे सब वस्तुतः हेत्वाभास हैं; यह गत पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है।

---

१. देखें—पृष्ठ ५४ तथा ६६-६७।

मीमांसा-सूत्रों की रचना शुंग-काल में

इस प्रसंग में आगे डॉ० रामकृष्ण आचार्य ने लिखा है—"उक्त[1] काल वैदिक धर्मावलम्बी शुंगवंशीय राजाओं के संरक्षण में श्रौत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने-वाले मीमांसा-सूत्रों की रचना के लिए वैसे भी पूर्णतया अनुकूल एवं प्रेरक हो सकता है।"

मीमांसा-सूत्रों की रचना को उक्त काल में ला-घसीटने के लिए लेखक महोदय ने यह तुक बड़ी अच्छी भिड़ाई है। क्योंकि मीमांसा-सूत्रों की रचना के काल को ब्रह्मसूत्रों के रचनाकाल से दूर नहीं हटाया जा सकता, इसके निर्देश के लिए लेखक महोदय ने इस अवसर का उपयोग कर लिया। पर वस्तुतः इस विषय में यह विचारणीय है कि बुद्धपूर्व-काल में जब इन सूत्रों पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं, तब उक्त काल में मीमांसा-सूत्रों की रचना माना जाना कहाँ तक प्रमाणित हो सकता है ?

शुंगवंशीय राजाओं का तथाकथित काल अभी भी सन्देह से परे कहाँ है ? आधुनिक पाश्चात्य ईसाई विद्वानों ने अपने अथवा अपने सयूथ्यों के प्रशासन-काल में भारतीय इतिहास की जिस प्रकार छीछालेदर की है, अन्यत्र उसका दृष्टान्त मिलना कठिन है। उन अत्यन्त शिथिल तथा भ्रान्तिपूर्ण लेखों के आधार पर डॉ० आचार्य ने अपने विश्वास को सीमित कर उस शुंग-काल में मीमांसा-सूत्रों की रचना को ला पटका है; अपने भारतीय मूलसाहित्य के पर्यालोचन की अपेक्षा को आवश्यक औचित्य प्रदान नहीं किया।[2]

इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि क्या शुंगकाल ही वैदिक धर्म के संरक्षण और श्रौत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल रहा ? बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व क्या इनका कोई संरक्षक पैदा ही नहीं हुआ ? भले लोगो ! ज़रा आँखें खोलो। स्वयं बुद्ध का जीवन इस तथ्य का साक्षी है। मीमांसा-प्रतिपादित श्रौत विधानों के अनुसार वैदिक यज्ञों में आमिषप्रयोग से उद्विग्न होकर ही तो बुद्ध ने उन्हें दुत्कारा था ! ऐसे वैदिक धर्म को धता बताकर अहिंसा के प्रचार में उसने अपना समस्त जीवन लगाया। बुद्ध के प्रादुर्भाव से सहस्रों वर्ष पहले मीमांसा-सूत्रों की रचना हो चुकी थी; शुंगकाल में मीमांसा-सूत्रों की रचना बताना, उस विषय के समस्त तथ्यों पर हरताल फेरना है। विद्वान् व्यक्ति भी किस प्रकार

---

१. 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २०।

२. महाभारत-युद्ध के अनन्तर की राजवंशावलियों तथा उनके तिथिक्रम के विषय में गम्भीर अध्ययन एवं अनुसन्धान अपेक्षित हैं। भारतीय साहित्य में इसके लिए पुष्कल सामग्री भरी है। अवसर मिलने पर इस विषय में कार्य करने का संकल्प है।

अपने निराधार पूर्वाग्रहों से अभिभूत हो जाता है, उसका यह एक स्पष्ट उदाहरण है।

मीमांसा काशकृत्स्नी

इसके आगे डॉ० आचार्य ने एक बड़ी अद्‌भुत बात कही है। वे लिखते हैं— "उक्त काल में ब्रह्मसूत्रों की रचना मानते हुए भी, जैसे कि प्रस्तुत अध्ययन के निर्देशक डॉ० मंगलदेव शास्त्री का विचार है [निर्देशन के प्रसंग में मौखिक रूप से व्यक्त], महाभाष्य (सू० ४।१।१४; ४।१।६३; ४।३।१५४) में 'काशकृत्स्नी मीमांसा' की अध्ययन-परिपाटी के सम्बन्ध में प्राप्त पुनरावृत्त संकेत के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार के समय जैमिनि और बादरायण के मीमांसा-सूत्रों—वर्तमान पूर्वमीमांसासूत्रों और ब्रह्मसूत्रों—से अध्ययन-अध्यापन का सम्भवतः प्रचार नहीं था और यह भी सम्भव है कि महाभाष्यकार के कुछ बाद द्वितीय शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में उक्त दोनों मीमांसा-सूत्र अस्तित्व में आ पाये हों।"[1]

इस सन्दर्भ द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि पाणिनिव्याकरण के भाष्यकार पतञ्जलि के काल तक जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्रों तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्रों का अस्तित्व न था। ये सूत्र पतञ्जलि के अनन्तर ख्रीस्ट संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में आये हों यह सम्भव है। कारण यह है कि पतञ्जलि ने अपने काल में अध्ययनाध्यापन के रूप से 'काशकृत्स्नी मीमांसा' का एकाधिक बार उल्लेख किया है, जबकि पूर्वोत्तर-मीमांसा-सूत्रों का एक बार भी नहीं।

सम्भवतः डॉ० आचार्य ने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए इस प्रमाण को सबसे अधिक प्रबल समझकर अपने माननीय निदेशक महोदय के सुझाव के साथ, प्रस्तुत युक्तिजाल के अन्तिम भाग में उपस्थित किया है; आखिर यह अपनी सचाई की रट लगाता हुआ वादी-खग कहाँ भागकर जायगा ? पर सम्भवतः यह जाल का छोर कटा हुआ दिखाई दे रहा है। आइये, परखें।

पतञ्जलि का महाभाष्य कोई इतिहास-ग्रन्थ नहीं है कि मीमांसा के प्रस्तोतव्य प्रसंग में 'काशकृत्स्नी मीमांसा' के साथ जैमिनि एवं बादरायण की पूर्वोत्तर-मीमांसा का उल्लेख आवश्यक था; और उल्लेख न होने से उस काल में उक्त मीमांसा-सूत्रों का अस्तित्व न माना जाय। व्याकरण केवल शब्दसाधुत्व का निर्देश करता है, वहाँ अपेक्षित पदों का उल्लेख सम्भव है; इस प्रसंग से जिन पदों का उल्लेख हुआ है, उनके आधार पर यदि कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में

१. 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २०-२१।

आता है, तो उसका उपयोग इतिहास-परिशोध के लिए किया जा सकता है; पर इसका यह परिणाम कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि अप्रयुक्त पदों के अभिधेय उस काल तक अस्तित्व में नहीं आये।

'काशकृत्स्नी मीमांसा' के प्रसंग में जैमिनि व बादरायण के मीमांसा-ग्रन्थों का व्याकरण-प्रक्रिया की दृष्टि से उल्लेख किया जाना सर्वथा असम्भव है, भले ही उस काल में जैमिनि व बादरायण के मीमांसा-सूत्रों का अध्ययनाध्यापन-परम्परा में कितना भी बढ़ा-चढ़ा प्रचार रहा हो। पतञ्जलि ने 'काशकृत्स्नी मीमांसा' का उल्लेख इस प्रकार किया है—'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी' इस प्रयोग में प्रवक्ता का वाचक 'काशकृत्स्नि' पद अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्ययान्त है,[1] इस कारण आगे 'प्रोक्त' अर्थ में 'इञश्च' [४।२।११२] सूत्र से 'अण्' होकर स्त्रीविवक्षा में पाणिनि-सूत्र [४।१।१५] के अनुसार 'ङीप्' होने से 'काशकृत्स्नी'-पद 'काशकृत्स्नि के द्वारा प्रोक्त मीमांसा' का वाचक सिद्ध होता है। अनन्तर, काशकृत्स्नी मीमांसा का अध्ययन करनेवाली ब्राह्मणी—अर्थ में व्याकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का प्रसंग आता है। 'काशकृत्स्नीं मीमांसामधीते ब्राह्मणी' इस अर्थ में क्या प्रयोग होना चाहिए, यह विचारणीय है। 'काशकृत्स्नी' पद से अध्ययन-अर्थ में, पाणिनि-सूत्र [४।२।५९] के अनुसार 'अण्' प्रत्यय होता है; क्योंकि 'काशकृत्स्नी' पद में प्रोक्तार्थक 'अण्' प्रत्यय पहले हुआ है, इसलिए अध्ययन-अर्थ में हुए इस 'अण्' प्रत्यय का पाणिनि-सूत्र [४।२।६४] के अनुसार 'लुक्' हो जायगा, अर्थात् यह प्रत्यय अदृश्य हो जायगा, इसी कारण 'काशकृत्स्नी' पद में स्त्री-प्रत्यय [ङीप्-ई] का भी पाणिनि-सूत्र [१।२।४९] के अनुसार 'लुक्' हो जायगा। अब विचार यह है कि अवशिष्ट 'काशकृत्स्न' पद के आगे स्त्रीविवक्षा में स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्' होना चाहिए अथवा 'टाप्'? क्योंकि अध्ययन करनेवाली ब्राह्मणी है, इसलिए उसका बोधक स्त्रीप्रत्यय आवश्यक है। यद्यपि अध्ययनार्थक 'अण्' का 'लुक्' हो गया है, तथापि प्रोक्तार्थक 'अण्' विद्यमान है, इसलिए पुनः 'ङीप्' [४।१।१५] होना चाहिए। भाष्यकार पतञ्जलि ने इसका निर्णय किया है कि अध्येत्री अर्थ में जो 'अण्' प्रत्यय हुआ है, उसका 'लुक्' हो गया; जो प्रोक्तार्थक श्रूयमाण है, उससे एक बार 'ङीप्' हो चुका है; पुनः प्रवृत्ति सम्भव नहीं, अतः अब स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्' न होकर 'टाप्' होगा।[2] फलतः

१. 'काशकृत्स्नस्य अपत्यं काशकृत्स्निः', पाणिनि-सूत्र [४।१।९५] के अनुसार 'काशकृत्स्न' पद से 'इञ्' प्रत्यय होकर 'काशकृत्स्निः' पद निष्पन्न होता है।

२. **एवमपि—काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी, अत्र प्राप्नोति। नैष दोषः। अध्येत्र्यामभिधेयायामण् ईकारेण भवितव्यम्, यश्चात्राध्येत्र्यामभिधेयायामणुक्तो लुप्तः सः, यश्च श्रूयते, उत्पन्नस्तस्मादीकार इति कृत्वा पुनर्न भविष्यति।**
(महाभाष्य, ४।१।१४, ६३॥)

'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, तामधीते ब्राह्मणी' इस अर्थ में 'काशकृत्स्ना ब्राह्मणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

'बादरायण' पद में तो इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, 'जैमिनि' पद को 'काशकृत्स्नि' के समान ह्रस्व इकारान्त समझकर उससे उक्त प्रक्रिया की कल्पना करना सर्वथा निराधार होगा; क्योंकि दूसरे पद के समान पहला 'इञ्' प्रत्ययान्त नहीं है, अतः इस पद में उक्त प्रक्रिया की सम्भावना ही नहीं है; तब पतञ्जलि इस पद का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में कैसे करता? कदाचित् महाभाष्यकार पतञ्जलि इतना चतुर व महान् वैयाकरण न रहा होगा, जितना बाल की खाल निकालनेवाले आधुनिक रिसर्च-स्कॉलर व उच्च-उपाधिधारी पाश्चात्य रीति से शास्त्र में चञ्चुप्रवेश पाकर उसकी जड़ तक को बाहर निकाल-कर दिखा देते हैं। वस्तुतः डॉ॰ आचार्य ने इस प्रसंग का उल्लेख कर अपनी मान्यता को और अधिक दुर्बल बना दिया है। इस समस्त विवेचन के परिणाम-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना बुद्धकाल से बहुत पूर्व द्वापर युग के अन्त में बादरायण—अपरनामधेय कृष्णद्वैपायन—द्वारा की गई। उसी काल में द्वैपायन के शिष्य जैमिनि ने पूर्वमीमांसासूत्रों की रचना की।

ब्रह्मसूत्रों का बौद्धमत-निराकरण ही अर्थ

उस काल में सूत्रकार के सामने बौद्धमत-निराकरण का कोई प्रश्न नहीं उठता। फिर भी एतद्विषयक पाश्चात्य विचारधारा में श्रद्धा रखनेवाले कतिपय आधुनिक विद्वान् इस बात पर बल देते हैं कि ब्रह्मसूत्रों के तथाकथित बौद्धमत-निराकरण प्रसंग में कुछ सूत्र ऐसे अवश्य प्रतीत होते हैं, जिनका अन्य प्रकार से विवरण प्रस्तुत किया जाना कठिन है; वहाँ बौद्धमत-निराकरण की भावना स्पष्ट झलकती है। ऐसी दशा में ब्रह्मसूत्रों की रचना कृष्णद्वैपायन द्वारा की गई, यह कथन निर्बाध नहीं माना जा सकता।

इस सम्बन्ध में विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रकरण के ब्रह्मसूत्रों में बौद्धमत अथवा बौद्धमत की किसी विशेष शाखा का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, यह बात अनेक बार कही जा चुकी है। भाष्यकारों ने अपने काल की दार्शनिक परिस्थितियों तथा अपने विचारों के अनुसार उन वादों—एवं बौद्धमत की विशिष्ट शाखाओं—के प्रत्याख्यान को सूत्रों में से उभारने का प्रयास किया है। यही कारण है कि उक्त सूत्रों के व्याख्यानों में भाष्यकारों द्वारा विविध प्रकार के भेद उभर आये हैं। न केवल शैव और वैष्णव भाष्यों का परस्पर भेद है, प्रत्युत वैष्णव भाष्यों का आपस

में भी साम्मत्य नहीं है।[1] क्या यह माना जा सकता है कि मूल सूत्रकार की भावना इन सब भाष्यकारों के अनुसार रही होगी ? वस्तुतः सूत्रकार की भावना को भाष्यकारों ने अपने विचारों की आँधी उठाने में उपेक्षित कर दिया है, इसी कारण कहीं-कहीं सूत्रपाठ में भी परिवर्तन किया गया है। यह स्थिति इस बात के लिए पर्याप्त प्रबल प्रमाण है कि भाष्यकारों के इस प्रसंग में जो कुछ लिखा है, वह सूत्रकार के वास्तविक तात्पर्य को अभिव्यक्त नहीं करता।

इस प्रसंग में सूत्रकार का आशय किसी मत-विशेष के प्रत्याख्यान में न होकर—ब्रह्म की सत्ता एवं जगत् के प्रति उसकी कारणता के स्पष्टीकरण के लिए—स्वकल्पना-प्रसूत अपेक्षित विकल्प के विवेचनमात्र में है। प्रस्तुत रचना में इस तथ्य को अनेकत्र स्पष्ट किया गया है। यदि सूत्ररचना के अनन्तर-काल में किन्हीं विचारकों ने उक्त विकल्पगत विचारों को दार्शनिक रूप दे दिया है, तो सूत्रकार को उससे प्रभावित नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में प्रस्तुत प्रसंग के किन्हीं सूत्रगत पदों का अपने दर्शन में विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग स्वीकार कर लिया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वीकृत पदों का उस दर्शन में एकाधिक प्रयोग होना स्वभावतः सम्भव है। आश्चर्य इस बात का है कि पदों के वैसे केवल अधिक प्रयोग से अभिभूत होकर हम वास्तविकता को उपेक्षित कर उसका शीर्षासन कर देने के लिए सन्नद्ध हैं।

प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्यानिरोध पद विवेचन—ब्रह्मसूत्रों के प्रस्तुत प्रकरण में—जिसका उपयोग भाष्यकारों ने बौद्धमत-निराकरण में किया है—बलपूर्वक प्रयत्न करने के अनन्तर दो पदों को खोजा जा सका है, जिन्हें बौद्धदर्शन का पारिभाषिक कहा जाता है; एक सूत्र में उनका प्रयोग होने के आधार पर ब्रह्मसूत्रों की रचना को बौद्धदर्शन के विकास के अनन्तर बताया जाता है। वे पद हैं—'प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध'।[2] सूत्ररचना की दृष्टि से वस्तुतः इसे एक पद कहना अधिक उपयुक्त होगा। चाहे वह एक ही पद हो, पर यथार्थरूप में यदि उसका प्रयोग मूलतः बौद्धदर्शन में होने के अनन्तर उसी के आधार पर सूत्र में होना सिद्ध होता है, तो वह एक प्रयोग ही अपने अभिलषित को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अतः इसका गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

इन पदों का जो अर्थ आचार्य शंकर ने किया, अन्य भाष्यकार उसी का

---

१. देखें—'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २७८–८०।

२. सूत्रपाठ इस प्रकार उपलब्ध है—'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्' [२।२।२२]।

अनुसरण करते आये हैं। कहा जाता है कि आचार्य शंकर का किया अर्थ अतिसूक्ष्म व अस्पष्ट है, पर उन थोड़े पदों में जो भावना निहित है, उसका स्पष्टीकरण वाचस्पति मिश्र आदि ने भामती आदि टीकाओं में कर दिया है, उससे आचार्य शंकर की भावना स्पष्ट हो जाती है।[1] उक्त पदों का जो अर्थ इन भाष्यकारों ने किया है, बौद्ध विद्वानों ने उसकी आलोचना की है। इस विषय में डॉ० रामकृष्ण आचार्य ने लिखा है—

"वैष्णव भाष्यकारों ने उक्त दोनों निरोधों का स्वरूप वही माना है जो उनके पूर्ववर्त्ती भाष्यकार शंकर ने माना है [ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, सूत्र २।२।२२] और इस प्रकार शंकर की उक्त निरोधद्वय के स्वरूप से सम्बद्ध मान्यता की जो आलोचना जापानी बौद्ध लेखक **यामाकामी सोगन** ने की है, वह स्वभावतः वैष्णव भाष्यकारों की मान्यता पर भी लागू होती है। उक्त लेखक ने कहा है कि शंकर उक्त दोनों निरोधों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ थे, अन्यथा वे यह नहीं कहते कि अप्रतिसंख्यानिरोध प्रतिसंख्यानिरोध से बिपरीत है और प्रतिसंख्यानिरोध भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश है। उसने आगे कहा है कि उक्त निरोध एक-दूसरे के विपरीत नहीं, अपितु बिल्कुल पृथक् धर्म है [यामासामी सोगन—सिस्टम ऑफ़ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० १६७]। वस्तुतः निरोधद्वय का शंकर और वैष्णव भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत स्वरूप बौद्ध मान्यता के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। बौद्ध परम्परा के प्रामाणिक विद्वान् आचार्य वसुबन्धु ने प्रतिसंख्या अर्थात् प्रज्ञा से सास्रव धर्मों या क्लेशों के पृथक्-पृथक् वियोग या क्षय को 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहा है और इस प्रकार उक्त निरोध सर्वास्तिवादियों के अनुसार निर्वाण का ही नामान्तर है। उक्त निरोध से बिल्कुल भिन्न एक दूसरे निरोध को उन्होंने 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहा है जो धर्मों के उत्पाद का अत्यन्त विरोधी है और प्रत्ययवैकल्य से होता है।[2] [अभिधर्म कोश, श्लो० १।६; २।५७।]"

बौद्धदर्शन के 'असंस्कृत' पद का विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपनी रचना 'बौद्धधर्मदर्शन' [पृ० ३७३-७४] में 'प्रतिसंख्यानिरोध' आदि पदों का यही भाव प्रकट किया है। वहाँ लेख है—"जिसे प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण कहते हैं, वह प्रतिसंख्या (=प्रज्ञा) के बल से अन्य अनुशय, अन्य जन्म का अनुत्पाद है; जब उत्पन्न अनुशय और उत्पन्न जन्म का निरोध होता है। निर्वाण वस्तु-सत् नहीं है, यह अभावमात्र है।···अप्रतिसंख्यानिरोध भी अभाव-

१. इस पद का आंशिक विवेचन पहले किया गया है, देखें—प्रस्तुत ग्रन्थ का पृ० ५४–५७, तथा ६६।

२. डॉ० रामकृष्ण आचार्यकृत—ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २८२।

मात्र है, वस्तु-सत् नहीं है। जब प्रतिसंख्या बल के बिना प्रत्यय-वैकल्यमात्र से धर्मों का अनुत्पाद होता है, तब इसे अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं।"

जापानी बौद्ध लेखक ने बताया कि आचार्य शंकर उक्त दोनों निरोधों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ थे। डॉ० आचार्य ने 'वस्तुतः निरोधद्वय का शंकर और वैष्णव भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत स्वरूप बौद्ध मान्यता के अनुकूल प्रतीत नहीं होता' यह लिखकर उसमें अपनी सहमति प्रकट की है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि आचार्य शंकर और अन्य भाष्यकारों के इस विषय में अनभिज्ञ रहने का कारण क्या रहा होगा? अन्य भाष्यकारों के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रायः आचार्य शंकर का अनुसरण किया है; फिर भी यह एक आश्चर्य समझा जायगा कि विद्वानों ने बौद्धदर्शन की इस वास्तविकता को न समझते हुए उसपर कलम उठाने का साहस किया। यह होने पर भी पूर्वोक्त जिज्ञासा शंकर के विषय में उसी तरह खड़ी रहती है। आचार्य शंकर के इस विषय में अनभिज्ञ रहने के दो कारण हो सकते हैं, पहला—शंकर के काल तक इन पदों की सम्प्रति ज्ञात परिभाषिकता के यथार्थ स्वरूप का बौद्धदर्शन में प्रकट न हो पाना; दूसरा—शंकर का इस विषय में अज्ञान।

उक्त पदों का आज जो बौद्धदर्शनानुमत पारिभाषिक अर्थ समझा जाता है, उसका प्रामाणिक आधार वसुबन्धु का लेख है, जिसका निर्देश डॉक्टर आचार्य ने अपने सन्दर्भ में किया है। यह एक साधारण परम्परा है कि दर्शनशास्त्र में विशिष्टार्थ के बोधक पदों का प्रयोग चालू रहने पर भी विभिन्न कालों में विविध आचार्यों द्वारा उनके अर्थों में अनेकानेक परिष्कार होते रहते हैं। उदाहरण के लिए अनुमान-प्रमाण हमारे सामने है। अनुमितिज्ञान के लिए व्याप्तिज्ञान साधन माना गया है। व्याप्ति का स्वरूप साधारणरूप से हेतु और साध्य का साहचर्य-नियम है—दोनों का नियमित रूप से साथ रहना। इस विषय के परिष्कारस्वरूप व्याप्ति के विवेचन में नव्यन्याय का पर्याप्त भाग आ जाता है। यही दशा दर्शन के 'परिणाम' और 'विवर्त्त' पदों की है। आचार्य शंकर के काल तक ये दोनों पद पर्यायरूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। 'विवर्त्त' पद की वर्तमान में ज्ञात पारिभाषिकता का उद्भावन शंकर के अनन्तर-काल में हुआ है। इसी प्रकार यह सम्भव है कि 'प्रतिसंख्यानिरोध' पद का दर्शन में प्राचीन प्रयोग होने पर, जब उसे बौद्धदर्शन में अपनाया गया, तब विशिष्टार्थ-बोधकता के रूप में उसके अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए परिष्कार होता रहा, जिसने वसुबन्धु के लेखानुसार अपना वर्त्तमान रूप प्राप्त किया।

यह स्थिति हमारे सामने एक अन्य समस्या खड़ी करती है कि सूत्रकार के सन्मुख उक्त पद का यही पारिभाषिक अर्थ रहा होगा या नहीं? यदि तब भी यही अर्थ समझा जाता था, तो यह जानना कठिन है कि आचार्य शंकर की इस

विषय की अनभिज्ञता का दूसरा कारण—शंकर का एतद्विषयक अज्ञान—कैसे टिक सकता है ? शंकर जैसे पारदर्शी विद्वान् को इतनी लम्बी परम्परा से आगत एवं बौद्धदर्शन व समाज में विज्ञात अर्थ के विषय में 'अज्ञानी' कह देना सर्वथा दुस्साहस समझा जायेगा। यदि सूत्रकार के समय यह परिभाषा न थी, तो इस पद के किस भाव को समझकर सूत्रकार ने इसका प्रयोग किया, ज्ञातव्य है। निश्चित है, इस पद के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की जो प्राचीन परम्परा थी, सूत्रकार ने उसी के अनुसार इसका प्रयोग किया, और अनन्तर आचार्य शंकर ने उसी का अनुसरण किया। उसके अनुसार सूत्र में इस पद के प्रयोग की बौद्धदर्शन-पारिभाषिकता समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप यह कथन निराधार रह जाता है कि सूत्रों में बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पदों का प्रयोग होने से सूत्रों की रचना बुद्ध-प्रादुर्भावकाल के अनन्तर मानी जानी चाहिए।

शंकर ने सूत्रों का अर्थ ठीक नहीं समझा—कतिपय आधुनिक[1] विद्वानों को इससे सन्तोष नहीं। उनका कहना है कि शंकर आदि भाष्यकारों ने सूत्रकार के आशय को ठीक नहीं समझा। 'अप्रतिसंख्यानिरोध' पद का जो अर्थ उन्होंने किया है, वह वैसा ही 'निरोध' है, जो 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' [२।२।२०] के रूप में कहा गया है। यदि सूत्रकार को यहाँ [२।२।२२] उसी निरोध का कथन करना अभीष्ट होता, तो 'प्रतिसंख्यानिरोध' एवं 'अप्रतिसंख्यानिरोध' इतनी लम्बी प्रतिज्ञा न करके केवल 'न च निरोधः' अथवा 'न च निरोधप्राप्तिः' या 'निरोधा-प्राप्तिः' इतना कह देते। विशिष्ट पदों के निर्देश के साथ निरोध की अप्राप्ति का कथन यह स्पष्ट करता है कि सूत्रकार का आशय सामान्य 'उत्तरोत्पाद में पूर्व-निरोध' का न होकर बौद्धदर्शन में स्वीकृत विशिष्ट निरोधों के कथन में है। फलतः भाष्यकारों ने निरोधद्वय का स्वरूप सामान्यतः पदार्थ-विनाश मानकर तदनुसार प्रस्तुत सूत्र के जो अर्थ किये हैं, वे स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होते।

"प्रस्तुत सूत्र [२।२।२२] की संगति निम्न प्रकार से उचित प्रतीत होती है—सूत्रकार के अनुसार 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' का तात्पर्य यह निकलता है कि पूर्वनिरुद्ध अर्थात् असत् हेतु से उत्तरोत्पाद होता है। सूत्र २।२।१८–२१ में उन्होंने यह स्पष्टतः प्रदर्शित कर दिया है कि प्रतिपक्षी के अनुसार पूर्वनिरुद्ध हेतु से उत्तरोत्पाद को स्वीकार करने पर भी उत्पत्तिमात्र ही उपपन्न होती है, संघात नहीं बन सकता। प्रस्तुत सूत्र [२।२।२२] में अब वे यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि उक्त प्रकार से हेतु के निरुद्ध हो जाने पर भी उत्तरोत्पाद की अविच्छिन्न परम्परा मानने से प्रतिपक्षी के द्वारा अभ्युपगत निरोधद्वय-प्रतिसंख्या और अप्रति-

---

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्य–ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २८२-८३। तथा ऐसा ही विचार रखनेवाले अन्य विद्वान्।

संख्या निरोधों की कभी प्राप्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि निरुद्ध हेतु से भी तत्प्रत्यय कार्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्रज्ञा या प्रतिसंख्या से अविद्या के निरुद्ध होने पर भी अविद्याप्रत्यय संस्कार की उत्पत्ति होती रहेगी और पुनः संस्कार के निरुद्ध होने पर भी संस्कारप्रत्यय राग-द्वेषादि की उत्पत्ति होगी, इस प्रकार अविद्या आदि द्वादशांगों की निरन्तर अविच्छिन्न परम्परा के चलने से प्रतिसंख्यानिरोधापरपर्याय निर्वाण कभी प्राप्त नहीं हो सकता, और इसी प्रकार जब कार्योत्पत्ति में प्रमुख रूप से अपेक्षित वस्तु तदुपादान के निरुद्ध होने पर भी कार्योत्पत्ति की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है, तो किसी कार्य के उत्पाद या अनुत्पाद में प्रत्ययसहकार[1] या प्रत्ययवैकल्य के अकिंचित्कर होने से प्रत्ययवैकल्य के कारण होनेवाला उत्पादात्यन्तविरोधिस्वरूप अप्रतिसंख्यानिरोध भी कभी प्राप्त नहीं हो सकता।"[2]

आचार्य शंकर आदि द्वारा किये गये इन पदों [प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्या] के अर्थों और उनपर की गई आधुनिक बौद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के अनुसार यह सिद्ध किया जाना कठिन था कि इस सूत्र में प्रयुक्त ये पद बौद्धदर्शन के पारिभाषिक हैं, तथा उसको देखकर प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने उनका उपयोग किया है। डॉ० आचार्य ने उपर्युक्त सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र का स्वाभिमत अर्थ कर उस न्यूनता को हटाने का प्रयास किया है, और कहा है कि सूत्रकार का यथार्थ आशय इसी रूप में अभिव्यक्त होता है। उनके कहने का सार इतना है कि 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' के अवसर [२।२।२०] पर सामान्य निरोध का कथन कर बताया गया है कि इस प्रकार केवल उत्पत्ति का कथन होता है, संघात नहीं बन पायेगा। बौद्धमत में स्वीकृत विशिष्ट निरोधद्वय को लक्ष्य कर प्रस्तुत सूत्र में यह आपत्ति की गई है कि यदि कारण के न रहने पर कार्य हो सकता है, तो प्रज्ञा अथवा प्रतिसंख्या द्वारा अविद्या के निरुद्ध हो जाने अर्थात् न रहने पर उसके कार्य-संस्कार होते रहेंगे, और संस्कार के निरुद्ध होने पर उनसे उत्पन्न होनेवाले कार्य राग-द्वेषादि बराबर होते रहेंगे; तब 'प्रतिसंख्या-निरोध'-रूप निर्वाण की कभी प्राप्ति नहीं होगी, तथा राग-द्वेषादिरूप संसार की अविरत धारा बनी रहेगी, जो बौद्ध-दर्शन को अभिमत नहीं है। यह बौद्धदर्शन पर दोषापत्ति होगी। फलतः यह मानना चाहिए कि हेतु के निरुद्ध हो जाने पर कार्य का होना असंगत है।

---

१. 'प्रत्यय' पद का अर्थ—यहाँ और इस सन्दर्भ में सर्वत्र—'कारण' है। प्रथम प्रयुक्त 'तत्प्रत्यय' का तात्पर्य होगा—वह जिसका कारण है ऐसे कार्य की उत्पत्ति।

२. देखें—डॉ० रामकृष्ण आचार्यकृत—'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २८३।

विचारना चाहिए, सूत्रकार का ऐसा आशय वर्तमान सूत्ररचना का कहाँ तक अनुसरण करता है? स्पष्ट है, डॉ० आचार्य द्वारा किये गये सूत्रार्थ के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में निरोधद्वय का विवेचन अथवा प्रत्याख्यान न होकर निरोधद्वय की बौद्धाभिमत व्यवस्था पर आपत्ति द्वारा 'असद्धेतु से कार्योत्पाद' सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना है। इसीलिए यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है कि 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' के अवसर पर सामान्य निरोध का और यहाँ विशिष्ट निरोध का विवेचन हो। वस्तुतः प्रथम प्रसंग में कार्यकारण-व्यवस्था का असम्भव हो जाना स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत सूत्र [२।२।२२] में यदि सूत्रकार का आशय निरोध-द्वयसम्बन्धी बौद्धसिद्धान्त पर आपत्ति देना होता, तो सूत्र में हेतुपद का स्वरूप 'अविच्छेदात्' न होकर 'अविच्छेदापत्तेः' अथवा 'अविच्छेदप्रसक्तेः' आदि रहा होता। कारण यह है कि बौद्धदर्शन उस दशा में 'अविच्छेद' को स्वीकार नहीं करता, पर 'असद्धेतु से कार्योत्पाद' सिद्धान्त को मानने पर 'अविच्छेद' की आपत्ति अथवा प्रसक्ति होती है। इसलिए यदि सूत्रकार का आशय डॉ० आचार्य के अनुसार रहा होता, तो हेतुपद उक्त रूप में प्रयुक्त होना चाहिए था।

'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' के अवसर पर कार्य-कारण-व्यवस्था के विलोप हो जाने का दोष देकर प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि भाव [वस्तुतत्त्व] का कभी सर्वथा निरोध नहीं होता, वह निरोध चाहे 'प्रतिसंख्या'-निमित्त से कहा जाय, अथवा 'अप्रतिसंख्या'-निमित्त से; दोनों प्रकार से कहे जाने-वाले निरोध की अप्राप्ति अर्थात् असिद्धि है, क्योंकि भाव का विच्छेद—सर्वथा विनाश—नहीं होता। अवस्थाओं के बदल जाने पर भी अन्वितधर्मी बराबर बना रहता है; वह निरोध चाहे प्रतिसंख्या द्वारा कहा जाय, अथवा अप्रतिसंख्या द्वारा; 'अविच्छेदात्' हेतु इस आशय के अनुरूप है। यहाँ दोष-प्रसक्ति की उद्भावना नहीं है; प्रत्युत एक सामान्य सिद्धान्त को कहकर समुदायवाद की उस असंगति को प्रकट किया है, जिसमें जगत्सर्ग आदि की प्रक्रिया के लिए ब्रह्मा की उपेक्षा कर केवल जड़ उपादान-तत्त्वों को परिणामी स्वभाव मान लेने से समुदायरूप जगत् की अभिव्यक्ति की कल्पना की गई है। इस कल्पना में उपादानगत परिणाम के लिए नियतकालिक व्यवस्था के सम्भव न होने से काल के सर्वातिशायी अल्प अंश में परिणाम का होना स्वीकार किया जाता है, वस्तुतत्त्व प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होता रहता है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'अविच्छेदात्' हेतु से अन्वितधर्मी का उपपादन कर उक्त प्रक्रिया को असंगत बताया है।

इसी आशय को प्रकारान्तर से आगे 'नासतोऽदृष्टत्वात्' [२।२।२६] सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है। प्रतिक्षण वस्तु-परिणाम का तात्पर्य यही निकलता है कि वस्तु के परिणत होने—अथवा उत्पत्ति—के क्षण में उसके कारण का अस्तित्व नहीं रहता; कारण की अनुपस्थिति में कार्य का होना यह स्पष्ट करता है कि

कार्योत्पाद अभाव से हो जाता है। यदि ऐसा हो, तो वस्तुतत्त्व स्वोपादान-अभाव से अन्वित प्रतीत होना चाहिए। परन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता; प्रत्येक वस्तुतत्त्व अपने विभिन्न उपादान-तत्त्व से अन्वित प्रतीत होता है; मृद्विकार मृदन्वित, सुवर्णविकार सुवर्णान्वित आदि। फलतः ब्रह्म की उपेक्षा कर केवल जड़ उपादान-तत्त्वों को परिणामी-स्वभाव मानकर उसी के चमत्कार से समुदायरूप में जगत् के उभर आने की प्रक्रिया सर्वथा असंगत है। फलतः डॉ० आचार्य का प्रयास इस दिशा में सफल होता दिखाई नहीं दे रहा कि प्रस्तुत प्रकरण के सूत्रों में बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पद का प्रयोग हुआ है।

शब्द द्वारा अर्थबोधन

आभिधानिकों ने इस तथ्य को सर्वात्मभाव से स्वीकार किया है कि अर्थ का बोधन कराने में शब्द को अनन्त शक्तिवाला मानना चाहिए। एक पद प्रवृत्ति-निमित्त के अल्पभेद से भिन्न अर्थ को कहने में समर्थ होता है। ऐसी स्थिति में सामान्यतः दृष्टिगोचर एक पद अनेक अर्थों का बोध करा देता है। इसी के अनुसार 'प्रतिसंख्यानिरोध' आदि पदों का ब्रह्मसूत्रों में अथवा अन्यत्र अबौद्ध साहित्य में प्रयोग जिस आशय को प्रकट करता है, यदि वह आशय सर्वात्मना बौद्धसाहित्य में अभीष्ट नहीं है, तो इसका यह तात्पर्य कदापि न होना चाहिए कि आचार्य शंकर आदि को इस पद के वास्तविक अर्थ का ज्ञान न था; अथवा सर्वत्र उस पद का प्रयोग बौद्धदर्शनाभिमत अर्थ में होना चाहिए। यद्यपि गम्भीरता से विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शास्त्रों में उक्त पद का प्रयोग समान-जैसे अर्थ में किया गया है।

प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्यानिरोध पदों का दोनों दर्शनों में समान अर्थ

ब्रह्मसूत्र में प्रयुक्त इस [प्रतिसंख्यानिरोध] पद का अर्थ आचार्य शंकर तथा वाचस्पति आदि व्याख्याकारों ने—भाव [वस्तु] का ज्ञाननिमित्तक निरोध [अभाव] हो जाना—अर्थ किया है। यह स्थिति संसार में जीवन्मुक्त व्यक्ति की बताई जाती है। संसार के पूर्ववत् चालू रहते हुए जीवन्मुक्त के लिए वह तुच्छ-जैसा है, नहीं के समान है; ऐसा अभाव उक्त पद से कहा जाता है; यही इसका तात्पर्य है। बौद्धदर्शन में आचार्य वसुबन्धु[1] के अनुसार तत्त्वज्ञानरूप प्रज्ञा [प्रति-संख्या] से सास्रव धर्मों अथवा क्लेशों के वियोग या क्षय को 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहा है। यह अवस्था जीवन्मुक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? वह चाहे किसी प्रक्रिया से प्राप्त की जाय, बौद्धदर्शन-प्रतिपादित पद्धति से अथवा वैदिक-दर्शन-प्रतिपादित पद्धति से। जब तक ज्ञानी का देह अवस्थित है, वह अवस्था

---

१. अभिधर्मकोश, श्लो० १।६; २।५७।।

जीवन्मुक्ति अथवा जीवित-निर्वाण कही जा सकती है; देहपात हो जाने पर उसे मोक्ष अथवा निर्वाण कहना सर्वथा उपयुक्त है; इसमें अन्तर कहीं नहीं आता। यह स्थिति बौद्धदर्शन में इन पदों की पारिभाषिकता को शिथिल कर देती है। इस विचार-प्रवाह में शब्दशक्ति की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

इन सब आधारों पर अनेक बार इस तथ्य को प्रकट किया गया है कि ब्रह्म-सूत्रों में बौद्धदर्शन के पारिभाषिक पदों की खोज मरुमरीचिका से तृष्णा शान्त करने के समान है। सूत्रकार ने जिन भावनाओं को इस प्रकरण से प्रकट किया है, उनमें अनन्तरकालिक बौद्धदर्शन की कतिपय समानताओं को देख, भाष्यकारों ने अपने काल की परिस्थितियों से प्रभावित होकर सूत्रों से उन भावनाओं को उभारने का प्रयास किया है, जो हमें पूर्वाधिगत बौद्धदर्शन की ओर आकृष्ट करती हैं। सूत्रकार की वैसी भावना रही हो, इस सम्भावना के लिए कोई आधार नहीं है।

कतिपय आधुनिक[1] विद्वानों ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि वेदान्त-दर्शन के तथाकथित बौद्धनिराकरण प्रसंग के प्रारम्भिक सूत्रों में आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार बौद्ध-परम्परा-प्रसूत शाखाओं में से केवल सर्वास्तिवादिनी शाखा का निराकरण है, वह भी उस अवस्था का, जब उस शाखा के विकास का प्रारम्भिक काल रहा है। मध्यगत कतिपय सूत्रों में सर्वास्तिवादी शाखा के एक अवान्तरभेद सौत्रान्तिक विचारधारा का निराकरण है, तथा अन्तिम सूत्रों में विज्ञानवादी शाखा का। यद्यपि वैष्णव सम्प्रदाय के भाष्यकारों ने बौद्धमतनिरा-करण को लक्ष्य कर आचार्य शंकर के व्याख्यानों से मतभेद प्रकट किया है, तथा कुछ वैष्णव [मध्व] आचार्यों ने शून्यवाद का निराकरण भी इन सूत्रों में माना है, परन्तु डॉ० रामकृष्ण आचार्य[2] ने उनके विचार में असंगति दिखाकर यह स्पष्ट किया है कि इन सूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण लेशमात्र भी नहीं। यह बात काल्पनिक आधारों की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से केवल सूत्रों के आधार पर विचार करने से स्पष्ट होती है।[3]

इस विषय में निवेदन है कि इन सूत्रों में न केवल नागार्जुन के शून्यवाद का, अपितु किसी भी बौद्धमत अथवा बौद्धशाखा का निराकरण नहीं है। किसी पूर्वा-ग्रह से अभिभूत न होकर एवं सूत्रगत प्रसंगों को गम्भीरतापूर्वक विचारने से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

---

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्य कृत—'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २७८–२९६

२. वही ग्रन्थ, पृ० २९५-९६

३. ऐसी व्याख्या के लिए द्रष्टव्य, हमारी रचना—'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य'।

डॉ० आचार्य अपने इस लम्बे विवेचन से जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, वह उन्होंने चालू प्रसंग के अन्तिम सन्दर्भ में इस प्रकार प्रकट किया है—

"वस्तुतः सूत्रों में प्रस्तुत निराकरण के सामान्य स्वरूप और नागार्जुन के द्वारा सूक्ष्म और सर्वग्रासिनी तर्क-पद्धति पर स्थापित शून्यवाद के प्रौढ़ स्वरूप को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यही सिद्ध होता है कि सूत्रप्रस्तुत निराकरण शून्यवाद से पूर्ववर्ती है और इसलिए इस सम्भावना का भी औचित्य प्रतीत नहीं होता कि नागार्जुन से परवर्ती विज्ञानवाद का निराकरण सूत्रों में किया गया हो। यद्यपि शून्यवाद की अपेक्षा विज्ञानवाद के निराकरण में सूत्रों की निश्चितरूप से अधिक संगति है, फिर भी सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमें 'अष्टसाहसिकाप्रज्ञापारमिता' की मूलभूत शाखा के प्राचीनकालीन विज्ञानवाद या प्रज्ञप्तिवाद का निराकरण न होकर असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग या धर्मकीर्ति के ही उत्तरकालीन विज्ञानवाद का निराकरण है, अपितु उसके विपरीत उक्त सूत्रों में निराकृत विचारधारा की अप्रौढ़ता, महत्त्वहीनता तथा तदनुरूप उसके उपेक्षात्मक सामान्य निराकरण के स्वरूप को देखते हुए यही सिद्ध होता है कि सूत्रों में दार्शनिक दृष्टि से प्रौढ़, प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण उत्तरकालीन विज्ञानवाद का निराकरण न होकर 'अष्टसाहसिकाप्रज्ञापारमिता' से भी पूर्ववर्ती अप्रौढ़, दुर्बल एवं महत्त्वहीन प्रज्ञप्तिवाद का निराकरण है।"[1]

डॉ० आचार्य के विस्तृत विवेचन का यह परिणाम स्पष्ट करता है कि वस्तुतः विभिन्न भाष्यकारों की उपेक्षा कर यदि स्वतन्त्रतापूर्वक केवल सूत्रों के आधार पर विषयवस्तु का विवेचन किया जाय, तो इन सूत्रों में न केवल नागार्जुन के शून्यवाद का, अपितु बौद्धविचारधारा-प्रसूत किसी भी वाद का निराकरण उपलब्ध न होगा। विभिन्न प्रकार से बौद्धमत-निराकरण की उद्भावना केवल भाष्यकारों की तात्कालिक प्रवृत्ति का चमत्कार है। इस प्रसंग के एक सूत्र [२।२।२८] में आचार्य शंकर ने बड़ी आरभटी के साथ विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान किया है। यहाँ तक कहा जाता है कि उसने धर्मकीर्ति तक के विचारों को प्रत्याख्यान की सीमा में समेटा है। इसके आगे के दो-तीन सूत्रों की योजना भी इसी वाद के प्रत्याख्यान में की गई है; जबकि डॉ० आचार्य इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इन सूत्रों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जिससे असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति के प्रतिपादित विज्ञानवाद का यहाँ निराकरण हो। यह तो 'अष्टसाहसिकाप्रज्ञापारमिता' से भी पूर्ववर्ती अप्रौढ़, दुर्बल, महत्त्वहीन प्रज्ञप्तिवाद का निराकरण है। तब इससे यह क्यों न स्पष्ट समझा जाय कि आचार्य शंकर आदि ने उक्त सूत्रों में जिस रूप से विज्ञानवाद के निराकरण की उद्भावना की है, वह उत्सूत्र है।

---

१. वही ग्रन्थ, पृ० २९६-९७।

वस्तुस्थिति यह है कि इन सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि यहाँ 'अष्टसाहसिकाप्रज्ञापारमिता' से पूर्ववर्ती दुर्बल विज्ञानवाद का अथवा बौद्धपरम्परा-प्रसूत किसी भी विज्ञानवाद का निराकरण है। सूत्रों में कोई संकेत न होने पर हम यह कैसे मान बैठे हैं कि यहाँ अमुक विज्ञानवाद का निराकरण है, अमुक का नहीं ? यह एक मूलगत भ्रान्ति है कि यहाँ बौद्धपरम्परा-प्रसूत वाद का निराकरण समझा गया। निश्चित ही इसका कारण भाष्यकारों पर तात्कालिक बौद्धदर्शन का प्रभाव और उसके निराकरण की भावना रहा है। ऐसी स्थिति में वास्तविक सूत्रार्थ ओझल हो गया है। इस कारण यह कथन निराधार रह जाता है कि इन सूत्रों में बौद्धपरम्परा-प्रसूत सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिकवाद अथवा अन्य किसी वाद का निराकरण प्रस्तुत किया गया है। इस विषय में पाश्चात्य विचार-धारा के अनुगामी विवेचकों ने केवल अटकलें भिड़ाई हैं, इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कि सूत्रकार बादरायण का काल किसी तरह बुद्धप्रादुर्भावकाल के पश्चात् माना जाना चाहिए, जबकि इतिहास व साहित्य में इसके लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं है।

यह निश्चित हो जाने पर कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का अपर नाम बादरायण है, और ब्रह्मसूत्रों में सूत्रकार के रूप से 'बादरायण' का निर्देश है—स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल महाभारत-युद्ध के पूर्व-आसन्नकाल में माना जा सकता है। यह सम्भव है—जब तक वेदव्यास जीवित रहे, उसमें कुछ हेरफेर होता रहा हो, जिसके परिणामस्वरूप वेदव्यासकर्तृक महाभारत ग्रन्थ के सम्पर्क के संकेत एक या अनेक सूत्रों में प्रतीत हों। यद्यपि आचार्य शंकर आदि ने ब्रह्मसूत्रों में आये 'स्मृतिः' अथवा 'स्मर्यते' आदि पदों के व्याख्यान में अधिकतर महाभारत के सन्दर्भों का निर्देश किया है, पर यह आवश्यक नहीं कि सूत्रकार की ऐसी भावना रही हो। क्योंकि अपने एक कथन की पुष्टि के लिए अपने अन्य कथन को प्रमाण-रूप में प्रस्तुत करना कोई महत्त्व नहीं रखता। प्रत्युत ऐसा कथन व्यर्थ एवं सारहीन समझा जाता है। वहाँ अन्य प्राचीन स्मृतियों के प्रमाण सूत्रकार को अपेक्षित हों, यह अधिक सम्भव है। प्रमाणरूप में न होकर यदि प्रकारान्तर से महाभारत के किसी प्रसंग के साथ किसी सूत्र का सम्पर्क प्रतीत होता है, तो उसके मान्य होने में कोई बाधा नहीं समझी जानी चाहिए।

ब्रह्मसूत्रों में आठ[1] स्थल ऐसे हैं, जहाँ आचार्य शंकर आदि ने 'स्मृति' अथवा 'स्मर्यते' आदि पदों के व्याख्यान में महाभारत के सन्दर्भ उद्धृत किये हैं।

---

१. ब्रह्मसूत्र के वे स्थल इस प्रकार हैं—१।२।६; १।३।२३; २।१।३६; २।३।४५; ३।२।१७; ३।३।३१; ४।१।१०; ४।२।२१।। रेखांकित स्थलों को लोकमान्य तिलक ने आवश्यक माना है। हमारा विचार केवल अन्तिम के लिए है।

लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य[1] में इसका विवेचन किया है। उनके विचार से केवल दो स्थल ऐसे हैं, जहाँ आवश्यक रूप से सूत्रों में महाभारत का सम्पर्क प्रतीत होता है। हमारे विचार से केवल एक स्थल [ब्र० सू० ४।२।२१] ऐसा सम्भव है, जो प्रमाणरूप में प्रस्तुत न किया जाकर एक प्रासंगिक वस्तुस्थिति का निर्देश करता है। महाभारत के एक अंश गीता [१३।४] में ब्रह्मसूत्र का निर्देश होने से दोनों ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से एक-दूसरे का सम्पर्क यह प्रमाणित करता है कि इनका रचनाकाल समान होना चाहिए, जो कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के जीवनकाल के साथ सम्बद्ध है।

---

१. गीतारहस्य, पृ० ५३४, षष्ठ हिन्दी संस्करण। इस प्रसंग का विवेचन पहले किया गया है, देखें पृ० ४०–४३।

पञ्चम अध्याय

आर्हत, पाशुपत, पाञ्चरात्र-मत-निराकरण

ब्रह्मसूत्रों में तथाकथित बौद्धदर्शन-निराकरण कहाँ तक यथार्थ माना जा सकता है, इसका विवेचन गत पृष्ठों में किया गया। ब्रह्मसूत्रों के इस प्रकरण के अगले प्रसंगों में प्रायः सभी भाष्यकारों ने सूत्रों के आधार पर आर्हत, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र मतों का निराकरण किया है। यह असन्दिग्ध है कि सूत्र-व्याख्यान की इस प्रवृत्ति का उपज्ञ आचार्य शंकर को माना जा सकता है। भास्कर, श्रीकण्ठ तथा अन्य रामानुज आदि वैष्णव भाष्यकारों ने इस दिशा में प्रायः आचार्य शंकर का अनुसरण किया है। इन भाष्यों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपने काल में ये आचार्य साम्प्रदायिक आँधियों से अभिभूत रहे हैं; सूत्रकार के मूल उद्देश्य तथा सूत्ररचना के मूलभूत भाव की ओर दृष्टिपात करने का किसी को ध्यान नहीं आया। उस काल के विद्वानों में ऐतिहासिक शोध की ओर प्रवृत्ति का प्रायः अभाव रहा है। ऐसी दशा में प्रबल साम्प्रदायिक भावनाओं से अभिभूत होकर वेदान्तसूत्रों के जो व्याख्यान किये गये, उन्होंने यथार्थ को सर्वात्मना आविल कर दिया है।

आर्हतमत-निराकरण—तथाकथित बौद्धमत-निराकरण प्रसंग के सूत्रों में कतिपय आधुनिक विद्वानों को यथाकथञ्चित् यह कहने का अवसर प्राप्त हो सका कि इन सूत्रों में बौद्धदर्शन के दो-एक पारिभाषिक पदों का प्रयोग हुआ है; परन्तु जिन चार सूत्रों [२।२।३३–३६] से जैन दर्शन के निराकरण को उभारा गया है, उनमें कोई ऐसा संकेत, चिह्न अथवा पारिभाषिक पद नहीं है, जिसके आधार पर असंदिग्ध रूप में यह कहा जा सके कि सूत्रकार की यथार्थ भावना यहाँ जैनदर्शन के निराकरण में रही है।

कतिपय आधुनिक विद्वानों ने इस प्रसंग के प्रथम सूत्र [२।२।३३] के 'एकस्मिन्' पद के आधार पर यह कल्पना की है कि यहाँ 'एक' पद एक में

अनेकतावाद की ओर संकेत करता है, इससे जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के निराकरण की ओर सूत्रकार का संकेत प्रतीत होता है।[1]

जब हम पहले से किसी बात को मान बैठते हैं, और फिर उसपर विचार करते हैं, तो यथार्थ ओझल हो जाता है। पूर्वाग्रह को छोड़कर केवल सूत्र और उसके पूर्वापर प्रसंगों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन सूत्रों में कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जिससे यहाँ केवल जैनदर्शन के निराकरण में सूत्रकार का तात्पर्य समझा जाय। सूत्र में 'एक' पद के होने पर एकमात्र तत्त्व के मानने वाले किसी विचार का विवेचन प्रस्तुत सूत्र में हो सकता है। विद्वानों की यह धारणा कि ब्रह्मसूत्र प्रधानतया निराकरणात्मक हैं, परमतों का निराकरण सूत्रों का प्रधान लक्ष्य है, मूलतः भ्रान्तिपूर्ण है। इन चार सूत्रों में केवल एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को माने जाने का विवेचन सूत्रकार का आशय सम्भव है। सूत्रकार ने समस्त दर्शन में कोई सूत्र ऐसा नहीं कहा, जहाँ समस्त जगत् के उपादान मूलतत्त्व तथा जगत् के भोक्ता जीवात्माओं को मिथ्या या कल्पित बताकर उनके अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया हो। वस्तुस्थिति यह है कि भाष्यकारों के विवरणों के आधार पर तथा बाल्यकाल से उसीके अध्ययन व श्रवण के आधार पर हमारी जो धारणा बद्धमूल हो गई है, उस आवर्त्त से हम अपने-आपको निकाल नहीं पा रहे हैं। ऐसी दशा में अपने विचारों को सूत्रकार पर आरोपित कर दिया जाता है।

जहाँ तक आर्हत दर्शन के अनेकान्तवाद की यथार्थता का विचार है, वह वस्तुतत्त्व को समझने का एक प्रकारमात्र है। उसका सारांश इतना है कि एक वस्तु अनेक रूप में व्यवहृत होती देखी जाती है। जिस वस्तु को हम 'है' कहते हैं, वह अन्य वस्तु के रूप में 'नहीं' भी है, यह भी सम्भव है कि हम उसके वास्तविक स्वरूप को इसी कारण प्रकट न कर पा रहे हों। इसी रूप में जैन दर्शन के 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः' तीन विकल्प प्रत्येक वस्तु के विषय में सामने आते हैं। इसी का प्रस्तार जैन दर्शन द्वारा सात के रूप में विवृत हुआ है, पर मूलरूप में तीन ही दशाएँ हैं।

वस्तुविषयक ऐसी परिस्थिति को अन्य दर्शनों में स्वीकार किया गया है। विशेष रूप से गौतम कणाद ने तथा साधारणरूप से सभी दर्शनकारों ने 'अन्योऽन्याभाव' को स्वीकार किया है। एक वस्तु के विद्यमान रहते भी उससे भिन्न वस्तु के रूप में उसका 'अभाव' रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने सत्ताकाल में 'भाव' और 'अभाव' उभयरूप से कही जा सकती है। यह एक ऐसी स्थिति है,

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्य की रचना—'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० ३०६।

जो हमें इस सन्देह की ओर अग्रसर करती है कि कदाचित् ऐसा हो कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को हम न कह पा रहे हों। यह वस्तु-विवेचन का एक प्रकारमात्र है, जिसको आर्हत-दर्शन में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है, अथवा इसके अनुसार अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए इस प्रकार को वहाँ आदर दिया गया है, तथा उसका विशेष विवरण है।

यह निश्चित है कि लोक-व्यवहार में यह स्थिति सदा सामने आती है, और इसका दार्शनिक आधार वही है, जिसको प्रायः सभी दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। लोक में यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि एक ही देवदत्त अनेकरूप है—पिता, पुत्र, भाई, भर्त्ता, मामा, भान्जा, चाचा, भतीजा, गुरु, शिष्य, छोटा, बड़ा आदि सभी विभिन्न रूपों में व्यवहृत होता है। पर जब वह 'पिता' कहा जाता है, तब वहाँ 'पुत्र'-भावना का अभाव है, ऐसे ही 'पुत्र' कहे जाने पर 'पिता'-भावना का। विरोधी परिस्थितियों में सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि एक ही देवदत्त में एक काल में 'भाव' और 'अभाव' दोनों अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं। सोचना चाहिए कि वस्तुविवेचन की इस प्रक्रिया का निराकरण करते समय सूत्रकार के सन्मुख उनके दर्शनरचना के परमलक्ष्य ब्रह्मस्वरूप की सिद्धि में इसके द्वारा कितने महत्त्वपूर्ण सहयोग की आशा रही होगी ! ऐसे प्रत्याख्यान से वस्तुतः यथार्थ ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में कोई सहारा नहीं मिलता; यह सर्वथा उपेक्षणीय है। सूत्रकार का इसके निराकरण में तात्पर्य रहा हो, यह पूर्णरूप से सन्दिग्ध है, जबकि सूत्रों में निराकरण के अनुकूल कोई संकेत नहीं है, तथा पूर्वोक्त व्यवहार को आचार्यों ने खुले तौर पर मान्यता दी है।[1] तब ब्रह्मस्वरूप के उपपादन में अनुपयोगी इस मान्यता के निराकरण के लिए सूत्रकार क्या आदर प्रकट करता ! यदि उपयोग अपेक्षित है, तो निराकरण का अवसर ही नहीं रहता।

पाशुपत-मत-निराकरण—पाशुपत सम्प्रदाय के निराकरण की दशा और भी विचित्र है। इस प्रसंग के पाँच सूत्र [२।२।३७–४१] बताये जाते हैं। इन सूत्रों में कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे यह संकेत मिल सके कि इनमें पाशुपत सम्प्रदाय अथवा पाशुपतदर्शन का निराकरण है। कहा जाता है कि प्रकरण के पहले सूत्र में 'पति' पद का प्रयोग है, जो 'पशुपति' पद की ओर संकेत करता है, और इस आधार पर यहाँ पाशुपत-दर्शन की मान्यता का निराकरण सम्भव होता है।

पर विचारना चाहिए, सूत्र के 'पति' पद से 'पशुपति' पद का ही संकेत क्यों है ? 'विश्वपति', 'सर्वाधिपति' अथवा 'जगत्पति' का क्यों नहीं, जो परब्रह्म परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है ?[2] आचार्य शंकर तथा अन्य भाष्यकारों ने इन

---

१. **"तद्यथा—स एव कंचित् प्रति पिता भवति, कंचित् प्रति पुत्रो भवति।"** महाभाष्य १।१।६६-६७॥

२. बृ० उ० ४।४।२२॥ ५।६।१॥

सूत्रों को प्रायः केवल निमित्तकारणेश्वरवाद अथवा आनुमानिकेश्वरवाद के निराकरण में लगाया है। जहाँ तक ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण माना जाता है, उसके निराकरण के लिए सूत्रकार द्वारा 'असामञ्जस्यात्' हेतु दिया गया है। यह हेतु ईश्वर की निमित्तकारणता का निराकरण कैसे करता है, इसमें भाष्यकारों ने बड़ी कलाबाजियाँ खाई हैं। आचार्य शंकर ने असामञ्जस्य-रूप में जो आपत्तियाँ प्रकट की हैं, वे ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर कैसे हट जाती हैं? इसका कोई समाधान आज तक सम्भव नहीं हुआ; न आगे इसकी आशा है। यह केवल निराकरण की भावना से आचार्यों का वाग्विजृम्भण-मात्र है।

वैष्णव आचार्यों ने तो इस प्रसंग के सूत्रों की व्याख्या करने में नग्नरूप से साम्प्रदायिक भावनाओं को उछाला है। वे नामों के ऊपर परस्पर झगड़ते दिखाई देते हैं–कोई श्रुति के आधार पर 'नारायण' या 'विष्णु' को जगत्कारण बताता है, कोई 'पशुपति' अथवा 'शिव' का निराकरण करता है, कोई इसके विपरीत दूसरों का खण्डन करता है, वह भी केवल नामों के आधार पर। यह सब सूत्रार्थ के साथ उपहास है।

विचारना चाहिए, प्रथम अध्याय में अनेक श्रुति-सन्दर्भों के आधार पर—जहाँ विभिन्न नाम-पदों से ब्रह्म का निर्देश हुआ है—सूत्रकार ने स्वयं उन पदों का ब्रह्मपरक होना उपपादन किया है। यदि सूत्ररचनाकाल में सूत्रकार के सम्मुख ये सम्प्रदाय रहे होते, तो वह प्रथमाध्याय के समन्वय-प्रसंग में 'विष्णु'-'शिव' आदि पदों का ब्रह्मपरक समन्वय का निर्देश क्यों न करता? सूत्रकार ने कतिपय पदों का निर्देश कर शेष के विषय में अतिदेश [१।४।२८] द्वारा प्रकट कर दिया है कि अन्य ऐसे सन्दर्भों का व्याख्यान भी उसी प्रकार समझ लेना चाहिए। 'विष्णु' एवं 'शिव' आदि पद वैदिक साहित्य में परब्रह्म परमात्मा के लिए अनेकत्र[1] प्रयुक्त हैं। सन्देह होने पर सूत्रकार अवश्य उनका उल्लेख करता। स्पष्ट है, सूत्रकार के सम्मुख 'शिव'-'विष्णु' आदि नामों से किन्हीं विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न साम्प्रदायिक देव आदि का अस्तित्व नहीं था। फलतः प्रस्तुत सूत्रों में किसी ऐसे साम्प्रदायिक मत या दर्शन का निराकरण नहीं माना जा सकता, जिसका अस्तित्व सूत्ररचनाकाल में सन्दिग्ध है। वस्तुतः इन सूत्रों के ऐसे व्याख्यान सर्वथा उत्सूत्र हैं।

यह एक मूलभूत भ्रम है कि सूत्रकार का आशय ब्रह्म को जगत् का निमित्त व उपादान उभयरूप में मानने का है। सूत्रकार ने कतिपय सूत्रों [१।४।२३–२७]

---

१. देखें—ऋ० १।२२।१६–२१॥ १०।३।४॥ १०।९२।१९॥ यजु० ५।१५–२१॥ १६।४१॥ २३।४९॥ साम० २२२॥ १६६९॥ अथर्व० ७।२६।४॥

में इसका निरूपण किया है।[1] इस कारण प्रस्तुत सूत्रों में केवल निमित्तकारणेश्वरवाद का निराकरण बताना सूत्रकार के आशय के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। यह कहना भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता कि इन सूत्रों में आनुमानिकेश्वरवाद का निराकरण है। सोचना चाहिए, आनुमानिकेश्वरवाद का तात्पर्य क्या है ? अनुमान-प्रमाण द्वारा ईश्वर की सिद्धि करने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई अर्थ सम्भव नहीं। जिन आचार्यों ने अनुमान-प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, उन्होंने यह तो कहीं नहीं कहा कि श्रुति के आधार पर ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। उन आचार्यों का प्रयत्न अत्यन्त अभिनन्दनीय है, क्योंकि उन्होंने उस समाज अथवा वर्ग के लिए ऐसा प्रयास किया है, जो श्रुति को प्रमाण नहीं मानता। यह नहीं समझ आता कि ऐसा कर उन आचार्यों ने क्या अपराध किया है ? अपने-आपको केवलश्रुत्येकशरणता की घोषणा करनेवाले तथाकथित विद्वानों ने कभी श्रुतिगत वास्तविकता को यथायथ समझने का प्रयास तक नहीं किया।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो स्पष्ट रूप से यह देखा जाता है कि स्वयं ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने प्रारम्भिक सूत्रों द्वारा अनुमान-प्रमाण के आधार पर ब्रह्म की सत्ता को उपपादित किया है। **'जन्माद्यस्य यतः'** और **'शास्त्रयोनित्वात्'** सूत्र अनुमान-प्रमाण के अतिरिक्त और क्या हैं ? अभिन्ननिमित्तोपादानवादी केवल इसलिए श्रुत्येकशरणता की घोषणा करते रहते हैं, क्योंकि वे अपने इस कथन की सिद्धि के लिए कोई अनुमान पूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। संसार में कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जो अभिन्ननिमित्तोपादानता का साधक हो। श्रुति भी वस्तुतः इस मान्यता में कोई सहारा नहीं देती; पर सर्वसाधारण के लिए श्रुति का नाम ले लेना ही भारी पड़ जाता है। इस विचार को माननेवाले आचार्यों ने उपनिषत्-सागर का मन्थन कर केवल एक दृष्टान्त-रत्न निकाला है—'ऊर्णनाभि' का ! पर यह आस्तिक मानव-मस्तिष्क को कितना धोखे में डालने का प्रयास है, जिसकी सीमा नहीं। उपनिषद् [मु०, १।१।७] के **'यथोर्णनाभिः सृजते'** इत्यादि सन्दर्भ में जो कुछ उपपादन किया गया है, वह उक्त मान्यता का साधक न होकर प्रतिषेधक है।[2] ऊर्णनाभि [मकड़ी] जन्तु अपने भौतिक जड़ शरीर से तन्तुजाल का निर्माण करता है; जन्तु का चेतन भाग तन्तुजाल-रूप में परिणत नहीं होता, यह सर्वविदित है। तब इस दृष्टान्त के आधार पर केवल चेतनमात्र ब्रह्म का परिणाम जड़ जगत् को कैसे माना जा सकता है ? स्पष्ट है, सूत्रकार निमित्तेश्वरवाद अथवा आनुमानिकेश्वर-

१. देखें—इन सूत्रों पर 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य'।
२. इसके विस्तृत व्याख्यान के लिए देखें—ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य, पृ० १६, १६४, २७४, ३२८

वाद का निराकरण कभी नहीं कर सकता, जबकि वह स्वयं उसे स्वीकार करता है।

शास्त्रारम्भ के उक्त दोनों सूत्रों [१।१।२,३] में सूत्रकार की भावना ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताने की नहीं है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण शास्त्र के एक अगले सूत्र से हो जाता है। सूत्र है—**'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्'** [३।२।४१]। बादरायण के विचार से कर्मलफलप्रदाता ब्रह्म है, क्योंकि वह कार्यमात्र का हेतु बताया गया है। सूत्र में **'हेतु'** पद ब्रह्म की निमित्तता को प्रकट करता है। यही भावना सूत्रकार ने शास्त्रारम्भ के दो सूत्रों द्वारा उपपादित की है। ब्रह्म समस्त 'रूप' व 'नाम' का निमित्त है। उसी का अतिदेश सूत्रकार ने स्वयं यहाँ **'पूर्वं तु'** कहकर किया है। जैसे वह कर्मफलप्रदान में निमित्त है, ऐसे ही जगदुत्पादन में निमित्त है। केवल निमित्त है, अन्य कोई कारण नहीं।

वस्तुतः सूत्रकार ने इस प्रसंग [२।२।३७–४१] में ब्रह्म के शरीरी होने का विवेचन किया है। लोक में कर्त्ता और अधिपति शरीरी देखा जाता है, क्या जगत्कर्त्ता विश्वाधिपति ब्रह्म को भी ऐसा मानना चाहिए? सूत्रकार ने अनेक हेतुओं के आधार पर इसका विवेचन किया, और निर्णय किया कि ब्रह्म शरीरी नहीं हो सकता। इसी की सिद्धि में प्रथम हेतु **'असामञ्जस्य'** दिया गया है। अखिल विश्व का कर्त्ता एवं नियन्ता शरीरी होने से एकदेशी हो, यह सर्वथा असमञ्जस है, अयुक्त है। एकदेशी तत्त्व अनन्त विश्व का कर्त्ता-नियन्ता किसी प्रकार प्रमाणित नहीं हो सकता। फलतः इस प्रसंग में पाशुपत अथवा अन्य किसी साम्प्रदायिक दर्शन आदि का निराकरण नहीं है; न ऐसा सूत्रकार के लिए सम्भव है।

कहा जाता है, न्याय-वैशेषिक आदि में जो संकेत ईश्वरविषयक उपलब्ध होते हैं, तथा उन दर्शनों के विवरणकार आचार्यों ने जो अनुमान के बल पर ईश्वरसिद्धि का प्रयास किया है, वह सब पाशुपत सम्प्रदाय का उनपर प्रभाव है। वैशेषिक के **'प्रशस्तपादभाष्य'** में सृष्टिवर्णन के प्रसंग से 'ईश्वर' को जो 'महेश्वर' कहा है, उससे भी उक्त भाष्य पर पाशुपतमत का प्रभाव परिलक्षित होता है।[1]

विचार करने पर ऐसे कथनों की असारता स्पष्ट हो जाती है। पहली बात यह है कि यह केवल एक शाब्दिक विवाद है। पशुपति, महेश्वर, शिव, विष्णु आदि विभिन्न नामों के आधार पर जगत्सर्ग आदि के विषय में विवाद उपस्थित करना एक निष्फल संघर्ष को सामने लाना है। पशुपति आदि सब नाम एक परब्रह्म परमात्मा के हैं। पशुपति अथवा महेश्वर के नाम पर उसे जगत् का

१. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३०४।

केवल निमित्तकारण कहना, एवं अनुमान के बल पर सिद्ध मानना, तथा ब्रह्म के नाम पर उसे जगत् का उपादान भी मानना और ऐसा केवल श्रुति के आधार पर सिद्ध कहना, यह सब अर्थहीन विवाद है, सर्वथा अज्ञानमूलक।

भूतपति,[1] भूताधिपति, प्रजापति,[2] गणपति, प्रियपति, निधिपति, वाचस्पति,[3] बृहस्पति[4] आदि अनेक पत्यन्त पदों का प्रयोग वेदों में परब्रह्म परमात्मा के लिए हुआ है। उसी रूप में 'ब्रह्म'-पद का प्रयोग वेदों में अनेकत्र देखा जाता है।[5] परमात्मा के केवल नामपदों के आधार पर मतान्तर की कल्पना—एवं सम्प्रदायगत दार्शनिक विचारों—का कोई महत्त्वपूर्ण संकेत सूत्रों में उपलब्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त आनुमानिकेश्वरवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है, जिसका किसी एक विशेष दर्शन के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सके। उद्योतकर, व्योमशिव, उदयन आदि आचार्यों ने अनुमान के बल पर ईश्वर की सिद्धि के लिए जो विस्तार के साथ सफल प्रयास किया है, यह उन्हीं संकेतों का विस्तृत विवरण समझना चाहिए, जो न्याय-वैशेषिक आदि मूलग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। ईश्वर की सिद्धि या उपपादन करना इन दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय न होने से उनमें ईश्वरसिद्धि के कोई स्पष्ट उल्लेख भले न हों, पर जो संकेत उपलब्ध होते हैं, वे इस विषय के विस्तार के लिए पर्याप्त आधार हैं, जो उद्योतकर, उदयन आदि आचार्यों की रचना में उपलब्ध होता है। ईश्वरविषयक ऐसे उपपादन में उदयन आदि पर पाशुपत आदि सम्प्रदाय का प्रभाव कहना वास्तविकता का शीर्षासन कर देना है। गौतम-कणाद के दर्शन अतिप्राचीन हैं; पाशुपत आदि के रूप में सम्प्रदायों की उद्भावना पर्याप्त अनन्तर-काल की है। सभी दर्शनकारों ने श्रुति को स्वतन्त्र प्रमाण माना है, जो अपने प्रामाण्य में पर की अपेक्षा नहीं रखती। ऐसी स्थिति में यह कहना दुस्साहस होगा कि अनुमान के बल पर ईश्वर की सिद्धि करनेवाले उदयन आदि आचार्य अथवा मूल दर्शनकार श्रुति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करते थे। वस्तुस्थिति यह है कि उन आचार्यों ने उस विद्वत्समाज के सम्मुख अनुमान-बल से ईश्वर का उपपादन प्रस्तुत किया, जो वेद-श्रुति को प्रमाण न मानता था। वैदिक समाज व संस्कृति की रक्षा

---

१. यजु० २३।१।। २०।३२।। २३।२, ४।।२३।१६।।
२. ऋ० १०।१२१।१०।। १०।१६९।४।। अथर्व० ७।७९।४।।
३. ऋ० १०।८१।७।। यजु० ८।४५।। १७।२३।।
४. ऋ० ४।५०।४।। ६।७३।३।। अथर्व० २०।८४।४।। २०।९०।३।।
५. ऋ० १।१०५।१५।। १।११७।१०।। ५।४२।२।। ६।७५।१९।। ७।२६।२।। ९।९६।६।।

के लिए उन आचार्यों का कार्य अत्यन्त अभिनन्दनीय है। ब्रह्मसूत्रों में भी प्रथम ब्रह्म का उपपादन अनुमान-पद्धति से प्रस्तुत किया गया है, यह पूर्व-पंक्तियों में कहा जा चुका है।

शङ्कर का प्रयास—आचार्य शंकर ने यद्यपि अपने समय में बौद्धमत से प्रबल टक्कर लेकर वैदिक पद्धति की रक्षा के लिए महान् प्रयत्न किया, परन्तु आचार्य ने तिरोहित रूप में बौद्ध-प्रणाली को अपनाकर उसे अपनी वेश-भूषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। एक प्रकार से 'बौद्धवाद' का कायाकल्प 'ब्रह्मवाद' के रूप में कर दिया गया। यह वस्तुतः आचार्य का उसके सामने घुटने टेक देना था, जिसको उसने परपक्ष कहा। बौद्धवाद के 'शून्य' के स्थान पर 'ब्रह्म' को फ़िट कर उसी मशीन को चालू रक्खा गया। उसपर यह घोषणा की जाती रही है कि ब्रह्म केवल श्रुति-उपपाद्य है, और यह आरोप ब्रह्मसूत्रों पर लगाया जाता है कि वहाँ ऐसा माना गया है, तथा अनुमान के आधार पर ईश्वरसिद्धि का निराकरण किया गया है।

यह एक साधारण समझने की बात है कि जैसा ईश्वर श्रुति से सिद्ध होता है, वैसा ही अनुमान से। यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति से अन्य प्रकार का ईश्वर सिद्ध होता हो और अनुमान से अन्य प्रकार का। सूत्रकार को ईश्वर की सिद्धि अभीष्ट है, तब अनुमान द्वारा की जानेवाली ईश्वरसिद्धि का सूत्रकार निराकरण क्यों करेगा ? इस प्रकार के बेसिर-पैर के बवण्डर भाष्यकारों द्वारा अपने समय में साम्प्रदायिक भावनाओं से अभिभूत होकर उठाए गए हैं; सूत्रकार का ऐसा आशय रहा हो, इसके कोई आधार नहीं हैं।

जहाँ तक **'प्रशस्तपादभाष्य'** में ईश्वर को 'महेश्वर'[1] कहा जाने का प्रश्न है, इससे यह कैसे प्रमाणित होता है कि प्रशस्तपादभाष्य पर पाशुपतमत का प्रभाव है ? 'महेश्वर'-पदप्रयोग के लिए पाशुपत सम्प्रदाय की कोई ठेकेदारी तो है नहीं कि अन्य कोई इस पद का प्रयोग न कर सकता हो। फिर प्रशस्तपादभाष्य में केवल 'ईश्वर'-पद का प्रयोग भी उपलब्ध है।[2] ऐसे पदों का प्रयोग किसी निगूढ़ अभिप्राय से किया गया हो, यह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों[3] में परब्रह्म परमात्मा के लिए इस पद का प्रयोग देखा जाता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रशस्तपादभाष्य पाशुपतमत से प्रभावित है, उपनिषद् से नहीं ? वस्तुतः ऐसे पद-प्रयोग के आधार पर किसी एक सिद्धान्त का

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, सृष्टिवर्णन, [···महेश्वरस्य सिसृक्षानन्तरं···] पृ० १८; मूल संस्करण, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, सं० १९४६ ॥
२. वही, निर्णयसागर संस्करण, पृ० १२।
३. श्वेता० ४।१०।। ६।७।।

निर्णय नहीं किया जा सकता।

पाञ्चरात्रमत-निराकरण—आचार्य शंकर तथा भास्कर आदि कतिपय भाष्यकारों ने इस पाद के अन्तिम चार सूत्रों [२।२।४२–४५] में पाञ्चरात्रमत का निराकरण माना है; परन्तु वैष्णव सम्प्रदाय के निम्बार्क, मध्व आदि आचार्यों ने इन्हीं सूत्रों के द्वारा शाक्तमत का निराकरण किया जाना स्वीकार किया है, तथा उसी के अनुसार सूत्रों की व्याख्या की है। स्पष्ट है कि व्याख्याकारों के इन दो प्रकारों में से कोई एक अवश्य असत्य है; यह भी सम्भव है कि ये दोनों असत्य हों। सूत्रकार का आशय यह कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उसने व्याख्या के दोनों प्रकारों को अभिमत रक्खा हो।

कतिपय आधुनिक[1] विवेचकों ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि प्रस्तुत सूत्रों में मध्व आदि के अनुसार 'शक्ति' से जगदुत्पत्ति का निराकरण माना जाना सूत्रानुसारी नहीं है। यहाँ पाञ्चरात्रमत का ही निराकरण माना जाना चाहिए। पाञ्चरात्र का निराकरणीय मत यह है कि वासुदेव नामक एक परमार्थतत्त्व-परमात्मा से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है, इत्यादि।

इसमें आपत्तिजनक अंश इतना है कि जीवात्मा को नित्य तत्त्व माना जाता है, उत्पन्न हुआ नहीं; परन्तु इस मत में जीवात्मा को उत्पन्न हुआ माना है। शंकर आदि भाष्यकारों का कहना है कि इसी अंश को लेकर सूत्रकार ने इसका निराकरण किया है। परन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के जो संहिताग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें जीव की उत्पत्ति को कहीं स्वीकार नहीं किया गया। इस यथार्थता को अनेक आधुनिक विद्वानों ने[2] प्रकट किया है। यह कल्पना भी अधिक आकर्षक नहीं है कि सूत्रकार के समय पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के किसी संहिता आदि ग्रन्थ में संकर्षण-संज्ञक जीव की उत्पत्ति का उल्लेख रहा होगा; अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के तात्कालिक आचार्यों का ऐसा मन्तव्य रहा होगा; अनन्तर-काल में सम्भव है; उपलब्धसंहिताकार आचार्यों ने उस विषय का उपयुक्त संशोधन कर लिया हो, जो अब भाष्यकारों द्वारा प्रकट किये गये आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

इस विषय में मूलभूत विचारणीय बात यह है कि सूत्रों में कोई ऐसा संकेत न होने पर तथा पाञ्चरात्र संहिताओं में संशोधन कर लिये जाने पर भाष्यकारों के सामने सूत्रकार के आशय को समझने के लिए क्या साधन रहा होगा? वह भी उस दशा में जब कुछ भाष्यकार पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का उक्त सूत्रों में निराकरण

१. डॉ० रामकृष्ण आचार्य, 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० ३०५–३१६।

२. डॉ० दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी, तृतीय भाग, पृ० ५६-५७। कविराज डॉ० गोपीनाथ, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य-भूमिका, पृ० ६९।

समझते हैं तथा अन्य जगत्कारणरूप में 'शक्ति' का निराकरण। यह स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि भाष्यकारों ने सूत्रकार के यथार्थ आशय को समझने का उतना प्रयास नहीं किया, जितना अपने काल में प्रचलित किसी अपने विरोधी मत के निराकरण का।

आचार्य शंकर ने इस प्रसंग के भाष्य में 'भागवत' और पाञ्चरात्र दोनों पदों का पर्यायवाचीरूप में प्रयोग किया है। प्रथम बयालीसवें सूत्र के भाष्य में **'तत्र भागवता मन्यन्ते'** कहकर तथा अगले (४३वें) सूत्र में **'वर्णयन्ति च भागवताः'** कहकर भागवतसिद्धान्त का उल्लेख किया है। परन्तु ४४वें सूत्र में उसी सिद्धान्त का उल्लेख करने के लिए **'न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिः'** पदों का प्रयोग किया है। पाञ्चरात्र और भागवत मत की एकता को अन्य[1] मध्यकालिक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। परन्तु कतिपय आधुनिक विद्वानों[2] का विचार है कि प्रारम्भिक काल में भागवत तथा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय दोनों परस्पर भिन्न थे; कालान्तर में कभी सम्मिलित हो गये। जीव गोस्वामी आदि का भी प्रायः ऐसा ही विचार प्रतीत होता है।

इन सम्प्रदायों का प्रारम्भिक काल कौन-सा रहा होगा, जब ये परस्पर पृथक् थे; और कब ये सम्मिलित हो गये, इस सबका निर्णय किया जाना कठिन है। अभी तक कोई ऐसे आधार उपलब्ध नहीं हैं, जिनके अनुसार इसका निश्चय किया जा सके। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव-काल के पूर्व भागवत और पाञ्चरात्र दोनों नामों से एक सम्प्रदाय का बोध होता था। परन्तु इस विषय में यह विचारणीय है कि महाभारत के शान्तिपर्व (अ० ३३५–३३६) में जहाँ पाञ्चरात्र मत का विवरण प्रस्तुत किया गया है, केवल 'सात्वत' एवं 'पाञ्चरात्र' पदों का प्रयोग शास्त्र एवं सम्प्रदाय के लिए उपलब्ध होता है; 'भागवत' पद का प्रयोग उन प्रसंगों में नहीं है। वहाँ पाञ्चरात्र शास्त्र के प्रवर्त्तक, अध्येता अथवा ग्रहीता के रूप में 'शाण्डिल्य' का भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि महाभारत के अन्य अनेक[3] प्रसंगों में 'शाण्डिल्य' नामक ऋषि का वर्णन है, पर वहाँ कोई ऐसा संकेत तक नहीं है, जिससे उस शाण्डिल्य का कोई सम्पर्क पाञ्चरात्र सम्प्रदाय एवं शास्त्र के साथ प्रतीत होता

---

१. देखें—यामुनमुनि का 'आगमप्रामाण्य' ग्रन्थ—**'तदिह भागवतं गतमत्सरा मतमिदं विमृशन्तु विपश्चितः'**। कविराज गोपीनाथ कृत, वेदान्तशांकरभाष्य-भूमिका, पृ० ६८ के आधार पर।

२. रामकृष्णगोपाल भण्डारकर आदि।

३. सभा० ४।१७।। शल्य० ५४।५–८।। शान्ति० ४७।६।। अनु० ६५।१६।। १३७।२२।। गोरखपुर संस्करण।

हो। यह कहना कठिन है कि महाभारत के ये भाग कब लिखे गये होंगे। सम्भवतः ये सब भाग कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के लिखे प्रतीत नहीं होते। फिर जब कभी लिखे गये हों, उन प्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि उस काल तक पाञ्चरात्र सम्प्रदाय अथवा शास्त्र के साथ 'शाण्डिल्य' का सम्पर्क प्रादुर्भाव में नहीं आया था।

महाभारत शान्तिपर्व के ३३९वें अध्याय में वर्णन है कि श्वेतद्वीप में स्वयं भगवान् ने नारद को अपने 'वासुदेव' 'संकर्षण' आदि चतुर्व्यूहों का परिचय दिया। भगवान् द्वारा स्वयं उपदेश देने के कारण इस सम्प्रदाय का 'भागवत' नाम महाभारत के अनुसार कहा जा सकता है। इसलिए आचार्य शंकर द्वारा प्रकट की गई इन पदों की पर्यायवाचिता में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु महाभारत के इस प्रसंग के आधार पर पाञ्चरात्र सम्प्रदाय को अवैदिक नहीं माना जाना चाहिए, जबकि आचार्य शंकर ने ऐसा माना है। महाभारत[1] में वर्णन है—राजा उपरिचर वसु ने यज्ञ किया। वह सब सात्वत विधि के अनुसार किया गया। उसके घर में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय एवं शास्त्र के श्रेष्ठ जानकार निवास करते थे। 'चित्र-शिखण्डी' इस विशिष्ट संज्ञावाले सात ऋषियों ने उस शास्त्र का एकमति होकर प्रवचन किया।[2] वह शास्त्र चारों वेदों के अनुकूल है। वह उत्तम शास्त्र एक लक्ष श्लोकों में कहा गया है। समस्त वह धर्म उस शास्त्र से प्रवृत्त होता है, जो ऋक्, यजुष्, साम और अथर्वाङ्गिरस् से प्रकट किया गया है।

इस प्रसंग से स्पष्ट है जब महाभारत का यह प्रसंग लिखा गया, उस समय पाञ्चरात्र शास्त्र को वेदों के अनुकूल कहा जाता रहा है। आचार्य शंकर ने वेद-निन्दा का सूचक जो वाक्य [ब्र० सू० २।२।४५ पर] उद्धृत किया है, तथा इसी

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३५। श्लो० २४–४०।। गोरखपुर संस्करण।

२. महाभारत में सात ऋषियों के नाम ये हैं—**मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ**। इन सबको 'चित्रशिखण्डी कहा गया है।

'ये हि ते ऋषयः ख्याताः सप्त चित्रशिखण्डिनः।।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः।। [१२।३३५।२७, २८]

महाभारत के इस प्रसंग में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव का जो विवरण दिया गया है, वह अहिर्बुध्न्यसंहिता के उपक्रम भाग के साथ पर्याप्त मिलता है। दोनों की यह समानता प्रकट करती है कि सम्भवतः किसी एक ने दूसरे का सहारा लिया हो; अथवा दोनों का कोई अन्य एक आधार रहा हो। नारद और भगवान् का वार्त्तालाप तथा नारद द्वारा भगवान् की स्तुति आदि विवरण दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

आशय के अन्य वाक्य जो रत्नप्रभाकार तथा आनन्दगिरि[1] ने शांकरभाष्य की अपनी टीकाओं में लिखे हैं, वे सब वचन कहाँ से लिये गये हैं, इसका स्पष्ट पता कुछ नहीं लगता। परन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि[2] मान्यग्रन्थों में ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे आपाततः वेदों का अपकर्ष प्रकट होता हो।

आचार्य शंकर के उक्त लेख का प्रतिवाद करते हुए आचार्य रामानुज तथा आनन्दभाष्य के रचयिता रामानन्द स्वामी ने लिखा है—इन वाक्यों का तात्पर्य वेदनिन्दा में न होकर मुख्यरूप से प्रस्तुत शास्त्र की प्रशंसा में है। उदाहरण के रूप में इन आचार्यों ने छान्दोग्य उपनिषद् [अ० ७] के उस भाग का निर्देश किया है, जहाँ नारद सनत्कुमार के समीप आकर चारों वेद और अन्य विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी अपने-आपको आत्मज्ञान से हीन केवल अक्षरमात्र का ज्ञाता बतलाता है। यहाँ वेद की निन्दा न होकर वर्ण्यमान आत्मज्ञान के साधनों की प्रशंसामात्र में तात्पर्य है।[3] आनन्दभाष्यकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि वेदों के अतिगहन-गम्भीर होने से उनके द्वारा अनायास अथवा अल्पश्रम व सुगम उपाय द्वारा आत्मज्ञान-साधनों का पता नहीं लग पाता, जो पाञ्चरात्रशास्त्र से अनायास उपलब्ध हो जाता है; इसी आशय से संहिताग्रन्थों में जहाँ-तहाँ वैसा उल्लेख कर दिया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता के पैंतालीसवें अध्याय में परा और अपरा विद्या का विभाग कर पाञ्चरात्र को परमज्ञानरूप कहा गया है; यह भी वेदनिन्दा का प्रबल प्रमाण नहीं है। प्रस्तुत शास्त्र की प्रशंसा के अतिरिक्त ऐसे उल्लेख उपनिषद्[4] में भी प्राप्त होते हैं। निश्चित है कि उनका तात्पर्य वेदनिन्दा में नहीं है। इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्यसंहिता के उक्त स्थल में अपरा विद्या के नाम से वेद आदि का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। वस्तुतः परा एवं अपरा विद्या का विभाग उनके उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का द्योतक नहीं समझना चाहिए। अपरा विद्या का तात्पर्य वह ज्ञान है, जिसमें लोकोपकारी ऐहिक सुख-सामग्री व अभ्युदय के साधनों का

---

१. **'एकस्यापि तन्त्राक्षरस्याध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिकः।'**—रत्नप्रभा
'स्वाध्यायमात्राध्येतुर्विशिष्यते भागवतशास्त्राक्षरमात्राध्येता' आनन्दगिरि, ब्र०सू०२।२।४५ के शांकरभाष्य पर टीका। सम्भव है, ये उद्धृत वाक्य न हों, टीकाकारों ने भाष्य का भाव प्रकट किया हो।

२. देखें—अ०, ४५।१८।।

३. **'वेदार्थस्य परमदुर्ज्ञेयत्वेन सुखावबोधार्थमस्य शास्त्रस्य शाण्डिल्येन शास्त्रान्तराण्यपहाय ग्रहणं कृतमिति युज्यत एव।'**—ब्र०सू० २।२।४५।।

४. देखें—मुण्डक उपनिषद्, १।१।५।।

समावेश है। परा विद्या वह ज्ञान है, जिससे निःश्रेयस अथवा परमात्मा को प्राप्त हो जाना सम्भव है। इन दोनों विद्याओं का मूल आधार वेद है। अपने स्थान पर दोनों आवश्यक एवं प्रशस्य हैं। इनमें परस्पर उत्कर्षापकर्ष के आधार पर सन्तुलन करना सर्वथा अशास्त्रीय है। वेद का वह भाग परा-विद्यारूप है, जहाँ अध्यात्मज्ञान का निर्देश है। दोनों विद्याओं के विस्तृत साधनों का विवेचन वेद के व्याख्याग्रन्थों तथा वेदानुकूल अन्य साहित्य में अनुभवी ऋषियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वे सब वेदमूलक हैं। वेद केवल अपरा-विद्यारूप हैं, ऐसा समझना अज्ञानता का द्योतक है।

इस सब विवेचन के परिणामस्वरूप यह स्थिति सामने आती है कि जब पाञ्चरात्रशास्त्रों में जीव की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया गया, तब पाञ्चरात्र के नाम से सूत्रों में उसके निराकरण को भाष्यकारों द्वारा किन आधारों पर उभारा गया है?

कहा जाता है[1] कि महाभारत के शान्तिपर्व [अ० ३३९] में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का जो वर्णन किया गया है, वह आचार्य शंकर द्वारा प्रकट की गई पाञ्चरात्रसम्बन्धी भावनाओं के साथ पर्याप्त समानता रखता है। पाञ्चरात्र संहिताओं में चाहे जीवोत्पत्ति के संकेत न मिलते हों, पर महाभारत के उक्त प्रसंग में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं। इससे प्रतीत होता है—सम्भवतः सूत्रकार के समय पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता रही हो।

महाभारत के उक्त प्रसंग का गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन व विवेचन करने पर पूर्वोक्त कथन में कोई सहयोग प्राप्त नहीं होता; वहाँ पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुसार 'वासुदेव' को परमात्म-स्थानीय मानकर उसके चार व्यूहों का संकषर्ण आदि के रूप में वर्णन है। जैसी कि इस मत की मान्यता है—वासुदेव परब्रह्म, चतुर्व्यूहरूप से सर्गकाल में अवस्थित रहता है; संकर्षणरूप जीव, प्रद्युम्न-रूप मन तथा अनिरुद्धरूप अहंकार परब्रह्म वासुदेव से भिन्न तत्त्व नहीं हैं; वहाँ स्पष्ट इन सबको वासुदेव का रूप तथा ईश्वर कहा है।[2] वासुदेव परब्रह्म से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है, ऐसी भावना महाभारत के इस प्रसंग में प्रतीत नहीं होती। जो भावना इस प्रसंग से स्पष्ट होती है, वैसी मान्यता

१. कविराज डॉ० गोपीनाथ कृत ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृ० ६९ की टिप्पणी।

२. **यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।**
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः॥

[शान्ति० ३३९।४०-४१]

आचार्य शंकर के अपने विचारों से कुछ दूर नहीं है। जीव और संसार की परब्रह्म से अभिन्नता को आचार्य शंकर का सम्प्रदाय किसी रूप में स्वीकार ही करता है। केवल वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि नाम बदल देने या रख देने से वस्तुतत्त्व में कोई अन्तर नहीं आ जाता।

इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने इन सूत्रों से पाञ्चरात्र मत का निराकरण करने के लिए जिस निम्न स्तर का अवलम्बन किया है, यद्यपि वह अन्य निराकरण प्रसंगों के समान ही है, पर इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि इन सूत्रों में से उक्त निराकरण को उभारना कितना दुर्लभ है।

आचार्य शंकर का तर्क है कि कर्त्ता देवदत्त आदि से परशु आदि करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती [सू० ४३]। तब प्रतितर्क किया जा सकता है कि आप परब्रह्म कर्त्ता से करणों की उत्पत्ति कैसे मानते हो? **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'** [मु० २।१।३], यहाँ परब्रह्म से ही सब प्राण-इन्द्रियादि करणों की उत्पत्ति सुनी जाती है।

अगले सूत्र [४४] में आचार्य ने बड़े मरोड़े खाये हैं। पहले पाञ्चरात्र मत के साथ अपनी सहमति दिखाकर कहा कि फिर भी यह निराकरणीय है; तर्क दिया—जहाँ कार्य-कारणभाव है, वहाँ परस्पर अतिशय देखा जाता है, पर पाञ्चरात्र सिद्धान्त वासुदेव आदि व्यूहों में ज्ञान-ऐश्वर्य आदि गुणों के आधार पर तारतम्यरूप कोई भेद नहीं मानता, तब वासुदेव का संकर्षण-कार्य कैसे?

सोचना चाहिए—पाञ्चरात्र शास्त्र में संकर्षण-संज्ञक जीव को वासुदेव का कार्य बताया कहाँ गया है? इसके लिए तो अभी तक की सब खोज निरर्थक रही है। क्या यह समझ लेना चाहिए कि आचार्य ने स्वयं यह कल्पना कर तथा पाञ्चरात्र-संहिताओं के तथाकथित वर्णनों को अन्यथा प्रकट व व्याख्यात कर बलात् इन सूत्रों से उसके निराकरण को उभारने का प्रयास किया है? यदि वस्तुतः कोई भेद नहीं, तो ऐसे कार्य-कारणभाव को शांकर मत के अनुकूल, कल्पित ही समझना होगा। अन्त में आचार्य शंकर ने लिखा, भगवान् के व्यूह चार ही संख्या में क्यों सीमित रहें, जब ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब [ब्र० सू० २।२।४४] पर्यन्त समस्त जगत् ही भगवान् का व्यूह है? आचार्य के इस तर्क पर आश्चर्य होता है। इससे तो पाञ्चरात्र मत स्वतः अनायास सिद्ध हो जाता है। उस मत में भगवान् के व्यूह को सीमित करने की भावना कहीं नहीं है। केवल सर्ग की प्रारम्भिक प्रक्रिया को अपनी रीति पर प्रकट किया गया है।

इस सब विवेचन का तात्पर्य यही है कि जैसे इस प्रसंग में जगत्कारणरूप 'शक्ति' का निराकरण उत्सूत्र है, ऐसे ही पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का पूर्ण या आंशिक निराकरण भी सर्वथा उत्सूत्र है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय वर्तमान विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का एक प्रकार से मूलभूत धर्म समझा जाता रहा है, जो यथार्थ है;

सम्भवतः इसी कारण उस सम्प्रदाय के आचार्यों ने इन सूत्रों की व्याख्या आचार्य शंकर की व्याख्या से भिन्न रूप में करने का प्रयास किया है, तथा आचार्य शंकर की व्याख्या का प्रतिवाद किया है। इस सबके फलस्वरूप विचारणीय है कि वस्तुतः इन सूत्रों में यदि जीवोत्पत्ति का निराकरण है, तो उसकी पृष्ठभूमि क्या रही होगी ? वैसी व्याख्या ही इन सूत्रों की यथार्थ व्याख्या कही जा सकती है।

भारतीय दर्शन में केवल बार्हस्पत्य [चार्वाक] दर्शन ऐसा है जो वास्तविक रूप में जीवात्मा को उत्पन्न हुआ मानता है। इस दर्शन की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है। यदि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को महाभारतकालिक कृष्णद्वैपायन वेदव्यास समझा जाता है, तो भी सूत्रकार से पहले बार्हस्पत्य दर्शन का होना असन्दिग्ध है। यह अधिक सम्भव है कि सूत्रकार ने बार्हस्पत्य दर्शन की मान्यता के निराकरण के लिए इन सूत्रों को लिखा हो। जिस प्रसंग में ये सूत्र लिखे गए हैं, वहाँ इनका उपयुक्त अवसर है। प्रस्तुत शास्त्र के अभिवाञ्छित प्रतिपाद्य ब्रह्म-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक था कि जीवात्मा के विषय में अपेक्षित उपपादन प्रस्तुत कर दिया जाय। यह प्रसंग प्रस्तुत शास्त्र में अन्यत्र नहीं है। इसी प्रसंग से अगले पादों में जीवात्म-विषयक अन्य ज्ञातव्य विशेषताओं का उपपादन किया गया है।

निगमन—दूसरे अध्याय के इस द्वितीय पाद में मध्यकालिक व्याख्याकारों ने अपने-अपने काल में प्रसिद्धि-प्राप्त विरोधी विभिन्न साम्प्रदायिकवादों के निराकरण की भावना से जिस रूप में सूत्रार्थ को उभारा है, पिछली पंक्तियों में उसका अपेक्षित विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। निश्चय किया गया कि सूत्र-कार बादरायण, द्वापर युग के अन्तिम भाग में प्रादुर्भूत महाभारतकालिक कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास है। सूत्ररचना का वह काल निर्धारित हो जाने पर सूत्रों में बौद्ध, आर्हत, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदि सम्प्रदायों का उस रूप में निराकरण असम्भव है, जो मध्यकालिक व्याख्याकारों ने प्रस्तुत किया है। सूत्रों में कोई संकेत ऐसे नहीं हैं, जिनसे उक्त मतों का निराकरण सूत्रों में अभिव्यक्त होता हो। इस कारण मध्यकालिक व्याख्याकारों की व्याख्या-प्रक्रिया इस भावना को सिद्ध करने में कोई प्रभाव नहीं रखती कि सूत्ररचना बौद्ध आदि काल के अनन्तर होनी चाहिए। इन सभी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव-काल महाभारत-युद्ध के पर्याप्त अनन्तर है, यह इतिहास से प्रमाणित है। फलतः सूत्र-रचना का वही काल माना जाना सप्रमाण है, जो बादरायण अपर नामक कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का उपस्थिति-काल है; वह है—द्वापर युग का अन्तिम भाग।

षष्ठ अध्याय

अध्यात्म की प्राचीन आर्षपरम्परा

भारतीय प्राचीन साहित्य के गहन पर्यालोचन से ज्ञात होता है, अतिप्राचीन काल में अध्यात्म और अधिभूत के आधार पर पूजा के विधि-विधान को लेकर तात्कालिक भारतीय आर्यों का समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया। आर्यों ने अपने पूर्वजों को 'देव' कहकर लिखा है।[1] देवों की परम्परागत पूजा-उपासना की प्रक्रिया को स्वीकार करने के कारण आर्यों के जिस वर्ग ने अपनी उपासना का आधार 'अध्यात्म' को व्यवस्थित रक्खा, उस वर्ग का नाम 'देव' तथा जिस वर्ग ने प्राचीन परम्परा की उपेक्षा कर 'अधिभूत' को उपासना का आधार बनाया, उसका नाम 'असुर' हो गया। इसी आधार पर इन वर्गों का चिरकाल तक परस्पर संघर्ष चलता रहा, ऐसे उल्लेख भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। उग्र संघर्षों के परिणामस्वरूप दूसरे वर्ग को अपना मूलनिवास परित्याग कर देशान्तर में निवास स्वीकार करना पड़ा। कालान्तर में पहला वर्ग मूल निवास में जन-वृद्धि के कारण अनुकूल दिशा में फैलता रहा, जो सरस्वती और दृषद्वती (गंगा) तथा अन्य समान नदियों की घाटियों में प्रसृत होता हुआ वर्तमान आर्यावर्त में आ पहुँचा। तब इन प्रदेशों में अन्य किसी मानव का निवास न था।

१. 'देव' पद का प्रयोग वैदिक साहित्य के अनुसार अनेक अर्थों में हुआ है। प्राण, इन्द्रिय, आधिभौतिक दिव्यलोक, अतीन्द्रिय दिव्य शक्तियाँ आदि अर्थों के अतिरिक्त आर्यों ने अपने आदिपूर्वजों को 'देव' कहा है। ये देव हमारे सदृश देहधारी प्राणी थे। वेदों में जो इन्द्र, वरुण, अश्विनी, मरुत् आदि पदवाच्य 'देव' कहे हैं, इनकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। ये परमात्मा के विभिन्न नाम हैं, अथवा दिव्य शक्तियाँ हैं, अथवा जगत् में होनेवाली भौतिक घटनाओं का इस रूप में वर्णन है, इस समय हमारा यह आलोच्य विषय नहीं।

भारतीय परम्परा व साहित्य के अनुसार भारतीय आर्यों का आदि-

आर्यों के इस वर्ग में वेद एवं अध्यात्म, वैदिक उपासना आदि की परम्परा बराबर चालू रही। विस्तृत वैदिक साहित्य का स्वरूप इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

निवास वर्तमान हिमालय के उत्तर भाग में कैलास मानसरोवर के आसपास उत्तर-पच्छिम को फैला पठार रहा, ऐसा प्रतीत होता है। उस समय देशों का वर्तमान विभाजन नहीं था। भारतीय साहित्य में उस प्रदेश को 'देवलोक' कहा है, जहाँ आर्यों के आदिपूर्वज देवों का निवास रहा। जब एक परिवार के उन लोगों में पूजा-उपासना-विधान पर मतभेद हुआ, और उग्ररूप धारण कर गया, अनेक संघर्ष हुए, तब वह समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया। अध्यात्म की उपासना करनेवाले 'देव' तथा अधिभूत के उपासक 'असुर' कहलाये। समस्त ऋग्वेद में 'असुर' पद का प्रयोग आधिभौतिक शक्ति-सम्पन्न के लिए हुआ है। उसी के अनुसार चिरकाल तक इस पद का प्रयोग उसी अर्थ में होता रहा; कालान्तर में वह प्रयोग कुछ निन्दनीय अर्थ में होने लगा, जो आज तक प्रचलित है।

मूलस्थान में असुविधा होने पर 'असुर' वर्ग के लोग अपने मूलस्थान को छोड़कर पश्चिम की ओर काश्यप समुद्र (कॉस्पियन सी) के तटवर्त्ती प्रदेशों में होते हुए वर्तमान इराक, असीरिया आदि प्रदेशों तक में फैल गये। आर्यों का दूसरा वर्ग जो उस समय 'देव' कहलाता था, जनवृद्धि के कारण सरस्वती, गंगा आदि नदियों की घाटियों में फैलता हुआ हिमालय तथा उसकी दक्षिण-पश्चिम तलहटी तक आकर बस गया। मनुस्मृति [२।१७] के एक श्लोक में इसके संकेत उपलब्ध होते हैं—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ।।

सरस्वती और दृषद्वती (गंगा) नदियों के अन्तराल-भाग का प्रदेश 'ब्रह्मावर्त्त' कहा जाता है, उसका निर्माण देवों ने किया। इस पद्य में दोनों नदियों का 'देवनदी' विशेषण-पद ध्यान देने योग्य है। सम्भवतः देवलोक से उद्भव होने के कारण नदियों का यह विशेषण दिया गया। आदिकाल में यह सब एक ही प्रदेश था, इसलिए इस प्रदेश में आर्यों के बाहर से आने का प्रश्न नहीं उठता; इसी कारण आर्यसाहित्य में इसका कहीं कोई संकेत नहीं है। आदिकाल में आर्यों के दो वर्ग हो जाने का निर्देश शतपथ ब्राह्मण [१४।४।१।१] आदि में उपलब्ध होता है। ये दोनों वर्ग अनन्तर-काल में परस्पर मिलते-घुलते एवं लड़ते-झगड़ते रहे हैं। पश्चिम एशिया तथा यूरोप के अनेक देशों में आर्यों के द्वितीय वर्ग के वंशधरों का आधिक्य है।

भारतीय आर्यों की संस्कृति का यह मूल आधार रहा है कि उन्होंने अध्यात्म की गहन-गम्भीर विवेचना के साथ ऐहिक अभ्युदय के साधन अधिभूत की कभी उपेक्षा नहीं की; जबकि आसुर संस्कृति में अधिभूत को मुख्य लक्ष्य समझकर अध्यात्म-विवेचना को प्रायः परित्यक्त कर दिया गया। अधिभूत के आकर्षण ने आसुरी संस्कृति को इतना अभिभूत किया कि वह समाज अधिभूत का दास बनकर रह गया, जहाँ गौरव के साथ यह आघोष उच्च स्वर से वातावरण में आपूरित किया गया—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

आर्य संस्कृति का विशुद्ध रूप इस भावना से सदा असंलग्न रहा। आर्यों के उस उन्नत समाज ने अधिभूत को सदा अपना भोग्य समझा, उसे मालिक बनकर भोगा, पर वह उसका दास नहीं बना। आज वह समाज विच्छृङ्खलित है—आचरण से प्रायः सब असुर और नाम से सब आर्य। पर हम आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्वकाल की स्थिति पर विचार कर रहे हैं। उस समय के समाज में अध्यात्म-भावनाओं की प्राचीन परम्परा का पर्याप्त प्राबल्य था। उन्हीं से प्रभावित होकर सूत्रकार बादरायण ने पवित्र संकल्प के साथ ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

बहुत पहले काल में अध्यात्मविवेचना व उपासनाओं का विद्याध्ययन एवं ज्ञान के क्षेत्र में एक पृथक् विभाग बन गया था। कालक्रमानुसार इसका विस्तृत साहित्य प्रकाश में आया। उसकी विविधताओं से उद्भूत अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ जिज्ञासु जनमानस को उद्वेलित करने लगीं। उस उद्वेग ने लोककर्त्ता पुरुषों को इसके उपाय प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। काल का निश्चय करना तो कठिन है, पर बादरायण से पर्याप्त पहले यह क्रम चालू हो चुका था। सम्भव है, तब उस विषय पर ग्रन्थ-रचना भी हुई हो। पर इस विषय की सर्वातिशायी रचना आज केवल बादरायण की उपलब्ध है, जो ब्रह्मसूत्र अथवा ब्रह्म-मीमांसा व वेदान्तदर्शन आदि नामों से ज्ञात है। अध्यात्मविषयक विस्तृत साहित्य में प्रतिपादित विभिन्न उपासना-प्रक्रियाओं आदि से उद्भूत प्रायः सभी प्रकार की विप्रतिपत्तियों का समाधान एवं समन्वय इन सूत्रों में उपपादित किया गया है।

आर्षपरम्परा के प्राचीन आचार्य—बादरायण ने अपनी रचना में कतिपय प्राचीन आचार्यों का उल्लेख तथा उनके विचारों का निर्देश कर इस विषय की प्राचीन परम्परा की कड़ी को प्रकट किया है। सूत्रकार ने जिन आचार्यों का

उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—

आत्रेय ३।४।४४॥

आश्मरथ्य १।२।२६॥ १।४।२०॥

औडुलोमि १।४।२१॥ ३।४।४५॥ ४।४।६॥

कार्ष्णाजिनि ३।१।६॥

काशकृत्स्न १।४।२२॥

जैमिनि १।२।२८, ३१॥ १।३।३१॥ १।४।१८॥ ३।२।४०॥ ३।२।४, ४०॥ ४।३।१२॥ ४।४।५, ११॥

बादरि १।२।३०॥ ३।१।११॥ ४।३।७॥ ४।४।१०॥

जिन प्रसंगों में अध्यात्मपरम्परा के इन आचार्यों के विचार सूत्रकार ने प्रस्तुत किये हैं, वहाँ अपने विचारों का निर्देश स्वयं अपने 'बादरायण' नाम से किया है। कतिपय स्थलों पर प्राचीन आचार्यों के विचार से सहमति की भावना से अपना पृथक् मत नहीं दिया। ब्रह्मसूत्रों में ऐसे नौ स्थल हैं, जहाँ बादरायण ने अपने नाम का निर्देश किया है। उक्त आचार्यों में जैमिनि, ब्रह्मसूत्रकार का समकालिक आचार्य है, यह बात दोनों आचार्यों की रचना के आधार पर निश्चित होती है। जैमिनि के मीमांसासूत्रों में बादरायण का तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में जैमिनि का उल्लेख है। मीमांसा के प्रारम्भिक पाँचवें सूत्र में बादरायण नाम से उस अर्थ का निर्देश किया गया है, जो वेदान्त के प्रारम्भिक तीसरे सूत्र में प्रतिपादित है। इसी प्रकार वेदान्त [३।३।४६] के सूत्र में मीमांसासूत्र [३।३।१४] के प्रतिपादित अर्थ का अतिदेश किया गया ज्ञात होता है। अन्य निर्दिष्ट स्थलों का अन्वेषण किया जा सकता है। यह प्रसिद्धि एवं इतिहास आदि से प्रमाणित है कि जैमिनि, कृष्णद्वैपायन[1] वेदव्यास के शिष्यों में से एक था, जिसने पूर्वमीमांसा की रचना की। बादरायण द्वारा स्मृत अन्य सभी आचार्य उससे प्राचीन हैं। कौन कितना प्राचीन रहा, यह निश्चय करना सम्भव नहीं। अनुकूल ऊहापोह द्वारा इस विषय में अपेक्षित विचार प्रस्तुत किया जाता है।

१. आचार्य आत्रेय

ब्रह्मसूत्रों में आचार्य आत्रेय का केवल एक स्थल [३।४।४४] पर उल्लेख आता है। उपासनाओं के अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान यजमानकर्तृक हो अथवा ऋत्विक्कर्तृक ? यह जिज्ञासा है। अनुष्ठान दोनों के द्वारा सम्भव है। इस विषय

---

१. इसका विवेचन प्रथम किया जा चुका है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का अपर नाम बादरायण था, जो महाभारत युद्ध के पूर्वापरकाल [द्वापर के अन्त एवं कलि के प्रारम्भ] में विद्यमान रहा।

में आत्रेय आचार्य का कहना है कि अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान यजमान को करना चाहिए, क्योंकि कर्म का फल उसी को मिलता है, जो कर्म का अनुष्ठान करता है; तथा श्रुति यजमान को फल का प्राप्त होना बताती है। अतः फलश्रुति के अनुसार कर्मानुष्ठान यजमान का कर्त्तव्य है।

महाभारत में यद्यपि आत्रेय नामक अनेक ऋषियों का विभिन्न प्रसंगों में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में भी इस नाम का कोई ऋषि था, जो जनमेजय के सर्पसत्रगत ऋत्विजों में एक था [आदि० ५३।८]।

परन्तु महाभारत[1] के अन्य प्रसंग में एक अतिप्राचीन आत्रेय नामक ऋषि का उल्लेख है, जिसने अपने शिष्यों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश किया था। उसने अपना समस्त जीवन इसी शुभ कार्य में पूरा कर उत्तम लोकों को प्राप्त किया। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा, किन व्यक्तियों ने दान व तप से उत्तम लोकों को प्राप्त किया? यहाँ भीष्म पितामह ने एक लम्बी सूची उन व्यक्तियों की प्रस्तुत की है, जिन्होंने इस प्रकार उत्तम लोकों को प्राप्त किया। उस सूची में सबसे प्रथम आत्रेय ऋषि का नाम है। उसके आगे लगभग बारहवें स्थान पर दाशरथि राम का उल्लेख है। बीच में जो नाम लिये गये हैं, उनके विषय में प्राचीन साहित्य के अनुसार सावधानतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि सम्भवतः इन नामों का निर्देश करने में कालक्रम का ध्यान रक्खा गया हो। यदि ऐसा है, तो आत्रेय ऋषि का दाशरथि राम से पर्याप्त प्राचीन काल में प्रादुर्भूत होना स्पष्ट होता है।

यह ऋषि अपने जीवन में सदा शिष्यों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश करते रहे, इस वर्णन से प्रतीत होता है कि ये अध्यात्म की आर्षपरम्परा के प्रवर्त्तकों में मूर्द्धन्य स्थान रखते थे। ब्रह्मसूत्रों में जिस आत्रेय का उल्लेख है, वह यही आत्रेय था, ऐसा निश्चित रूप में कहना कठिन है, पर उसका महाभारतीय वर्णन इस ओर को आकृष्ट करता है कि कदाचित् वही यह आत्रेय हो। इतने प्राचीन काल के ऋषि का मत महाभारतकालिक बादरायण ने किस आधार पर जाना होगा, यह विचारणीय है। जानकारी के दो आधार हो सकते हैं: १—आत्रेय की इस विषय की कोई रचना, अथवा २—अध्यात्म का अध्ययनाध्यापन-परम्परा में उसके मत का प्रचलित होना। एक यह भी आधार सम्भव है कि बादरायण से पूर्व किसी

---

१. अनु० १३७।३॥ गोरखपुर संस्करण।

सत्कृतश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम्।
उपदिश्य तदा (सदा) राजन् गतो लोकाननुत्तमान्॥

अन्य रचयिता ने अपनी रचना में उसका उल्लेख किया हो। निश्चित ही आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे इसका एकटूक निश्चय किया जा सके। महाभारतकार ने किसी आधार पर उसका सविवरण उल्लेख किया है। बादरायण ने जिस प्रसंग में आत्रेय के मत का उल्लेख किया है, उससे यह अवश्य प्रतीत होता है कि आत्रेय का जीवन अध्यात्म की दिशा में निश्चित ही प्रयोगात्मक रहा होगा। यह भी सम्भव है कि अपने शिष्यों को उन प्रक्रियाओं का अध्यापन व अभ्यास कराने के साथ इस विषय पर कोई रचना उसकी रही हो, जिसका अस्तित्व बादरायण के काल तक सम्भावना किया जा सकता है। पर अब यह केवल एक कल्पना है।

जैमिनिसूत्रों में आत्रेय मत—मीमांसा सूत्रों में दो स्थलों [४।३।१८; ६।१।२६] पर आत्रेय के मतों का निर्देश है। प्रथम स्थल में बताया है—रात्रिसत्र में फल का निर्देश केवल अर्थवाद है, अथवा वास्तविक फलप्राप्ति का कथन है ? इस विषय में आत्रेय का मत है कि रात्रिसत्र के फल का निर्देश वास्तविक फल-प्राप्ति का कथन है, केवल अर्थवाद नहीं। द्वितीय स्थल में विवेच्य है कि अग्न्याधान का अधिकार चारों वर्णों को है, अथवा शूद्रातिरिक्त केवल तीन वर्णों को ? इस विषय में आत्रेय का मत है कि अग्निहोत्र आदि में केवल तीन वर्णों का अधिकार है, शूद्र का नहीं।

दोनों स्थलों पर सूत्रकार ने इन मतों को अपने अभिमत सिद्धान्तरूप में प्रस्तुत किया है। दोनों मीमांसासूत्रों में आत्रेय के जिस प्रकार के मतों का उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह आचार्य अध्यात्म-उपासना तथा वैदिक कर्मकाण्ड आदि के विषय में अपने काल का मूर्द्धन्य ज्ञाता व्यक्ति रहा होगा। उसके मतों का आदर विद्वत्समाज में चिरकाल तक स्थिर रहा।

२. आश्मरथ्य आचार्य

वेदान्तदर्शन के दो सूत्रों [ब्र० सू० १।२।२६।। १।४।२०] में आश्मरथ्य का उल्लेख है। इनमें से पहला प्रसंग छान्दोग्य के उन सन्दर्भों का विवेचन प्रस्तुत करता है, जिनमें [छा० ५।११।१–६] 'वैश्वानर' पद द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया है। उसी प्रकरण में आगे [छा० ५।१८।१-२] 'वैश्वानर' को प्रादेशमात्र कहा है। ब्रह्मसूत्रकार ने—वैश्वानर पदवाच्य ब्रह्म को 'प्रादेशमात्र' किस आधार पर कहा है—इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कतिपय प्राचीन आचार्यों के विचारों का उल्लेख किया है। आश्मरथ्य का इस विषय में विचार बताया कि अनन्त परब्रह्म का दर्शन व साक्षात्कार अल्पज्ञ एकदेशी जीवात्मा के लिए होना सम्भव नहीं; केवल हृदयदेशस्थित परब्रह्म का साक्षात्कार उपासक को हो पाता है, इसी आधार पर अनन्त ब्रह्म को प्रादेशमात्र कह दिया गया है। उपासक आत्मा

को परब्रह्म की अभिव्यक्ति आत्मा के निवास हृदयदेश [मस्तिष्कगत] में सम्भव है, यह कारण भी ब्रह्म को प्रादेशमात्र कहे जाने का हो सकता है। आश्मरथ्य का तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति उपासक आत्मा को एक सीमित प्रदेश [हृदयदेशमात्र] में होती है, यही कारण ब्रह्म को प्रादेशमात्र कहे जाने का है। इस विचार को सूत्रकार ने उपेक्षणीय नहीं माना।

दूसरे प्रसंग [१।४।२०] में जहाँ आश्मरथ्य का उल्लेख किया गया है, वहाँ ऐतरेय [१।१-२] तथा बृहदारण्यक [४।५।१-६] के संदर्भों में पठित 'आत्मा' पद की ब्रह्मवाचकता का विवेचन है। इस विषय में आश्मरथ्य का मत है—उपनिषद् के उन सन्दर्भों में पठित 'आत्मा' पद का जीवात्मा अर्थ समझे जाने के लिए जो लिङ्ग (चिह्न, साधन) कहे जाते हैं, वस्तुतः वे जीवात्मा के लिंग नहीं; प्रत्युत उस प्रतिज्ञा-सिद्धि के लिंग हैं, जो प्रतिज्ञा उपनिषद् के उन प्रारम्भिक सन्दर्भों में की गई है। ऐतरेय में कहा है—सर्ग से पूर्व प्रलय-दशा में एकमात्र 'आत्मा' था। यह 'आत्मा' परब्रह्म परमात्मा है। आगे उपनिषद् में स्वतन्त्र रूप से उसके देहप्रवेश का कथन है, जिसे जीवात्मा का लिंग समझा गया; पर यह जीवात्मा का लिंग नहीं; क्योंकि जीवात्मा का देह में प्रवेश उसके कर्मानुरूप परब्रह्म की नियत व्यवस्था के अधीन होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। यदि सर्गादिकाल में जीवात्मा का देहप्रवेश स्वतन्त्र रूप से माना जाता है, तो इस प्रतिज्ञा की हानि होती है कि सर्गादिकाल में एकमात्र 'आत्मा' [परब्रह्म परमात्मा] का सक्रिय अस्तित्व था, क्योंकि तब जीवात्मा का भी वैसा अस्तित्व मानना होगा। यद्यपि जीवात्मा का अस्तित्व तब भी है, पर वह देहप्रवेशादि के लिए स्वतन्त्र नहीं। फलतः उस प्रसंग में देहप्रवेश का निर्देश औपचारिक रूप से परब्रह्म का कहा है, उससे सर्गादिकाल में एकमात्र परब्रह्म के सक्रिय अस्तित्व की प्रतिज्ञा सिद्ध रहती है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक [४।५।१–६] प्रसंग के विषय में आश्मरथ्य का विचार है कि प्रकरण के प्रारम्भ में मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य-संवाद के प्रक्रम से याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा—अमृतप्राप्ति की भावना से मैं संन्यस्त हो रहा हूँ, तुम धन-सम्पत्ति के साथ यहीं रहो। मैत्रेयी ने कहा—क्या मैं इसके द्वारा अमृत की प्राप्ति कर सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—वित्त अथवा प्राकृत ऐश्वर्य से अमृत की आशा नहीं की जा सकती। मैत्रेयी ने तत्काल कहा—तब इस धनादि ऐश्वर्य का मैं क्या करूँ? आप मुझे उसी अमृत-मार्ग का उपदेश करें। तब याज्ञवल्क्य वह सब कहने की प्रतिज्ञा करता है—**'हन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि'** [बृ० ४।५।२–५] मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ आपके लिए उस अमृत-मार्ग का उपदेश करूँगा।

आगे **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इत्यादि उपदेश कर उस प्रतिज्ञा को याद करते हुए कहा—उस आत्मा के साक्षात् कर लेने पर यह सब विदित हो जाता

है। यह अमृत का मार्ग है। इस प्रकार उक्त वाक्य में 'आत्मा' पद का परब्रह्म अर्थ पूर्वप्रतिज्ञा की सिद्धि का लिङ्ग है; क्योंकि ब्रह्मदर्शन ही अमृतप्राप्ति है। याज्ञवल्क्य की अमृत-मार्गोपदेश की प्रतिज्ञा उसी दशा में सिद्ध हो सकती है, जब उक्त सन्दर्भ में 'आत्मा' पद का अर्थ परब्रह्म परमात्मा माना जाता है।

आचार्य आश्मरथ्य की कोई रचना हमारे सन्मुख नहीं है। ऐसी दशा में उसके अध्यात्म-विचारों की स्पष्ट परीक्षा किया जाना सम्भव नहीं। मध्यकालिक आचार्यों ने उसके मत के विषय में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने आश्मरथ्य को भेदाभेदवादी माना है, यद्यपि यह वाद अपने रूप में पूर्ण यथार्थ नहीं है। किन्हीं दो वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों को वास्तविक नहीं माना जा सकता; निश्चित रूप से उनमें एक वास्तविक और दूसरा औपचारिक अथवा आपेक्षिक रहता है। कौन वास्तविक है और कौन औपचारिक? यह विवाद कभी समाप्त होनेवाला नहीं है; अभेदवादी भेद को औपचारिक कहता रहेगा, तथा भेदवादी अभेद को। हम इसकी यथार्थता को उन्हीं विचारकों पर छोड़ते हैं, अपनी प्रतिभा के अनुसार निर्णय करें।

'आश्मरथ्य'[1] का भेदाभेदवाद परवर्त्तीकाल में यादवप्रकाश द्वारा परिपुष्ट हुआ था,—यह श्रुतप्रकाशिकाकार सुनर्शनाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है।

इस विषय में आचार्य शंकर का लेख कुछ सन्देहजनक है। आचार्य का कहना है—'आश्मरथ्य तो यद्यपि जीव का परब्रह्म से अभेद स्वीकार करता है, तथापि **'प्रतिज्ञासिद्धेः'** इसके अनुसार सापेक्षता के कथन से कुछ कार्यकारणभाव भी वह स्वीकार करता है, ऐसा प्रतीत होता है।'[2]

'प्रतिज्ञासिद्धेः' [१।४।२०] सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने **'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** इत्यादि सन्दर्भ को प्रतिज्ञावाक्य बताया है। परन्तु बृहदारण्यक के उस मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य-संवाद प्रकरण से ऐसा ज्ञात नहीं होता कि यह प्रतिज्ञावाक्य है। पर मान लीजिए ऐसा है, फिर भी यह विचारणीय है कि उक्त सूत्र के आधार पर आचार्य द्वारा प्रकट किया गया आशय कहाँ तक सूत्रानुसारी है। आचार्य का यह कथन है कि आश्मरथ्य वास्तविक रूप से तो जीव का परब्रह्म से अभेद स्वीकार करता है, पर कदाचित् वह जीव-ब्रह्म में कुछ कार्यकारणभाव स्वीकार करता हुआ भी प्रतीत होता है; कारण यह है कि प्रियसं-

---

१. डॉ० कविराज गोपीनाथ, 'अच्युत', पृ० ५। वेदान्तशांकरभाष्य के हिन्दी अनुवाद की भूमिका।

२. **"आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते।"** ब्र० सू० १।४।२२॥

सूचित आत्मा को द्रष्टव्य कहकर उपनिषद् में जो जीव-ब्रह्म का अभेद कहा है, वह प्रतिज्ञासिद्धि का लिंग है। तात्पर्य यह कि—आत्मा के जान लेने पर सब जान लिया जाता है, इस प्रतिज्ञा की हानि न हो, इस कारण अथवा इस अपेक्षा से प्रियसंसूचित आत्मा को द्रष्टव्य कह दिया गया है। इस तर्क का परिणाम तो यह निकलता है कि वस्तुस्थिति में प्रियसंसूचित आत्मा द्रष्टव्य आत्मा नहीं है, वे दोनों भिन्न हैं, पर किसी अपेक्षा से ऐसा कह दिया गया है। यह परिणाम आचार्य के कथन से उलटा पड़ता है।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि सूत्रपदों अथवा उनसे ध्वनित किसी रीति पर यह कैसे जाना गया कि आश्मरथ्य किसी अंश में जीव-ब्रह्म के कार्य-कारणभाव को स्वीकार करता प्रतीत होता है ? ऐसा लेख स्वयं अपने सन्दिग्धरूप को स्पष्ट कर रहा है। प्रस्तुत सूत्र के आधार पर यह भाव तो स्पष्ट होता है कि आश्मरथ्य भेदवादी होना चाहिए। कारण यह है कि वह जीव-ब्रह्म का अभेद मानने के विषय में कोई संकेत नहीं करता। उसका केवल इतना कहना है कि उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में 'आत्मा' पद जीवात्मा-परक क्यों नहीं है ? सिद्धान्त सूत्रकार का भी यही है, पर उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है, जो सूत्रकार को अभिमत प्रतीत होता है।[1]

उपनिषद् के—आचार्य शंकर द्वारा उद्भावित—अभेद-कथन में आश्मरथ्य का प्रदर्शित मत आचार्य की अपनी उद्भावना का परिणाम प्रतीत होता है। जीव-ब्रह्म का परस्पर कार्य-कारणभाव मानकर उनके नित्यत्व एवं अपरिणामित्व को कैसे सुरक्षित रक्खा जा सकता है, यह एक समस्या है। आचार्य भी इसे सुलझाने में अक्षम रहा; क्योंकि ब्रह्म के सहयोगी होने से माया की सत्ता को तथा अन्य कतिपय अनादि पदार्थों के अस्तित्व को वह हटा नहीं सका, अथवा उनकी उपेक्षा नहीं कर सका।

जैमिनिसूत्र में आश्मरथ्य—मीमांसादर्शन के एक सूत्र [६।५।१६] में आश्मरथ्य का उल्लेख है। इस प्रसंग का विवेचन प्रस्तुत पाँचवें पाद के आदि से प्रारम्भ होकर चार अधिकरणों में सम्पन्न हुआ है। यहाँ मुख्य विचारणीय वचन है—**'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदियात् स त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्। ये मध्यमाः स्युस्तान् अग्नये दात्रे पुरोडाश···'** इत्यादि।

प्रकरण यह है—अमावास्येष्टि (दर्श-इष्टि) का कर्म दो प्रकार का है—एक पुरोडाश-हविष्क, दूसरा सान्नाय्य-हविष्क। सान्नाय्य संज्ञा दधि-दुग्ध की है।

---

१. इस विषय पर अधिक विवेचन तथा ब्रह्मसूत्रगत इस प्रसंग [ब्र० सू० १।४।१९–२२] की व्याख्या के सन्तुलन के लिए देखें हमारी रचना—ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य।

यह दूसरा प्रकार उस व्यक्ति के लिए है, जिसने सोमयाग कर लिया हो। इस इष्टि का अनुष्ठान अमावास्या तिथि समाप्त हो जाने पर प्रतिपदा के दिन होता है। तिथिगणना सूर्योदय से मानी जाती है। पुरोडाश-पक्ष में हवि का निर्वाप सूर्योदय से लगभग दो-ढाई घण्टे पूर्व हो जाता है। अत: यदि भ्रान्ति से अमावास्या को ही प्रतिपदा समझकर सूर्योदय से पूर्व (चतुर्दशी के अन्तिम भाग में) हवि का निर्वाप कर लेने पर पीछे चन्द्रोदय हो जाये, तो निरुप्त तण्डुलों का तीन प्रकार से विभाग करके दातृ आदि गुणविशिष्ट अग्नि आदि तीन देवताओं के लिए याग करे।

यहाँ प्रथम अधिकरण में विचार किया है—

पूर्वपक्ष—तण्डुलों का विभाग करके दातृ–अग्नि आदि देवता के लिए हवि देना प्रायश्चित्त कर्म है, अत: यह कर्मान्तर है; अर्थात् प्रस्तुत कर्म से भिन्न कर्म है। मुख्य इष्टि का अनुष्ठान अगले दिन पुन: करे।

उत्तरपक्ष—कर्म का आरम्भ हो चुका है, क्योंकि हवि का निर्णय कर लिया गया है; अत: उसका त्याग नहीं हो सकता। इस कारण कर्म वही है, केवल दर्श-इष्टि की देवता को हटाकर दातृ–अग्नि देवता का विधान किया है।

द्वितीय अधिकरण में विचार है—प्रकृत चन्द्राभ्युदय प्रसंग में उपांशुयाग के विषय में भी सन्देह है कि उसके देवता का भी अपनय होगा, अथवा वह यथादैवत ही होगा? क्योंकि उपांशुयाग का हवि-द्रव्य व्रीहि नहीं है, घृत है।

पूर्वपक्ष—देवता का अपनय होगा।

उत्तरपक्ष—उपांशुयाग ही नहीं होगा; क्योंकि देवता का अपनय तो पूर्व-अधिकरण से प्राप्त है, परन्तु अन्य देवता का विधान नहीं किया, अत: उपांशुयाग ही नहीं होगा।

तृतीय अधिकरण में कहा है—पूर्ववचनानुसार हविनिर्वाप के पीछे चन्द्रोदय होने पर ही देवता का अपनय होगा; अत: निर्वाप से पूर्व चन्द्रोदय हो जावे तो यह अभ्युदितेष्टि न होगी।

चतुर्थ अधिकरण में विचार है—पूर्वनिर्दिष्ट वाक्य में '**निरुप्ते चन्द्रमाऽभ्युदियात्**' कहा है। यदि हविनिर्वाप से पूर्व चन्द्रमा निकल आवे, तो निर्वाप किस देवता के लिए करें? प्राकृत दर्श देवता के लिए अथवा वचनविहित दातृ-अग्नि आदि के लिए?

पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में तण्डुलों का विभाग करके देवतान्तर का विधान किया है। निर्वाप व्रीहि (सतुष) का होगा। व्रीहि में देवतान्तर का विधान नहीं है। अत: निर्वाप प्राकृत दर्शविषयक देवता के लिए ही होगा। यह मत आचार्य आश्मरथ्य का है।

उत्तरपक्ष—पूर्वोक्त वाक्य का तात्पर्य अकाल (अयथार्थकाल) में यागकर्म

की प्रवृत्ति में है। अतः चन्द्रमा चाहे निर्वाप के पूर्व उदय हो अथवा पश्चात्, अकाल में तन्त्रप्रवृत्ति तो दोनों दशाओं में समान है। अतः निमित्त के समान होने पर चन्द्रोदय के पीछे निर्वाप भी दातृ-अग्नि आदि नैमित्तिक देवताओं के लिए होगा।

इतना ही नहीं, सान्नाय्यहवि-पक्ष में तो पूर्व-दिन के अपराह्ण से ही कर्म का आरम्भ हो जाता है, क्योंकि हवि के लिए दधि पूर्व-रात्रि में ही जमा दिया गया है, अतः अकाल में कर्मारम्भ ही देवतापनय का कारण है। इसलिए सान्नाय्यहवि-पक्ष में भी देवतापनय होगा।

इन विवरणों से स्पष्ट होता है—आचार्य आश्मरथ्य ज्ञान और कर्म दोनों काण्डों पर विशेषाधिकार रखता था, जिसके मतों का विवेचन अनन्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा हुआ है। सम्भव है कि इन विषयों पर उसकी कोई रचना रही हो।

३. औडुलोमि आचार्य

ब्रह्मसूत्रों में आचार्य औडुलोमि का उल्लेख तीन [ब्र० सू० १।४।२१॥ ३।४।४५॥ ४।४।६] स्थलों में हुआ है। प्रथम स्थल का वही प्रसंग है, जिसमें अभी पीछे आश्मरथ्य का उल्लेख किया गया। इस विषय में आचार्य का मत है कि उपनिषद् के उक्त प्रसंगों [ऐतरेय १।१॥ बृहदारण्यक ४।५।६] में आत्मा' पद परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में इस कारण मानना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान होने पर जीवात्मा देहपात के अनन्तर ब्रह्म में आश्रित रहता, केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्मसदृश मान लिया जाता है। आनन्दानुभूति ही सादृश्य है। आत्मा की उस भावी अवस्था को लक्ष्य कर सर्ग-कालिक वर्णन में भी आत्मा का ब्रह्मरूप से उल्लेख हुआ। इस आधार पर उप-निषद् के उक्त प्रसंगों में 'आत्मा' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिए संगत है।

द्वितीय स्थल [३।४।४५] में प्रसंग है कि उपासनाओं में अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान उपासक करे, अथवा ऋत्विक् ? औडुलोमि का मत है कि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान ऋत्विक् द्वारा कराया जाना शास्त्रीय है; क्योंकि उपासक यजमान द्वारा पारिश्रमिक देकर उस कर्मानुष्ठान के लिए ऋत्विक् का क्रय कर लिया गया है। ऐसी अवस्था में ऋत्विक् द्वारा किये गये कर्मानुष्ठान का फल यजमान को प्राप्त होता है। ऋत्विक् अपने श्रम का फल=पारिश्रमिक शुल्करूप में ले चुका होता है। कर्मानुष्ठान का फल अनुष्ठाता को मिलना चाहिए, इस शास्त्रीय व्यवस्था में पूर्वोक्त व्यवहार से कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि वस्तुतः कर्म का अनुष्ठाता उपासक यजमान ही है, ऋत्विक् आदि तो उसमें साधनमात्र हैं।

तृतीय स्थल [४।४।६] में प्रसंग है कि मोक्ष में आत्मा किस रूप से अवस्थित रहता है। इस विषय में आचार्य औडुलोमि का मत है कि मोक्ष में जीवात्मा चेतन-मात्रस्वरूप से अवस्थित होता है। संसारी दशा में आत्मा प्रकृतिसम्पर्क के कारण देह-इन्द्रिय आदि द्वारा सम्बद्ध रहता है, वह तत्त्व चेतन नहीं है; मोक्ष में उनका सम्पर्क नहीं रहता, इसलिए आत्मा वहाँ अपने चेतनमात्ररूप से अवस्थित रहता है। यह विवरण स्पष्ट करता है कि ओडुलोमि आचार्य मोक्ष में जीवात्मा की अतिरिक्त सत्ता को स्वीकार करता है। इसके अनुसार उसे भेदवादी मानना युक्त है। सूत्रकार ने उसकी इस मान्यता को प्रस्तुत प्रसंग में स्वीकार किया है।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने सूत्र [१।४।२१] के शांकरभाष्य पर टीका करते हुए आचार्य औडुलोमि का मत प्रकट किया है—"क्योंकि जीव परमात्मा से अत्यन्त भिन्न होता हुआ ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सम्पर्क से सदा [संसारी दशा में] कलुष रहता है, ज्ञान-ध्यान आदि के अनुष्ठान से उसका वह कलुष जब दूर हो जाता है (अर्थात् उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है), तब देह-इन्द्रिय आदि संघात से उत्क्रमण करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य उत्पन्न होता है, यह अभेदकथन का आधार है। इसका तात्पर्य है—आगे आनेवाले अभेद का आश्रय लेकर भेदकाल में भी अभेद कह दिया गया है। जैसा कि पाञ्चरात्रिक आचार्यों ने कहा है—मोक्ष से पहले जीवात्मा परमात्मा का भेद ही रहता है; मुक्त होने पर तो भेद नहीं, क्योंकि तब भेद का हेतु नहीं रहता।"[1]

वाचस्पति का विवरण शांकरभाष्य के अनुरूप उसकी पुष्टि की भावना से हुआ है। परन्तु इसमें ऐसे निर्देश हैं, जिनसे आचार्य शंकर की भावना को वस्तुतः पोषण प्राप्त नहीं होता। जीवात्मा और परमात्मा की अत्यन्त भिन्नता का बल-पूर्वक प्रथम निर्देश है। मोक्ष में एकता का उपपादन नैमित्तिक होने से औपचारिक कहा जा सकता है। औडुलोमि के विचार से आत्मा-परमात्मा का अत्यन्त भेद उनके वास्तविक अभेद के रूप में कभी उपपन्न नहीं कहा जा सकता। ज्ञान-ध्यानादि से कालुष्य का दूर होना संसारी दशा के परिहार को बताता है। जब भविष्यत् का अभेद औपचारिक है, तब भेदकाल में अभेद का कहना औपचारिक ही माना जा सकता है।

---

१. "जीवो हि परमात्मोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहेन्द्रिय-संघातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोपक्रमणम्। एत-दुक्तं भवति—भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः। यथाहुः पाञ्चरात्रिकाः—'आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च। मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः।"

[ब्र० सू० १।४।२१, शांकरभाष्य पर भामती]

वाचस्पति के विवरण में दूसरा ध्यान देने योग्य कथन है—औडुलोमि-मत के साथ पाञ्चरात्रिक आचार्यों के विचार का साम्य प्रकट करना। इसका यह तात्पर्य निकलता है कि बादरायण के पर्याप्त पूर्वकाल में अध्यात्म की आर्षपरम्परा के आचार्यों के विचारों में पाञ्चरात्रिक मत के बीज सन्निहित थे। अध्यात्म की इस परम्परा में निश्चित ही तब आत्मा-परमात्मा का कभी अभेद नहीं माना गया। कालान्तर में बादरायण के अनन्तर जब इस भावना का उद्रेक हुआ, तब आत्मा की मोक्षदशा का अभेद के रूप में वर्णन सामने आया। अनन्तर अभेद और भेदाभेद आदि के अखाड़ों ने व्याख्याकारों की रचनाओं में अपना आसन जमाया, जिसके बवण्डर में वास्तविकता तिरोहित हो गई। उन प्राचीन आचार्यों को भेदाभेदवादी कहने के लिए भी थोड़ा साहस करना पड़ता है, जब कि आचार्य शंकर का प्रयास उन्हें सर्वात्मना अभेदवादी बताने का रहता है, जो वास्तविकता से सर्वथा विपरीत प्रतीत होता है।

४. आचार्य कार्ष्णाजिनि

वेदान्तदर्शन के एक सूत्र [३।१।९] में कार्ष्णाजिनि आचार्य का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।७] के सन्दर्भ में पठित 'चरण' पद के विषय में विचार प्रस्तुत है। उपनिषद् में जन्म का निमित्त वस्तुतः 'चरण' [आचरण-आचार-कर्मानुष्ठान] बताया है, परन्तु सूत्र [३।१।८] में 'अनुशय' कहा है। इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं, यह स्पष्ट करना सूत्रकार का तात्पर्य है। 'अनुशय' उन संस्कारों एवं धर्म-अधर्म [अदृष्ट] का नाम है, जिन कर्मों का फल अभी भोगा नहीं गया, तथा वे संस्कार आदि रूप से आत्मा में अवस्थित हैं। इस विषय में कार्ष्णाजिनि का विचार है—उपनिषद् का 'चरण' पद 'अनुशय' का उपलक्षण–द्योतक है, क्योंकि 'अनुशय' आचरण एवं कर्मानुष्ठान से बनता है, इसलिए उक्त दोनों कथनों में परस्पर-विरोध की कल्पना असंगत है। सूत्रकार ने इस प्रसंग में अपनी कोई आलोचना प्रस्तुत नहीं की। कदाचित् सूत्रकार को उक्त कल्पित विरोध का ऐसा समाधान अभिमत रहा हो।

जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों में दो स्थलों [४।३।१७।। ६।७।३५] पर कार्ष्णाजिनि का उल्लेख है। प्रथम स्थल का प्रसंग है कि रात्रिसत्र में जो फल-निर्देश है, वह केवल अर्थवाद है, अथवा उसे फलविधि मानना चाहिए? इस विषय में कार्ष्णाजिनि का विचार है कि यह फलनिर्देश अर्थवाद समझना चाहिए, जैसे अङ्गभूत कर्मों का फलनिर्देश केवल अर्थवादरूप माना जाता है।

मीमांसाकार ने कार्ष्णाजिनि के इस विचार को पूर्वपक्षरूप में उपस्थित किया है। अगले सूत्र [४।३।१८] में सिद्धान्त-पक्ष आत्रेय आचार्य के नाम से प्रस्तुत

किया गया है कि रात्रिसत्र में फल का निर्देश केवल अर्थवाद न होकर फलविधि ही मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रात्रिसत्र में श्रुति द्वारा जिस फल का निर्देश किया गया है, वह कर्मानुष्ठान के प्रति कर्त्ता के केवल आकर्षण के लिए नहीं है; प्रत्युत कर्मानुष्ठान के अनन्तर यथावसर वह निर्दिष्ट फल कर्त्ता को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह फल का विधान है, अर्थवाद नहीं। आत्रेय के विवरण में उसके इस सिद्धान्तपक्ष का संकेत किया जा चुका है।

मीमांसा के द्वितीय स्थल [६।७।३५] में सहस्रसंवत्सर याग का प्रसंग है। वहाँ विवेचनीय है—यह याग सहस्रवर्ष आयुवालों के लिए है अथवा मानव के लिए ? यह निर्णय होने पर कि समस्तशास्त्र का विधान मानव के लिए है, प्रश्न होता है—मानव की आयु सहस्रवर्ष सम्भव नहीं, तब मानव के लिए इस विधि का उपयोग कैसे संगत हो सकता है ? इस विषय में आचार्य कार्ष्णाजिनि का विचार है—इस विधि को 'कुल' का कल्प [कुलपरम्परा द्वारा अनुष्ठेय कर्म] मानना चाहिए, क्योंकि किसी एक व्यक्ति के द्वारा यह अनुष्ठान सम्भव नहीं। जो व्यक्ति अनुष्ठान प्रारम्भ करता है, उसकी कुल-परम्परा में आगे होनेवाली सन्तति सहस्र वर्ष पूरे होने पर उस अनुष्ठान को सम्पन्न करेगी। एक के द्वारा आरम्भ किये अनुष्ठान को उसके कुल में उत्पन्न अन्य व्यक्ति पूर्ण करें, यह समञ्जस है। उक्त याग की संगति इस रूप में समझी जा सकती है।

मीमांसासूत्रकार ने आचार्य कार्ष्णाजिनि के इस विचार को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है। मूलप्रसंग के विषय में सूत्रकार का निर्णय है कि प्रसक्त 'संवत्सर' पद दिन का वाचक है। एक व्यक्ति द्वारा सहस्र दिन में उस याग का स्वयं पूर्ण किया जाना सम्भव है।

कार्ष्णाजिनि के विचार इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि शास्त्रीय कर्मानुष्ठान आदि के विषय में तात्कालिक आचार्य अपने मन्तव्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक विद्वत्समाज के सन्मुख उपस्थित कर सकते थे। उन्हें इस विषय में न कोई संकोच था, न किसी तरह का बन्धन। उनके विचारों का आदर भी होता था।

५. आचार्य काशकृत्स्न

वेदान्तदर्शन के केवल एक सूत्र [१।४।२२] में आचार्य काशकृत्स्न के मत का उल्लेख हुआ है। वह प्रसंग है—ऐतरेय उपनिषद् [१।१] तथा बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।६] के सन्दर्भों में पठित 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिए हुआ है, अथवा परमात्मा के लिए ? पूर्वपक्ष है—जीवात्मा के लिए; उत्तरपक्ष है—परमात्मा के लिए। पूर्वपक्ष की भावना से उक्त उपनिषत्सन्दर्भों में 'आत्मा' पद के जीवात्मा अर्थ के लिए जो लिङ्ग बताये गये हैं, उनके

समाधान के लिए सूत्रकार ने कतिपय पूर्वाचार्यों के विचारों का उल्लेख किया है। उनमें से आश्मरथ्य और औडुलोमि के विचारों का उनके विवरण-अवसर पर उल्लेख कर दिया है। काशकृत्स्न का उस विषय में विचार है कि जीवात्मा प्रत्येक दशा में परब्रह्म परमात्मा के साथ अवस्थित रहता है; परमात्मा को छोड़कर जीवात्मा का रहना सम्भव नहीं। संसार एवं प्रलय-अवस्था में जीवात्मा अज्ञानरहित नहीं होता, यह अवस्थान अज्ञानसहित है। मोक्ष में अज्ञान नहीं रहता, इस विशेषता के रहते भी अवस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। विशेषता का प्रयोजन मोक्ष में ब्रह्मानन्द की अनुभूति का होना है। ऐसा कहना सर्वथा अशास्त्रीय है कि मोक्ष में जीवात्मा का ब्रह्म में लय हो जाता है, अथवा संसारदशा में ब्रह्म ही जीवात्मरूप से अवस्थित रहता है। फलतः जीव-ब्रह्म की नियत सहावस्थिति के कारण ऐतरेय [१।३।११] प्रसंग, देह में परमात्मप्रवेश-मुख से जीवात्मा के प्रवेश को प्रकट करता है, इसलिए यह जीवात्मा का लिंग नहीं, और इसी कारण प्रकरण के उपक्रम में 'आत्मा' पद जीवात्मा का वाचक नहीं।

बृहदारण्यक [४।५।१-१५] प्रसंग में, न केवल जीवात्मा अपितु समस्त विश्व की अवस्थिति ब्रह्म में बताई गई है। द्रष्टव्य 'आत्मा' को सबका आधार तथा उस सबसे अतिरिक्त होते हुए उस सबमें अन्तर्हित अर्थात् अन्तर्यामीरूप से व्याप्त बताया है। समस्त विश्व का अवस्थान द्रष्टव्य 'आत्मा' में कहे जाने से वह 'आत्मा' परब्रह्म हो सकता है, अन्य कोई नहीं। फलतः उपनिषद् के उक्त प्रसंग में अवस्थिति का निर्देश होने से 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' सन्दर्भ में 'आत्मा' पद परब्रह्म का वाचक सम्भव है, जीवात्मा का वाचक नहीं। ऐसा कोई लिंग वहाँ प्रतीत नहीं होता, जिससे उस पद को उक्त स्थल में जीवात्मपरक समझा जा सके।

सूत्रकार ने उन आचार्यों के विचारों की अपनी ओर से कोई आलोचना नहीं की। प्रकृत अर्थतत्त्व के परिणाम में किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना को न देखकर कदाचित् सूत्रकार ने आलोचना की उपेक्षा की हो, यह सम्भव है; समान परिणाम पर पहुँचने का प्रकार भले भिन्न हो, जिसका आश्रय प्राचीन आचार्य एवं स्वयं सूत्रकार ने लिया है। सूत्रकार द्वारा किये गए इस विवेचन से ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर प्राचीन आचार्यों का अभेद-वादी होना प्रमाणित होता हो। आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र [१।४।२२] के भाष्य में कहा है—'आचार्य काशकृत्स्न का मत है कि अविकृत परमेश्वर ही जीव है, अन्य कोई नहीं।'[1] परन्तु काशकृत्स्न का ऐसा मत होने में सूत्र तथा अन्य

१. **'काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्।'**
[ब्र० सू० १।४।२२ पर शांकर भाष्य]

किसी आधार पर कोई प्रमाण न होने से उक्त कथन प्रामाणिक नहीं कहा जा-सकता। वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा स्वयं कभी जीवात्मभाव में अवस्थित नहीं होता। उपनिषत्सन्दर्भों का ऐसा तात्पर्य मुख्यरूप से कहीं नहीं है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' [छा० ६।३।२] इत्यादि सन्दर्भों की यथार्थ व्याख्या[1] उक्त भ्रम को दूर कर देती है।

६. आचार्य जैमिनि

ब्रह्मसूत्रों में आचार्य जैमिनि का उल्लेख ग्यारह बार हुआ है, जो सब आचार्यों की अपेक्षा अधिक है। कदाचित् गुरु ने शिष्य के प्रति वात्सल्य प्रकट करने एवं उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए ऐसा किया हो। शास्त्रीय अर्थ के उपपादन में सहयोग लेना तो स्वाभाविक है। जैमिनि, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के अन्यतम शिष्य थे, इसका प्रसंगवश अनेकत्र उल्लेख हो चुका है।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में जैमिनि और बादरायण के सूत्रों में एक-दूसरे के दिये हुए कतिपय मतों का निर्देश किया है। परस्पर निर्दिष्ट अन्य मतों का एक-दूसरे के ग्रन्थ में कहाँ उल्लेख हुआ है, यह अन्वेष्य है। यह भी सम्भव है कि समकालिक आचार्य एक-दूसरे के उन विचारों एवं मतों से परिचित हों, जिनका उल्लेख—प्रसंग न होने के कारण—आचार्य की अपनी रचना में न हुआ हो। ऐसी दशा में आचार्य के नाम से एकत्र उल्लिखित मत यदि उसकी रचना में न मिले, तो इससे किसी अन्यथा परिणाम को उभारने का प्रयास निराधार समझा जायगा।

अध्यात्म की आर्षपरम्परा में आचार्य जैमिनि का क्या व कितना सहयोग है, यह आचार्य की अपनी रचना के आधार पर समझने का प्रयास करना उपयुक्त मार्ग होगा। इसके अतिरिक्त इस विषय में बादरायण का एक सूत्र [४।४।५] थोड़ा प्रकाश डालता है, जिसमें जैमिनि के एक मन्तव्य का निर्देश है। कहा जाता है कि आचार्य जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता। परन्तु बादरायण के इस सूत्र के आधार पर प्रतीत होता है—आचार्य का मन्तव्य इससे विपरीत रहा होगा। बादरायण-सूत्र का प्रसंग है, आत्मा ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर मोक्ष में किस रूप से रहता है? इस विषय में जैमिनि का मत बताया है—वह 'ब्राह्म' रूप से रहता है—'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' [४।४।५]। इस पद का अर्थ—ब्रह्म-सम्बन्धी अथवा ब्रह्मरूप—जो कुछ किया जाय, उससे इस

१. देखें—ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य [२।१।१३, एवं २।१।२१]

मान्यता में कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता कि आचार्य जैमिनि ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है; अन्यथा बादरायण उसके नाम से जीवात्मा के 'ब्रह्म' रूप का निर्देश न करता; करने पर यह मिथ्या सिद्ध हो जाता है, यदि जैमिनि ब्रह्म के अस्तित्व को न मानता हो। जैमिनि निरीश्वरवादी है—प्रवाद किस आधार पर है, यह विचारणीय है।

वेदान्तदर्शन का एक और प्रसंग इस अर्थ की पुष्टि करता है। ब्रह्मसूत्रों [४।३।७–१४] में ब्रह्मोपासना के फलरूप देवयानगति द्वारा उपासक को कौन स्थान प्राप्त होता है, इसका विवेचन है। वहाँ सूत्रकार ने प्रथम आचार्य बादरि का मत दिखाकर सिद्धान्तरूप से जैमिनि के मत का उल्लेख किया है, यह विवरण तीन सूत्रों [४।३।१२–१४] में है। वहाँ बताया है—देवयानमार्ग द्वारा जैमिनि आचार्य ब्रह्मोपासक की गति परब्रह्म तक मानता है। तात्पर्य यह है कि उपासना सम्पन्न होने पर फलरूप में उपासक को साक्षात् परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यदि जैमिनि ब्रह्म के अस्तित्व को न मानता होता, तो बादरायण उसके नाम से यह उल्लेख कैसे करता ? स्पष्ट है कि चाहे किसी प्रसंग के न होने से जैमिनि ने अपनी रचना में ब्रह्म का उपपादन न किया हो, पर वह ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार अवश्य करता था।

सांख्य और मीमांसादर्शन को निरीश्वरवादी कहा जाता है। 'ईश्वरासिद्धेः'[1] सूत्र के आधार पर आपाततः सांख्य के विषय में कदाचित् यह कहा जा सके; पर मीमांसा में तो कोई ऐसा सूत्र या संकेत तक नहीं है। ईश्वर का वर्णन अथवा उपपादन प्रायः जगत्स्रष्टा एवं कर्मफलप्रदाता के रूप में किया जाता है। मीमांसा में जगत्सर्ग का कोई प्रसंग नहीं, क्योंकि यह उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं; तथा फलदान में वहाँ कर्म [अदृष्ट = धर्माधर्म] को निमित्त बताया गया है। सम्भव है, इस परिस्थिति में मध्यकालिक आचार्यों ने ऐसी कल्पना कर ली हो कि मीमांसा को ईश्वर मान्य नहीं। वस्तुतः ईश्वर को माने जाने पर भी फल के प्रति कर्म की निमित्तता को हटाया जाना सम्भव नहीं। शास्त्र में परमेश्वर भी जीवात्माओं के कर्मानुसार ही फलप्रदाता कहा है। वह इस व्यवस्था का आवश्यक नियन्ता है, इसलिये फलदान में कर्म के निमित्त माने जाने पर भी ईश्वरविषयक मान्यता उपेक्षित नहीं होती। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले सभी आचार्यों ने फलप्रदान में कर्म को निमित्त माना है। क्योंकि मीमांसा कर्मप्रधान शास्त्र

---

१. वस्तुतः सांख्य का यह सूत्र ईश्वरनिषेधपरक न होकर केवल जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध कहता है। जगत् के कर्त्ता-नियन्ता ईश्वर को सांख्य [३।५६-५७] स्वतः स्वीकार करता है। अधिक विवेचन के लिए देखें—सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य, १।५७।

है, सम्भवत: इसी कारण वहाँ फलप्रदान में निमित्तरूप से केवल कर्म का उल्लेख हुआ है। इससे अन्य आवश्यक निमित्तों की उपेक्षा प्रकट नहीं होती। मध्य-कालिक व्याख्याकारों ने इस विशेषता की ओर ध्यान न देकर जैमिनि को निरीश्वरवादी घोषित कर दिया, जो किसी प्रकार प्रमाणित नहीं है।

७. आचार्य बादरि

बादरायण-सूत्रों में आचार्य बादरि का उल्लेख चार स्थलों [१।२।३०॥ ३।१।११॥ ४।३।७॥ ४।४।१०] में हुआ है। पहले स्थल का प्रसंग है—छान्दोग्य उपनिषद् [५।१८।१-२] में 'वैश्वानर' पदवाच्य उपास्य ब्रह्म को प्रादेशमात्र कहा गया है। सर्वव्यापक ब्रह्म को प्रादेशमात्र बताने में क्या उपपत्ति है? इस विषय में ब्रह्मसूत्रकार ने बादरि का मत बताया है—प्रादेशमात्र हृदय-देश में प्रतिष्ठित मन के द्वारा उपासनाकाल में ब्रह्म का अनुस्मरण किये जाने से ब्रह्म को प्रादेशमात्र कह दिया है।

द्वितीय स्थल का विषय छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।७] के 'तद्य इह रम-णीयचरणाः' इत्यादि सन्दर्भगत 'चरण' पद के प्रयोग के आधार पर है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में 'चरण' पद का क्या अर्थ है, इस विषय में आचार्यों का मत-भेद है। ब्रह्मसूत्रकार ने बादरि का मत बताया है कि उपनिषद् के उक्त प्रसंग में 'चरण' पद सुकृत-दुष्कृत कर्मों [भले-बुरे कर्मों] का वाचक है। अनुष्ठान [शास्त्रीय कर्म] के बोधक 'चरण' पद का अर्थ बादरि ने—सभी साधारण भले-बुरे कर्म—माना है।

तृतीय स्थल वही है, जिसकी चर्चा अभी जैमिनि के प्रसंग [४।३।७–१४] में की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् [४।१५।५] के **'स एनान् ब्रह्म गमयति'** इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य बादरि का विचार है कि इस प्रसंग में 'ब्रह्म' पद मुख्य ब्रह्म का बोध नहीं कराता, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक तत्त्व है; उसे प्राप्त होने के लिए उस गति की की आवश्यकता नहीं है, जिसका वर्णन उपनिषद् में उपासक के लिए किया गया है। गन्ता प्रत्यगात्मा [उपासक जीवात्मा] गति के अनुसार जिस गन्तव्य को प्राप्त होता है, वह एकदेशी तत्त्व होना चाहिए, सर्वव्यापक ब्रह्म नहीं।

चौथे स्थल में मुक्त पुरुष के ऐश्वर्यानुभूति को लक्ष्य कर जिज्ञासा की गई है कि उस अवस्था में मुक्त पुरुष के शरीर-इन्द्रिय आदि रहते हैं, अथवा नहीं? बादरि का मत है कि मोक्ष-अवस्था में मुक्त पुरुष के शरीर-इन्द्रिय आदि का

अभाव रहता है।[1] छान्दोग्य [८।१२।५] के अनुसार वह सब कामनाओं को मन से देखता हुआ रमण करता है।

जैमिनि के मीमांसादर्शन [३।१।३॥ ३।१।२७॥ ८।३।६॥ ९।२।३३] में भी आचार्य बादरि का उल्लेख उपलब्ध होता है। मीमांसा-[६।१।२७]-सूत्र के अनुसार ज्ञात होता है, यह आचार्य यज्ञकर्म में मानवमात्र का अधिकार मानता रहा है। द्विजाति के अतिरिक्त शूद्र आदि को यज्ञकर्म एवं शास्त्राध्ययन में अधिकार है। बादरि के इस मत को यद्यपि जैमिनि ने यहाँ पूर्वपक्ष में स्थान दिया है, तथा अन्त में निर्णय किया है कि यज्ञादि कर्म में केवल द्विजाति का अधिकार है, फिर भी इसका महत्त्व इस रूप में समझना चाहिए कि जैमिनि एवं महाभारत आदि के पूर्वकाल में अनेक आचार्य इस विचार को माननेवाले थे।

बादरि के इस सिद्धान्त को एक अन्य दृष्टि से भी विचारना चाहिए। आचार्य बादरि अध्यात्मविषयक आर्षपरम्परा के एक प्रतिष्ठित नेता रहे हैं। यह सम्भव है, ये बादरायण व्यास के पूर्वजों में हों। बादरायण ने अपने सूत्रों [१।३।३४–३८] में अध्यात्म विषय का विवेचन प्रस्तुत किया है। उससे अध्यात्मविद्या आदि में मानवमात्र का अधिकार प्रकट होता है। इस प्रकरण के आचार्य शंकर आदि के व्याख्यान चिन्तनीय हैं; उनपर अपने समय का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जिनसे सूत्रकार की आन्तरिक भावना तिरोहित हो जाती है।

ब्रह्मसूत्र एवं मीमांसासूत्र दोनों में आचार्य बादरि के मतों का उल्लेख व विवेचन होने से यह अनुमान करना संगत होगा कि इस आचार्य के रचित ग्रन्थ दोनों मीमांसाओं के विषयों पर रहे हों। इस विषय का कोई स्पष्ट लेखा-जोखा आज हमारे पास नहीं है।

आचार्य काश्यप और बादरायण

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में उल्लिखित आचार्यों के विषय में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया। यद्यपि आचार्य काश्यप का उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में नहीं है, परन्तु आचार्य शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र में बादरायण के साथ काश्यप के मत का उल्लेख है; इससे आचार्य काश्यप की महत्ता व प्राचीनता प्रकट होती है। उक्त भक्तिसूत्र

---

१. छान्दोग्य का सन्दर्भ है—**'अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते।'** 'मनसा' पद का अर्थ यहाँ मुक्त आत्मा की स्वशक्तिमात्र है। प्राकृतिक मनस्तत्त्व को यहाँ साधनरूप में नहीं माना गया, अतः उपनिषद् में आत्मा को ही उस दशा में दिव्यचक्षु-रूप मन बताया है।

में काश्यप और बादरायण का जो मत उल्लिखित हुआ है, उसके आधार पर तत्सम्बन्धी विवेचन अपेक्षित है। जिन सूत्रों में दोनों आचार्यों का मत दिखाकर सूत्रकार शाण्डिल्य ने अपना मत प्रकट किया है, वे सूत्रकार हैं—

तामैश्वर्यपदां काश्यपः परत्वात् ।
आत्मैकपदां बादरायणः ।
उभयपदां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ।[1]

सूत्र में 'तां' सर्वनाम पद 'बुद्धि' का परामर्श करता है, जिसका उल्लेख इस आह्निक के प्रथम सूत्र में हुआ है। विचारणीय यह है कि आध्यात्मिक उपासना अथवा भगवान् की भक्ति के अनुष्ठान में उपासक एवं भक्त की भावना क्या होनी चाहिए ? वह उस अवस्था में बुद्धि के द्वारा किस प्रकार की भावना को जागृत रक्खे, जिससे उसका वह अनुष्ठान यथायथ रीति पर सम्पन्न हो सके ?

इस विषय में काश्यप आचार्य का मत है कि उपासना अथवा भगवद्भक्ति के अनुष्ठानकाल में उपासक अथवा भक्त को परमात्मा के अनन्त ऐश्वर्य, उसके आनन्दस्वरूप आदि की भावना को बुद्धि का विषय बनाये रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उपासक व भक्त उस काल में परमेश्वर के ऐश्वर्य व आनन्दरूप आदि

---

१. शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र पर दो प्रसिद्ध व्याख्या उपलब्ध हैं—एक स्वप्नेश्वर-विरचित व्याख्या, जो भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है; दूसरी नारायणतीर्थ की व्याख्या भक्तिचन्द्रिका। ऊपर सूत्रों का पाठ दूसरी व्याख्या के अनुसार है। प्रथम व्याख्या में सूत्रों के आद्य पदों का पाठ यह है—'तामैश्वर्यपरां, आत्मैकपरां, उभयपरां'। 'पद' के स्थान पर 'पर' पाठ है। तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। ये सूत्र मूलग्रन्थ के अध्याय २, आह्निक १ के ३, ४, ५ संख्या पर हैं। स्वप्नेश्वर के भाष्य में इन सूत्रों की संख्या यथाक्रम २९, ३०, ३१ दी गई है, जो ग्रन्थ के प्रारम्भ से जोड़ी गई है। नारायणतीर्थ के अनुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ से जोड़ने पर इनकी संख्या ३१, ३२, ३३ है। कारण यह है कि प्रथम अध्याय के दूसरे आह्निक में स्वप्नेश्वर ने छठे सूत्र के आगे 'प्रागुक्तञ्च' यह अधिक सूत्र पढ़ा है, और आगे इसी आह्निक में तीन सूत्र नहीं हैं, जो नारायणतीर्थ की व्याख्या में ९, १०, ११ संख्या पर इस प्रकार उपलब्ध हैं—

भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः ।
पुराणेतिहासाभ्याञ्चेति ।
पृथुध्रुवप्रह्लादाम्बरीषशुकसनकनारदभजनाचाराच्च ।

भक्तिचन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ ने 'श्रुति' पदके आधार पर ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का यहाँ उल्लेख किया है। इसके अनुसार सूत्रों की संख्या में दो का अन्तर पड़ गया है।

की भावना करे, क्योंकि ईश्वर सर्वोत्कृष्ट सत्ता है [—परत्वात्]। उसकी भावना से उपासक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। काश्यप के इस विचार में उपासक और उपास्य का भेद बराबर अभिव्यक्त रहता है। भक्ति के प्रसंग में तो अभेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भक्ति में आत्म-समर्पण तो सम्भव है, जो पूर्णरूप से भेदमूलक रहता है। भक्त कभी भजमान के साथ अपने अभेद की कल्पना नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसी कल्पना में भक्ति का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है।

आचार्य शाण्डिल्य ने बादरायण का जो मत इस विषय में प्रस्तुत किया है, उसका तात्पर्य है–उपासना आदि के समय परमात्मा के साथ एकता [अभेद] की भावना का जागृत रहना, अर्थात् उस काल में उपासक अपने उपास्य परब्रह्म के साथ अभेद की भावना को बुद्धि का विषय बनाये। अभेद की भावना से की गई उपासना अनुभवी आचार्यों के कथनानुसार सद्यः फलप्रदायिनी होती है। बादरायण के इस विचार में वस्तुतः उपासक-आत्मा और उपास्य-परब्रह्म की एकता को पुष्ट नहीं किया गया; प्रत्युत वह केवल उपासना का प्रकार बताया है। आत्म-समर्पण की तीव्र भावना को अभेद की कल्पना में समन्वित कर देने की यह एक स्थिति है।

शाण्डिल्य-सूत्रों के पूर्ववर्त्ती टीकाकार तथा अनेक आधुनिक विद्वानों का शाण्डिल्य के प्रस्तुत सूत्रों के आधार पर ऐसा विचार है कि आचार्य काश्यप भेदवादी तथा बादरायण अभेदवादी है। भेदवाद का तात्पर्य है—जीवात्मा और परमात्मा की सत्ता को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न मानना। इसके विपरीत अभेदवाद का अभिप्राय है—जीवात्मतत्त्व का कोई स्वतन्त्र अतिरिक्त अस्तित्व न होना। चेतनरूप में एकमात्र सत्ता ब्रह्म है, वही जीवात्मरूप में कभी प्रति-भासित हो जाता है। अभेदवाद का ऐसा विचार आचार्य बादरायण का बताया जाता है।

देखना चाहिए, बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के आधार पर यह भावना अभिव्यक्त होती है, या नहीं ? यह तथ्य अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में कोई ऐसा संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिससे उक्तरूप के अभेदवाद को बादरायण द्वारा स्वीकार किया जाना प्रतीत हो। प्रत्युत इसके विपरीत अनेक सूत्रों[१] में ब्रह्म से जीवात्मा के भेद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। आचार्य शंकर ने सूत्रोपपादित उस भेद को मायिक अथवा अविद्या द्वारा उपस्थापित बताया है; पर ऐसा संकेत सूत्रों में कहीं उपलब्ध नहीं होता। यह उपपादन आचार्य की केवल

१. इसके लिए देखिये—प्रस्तुत ग्रन्थ का अगला 'ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य द्वैत अथवा अद्वैत में' शीर्षक प्रकरण।

अपनी उद्भावना का प्रतीक है। तब शाण्डिल्य के सूत्र [आत्मैकपदां बादरायणः] का अभिप्राय क्या होगा, यह विचारणीय है।

अभी ऊपर पंक्तियों में लिखा जा चुका है कि यह प्रसंग उपासना अथवा भक्ति के अनुष्ठान का प्रकार बताता है। जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक भेद अथवा अभेद का प्रतिपादन करना उसका लक्ष्य नहीं है। बादरायण की दृष्टि से वह अनुष्ठान अभेद-भावना से किया जाना चाहिए, इतना ही तात्पर्य शाण्डिल्य-सूत्र का सम्भव है। इस प्रकार की भावना से अनुष्ठान करना, उपास्य-उपासक अथवा भजमान और भक्त के वास्तविक अभेद का साधक नहीं हो सकता। शाण्डिल्य-सूत्र के टीकाकारों तथा आधुनिक विद्वानों ने इस विषय में जो अपने विचार प्रकट किये हैं, निश्चित ही वे आचार्य शंकर के विचारों से प्रभावित एवं अभिभूत हैं। उन्होंने स्वतन्त्र रूप में गम्भीरता से सूत्रकार की भावनाओं को समझने का उपयुक्त प्रयास नहीं किया। इससे यथार्थता ओझल हो गई। शाण्डिल्य की भावना को उसी छाया में समझने का प्रयास उपयुक्त होगा।

शाण्डिल्य का काल

भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य के काल का निर्णय करना अतिकठिन कार्य है। इस ग्रन्थ के आधुनिक सम्पादक विद्वानों[1] ने इसका काल ईसा की पाँचवीं शती से दसवीं अथवा बारहवीं शती के मध्यभाग में कहीं होने का निर्देश किया है। उपपत्ति दी गई है कि भक्तिचन्द्रिका [१।२।६, ७] के लेखानुसार रामानुजाचार्य द्वारा इन सूत्रों पर व्याख्या लिखे जाने से उसके काल [विक्रम की १२वीं शताब्दी; ११९० विक्रमी में देहान्त] से पूर्व सूत्रों का विद्यमान होना स्पष्ट होता है। सूत्रों में गीता और भागवत के संकेत उपलब्ध होते हैं, अतः इन ग्रन्थों की रचना के अनन्तर सूत्रों की रचना मानी जानी चाहिए। श्री बलदेव उपाध्याय ने स्पष्ट रूप में[2] इस काल को ईसा की पाँचवीं तथा बारहवीं शताब्दी के मध्य सीमित किया है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि गीता और भागवत की रचना का काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है। क्या यह मान्यता प्रामाणिक कही जा सकती है? हमारे विचार से काल की पूर्वसीमा का ऐसा लेख किन्हीं पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है।

---

१. देखें—भक्तिचन्द्रिका आदि संवलित 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' का सरस्वती-भवन ग्रन्थमाला (९) में प्रकाशित द्वितीय संस्करण, ईसवी सन् १९६७। भूमिका, पृ० २२ तथा ३२; श्री बलदेव उपाध्याय एवं श्री अनन्तशास्त्री फडके द्वारा लिखित।

२. वही ग्रन्थ, पृ० २१-२२।

श्री अनन्त शास्त्री फडके महोदय ने इसी ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है कि भक्तिसूत्रप्रणेता शाण्डिल्य वही है, जिसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् के वंशब्राह्मण [४।६।१] में हुआ है।[1] यदि इन दोनों विद्वानों के लेखों को मिलाकर देखा जाय, तो इसका यह तात्पर्य निकलता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् का रचनाकाल भी ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर माना जाना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार के लेख अर्थ को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसको आविल=धुँधला कर देने में अधिक सहायता देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् काण्वशाखा के शतपथ-ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। यह निश्चित है–ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन किसी भी प्रमाण के आधार पर ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर नहीं माना जा सकता। वह इस काल से अति प्राचीन है। इसके अनुसार भक्तिसूत्रप्रणेता शाण्डिल्य के काल की जो पूर्वसीमा श्री उपाध्याय जी ने निर्दिष्ट की है, वह चिन्त्य है।

भक्तिसूत्रप्रणेता शाण्डिल्य वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य है, इसपर विचार करना अपेक्षित है। वंशाध्याय काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड का भाग है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन कब हुआ, यद्यपि इसका निर्णयात्मक लेखा-जोखा कठिन है, पर विद्वानों के जो विचार इस विषय में अभी तक सामने आये हैं, उनके अनुसार कौरव-पाण्डव-युद्ध के पूर्व अथवा उसके आस-पास इनके प्रवचन का काल अनुमान किया गया है। यदि इस मान्यता को स्वीकार किया जाता है, तो इसका परिणाम यह होगा कि शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों की रचना महाभारत-युद्धकाल के पूर्व मानी जानी चाहिए। यदि यह प्रमाणित होता है, तो इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है! पर भक्तिसूत्रों की आन्तरिक परीक्षा करने पर कुछ समस्याएँ सामने आ जाती हैं, जिनका समाधान होना चाहिए—

(१) भक्तिचन्द्रिका के अनुसार शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रों का बीसवाँ सूत्र [१।२।११] विचारणीय है। इस सूत्र में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का नामोल्लेख है, जिन्होंने असाधारण रूप में भगवद्भक्तिविषयक आचरण किया। इस नामसूची में 'शुक' का भी नाम है, जो भारतयुद्ध तथा उसके समीप पूर्वोत्तरकालवर्त्ती कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास का पुत्र था। भारतीय परम्परा तथा पुराणेतिहास के अनुसार इस सूची के ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि अन्य नाम महाभारत-युद्ध से पर्याप्त पूर्व कालों में उत्पन्न हुए विशिष्ट व्यक्तियों के हैं। शुक का नाम यह प्रकट करता है कि भक्तिसूत्रों की रचना का काल महाभारत-युद्ध के अनन्तर माना जा सकता है। तब यह चिन्तनीय हो जाता है कि भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य, वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य है। काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण के वंशवर्णन में शाण्डिल्य नाम वंश के प्रारम्भिक भाग में बताया गया है, तथा इस वंशाध्याय में शाण्डिल्य नाम के दो

---

१. 'वंशाध्यायवर्णितः शाण्डिल्य एव सूत्रप्रणेता', वही ग्रन्थ, पृ० ३२।

व्यक्तियों का पृथक् उल्लेख है। इस वंशपरम्परा के अनुसार दूसरा शाण्डिल्य भी ब्राह्मण के प्रवचन-काल से कई पीढ़ी पूर्व हो चुका है। यह अनिश्चित होने पर कि दोनों में से कौन-सा शाण्डिल्य भक्तिसूत्रकार है, यदि अनन्तरवर्त्ती द्वितीय शाण्डिल्य को भक्तिसूत्रों का रचयिता मान लिया जाय, तो भी उक्त सूत्र में 'शुक' के नामोल्लेख की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन महाभारत-युद्धकाल के अनन्तर का नहीं है। यदि महाभारत-युद्धकाल के आस-पास ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचनकाल माना जाता है, तो भी उस काल से कई पीढ़ी पूर्व होनेवाले शाण्डिल्य की रचना में 'शुक' का नाम आना चिन्त्य है। फलतः भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य, वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य नहीं माना जाना चाहिए।

(२) भक्तिसूत्रों में बादरायण का उल्लेख दो सूत्रों [२।१।४।। ३।१।७] में हुआ है। कतिपय[1] आधुनिक विद्वान् ब्रह्मसूत्रकार बादरायण आचार्य का काल बुद्ध-प्रादुर्भावकाल के अनन्तर मानते हैं। इस दृष्टि से वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य को भक्तिसूत्रों का रचयिता नहीं माना जा सकता; क्योंकि बादरायण के तथा-कथित प्रादुर्भाव-काल के बहुत पूर्व वह शाण्डिल्य हो चुका था; उसकी रचना में बादरायण का उल्लेख असम्भव होता।

यदि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का अपर नाम बादरायण है, और वही ब्रह्मसूत्रों का रचयिता है, जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम उपपादन किया गया है, तो भी बादरायण—तथा ब्रह्मसूत्रों की रचना—का काल महाभारतयुद्ध के आस-पास माना जा सकता है, जिसकी अपेक्षा वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य पर्याप्त प्राचीन है। फलतः बादरायण का उल्लेख करने के कारण वह शाण्डिल्य भक्तिसूत्रों का रचयिता नहीं माना जाना चाहिए।

(३) भक्तिसूत्र के द्वितीयाध्याय प्रथमाह्निक के सत्रहवें सूत्र से आह्निक की समाप्ति तक परमेश्वरभक्तिविषयक जो भावना अभिव्यक्त हुई है, और उसमें 'वासुदेव' का जो स्तर उपपादित किया गया है, उसका अस्तित्व महाभारत-युद्ध-काल के साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। वासुदेवविषयक ऐसी भावना जो वर्त्तमान पौराणिक साहित्य में उपलब्ध है, उसका प्रादुर्भाव महाभारत-युद्धकाल के कई शती अनन्तर हो पाया, ऐसी सम्भावना में किसी प्रकार की बाधा की आशंका नहीं है।

यद्यपि महाभारत के गीताभाग में तथा अन्यत्र भी ऐसे संदिग्ध संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर महाभारत-युद्धकाल में वासुदेव के परमेश्वररूप माने जाने की भावनाओं का अस्तित्व कहा जा सकता है, परन्तु महाभारत के उन

---

१. देखें—डॉ० रामकृष्ण आचार्य की रचना 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २०-२१।

उल्लेखों तथा विशेषरूप से गीता के अंशों का गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने से स्पष्ट होता है—वासुदेव-विषयक वैसे वर्णनों का तात्पर्य उसे केवल महायोगीश्वर बताने में है; क्योंकि गीता में असंदिग्ध रूप से उत्तम ईश्वर पुरुष को परमात्मारूप में बताया है, जिसको जीवात्मपुरुष से अन्य माना गया है।[1] वृष्णिवंश में प्रादुर्भूत वासुदेव महाभारत-युद्धकाल के समय केवल जीवात्म-पुरुष महायोगीश्वर हैं, साक्षात् परमात्मा नहीं। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रों में वर्णित 'वासुदेव' का परमात्मरूप यह स्पष्ट करता है कि वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य इन सूत्रों का रचयिता नहीं हो सकता, जिसका काल वासुदेव के प्रादुर्भावकाल से पर्याप्त पहले रहा; वासुदेव के परमात्मरूप की कल्पना तो महाभारत-युद्ध के सदियों अनन्तर की है।

(४) भक्तिसूत्र के सम्पादक महानुभावों ने ग्रन्थ की भूमिका में स्वीकार किया है कि इन सूत्रों में गीता का निर्देश और भागवत का स्पष्ट संकेत है।[2] इसलिए भक्तिसूत्रों की रचना गीता और भागवत की रचना के अनन्तर मानी जा सकती है।

वस्तुतः गीता की रचना के विषय में अधिक विवाद नहीं है; अनेक विद्वानों ने[3] इसकी रचना के काल का निर्णय करने के लिए प्रयास किया है। उस सबका बाधारहित अन्तिम परिणाम यही है कि गीता की रचना मूलमहाभारत के साथ कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा की गई मानी जानी चाहिए। विवेचन की प्रक्रिया में थोड़ा-बहुत अन्तर होने से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु भागवत की रचना का काल अधिक सन्दिग्ध है। कहा यह जाता है कि भागवत महाभारत-युद्धकालिक कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का रचित है। परन्तु महाभारत और भागवत में वासुदेव का जो स्वरूप व कार्यकलाप वर्णित है, उसमें परस्पर महान् अन्तर है। वासुदेवविषयक निरूपण की परिस्थिति यह स्पष्ट करती है कि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता कोई एक व्यक्ति सम्भव नहीं। भागवत के अन्य अनेक प्रसंग[4] इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक हैं कि यह ग्रन्थ वेदव्यास—

---

१. देखें—गीता, १५।१६-१७ तथा १८।६१-६२॥

२. भक्तिसूत्र भूमिका, पृ० २१-२२ तथा ३२॥

३. चिन्तामणि विनायक वैद्य, तथा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक आदि।

४. भागवत के प्रारम्भिक प्रथम अध्याय में कलियुग के घोरतर होने का वर्णन किया गया है। निश्चित ही ऐसा काल कलि के प्रारम्भ का सम्भव नहीं। पुराणों की भावना के अनुसार कलि का पर्याप्त भाग व्यतीत हो जाने पर यह अवसर आया। पुराणों [वायु० ४।२४।११२] में स्पष्ट उल्लेख है कि नन्दों के शासनकाल के अनन्तर कलि का प्रभाव बढ़ेगा। यह समय महा-

अथवा वदव्यास के काल—की रचना नहीं है।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रों में भक्तिस्वरूप की जो भावना अभिव्यक्त हुई है, वह पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के साथ बहुत समानता रखती है। वे भावनाएँ पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के मान्यग्रन्थ अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि में देखी जा सकती हैं। पाञ्चरात्र एक वैष्णव सम्प्रदाय है; इस सम्प्रदाय का जो वर्तमान रूप उपलब्ध है, इसके उद्भवकाल के अनन्तर भागवत एवं भक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों की रचना हुई हो, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। यह काल कौन-सा रहा होगा, यह निर्धारण करना कठिन है, और अप्रासंगिक भी। पर इतना कहा जा सकता है कि यह समय महाभारत-युद्ध के पर्याप्त अनन्तर आया है। ऐसी स्थिति में वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य को प्रस्तुत भक्तिसूत्रों का प्रणेता नहीं माना जा सकता।

निस्सन्देह इस नाम के अनेक व्यक्ति विभिन्न कालों में होते रहे हैं, यह प्राचीन साहित्य के आधार पर विदित है। वंशाध्यायवर्णित शाण्डिल्य अतिप्राचीन हैं; उस वर्णन में शाण्डिल्य नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख है। महाभारत-युद्धकाल के आस-पास इस नाम के कोई विशिष्ट व्यक्ति रहे, ऐसा महाभारत ग्रन्थ के आधार पर ज्ञात होता है।[1] भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य महाभारत-युद्धकाल के पर्याप्त अर्वाचीन हैं। अनुमानतः यह काल अब से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व के आस-पास माना जा सकता है। सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर यदि इसमें कुछ विपर्यास सम्भव हो, तो उसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है!

हमारे इस अनुमान में भागवत पुराण का प्रारम्भिक कलिवर्णन एक सन्तोष-कर उपोद्वलक कहा जा सकता है। वहाँ कहा गया है—अधर्म के साथी कलि ने अब इस पृथिवी को पीड़ित किया हुआ है; सत्य, तप, दया, दान का अस्तित्व नहीं रहा; छली, कपटी, उदरम्भरी लोगों का बाहुल्य हो गया है। यवनों—विधर्मी म्लेच्छों ने नदीतटवर्त्ती आश्रमों व तीर्थों को आ घेरा है, देवस्थानों को प्रायः नष्ट कर दिया है। कलिरूप दावानल से समस्त सत्कर्मों के साधन भस्म हो हो चुके हैं;[2] इत्यादि लेखों से स्पष्ट होता है कि यह वर्णन कलि-काल के उद्दाम-

---

भारत-युद्धकाल के लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष अनन्तर आता है। भागवत का प्रारम्भिक कलिवर्णन उसी को लक्ष्य कर किया गया है। वह अथवा उसके अनन्तर का काल भागवत की रचना का हो सकता है।

१. महाभारत, सभा० ४।१७॥ शान्ति० ४७।६॥ अनुशा० ६५।१६; १३७।२२॥

२. नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनःसन्तोषकारकम्।
कलिनाऽधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताधुना॥३०॥
सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते।
उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः॥३१॥

रूप में प्रकट होने पर किया गया है, जैसे लेखक साक्षात् उसका अनुभव कर चुका हो।

पुराणों की साधारण भावना के अनुसार कलि का उग्ररूप-धारण प्रारम्भ करना नन्दराजाओं के शासन के अनन्तर बताया गया है।[1] नन्दों के शासन का काल पुराणवर्णित राजवंश-परम्परा के अनुसार महाभारत-युद्धकाल के लगभग पन्द्रह सौ, सोलह सौ वर्ष बाद आता है। इससे भी आगे और कुछ शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर ऐसे काल की सम्भावना है, जिसका सामञ्जस्य भागवतवर्णन के साथ हो सके। भागवत में यवनों के आक्रमण का संकेत है। काल के अनुमान में इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

भागवत का कलिवर्णन नारदमुख द्वारा कराया गया है। नारद घूमते हुए जब वृन्दावन आता है तो उसने यमुना-तट पर रोती हुई एक बाला को देखा। उसके समीप, जराजीर्ण दो व्यक्ति मृतप्राय पड़े थे। नारद ने पूछा—'तुम कौन हो, और ये दो व्यक्ति कौन पड़े हैं?' बाला ने उत्तर दिया—'मैं भक्ति हूँ, तथा ये दोनों ज्ञान व वैराग्य हैं। मेरी सर्वत्र दुर्गत की जा रही है, इसी से यह दशा है।' भागवत भक्तिप्रधान महाकाव्य है; यह अनायास सम्भव है कि समाज की तात्कालिक उस दुर्दशा को देखकर कुछ लोककर्त्ता महापुरुषों ने उस समय समाज के अभ्युदय की भावना से भक्तिप्रधान साहित्य का सर्जन किया हो। भागवत और शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र की रचना में पूर्वापर का कितना अन्तर रहा हो, इसका विवेचन निष्फल है; सम्भव है, दोनों रचनाएँ पूर्वापर-समकालिक हों। हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि इस प्रकार के मूलभूत साहित्य का सर्जनकाल महाभारत-युद्धकाल के अनन्तर दो और तीन सहस्र वर्षों के अन्तराल में अनुमानित किया जा सकता है। फलतः ब्राह्मणवर्णित शाण्डिल्य, भक्तिसूत्रों का प्रणेता माना जांना सम्भव नहीं।

इस विषय में यहाँ दो बातें और कह देना उपयुक्त है—प्रथम यह कि जिस सूत्र [भ० सू० १।२।११] के आधार पर शाण्डिल्य-कालविषयक यह विवेचन प्रस्तुत किया है, वह सूत्र स्वप्नेश्वर के भाष्य के अनुसार नहीं है। नारायणतीर्थ-रचित भक्तिचन्द्रिका से स्वप्नेश्वर का भाष्य पूर्वकालिक है। स्वप्नेश्वर-भाष्य में

आश्रमा यवनैरुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः ॥३४॥

न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥३५॥

१. **तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति।**
[विष्णु पु० ४।२४।११२]

सूत्र के न होने का जहाँ यह कारण कहा जा सकता है कि अनन्तरकाल में इस सूत्र का प्रक्षेप किया गया हो, वहाँ यह भी सम्भव है कि स्वप्नेश्वर को प्राप्त प्रति में लेखकप्रमाद से सूत्र लिखने में छूट गया हो। स्वप्नेश्वर-भाष्य में स्वीकृत कतिपय सूत्र, भक्तिचन्द्रिका में नहीं हैं।[1] इससे लेखकप्रमाद की कल्पना की जा सकती है।

दूसरी बात यह है, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र के वाराणसी-संस्करण के सम्पादक महानुभावों ने जिन सूत्रों में 'गीता' का स्पष्ट और भागवत का अस्पष्ट उल्लेख बताया है,[2] वह अधिक पुष्ट नहीं है। पहला सूत्र है–**'सैकान्तभावे गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्'** [२।२।२८]; इस सूत्र में 'गीता' और 'गीत' दोनों पदच्छेद सम्भव हैं। भक्तिचन्द्रिका में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–**"गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्–गीतार्थस्य 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'** [छा० २।२३।१] **इत्यादिना कथितार्थस्य गीतायाम्—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः···** [५।१७]**' इत्यादिना प्रत्यभिज्ञानात्।"** इस व्याख्या के अनुसार सूत्र में 'गीत' पद 'कथित' अर्थ में प्रयुक्त है। वह कथित अर्थ उपनिषद्-वाक्य द्वारा व्याख्याकार ने प्रकट किया है। उसके प्रत्यभिज्ञान में गीता का प्रमाण दिया है, जो अतिरिक्त है। सूत्रपठित पद 'गीता' न होकर 'गीत' है। यह व्याख्याकार की भावना प्रकट होती है। उपनिषद् द्वारा कथित अर्थ का प्रत्यभिज्ञान गीता के समान अन्य ग्रन्थ द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

इसी प्रकार अगले सूत्र [**परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह**] में—जहाँ 'तथा ह्याह' पदों से भागवत का अस्पष्ट संकेत माना गया है—भाष्यकार स्वप्नेश्वर ने उक्त पदों से केवल गीता और महाभारत के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जबकि भक्तिचन्द्रिका में गीता और भागवत दोनों के हैं। हमारा केवल इतना तात्पर्य है कि इस प्रकार के निर्देश किसी ग्रन्थविशेष के पूर्वापर-निर्णय में सुपुष्ट प्रमाण नहीं कहे जा सकते। ऐसे निर्देश किन्हीं भी उन पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के संकेत माने जा सकते हैं, जहाँ उस विषय का वर्णन किया गया हो।

भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य का पूर्वोक्त अनुमित-काल ऐसा अवसर है, जब बादरायणसूत्रों के विषय में यह उद्भावना जाग्रत हो चुकी हो कि ये सूत्र अभेद का प्रतिपादन करते हैं, पर भक्तिसूत्रों में कोई ऐसा संकेत न होने पर भी केवल टीकाकारों ने भक्तिसूत्र-पदों की व्याख्या उस प्रकार की है, जिसका विवेचन गत पंक्तियों में किया गया। उसी आधार को लेकर भक्तिसूत्रों में काश्यप और बादरायण के मतों का उल्लेख हुआ है। अब प्रसंगानुसार काश्यप के काल का

---

१. देखें—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, भक्तिचन्द्रिका संवलित, वाराणसी संस्करण, परिशिष्ट के पृ० १३ पर १६वाँ सूत्र।

२. वही ग्रन्थ, भूमिका-भाग, पृ० २१ तथा ३२॥

विवेचन कर लेना उपयुक्त होगा। इससे इस तथ्य पर प्रकाश पड़ेगा कि बादरायण के साथ दूसरे मत का काश्यप के नाम से उल्लेख क्यों हुआ।

काश्यप मुनि का काल

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रों में काश्यप के प्रदर्शित मत से उसका भेदवादी होना स्पष्ट है। काश्यप के प्रादुर्भाव-काल के विषय में जानकारी के लिए साहित्यवर्णित कतिपय प्राचीन संकेतों के अनुसार अनुमान का आश्रय लिया जा सकता है। महाभारत[1] में इस नाम के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख उपलब्ध होता है—

(१) महाभारत के आदिपर्व [१२३।३१] में एक काश्यप का उल्लेख है, जो वसुदेव के पुरोहित थे। सम्भवतः इसी काश्यप ने पाण्डवों के चूडाकरणपर्यन्त समस्त संस्कार सम्पन्न कराये थे, तथा पाण्डु की मृत्यु पर उसका अन्त्येष्टि भी इसी ने कराया [म० भा०, आदि० १२४।३१]। वनवासकाल के अवसर पर एक बार युधिष्ठिर इनके आश्रम में आए थे; काश्यप ने उस समय युधिष्ठिर का उचित आदर-सत्कार किया था [वन० २६।२३]।

(२) अनुशासन पर्व में एक और काश्यप का उल्लेख है, जो कृष्ण के द्वादश-वार्षिक व्रताचरण के अवसर पर अन्य ऋषियों के समान उन्हें देखने के लिए आये थे।[2] यह कहना कठिन है कि यह काश्यप वही व्यक्ति था, जो वसुदेव का पुरोहित तथा पाण्डव आदि का संस्कारकर्त्ता है, अथवा उससे अतिरिक्त। अधिक सम्भव है कि वही हो।

(३) सर्पदंश से पीड़ित परीक्षित के प्राण बचाने के लिए आनेवाले एक काश्यप नामक ब्राह्मण का उल्लेख महाभारत [आदि० ४२।३३–४३।२०] में आता है। मार्ग में आते हुए इसकी भेंट तक्षक से हो गई। बातचीत में तक्षक को उसके उद्देश्य का पता लगा। वह अपने विद्याबल से विषादि द्वारा उपहत व्यक्ति को पुनः जीवित कर देने की क्षमता रखता था। परीक्षारूप में तक्षक के डँसने से सूखे वृक्ष को इसने पुनः हरा कर दिया था। तक्षक ने यह समझकर कि यह विद्वान्

---

१. देखें—म० भा० १३।१३९।११॥ आदिपर्व, अध्याय ३३–५०॥ तथा आदि० १२३।३१ के अनन्तर दाक्षिणात्य पाठ, एवं १२४।३१ के अनन्तर दाक्षिणात्य पाठ॥ वन० २६।२३॥ आश्व० अ० १६ श्लो० १९ से अ० १९ श्लो० ५३ तक॥

२. म० भा० अनुशासन पर्व, अ० १३९ का प्रसंग है—

व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्।
दीक्षितं चागतौ द्रष्टुमुभौ नारदपर्वतौ॥१०॥
कृष्णद्वैपायनश्चैव धौम्यश्च जपतां वरः।
देवलः काश्यपश्चैव हस्तिकाश्यप एव च॥११॥

ब्राह्मण परीक्षित को अवश्य जीवित कर सकेगा, उससे पूछा, तुम क्यों उसे जीवित करना चाहते हो ? ब्राह्मण ने उत्तर दिया, मैं धनार्थी हूँ, उसे जीवित कर देने पर मुझे अभिलषित धन की प्राप्ति होगी। तक्षक बोला, यदि यही बात है, तो तुम मुझसे और अधिक धन लेकर वापस हो जाओ। उसने ऐसा ही किया।

इस कथानक का स्वरूप स्पष्ट करता है कि यह काश्यप नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति संख्या-१, २ पर वर्णित काश्यप नहीं होना चाहिए। इस व्यक्ति के लिए महाभारत के उक्त प्रसंग में द्विजसत्तम, महात्मा, विद्वान्, मुनिपुङ्गव, मुनिवर आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। यही कथा-प्रसंग थोड़ा आगे[1] भी वर्णित है। वहाँ इसे ब्रह्मर्षि भी लिखा है। इससे प्रतीत होता है, यह उत्कट विद्वान् मननशील निर्धन ब्राह्मण रहा होगा। यह स्थिति पूर्ववर्णित काश्यप के विषय में सम्भावना नहीं की जा सकती। वह वसुदेव तथा पाण्डवों का सम्माननीय पुरोहित व दीक्षा-गुरु था; उसके लिए उक्तरूप में धनार्थी होने का प्रश्न नहीं उठता।

(४) महाभारत तथा अन्य पुराणों में काश्यप कण्व का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। मालिनी नदी के तट पर इसका एक सुविशाल आश्रम था, जहाँ इतिहास-प्रसिद्ध शकुन्तला का पालन-पोषण हुआ।[2] कण्व का काश्यप गोत्रनाम था; इनके पिता का नाम मेधातिथि लिखा है।[3] यह माने जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि 'काश्यप' नाम के जितने व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, उन सबका यह गोत्रनाम रहा हो। उनके वास्तविक सांस्कारिक नामों का पता लगना सरल नहीं। पर कण्व के उदाहरण से यह पूर्णतया सम्भव है कि 'काश्यप' इस गोत्रनाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों के अपने अन्य सांस्कारिक नाम अवश्य रहे होंगे।

काश्यप कण्व दुष्यन्त-काल में विद्यमान था। पौरव वंश की परम्परा में दुष्यन्त से पन्द्रह-सोलह पीढ़ी के अनन्तर कौरव-पाण्डव हुए। इतने दीर्घकाल पूर्व हुए काश्यप-कण्व का भारत-युद्धकाल में विद्यमान होना सम्भव नहीं माना जा सकता। इसलिए महाभारत-युद्धकालिक काश्यप अवश्य कोई अन्य व्यक्ति रहे होंगे।

(५) महाभारत के आश्वमेधिक[4] पर्व में काश्यप और सिद्ध महर्षि के संवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह प्रसंग सोलहवें अध्याय से प्रारम्भ हुआ है। इन अध्यायों को 'अनुगीतापर्व' नाम दिया गया है। प्रारम्भ में जनमेजय पूछता

१. म० भा०, आदि० ५०।१६–२७॥
२. द्रष्टव्य—म० भा०, आदि० ७०॥
३. वही ग्रन्थ, १३।१५०।३१; तथा १६५।३८॥
४. द्रष्टव्य—अध्याय १६ श्लोक १६ से अ० ५३ तक।

है कि शत्रुओं का नाश करने के अनन्तर सभास्थान में रहते हुए केशव और अर्जुन की परस्पर क्या कथावार्त्ता होती रहीं ? वैशम्पायन उत्तर देता है—उस समय अर्जुन ने कृष्ण से कहा कि संग्राम प्रारम्भ होने के अवसर पर आपने मुझे जो उपदेश दिया था, वह सब मुझे विस्मृत हो गया है, आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं, मुझे फिर वह उपदेश सुनने की बड़ी उत्सुकता है।

अर्जुन की यह बात सुनकर कृष्ण ने पहले उसे बहुत फटकारा, और कहा कि अब यह मेरे लिए भी कठिन है कि मैं उस सब उपदेश को पूर्णरूप में कह सकूँ; पर उसी विषय में तुम्हारे सन्मुख मैं एक पुरातन इतिहास का वर्णन करूँगा।[1] वह पुरातन इतिहास काश्यप और सिद्ध महर्षि का परस्पर-संवाद है। यह संवाद कृष्ण को पहले किसी ब्राह्मण ने सुनाया था, उसी को इस प्रसंग में कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

इस संवाद में काश्यप कुछ जिज्ञासा लेकर सिद्ध महर्षि के पास जाता है; सिद्ध ने उन जिज्ञासाओं का समाधान किया। ये सब जिज्ञासाएँ अध्यात्मविषयक हैं। सिद्ध महर्षि ने प्रथम शिष्यरूप में स्वीकार करते हुए काश्यप की प्रशंसा की,[1] पुनः उन जिज्ञासाओं का सन्तोषजनक समाधान किया। इस संवाद में जो अर्थ-तत्त्व प्रस्तुत किये गये हैं, वे सांख्य-योगतन्त्र पर आधारित हैं,—ऐसा इस प्रसंग के अध्ययन से स्पष्ट होता है। इसमें प्रधान, प्रकृति, त्रिगुण, त्रिगुणमिथुन आदि का उल्लेख है। आत्मा को अगुण और गुणों का भोक्ता बताया है।[2] परमात्मा और जीवात्मा को उपास्य-उपासक के रूप में वर्णित किया गया ज्ञात होता है।[3]

महाभारत के इस समस्त प्रसंग से निम्नलिखित परिणाम स्पष्ट होते हैं—

(क) सिद्ध महर्षि के साथ संवाद करनेवाला काश्यप महाभारतयुद्ध तथा कृष्ण से प्राचीन है।

(ख) संवाद करनेवालों के विषय में संवाद-प्रस्तुत अर्थतत्त्व स्पष्ट करता है कि ये आचार्य आत्मा तथा परमात्मा में भेद माननेवाले थे।

---

१. अबुद्धया नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥१०॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥११॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥१३॥
[आश्व०, अ० १६]

२. द्रष्टव्य—म० भा०, आश्व० १८।२६-२७॥ तथा १६।११॥

३. द्रष्टव्य—वही, १६।१७–२६॥

(ग) उनका संवाद सांख्य-योगतन्त्र पर आधारित प्रतीत होता है।

इस विवेचन के अनुसार यह परिणाम प्रकट किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में स्मृत काश्यप यही आचार्य होगा। अन्य वर्णित काश्यप नाम के व्यक्तियों के विषय में उन भावनाओं का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, जिनका उल्लेख शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्रों में किया है। अपने काल में यह काश्यप अवश्य अध्यात्म की आर्षपरम्परा का एक विशिष्ट आचार्य रहा होगा। इसके संकेत महाभारत और शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र से स्पष्ट होते हैं।

श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज[1] ने काश्यप के विषय में विचार प्रकट किया है—

"महाभारत [१२।३१८।५५] में जिन आचार्यों ने गन्धर्व विश्वावसु को पञ्चविंशति तत्त्वों के अथवा पुरुष के रूप के विषय में उपदेश दिया था, उनमें काश्यप[2] का नाम भी आता है। प्राचीन साहित्य का अनुसन्धान करने से ग्रन्थकाररूप में और भी दो-तीन काश्यपों का पता चलता है। इनमें एक आचार्य, संगीत तथा अलङ्कारशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की टीका में इनके मत का प्रसंगतः उल्लेख किया है। हृदयङ्गमा नामक ग्रन्थ में काश्यप वररुचि प्रभृति के लक्षणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी के मत में काश्यप ने सम्पूर्ण नाटचशास्त्र का अवलम्बन करके ही ये ग्रन्थ बनाये थे, जिनमें संगीत और अलङ्कार दोनों विषयों का वर्णन है। राजा नान्यदेव ने स्वनिर्मित सरस्वतीहृदयालङ्कार नामक नाट्यशास्त्रटीका में स्थल-स्थल पर काश्यप का उल्लेख किया है। और भी एक काश्यप का उल्लेख नान्यदेव के उक्त ग्रन्थ में ही मिलता है। प्रथम काश्यप से इनमें पार्थक्य या भेद-ज्ञापन के लिए बृहत्काश्यप नाम से इनका उल्लेख किया गया है। एक और तीसरे काश्यप का

---

१. द्रष्टव्य—अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी से प्रकाशित हिन्दी भाषानुवाद सहित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य की श्री कविराज गोपीनाथ लिखित भूमिका, पृ० ६-७ की टिप्पणी।

२. महाभारत के इस प्रसंग की उपदेष्टा ऋषियों की सूची में 'काश्यप' नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। स्वयं विश्वावसु के पिता का नाम कश्यप तथा माता का नाम 'प्राधा' महाभारत [१।६५।४७] में आता है। इस प्रसंग में कश्यप का पुत्र होने के कारण विश्वावसु के लिए 'काश्यप' पद सम्बुद्धिरूप में प्रयुक्त हुआ है [१२।३१८।५५,७६]। इसी के आगे एक श्लोक [१२।३१८।६२] में विश्वावसु स्वयं अपने पिता कश्यप से आन्वीक्षकी विद्या अथवा सांख्य-योगविद्या के सुनने का उल्लेख कर रहा है—**'कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम्'**। इसी प्रसंग में उसने कतिपय ऋषियों की सूची दी है, जिनके द्वारा वह उक्त विद्या की जानकारी प्राप्त कर सका।

पता चलता है जिन्होंने चित्रविद्या के ऊपर एक ग्रन्थ बनाया था। शाण्डिल्य-सूत्र में जिस काश्यप का नाम आता है, वह महाभारतोक्त काश्यप तथा इन तीन काश्यपों में से किसी से अभिन्न है या नहीं, इसका निश्चय करना कठिन है।"

काश्यपविषयक उपर्युक्त विवेचन में हमने यह समझने का प्रयास किया है कि शाण्डिल्यसूत्र में जिस काश्यप का नाम तथा उसका मत दिखाया गया है, वह कौन-सा काश्यप होना चाहिए।

सप्तम अध्याय

ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य द्वैत अथवा अद्वैत में

अध्यात्म की प्राचीन आर्षपरम्परा में ब्रह्म का निर्बाध अस्तित्व स्वीकार किया गया है, यह निश्चित है। वही परम्परा ब्रह्मसूत्रों में ग्रथित हुई है। यह विवेचन अपेक्षित है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का स्वीकार किया जाना आर्ष परम्परा में मान्य रहा है, अथवा नहीं ? यदि मान्य रहा है, तो उसे किस रूप में माना जाता रहा है ? इस विवेचन के लिए साहित्यिक आधार हमारे सामने वेद तथा उपनिषद् आदि हैं। उन्हीं में वर्णित विचारों एवं तत्त्वों का उपपादन ब्रह्मसूत्रों में हुआ है। एक प्रकार से इस अर्थ को प्रकाश में लाने के लिए सूत्रों को इसकी कुञ्जी कहना अनुपयुक्त न होगा। इस अर्थ को लक्ष्य कर सूत्रों की आन्तरिक परीक्षा करनी चाहिए; अनन्तर जो परिणाम सन्मुख आवे, देखना चाहिए कि वेद एवं उपनिषद् आदि के साथ उसका कहाँ तक सामञ्जस्य है।

द्वैत का अभिप्राय है—ब्रह्म की नित्य सत्ता के अतिरिक्त कर्त्ता-भोक्ता जीवात्मा एवं इस जगत् के उपादान-तत्त्व भोज्य-प्रकृति का स्वीकार किया जाना। ब्रह्म के समान ये दोनों तत्त्व अनादि-अनन्त हैं। अथवा, चेतन-अचेतन रूप में दो प्रकार के स्वतन्त्र तत्त्वों का माना जाना द्वैत है। चेतन में ब्रह्म और जीवात्मा का समावेश है, अचेतन में प्रकृति एवं उसके समस्त विकारों का। इसके विपरीत आचार्य शंकर के अनुसार अद्वैत का तात्पर्य है–एकमात्र ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त जीवात्मा एवं प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार न किया जाना। जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अथवा आभास है, उसका स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व नहीं। जगत् का उपादान-कारण भी ब्रह्म है, वही इस जगत् के रूप में भासता है, इसलिए प्रकृति नाम का कोई स्वतन्त्र अन्य तत्त्व नहीं है।

जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न

प्रथम यह विचार प्रस्तुत किया जाता है कि जीवात्मा की स्वतन्त्र नित्य

सत्ता है, अथवा वह ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है ? इस विषय में सूत्रकार का दृष्टिकोण क्या है ? यह देखना चाहिए।

ब्रह्मसूत्रों के प्रारम्भिक भाग [१।१।१२–१६] में ब्रह्म के आनन्दस्वरूप होने का विवेचन है। यह विवेचन मुख्यरूप से तैत्तिरीय उपनिषद् के कतिपय सन्दर्भों पर आधारित है; उस विषय के अन्य औपनिषद सन्दर्भों का भी आश्रय लिया गया है। इस प्रसंग में शिष्य आशंका करता है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के वर्णन के अनुसार, जीवात्मा को आनन्द-स्वरूप क्यों न माना जाय ? वह चेतनस्वरूप है, तथा उपनिषद् का पञ्चकोश-वर्णन जीवात्मा की अवस्थाओं को बताने के लिए है; आनन्दमय कोश भी जीवात्मा की एक अवस्था सम्भव है। तब उपनिषद् में 'आनन्दमय' पद से जीवात्मा का वर्णन क्यों न माना जाय ? सूत्रकार आचार्य ने इस आशंका का समाधान दो सूत्रों [१६, १७] द्वारा किया है। पहला सूत्र है—

नेतरोऽनुपपत्तेः।

ब्रह्म से इतर, अन्य जीवात्मा 'आनन्दमय' पद से उपनिषद् में वर्णित नहीं है; क्योंकि उपपत्ति-युक्ति द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यहाँ स्पष्ट ही सूत्रकार ने आनन्दमय ब्रह्म से जीवात्मा को 'इतर=अन्य' बताया है। अगला सूत्र—

भेदव्यपदेशाच्च।

इस तथ्य को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है। जीवात्मा तथा आनन्दमय ब्रह्म का उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में स्पष्ट भेदकथन है।

आनन्दमय का प्रस्ताव कर उपनिषद् [तै० २।७] में कहा–**'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'**। वह आनन्दमय 'रस' है, असीम आनन्द का आश्रय एवं स्रोत है, उस 'रस' को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है। यहाँ जीवात्मा और आनन्दमय ब्रह्म को स्पष्ट रूप से परस्पर भिन्न बताया गया है। जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है। लाभ करनेवाला स्वयं लब्धव्य कभी नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि जीवात्मा आनन्दमय होता, और इस प्रकार वह ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न माना जाता, तो उसे आनन्द का लाभ करने की आवश्यकता ही न होती। ब्रह्म को आनन्द का देनेवाला बताया है— **'एष ह्येवानन्दयाति'** [तै० २।७]। जो स्वतः आनन्दस्वरूप है, वही अन्य को आनन्द दे सकता है। आनन्द का देनेवाला ब्रह्म आनन्दमय अथवा आनन्दस्वरूप है; जीवात्मा तो ब्रह्म का साक्षात्कार कर उसको प्राप्त हो, उसके एक अंशमात्र का उपभोग कर पाता है। यह स्थिति जीवात्मा और ब्रह्म के भेद को सिद्ध

करती है ।[1]

सूत्रकार ने केवल यहीं नहीं, प्रत्युत आगे अनेक स्थलों[2] में भी इसी अर्थ का उपपादन किया और इसी मान्यता को स्वीकार किया है। आचार्य शंकर ने उन सभी स्थलों में स्वयं भेदपरक अर्थ कर जीवात्मा और ब्रह्म के भेद को स्वीकार किया है। पर आचार्य यह कहना कहीं नहीं भूला कि यह भेद अविद्याकृत है। यह आश्चर्य है कि समस्त ब्रह्मसूत्रों में इसका कहीं संकेत तक नहीं मिलता कि जीवात्मा और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है। स्पष्ट है, यह कथन सर्वथा उत्सूत्र एवं आचार्य का निजकल्पनाप्रसूत है। सूत्रकार इस तथ्य को जानता है कि अविद्या, चेतन सर्वज्ञ ब्रह्म में किसी प्रकार भेद को उपस्थित नहीं कर सकती। अविद्या ब्रह्म पर प्रभावी हो जाय, यह सर्वथा असम्भव है।

पूर्वोक्त स्थलों के अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में जीवात्मा के नित्य व चेतन होने का उल्लेख कर उसके उत्क्रमण और कर्तृत्व आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। आगे [२।३।४३] जीवात्मा और ब्रह्म के उपकार्य-उपकारकभाव को स्वयं आचार्य शंकर ने स्वीकार किया है, तथा अंशांशिभाव की कल्पना में **'अंश इवांशः'** कहकर स्पष्ट कर दिया है कि जीवात्मा यथार्थरूप में ब्रह्म का अंश अथवा प्रतिविम्बमात्र नहीं है। अनन्तर सूत्रकार द्वारा अनुज्ञा-परिहार आदि के वर्णन [२।३।४८] से जीवात्मा और ब्रह्म का स्पष्ट भेद निरूपित किया गया है।

जीवात्मा ब्रह्म का आभास नहीं

ब्रह्मसूत्रों के इस प्रकरण [२।३।४३–५३] के अन्तर्गत **'आभास एव च'** [२।३।५०] सूत्र के आधार पर यह कहा जाता है कि सूत्रकार ने यहाँ जीवात्मा को ब्रह्म का आभास बताया है। ऐसी स्थिति में जहाँ कहीं अन्यत्र सूत्रकार ने आत्मा और ब्रह्म के भेद का उल्लेख किया है, उस भेद को अविद्याकृत मानने का आधार मिल जाता है।

यद्यपि आपाततः उक्त कथन युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु समस्त प्रकरण का गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उक्त कथन ऐसा ही है, जैसे कोई **'श्राद्धे शरदः'** [४।३।१२] इस पाणिनि-सूत्र के आधार पर कहने

---

१. आचार्य शंकर ने भी इन सूत्रों का इसी रूप में अर्थ किया है। आचार्य कहता है—**'इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः'** [१६]। **'यस्मादानन्दमयाधिकारे.........जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति'** [१७]।

२. देखें—सूत्र १।२।३-४।। १।३।४-५।। २।१।२२।। २।३।१७-१८।। २।३।४६।। ४।४।१७, इत्यादि।

लगे कि शरद् ऋतु में श्राद्ध करना पाणिनि ने बताया है। वस्तुतः उक्त सूत्र के द्वारा जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में आपत्ति दी गई है। प्रथम सूत्र [४६] में प्रसंग है कि जीवात्मा और ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना में यदि इनका अभेद आधार है, तो जीवात्माओं द्वारा किये कर्मों का एक-दूसरे के साथ सांकर्य क्यों नहीं हो जाता ? सूत्रकार ने इसका समाधान पहले सूत्र [२।३।४६] से किया—**'असन्ततेश्चाव्यतिकरः'**—जीवात्माओं का सर्वत्र फैलाव न होने से [असन्ततेः] उनके कर्म तथा कर्मफलों का सांकर्य नहीं [अव्यतिकरः] होता।

शिष्य की जिज्ञासा का तात्पर्य है—जीव और ब्रह्म का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उनके फलोपभोग की यह व्यवस्था नहीं की जा सकती कि उस कर्म और फल का सम्बन्ध उसी जीवात्मा से है; क्योंकि वे सब अभेदरूप से एक ब्रह्म हैं। भिन्न अन्तःकरणों के आधार पर इस अव्यवस्था या सांकर्य का समाधान नहीं हो पाता। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह बराबर गतिशील रहता है, अन्तःकरण उसके साथ देशान्तर में जाता है; परन्तु ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। कर्त्ता या भोक्ता चेतन तत्त्व जीवात्मा है,—यह सूत्रकार ने इसी अध्याय के गतसूत्रों में निश्चित किया है। सब जीवात्माओं के ब्रह्मरूप होने से वह समस्त कृति और भोग समानरूप से ब्रह्म में प्राप्त होता है। जिस अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेश के द्वारा कोई कर्म किया गया, उसी के द्वारा भोगे जाने की व्यवस्था अभेदविचार में सम्भव नहीं होती। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य प्राप्त होता है। अभेद-विचार में जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व कोई नहीं है।

आचार्य सूत्रकार के समाधान का तात्पर्य है—जीव और ब्रह्म का अभेद वास्तविक नहीं है। जिज्ञासु ने उसे वास्तविक समझकर सांकर्य-दोष का उद्भावन किया है। जीवात्मा अपने रूप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जो परिच्छिन्न है। वह अतिसूक्ष्म होने से देह के एक देश में निवास करता है; उसका फैलाव, विस्तार [—सन्ततिः] सर्वत्र नहीं है। देह आदि की गति के साथ उसकी गति है। वह जो कर्म करता है, वही उसको भोगता है। यह बात आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसे परिच्छिन्न मानने पर सम्भव है। ऐसी स्थिति में कर्म और कर्मफल के सांकर्य-दोष की उद्भावना का अवसर नहीं रहता।

यह सूत्र सूत्रकार के इस आशय को प्रकट करता है कि जीवात्मा और ब्रह्म का जो अभेद किसी विशेष भावना के आधार पर कहा गया है [ब्र० सू० २।३।४३], वह वास्तविक नहीं है। परिच्छिन्न जीवात्मा के समस्त शास्त्रीय विधि-निषेध एवं अन्य कर्म तथा भोग देहादि-सम्बन्ध द्वारा सम्पन्न होते हैं। जीवात्मा की ऐसी स्थिति मानने पर सांकर्य-दोष की सम्भावना नहीं रहती।

आभास में सांकर्य-दोष—विचार के इस स्तर पर शिष्य जिज्ञासा करता है, तब आत्मा की कैसी स्थिति मानने पर सांकर्ष-दोष की उद्भावना हो सकती है ? आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान **'आभास एव च'** सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया है। सूत्र का पदार्थ है—[आभासे] आभास में [एव] ही [च] तथा। जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में ही सांकर्य-दोष का उद्भावन सम्भव है ।

यदि एकमात्र ब्रह्म चेतनतत्त्व को स्वीकार किया जाता है तो उससे अतिरिक्त कोई चेतन एवं अचेतनतत्त्व नहीं है; जीवात्मतत्त्व ब्रह्म का केवल आभासरूप है। आभास का तात्पर्य होता है—प्रतिबिम्ब अथवा प्रभा-झलक । जैसे मणि आदि की प्रभा का मणि से भिन्न आभास होता है, तथा जैसे सूर्य आदि का जलादि विभिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसे ही जीवात्मा एकमात्र ब्रह्म का आभास व प्रतिबिम्बमात्र है; तो ऐसी मान्यता में सांकर्य-दोष सम्भव है ।

इस विषय में यह भी विचारना चाहिए कि ब्रह्म-जैसे तत्त्व का आभास अथवा प्रतिबिम्ब सम्भव भी है या नहीं ? सूर्य अथवा मुख एवं मणि आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में सर्वथा विषम है; क्योंकि ये पदार्थ स्थूल सावयव सरूप हैं; सर्वथा निरवयव नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब व आभास कैसे सम्भव है ? इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब किसी अन्य वस्तु में हो सकता है; आभास भी किसी वस्त्वन्तर को प्रभावित करता है; ब्रह्म से अन्य यदि कोई सत्ता नहीं, तो प्रतिबिम्ब होगा कहाँ ? और आभास प्रभावित करेगा किसको ? इसलिए यह ब्रह्म के आभास आदि की कल्पना निराधार है । तत्त्व की विवेचना के लिए ऐसी कल्पना की जा सकती है; इसी भावना से सूत्रकार ने कहा—जीवात्मा को आभासमात्र मानने में सांकर्य-दोष सम्भव होता है । फलतः जीवात्मा एक स्वतन्त्र चेतन-तत्त्व है ।

प्रस्तुत सूत्र [२।३।५०] में 'आभास' पद सप्तम्यन्त है अथवा प्रथमान्त, इसका विवेचन भी अपेक्षित है । सूत्र का जो रूप [=आभास एव च] हमारे सन्मुख है, उसमें दोनों स्थितियाँ सम्भव हैं । आचार्य शंकर आदि ने इस सूत्र की जिस प्रकार व्याख्या की है, उसके अनुसार यह प्रथमान्त पद माना जाना चाहिए। पर पूर्वापर के विचार से ऐसा ज्ञात होता है कि सूत्रकार की भावना इसे सप्तम्यन्त पदरूप से प्रकट करने में रही है । कारण यह है कि सूत्रकार यह स्पष्ट करना चाहता है कि एक स्थान पर रहते हुए भी जीवात्मा द्वारा अनुष्ठित धर्म-अधर्म आदि का सांकर्य ब्रह्म में इसी आधार पर सम्भव नहीं है कि वे दोनों अतिरिक्त तत्त्व हैं । यदि अनुष्ठाता जीवात्मा को ब्रह्म का आभास बताकर ब्रह्मरूप माना जाता है, तो ब्रह्म को जीवात्मकृत धर्माधर्म के सांकर्य से बचाया नहीं जा सकता । आचार्य शंकर आदि किसी के पास इसका कोई समाधान नहीं है । अन्तःकरण-भेद से इसका समाधान विडम्बनामात्र है, केवल ढकोसला । सूत्रकार ने अगले सूत्र

[२।३।५१] से इसी भावना को स्पष्ट किया है।

आचार्य शंकर ने इन सूत्रों की व्याख्या में न्याय-सांख्य आदि को दोष-पङ्क में लपेटकर स्वयं को कन्नी काटकर बच निकलने तथा अछूता रक्खे जाने के लिए पूरा प्रयास किया है; पर आचार्य उस कीचड़ में सूत्र के 'आभास' पद को प्रथमान्त मानकर आपादमस्मक डूबते हुए दिखाई दे रहे हैं। आचार्य ने सूत्र [२।३।५०] के व्याख्यान में लिखा है—'जीवात्मा परमात्मा का आभास ही है, उसी तरह, जैसे एक जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब होता है।'[1] पर अपने इस कथन के परिणाम से व्याकुल होते हुए मानो आचार्य ने अगले ही पग पर लिखा—'वह जीवात्मा साक्षात् परमात्मा ही नहीं है, और न वह अन्य वस्तु है।'[2] यह भी एक ही रही! न वह साक्षात् ब्रह्म है, न वस्त्वन्तर; तो है क्या? अस्तु, जो कुछ भी हो; पर सूर्य के प्रतिविम्ब का यह दृष्टान्त सर्वव्यापक ब्रह्म के विषय में प्रस्तुत किया जाना सर्वथा विषम है। इस दृष्टान्त की उपपत्ति के लिए आचार्य ने आगे लिखा है—"जैसे एक जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के काँपने पर काँप जाता है, उस कम्पन का प्रभाव अन्य जलाशय के प्रतिबिम्ब पर नहीं पड़ता, ऐसे ही एक जीव के कर्म एवं उनके फल का सम्बन्ध जीवान्तर के साथ नहीं होगा। इस प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने पर कर्मफल का असांकर्य सम्पन्न रहेगा। आभास के अविद्याकृत होने से तदाश्रित संसार का अविद्याकृत होना भी उपपन्न होता है।'[3]

आभास-विवेचन

आचार्य के इस तर्कप्रकार पर विचार करना चाहिए। आचार्य के मन्तव्य के अनुसार दार्ष्टान्त स्थल में सूर्यस्थानीय ब्रह्म है, एवं जलाशय-स्थानीय अविद्या। जलाशय में सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब 'जीवात्मा' है। इस दृष्टान्त में विषमता यह है कि दृष्टान्त-गत सूर्य एकदेशी तत्त्व है, पर दार्ष्टान्तिगत ब्रह्म सर्वदेशी है। इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि जलाशय-स्थानीय जिस अविद्या में ब्रह्म

---

१. आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः।

२. न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्।

३. यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बिन्धिनि जीवान्तरस्यतत्सम्बन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्म-फलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वो-पपत्तिरिति।

प्रतिबिम्बित होता है, वह दृष्टान्तगत जलाशयों के समान एकदेशी और नाना है, अथवा सर्वदेशी तथा एकमात्र है ब्रह्म के समान। आचार्यस्वीकृत तथाकथित सिद्धान्त के अनुसार अविद्या की दो अवस्थाएँ अथवा उसके दो प्रकार माने जाते हैं— एक मूला अविद्या, दूसरी तूला अविद्या।[1] मूला अविद्या का नाम माया है, तूला अविद्या को केवल अविद्या नाम से कहा जाता है। मूला-अविद्या में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से ईश्वर एवं संसार का प्रारम्भ होता है; तूला-अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीवात्मा का स्वरूप होता है; ऐसी प्रक्रिया शांकर सम्प्रदाय में मानी जाती है। इसमें मूला-अविद्या एक तथा सर्वदेशी तत्त्व है; तूला-अविद्या नाना और एकदेशी। इस प्रकार दृष्टान्तस्थल में एकदेशी सूर्य का एकदेशी जलाशय में प्रतिबिम्ब सम्भव है, पर एकदेशी तूला-अविद्या में सर्वदेशी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव होगा? ब्रह्म के नाना देशों अथवा अवयवों व अंशों की कल्पना करना सर्वथा अशास्त्रीय है। एक जलाशय में कम्पन से दूसरे जलाशय तथा स्वयं सूर्य का प्रभावित न होना सम्भव है; क्योंकि वहाँ प्रत्येक वस्तु एकदेशी एवं एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न व पृथक् है; परन्तु ब्रह्म के प्रतिबिम्बस्थल में यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबिम्बी सर्वव्यापक ब्रह्म प्रत्येक प्रतिबिम्बस्थल पर स्वरूप से विद्यमान रहता है। वहाँ होनेवाले धर्माधर्म व उसके फल से ब्रह्म का प्रभावित होना आपन्न होता है। इस प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में सांकर्य-दोष स्पष्ट है।

यद्यपि आचार्य शंकर ने इस सूत्र [२।३।५०] के भाष्य में जीवात्मा को साक्षात् ब्रह्म नहीं माना, पर चार कदम पीछे इसी पाद के सूत्र [२।३।२९] का भाष्य करते हुए बलपूर्वक जीवात्मा को ब्रह्मरूप तथा विभु [सर्वदेशी] स्वीकार किया है।[2] जब वह विभु है, तो आचार्य ने 'आभास एव च' [२।३।५०] सूत्र के

---

१. द्रष्टव्य, पञ्चदशी, प्रथम प्रकरण, श्लोक १५–१७।।

२. **"नैतदस्ति-अणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेश-श्रवणात् तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तस्मात् यावत् परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्माद् विभुर्जीवः।"** अर्थात् आत्मा अणु है, यह कहना ठीक नहीं। परब्रह्म ही जीव कहा गया है, क्योंकि जीव की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती; परब्रह्म ही शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, यह श्रुति बतलाती है। तथा परब्रह्म और जीव का तादात्म्य कहा गया है। इस प्रकार यदि परब्रह्म ही जीव है, तो जितना अर्थात् जिस परिमाण का परब्रह्म है, उतना ही जीव हो सकता है। परब्रह्म को विभु कहा गया है, इसलिए जीवात्मा विभु है।

भाष्य में सांख्य और न्याय-वैशेषिक आदि के मन्तव्य पर—जीवात्माओं के कर्मफल-सम्बन्ध को लक्ष्य कर—जिस प्रकार सांकर्य दोष का उद्भावन किया है, वह समस्त दोष आचार्य के मन्तव्य पर लागू होता है। यह सब परिस्थिति प्रस्तुत सूत्र [२।३।५०] के 'आभास' पद को प्रथमान्त मानकर व्याख्या करने से उत्पन्न हुई; आचार्य ने चुपचाप अपने-आपको बचाने की भावना से सांख्य-न्याय पर उस प्रहार को टालने का प्रयास किया। वस्तुस्थिति यह है कि सूत्र में उक्त पद को सप्तम्यन्त मानकर व्याख्या करनी चाहिए। सूत्रकार का तात्पर्य इसी में अभिलक्षित होता है।[1]

मोक्ष में जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता

यदि सूत्रकार का तात्पर्य जीवात्मा को ब्रह्म का आभासमात्र मानने में रहा होता, तथा जीवात्मा का अस्तित्व केवल अविद्याकृत रहा होता, तो जीवात्मा की मोक्ष-अवस्था का वर्णन तथा मोक्ष में जीवात्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का वर्णन सूत्रकार न करता, जबकि आत्मा के साथ अविद्या का सम्बन्ध नहीं रह जाता। वेदान्त के सूत्र [४।४।१७] में यह स्पष्ट बताया है कि मोक्ष-अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्म के आनन्द आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, उस दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए भी आत्मा का ब्रह्म के व्यापार—जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि कार्य—में कोई सहयोग नहीं होता। तात्पर्य यह कि मोक्ष-अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी जीवात्मा जगत् की उत्पत्ति आदि में सर्वथा असमर्थ रहता है। आचार्य शंकर के अनुसार यदि जीवात्मभाव तथा ब्रह्म से जीवात्मा का भेदवर्णन अविद्याकृत होता, तो मोक्ष में जहाँ अविद्या का सम्बन्ध नहीं रहता, जीवात्मा का वर्णन स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में ब्रह्म से भेद प्रकट करते हुए सूत्रकार न करता।

इस सूत्र [४।४।१७] के भाष्य में आचार्य शंकर ने स्वयं बताया है—'जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि-रूप ऐश्वर्य मुक्त आत्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है, क्योंकि जगद्व्यापार में परमेश्वर का ही अधिकार है।···जगत् के उत्पादन आदि में मुक्त आत्माओं का सहयोग, सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में विरोध खड़ा हो

---

१. इसपर अधिक विवेचन के लिए वेदान्त के इस प्रकरण का 'ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य' देखना चाहिए।

जाय।'[1] यह लेख स्पष्ट कर रहा है, मोक्ष-दशा में भी जीवात्मा का भिन्न एवं स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है, जबकि अविद्या का सम्बन्ध आत्मा से कोई नहीं रहता। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत है, एवं आत्मा ब्रह्म का आभासमात्र है, जो अविद्या के कारण है।

अनेक सूत्रों के आधार पर—जैसा गत पंक्तियों में प्रकट किया गया है—सूत्रकार का यह आशय स्पष्ट होता है कि ब्रह्म से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। मोक्ष-अवस्था में भी वह अस्तित्व उसी प्रकार बना रहता है। वेदसंहिताओं के अतिरिक्त उपनिषद् आदि में आत्मा के नित्य स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।[2] सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक जगत्कर्त्ता परब्रह्म परमात्मा की सत्ता जीवात्मा व प्रकृति से सर्वथा भिन्न है, वह इन सबका नियन्ता है। जो आत्मा उसके स्थान पर अपने-आपको बैठाने के लिए स्वयं में ब्रह्मभाव का गर्व करते हैं, उन्हें इस स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए; यह मार्ग श्रेयस् का साधन नहीं है।

सूत्रकार का जीवात्मविषयक उपपादन प्राचीन आर्ष अध्यात्म-परम्परा का स्पष्ट प्रतीक है। इस विषय की वैदिक भावना इसका आधार है। मतिवैचित्र्य से विभिन्न विचार यथाकाल उभरते रहे हैं, जो स्वाभाविक है। वे विवेच्य भले रहे हों, पर सूत्रकार ने उसी तथ्य का अवलम्बन किया है, जो अध्यात्म की आर्ष-परम्परा में प्रवाहित रहा। यह एक अनुपेक्षणीय विचार है।

ब्रह्म और प्रकृति

जीवात्मा और ब्रह्म को लक्ष्य कर वेदान्त को इनका भेद अभिप्रेत है अथवा अभेद, इसका संक्षेप से विवेचन किया गया। भेद और अभेद-कथन का अन्य आधार ब्रह्म, एवं जगत् के उपादान-कारण प्रकृति को लक्ष्य कर माना जाता है। इस स्थिति का वर्णन चेतन और अचेतन रूप में दो प्रकार के तत्त्वों को मूलतः स्वतन्त्र मानकर भी किया जाता है। सर्वातिशायी ब्रह्म चेतन-

---

१. जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः···पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः।···तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे।··· एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्। [ब्र० सू० शां० भा० ४।४।१७]

२. ऋ० १।१६४।२०॥ छा० ८।१२।३॥ तैत्ति० २।१॥ ऐत० ४।६॥ मुण्ड० ३।१।३॥ प्रश्न० ४।६॥ कठ० २।२।१२, १३॥ बृह० ३।७।२२॥

तत्त्व इस समस्त विश्व का नियन्ता, कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता आदि है; तथा इस जगत् का उपादानकारण अचेतनतत्त्व प्रकृति है। वे दोनों तत्त्व स्वरूपेण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इस रूप में द्वैत का उपपादन किया जाता है। इस प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन सांख्य-योगशास्त्र एवं तदनुसारी वैदिक, अवैदिक एवं अन्य लौकिक साहित्य में हुआ है।

शाङ्कर सम्प्रदाय की वेदान्त-परम्परा के आचार्यों ने ऐसे भेद को स्वीकार नहीं किया। वे जगत् के उपादान त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति को ब्रह्म से अतिरिक्त न मानकर ब्रह्म को ही जगत् का उपादान-कारण स्वीकार करते हैं। ऐसा मानकर भी उनका कहना है कि ब्रह्म में इससे किसी प्रकार का विकार नहीं आता। उस प्रक्रिया के अनुसार ब्रह्म की अचिन्त्यशक्ति है—माया। ब्रह्म से भिन्न या अभिन्नरूप में इस माया का निर्वचन कोई आचार्य नहीं कर सका। उनका दावा है कि ऐसा कोई कर भी नहीं सकता। इसीलिए उनकी प्रक्रिया में इसे अनिर्वचनीय नाम दिया गया है। यद्यपि माया अनिर्वचनीय है, पर ब्रह्म ऐसा नहीं, इन दोनों के इस पारस्परिक भेद का कोई सन्तोषकर समाधान वे आचार्य नहीं कर पाये हैं; फिर भी उक्त मान्यता में उनकी आस्था है।

जगत् का उपादान-कारण मानने पर ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, इसका विवरण वे आचार्य देते हैं कि वस्तुतः यह जगत् ब्रह्म की शक्ति माया का विकार है; क्योंकि माया और उसका विकार अथवा परिणाम यह समस्त विश्व ब्रह्म में आधारित है, इस रूप में वह इसका उपादान कहा जाता है। इसके लिए आचार्य शङ्कर के परवर्त्ती विद्वानों ने एक पारिभाषिक 'विवर्त्त' पद का उद्भावन किया है, जो ब्रह्म को परिणामी व विकारी माने जाने से बचा लेता है। यद्यपि आचार्य शङ्कर के समय ऐसी किसी पारिभाषिकता का अस्तित्व न था।

ब्रह्म के विकारी न होने में दूसरा विचार—जो अधिक गम्भीरता से विवेचन कर प्रस्तुत किया जाता है—यह कहा जाता है कि इस तथाकथित दृश्यादृश्य जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है; जो कुछ यह दीखता है, सब असत्य, तुच्छ है। यह वास्तविक रूप में न होते हुए ही दिखाई देता है; न यह पहले कभी हुआ, न अब है और न आगे कभी होना है। इस स्थिति के लिए एक पद 'आभास' का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह कि यह समस्त विश्व एक ब्रह्म-रूप अधिकरण में भासित है, और उसका इस प्रकार भासित होना अचिन्त्यशक्ति माया का चमत्कार है। इसके लिए स्वप्न, लोकगत माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा, रज्जु-सर्प आदि के विविध दृष्टान्तों का आटोप उपस्थित कर जगदाभास के अस्तित्व को मस्तिष्क में बैठाने का प्रयास किया जाता है। इन समस्त दृष्टान्तों में ऐसा है कि वहाँ वस्तु न होते हुए भी किसी आधार में दिखाई दे जाती है; इसी प्रकार यह जगत् न होता हुआ भी ब्रह्मरूप अधिकरण में दिखाई देता है; इसका

वस्तुभूत अस्तित्व नहीं है। ऐसी दशा में ब्रह्म के विकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता, न उसकी सम्भावना है। उसमें विकार होना तो तभी कहा जा सकता है, जब उससे कुछ उत्पन्न हो; ऐसा कभी होता ही नहीं। इस प्रकार का समस्त शास्त्रीय एवं लौकिक विवरण असत्य एवं व्यवहारमात्र है। एकमात्र ब्रह्म के अस्तित्व को मानकर इस रूप में अभेद की स्थापना की जाती है।

यह एक महान् आश्चर्य और चमत्कार समझना चाहिए कि अभेद का सारा दुर्ग भेद पर आधारित रहता है। भेद की भाषा व भेद का व्यवहार अभेद की स्थापना में मूल आधार है, फिर भी यह असत्य है। कहते हैं कि एक से अनेक होता है, इसलिए एक सत्य, अनेक असत्य। पर देखते यह हैं कि अनेक के अस्तित्व के बिना एक का कहीं पता नहीं लगता। तब किसे सत्य और किसे असत्य कहा जाय?

इस विषय को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए अधोलिखित आधारों पर विवेचन करना उपयुक्त होगा—

१—आभास का स्वरूप क्या है?

२—प्रस्तुत दृष्टान्तों के अनुसार ब्रह्म में आभास अथवा ब्रह्म का आभास क्या सम्भव है?

३—आभासित ब्रह्म होता है, अथवा माया?

४—क्या केवल एक से अनेक होना सम्भव है?

५—अनेक से अनेक होता है, ऐसा क्यों नहीं?

६—चेतन ब्रह्म अचेतनरूप में कैसे भासता है?

इन विकल्पों पर यथाक्रम संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

(१) शाङ्कर वेदान्त-परम्परा के आचार्यों द्वारा इस विषय का पर्याप्त मन्थन हुआ है। उस सबका सारभूत अंश इतना कहा जा सकता है—किसी एक अधिकरण में अन्य वस्तु अथवा उसके धर्मों का ज्ञान होना। यह ज्ञान 'आभासमात्र' अथवा 'प्रतीतिमात्र' है। ज्ञान के लिए जहाँ इन दोनों अथवा इसी जोड़ के किन्हीं अन्य पदों का प्रयोग होता है, वहाँ यह अन्तर्हित रहता है कि यह 'ज्ञान' अयथार्थ है, असत्य है। यद्यपि स्पष्ट भ्रमस्थलों में न इन पदों का प्रयोग होता है, और न उस ज्ञान के विषय में भ्रान्ति की आशंका रहती है। सामने गुड़ी-मुड़ी या टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु को झुटपुटे काल में देखकर भय की आशंका रहते हुए अचानक—'हाय! साँप'—यही ज्ञान होता है। उस समय यह अपने रूप में सत्य है। इसके वास्तविक सत्य और असत्य होने का बोध अनन्तर-काल में होनेवाली परीक्षा पर आधारित रहता है। यदि वह सचमुच साँप है, तो वह ज्ञान सत्य है। यदि वहाँ कोई रस्सी अथवा लकड़ी का टुकड़ा आदि उस रूप में पड़ा रहा हो, और उसी को किसी सादृश्य एवं अप्रकाश आदि निमित्त से साँप समझ लिया गया हो,

तब वह ज्ञान असत्य माना जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि 'साँप है' यह ज्ञान सर्वत्र असत्य नहीं है। इसके लिए 'आभास' अथवा 'प्रतीति' आदि पदों का व्यवहार उस समय होता है, जब हम किसी असत्य को सत्य समझ लेते हैं और अनन्तर-काल में उसकी वास्तविकता को जानकर उसका अभिलापन करते हैं, तथा अन्य दार्ष्टान्त स्थलों में उसका उपयोग करते हैं। आभास के इस स्वरूप को दृष्टान्तों में देखना चाहिए।

(२) संक्षेप की दृष्टि से अर्थ को समझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण ले लेना उपयुक्त होगा। सीप-चाँदी का दृष्टान्त ले लेते हैं। खुला सीप पड़ा है, उस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं, इससे वह और अधिक चमक रहा है। देखनेवाले व्यक्ति के मन में लोभ जागृत है। वह उस चमकदार टुकड़े को देखते ही 'चाँदी' समझता है। लपककर उठाता है, अरे! यह तो सीप है, चाँदी नहीं; मुझे भ्रम हो गया। उसे पटक देता है।

यहाँ सीप सद्रूप में विद्यमान है। सीप-अधिकरण में चाँदी का ज्ञान होता है, जिसका वहाँ सद्रूप में अभाव है। शाङ्कर सम्प्रदाय में इसका अभिलापन इस प्रकार होता है—सीप-अधिकरण में अज्ञान चाँदी को उत्पन्न कर देता है, अथवा अज्ञान से असद्रूप चाँदी का आभास होता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूप सत्-अधिकरण में माया अथवा अज्ञान से असद्रूप विश्व का आभास होता है; वस्तुतः विश्व की यथार्थ सत्ता कोई नहीं।

विचारणीय है, सीप-स्थल में चाँदी न होते हुए भी अन्यत्र सद्रूप में चाँदी विद्यमान रहती है। क्या इसी प्रकार ब्रह्म में आभासित जगत् की सत्ता अन्यत्र रहती है? यदि रहती है, तो वह एक ब्रह्मातिरिक्त सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि नहीं रहती, तो सर्वथा असत् का आभास कैसे? सर्वथा असत् के अभास का विश्व में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। स्वप्न में उन्हीं वस्तुओं की प्रतीति होती है, जिनका जागृत अवस्था में अनुभव हुआ हो। स्वाप्न प्रतीति में व्यतिक्रम भले हो जाता हो, पर सर्वथा अननुभूत वस्तु का ज्ञान स्वप्न में सम्भव नहीं। इसी कारण जन्मान्ध व्यक्ति को रूप अथवा रूपवद्वस्तु का स्वप्न कभी नहीं होता। समस्त दृष्टान्तों में यही स्थिति है।

यह स्थिति स्पष्ट करती है—आभास अन्य का अन्य में होता है; वह भी वहाँ, जहाँ आभासित वस्तु की सत्ता न हो। ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है, वह स्व-रूपेण सब जगह है, उसका आभास कैसे? जहाँ चाँदी स्वतः सद्रूप में विद्यमान है, वहाँ उसका 'आभास' सम्भव नहीं। ब्रह्म के लिए कोई ऐसा अवकाश नहीं, जहाँ वह न हो। अतः उसका 'आभास' असम्भव है।

कहा जाता है, ब्रह्म-अधिकरण में जगत् प्रतीयमान रहता है। विचारना चाहिए, इसका तात्पर्य क्या है? चेतन परब्रह्म सर्वव्यापक तत्त्व है। समस्त विश्व

अथवा उसके सब अंश सीमित हैं । विश्व किसी रूप में ब्रह्म से बाहर नहीं है । इसी स्थिति का अभिलापन किया जाता है—यह समस्त जगत् ब्रह्म में प्रतीयमान हो रहा है । ब्रह्म सर्वान्तिर्यामी है, फलतः सबका नियन्ता है, यह सब शास्त्र पुकारकर कह रहे हैं । फलतः सर्वव्यापक ब्रह्म का आभास सम्भव नहीं ।

(३) आभास ब्रह्म का होता है अथवा माया का ? ब्रह्म में ब्रह्म का आभास होता है, और तब वह जगद्रूप में भासता है, यह कथन ही अटपटा है । यह केवल शब्दजाल है, इसका अर्थ कुछ नहीं । वह स्वयं ब्रह्मरूप है, उसका अपने-आप में जगद्रूप से भासना, यह सब ऐसा कथन है, जिसका उपपादन अशक्य है । स्वयं में आभासित होकर वह ब्रह्मरूप से भासना चाहिए, जगद्रूप से क्यों ? यदि इसके लिए आग्रह किया जाता है, तो जगत् अचेतन, विविध व सीमित आदि क्यों है ? ब्रह्म के ब्रह्म में आभासित होने से जगत् भी ब्रह्मरूप होना चाहिए—चेतन, एक-मात्र व असीम । जगत् का ऐसा न होना सिद्ध करता है कि वह ब्रह्म का आभास नहीं है । अपने में स्वयं प्रतीत होना 'आभास' का स्वरूप नहीं ।

यदि ब्रह्म में माया का आभास जगत् है तो विचारना चाहिए कि यह कहाँ तक युक्त है ? पहली बात यह कि ऐसा मानने पर स्पष्ट हो जाता है कि माया ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व है । जैसे सीप में चाँदी का आभास होना, चाँदी को सीप से भिन्न सिद्ध करता है, ऐसे ही माया ब्रह्म से भिन्न तत्त्व है । दूसरी बात यह है कि 'ब्रह्म में माया का आभास' इसका तात्पर्य क्या है ? वस्तुतः इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि माया ब्रह्म के सहयोग से, उसकी प्रेरणा से, जगत् के रूप में परिणत हो जाती है । ब्रह्म के सम्पर्क में आकर वह जगद्रूप से दिखाई देने लगती है । जगत्सर्गरूप अर्थ को प्रकट करने का यह एक प्रकारमात्र है । माया प्रकृति का अपर नाम है—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** [श्वेता० ४।१०]—यद्यपि ब्रह्म के सम्पर्क से बाहर प्रकृति कभी नहीं रहती, तथापि ब्रह्म की नैसर्गिक व्यवस्था के अनुसार यथावसर उसकी प्रेरणा पाकर जगद्रूप में अभिव्यक्त हो जाती है ।

जहाँ कहीं शास्त्र में ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, उसका यही तात्पर्य समझना चाहिए कि ब्रह्म के शरीर से जगत् उत्पन्न होता है । प्रकृति को ब्रह्म के शरीर-रूप में कल्पना किया गया है । वेद व उपनिषद् आदि के अनुसार ब्रह्मसूत्रकार ने इस कल्पना को मान्यता दी है ।[1] इस अर्थ-तत्त्व को उपनिषदों में 'ऊर्णनाभि' दृष्टान्त[2] के द्वारा स्पष्ट किया गया है । जैसे मकड़ी

१. द्रष्टव्य—वेदों के पुरुषसूक्त । कठ० उप० १।३।३, ४, १०, ११ । मुण्ड० २।१।१।। ब्र० सू० १।४।१-७।।
२. मुण्ड० १।१।७।।

अपने शरीर से तन्तुजाल का वितान करती है, इसी प्रकार ब्रह्म अपने प्रकृतिरूप शरीर से जगत् का विस्तार करता है। जैसे मकड़ी-देह में चेतनतत्त्व आत्मा तन्तुजालरूप में परिणत नहीं होता, प्रत्युत उसकी प्रेरणामात्र से देहावयव तन्तुजालरूप में परिणत होते हैं, वैसे ही चेतनब्रह्म जगद्रूप में परिणत नहीं होता, प्रत्युत उसके देहरूप में कल्पित प्रकृतितत्त्व उसकी प्रेरणा पाकर जगद्रूप से परिणत हुआ करते हैं। मकड़ी-देह में आत्मा स्वयं वह देह नहीं है; ऐसे ही चेतन ब्रह्म स्वयं प्रकृतिरूप नहीं है। वह उससे भिन्न उसका नियन्ता है, प्रकृति नियम्य है। ये दोनों तत्त्व स्वभावतः भिन्न हैं। फलतः ब्रह्म में माया का आभास जगद्रूप में प्रतीत होता है, यह जगत्सर्ग के अभिलापन का एक विशिष्ट प्रकारमात्र कहा जा सकता है।

(४) ऐसा कहा जाता है कि एकमात्र ब्रह्म से यह विविध जगत् अभिव्यक्त हो जाता है। पर यह केवल कथनमात्र है। केवल एक तत्त्व विविधरूप में अभिव्यक्त होता हो, ऐसा कोई दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है। एकमात्र तत्त्व से अभिव्यक्ति कहनेवाले आचार्यों ने स्वयं अपने कथन को पूरा नहीं निभाया है। केवल कथन में एकमात्र ब्रह्म को मानकर वे आचार्य माया से ब्रह्म का पीछा नहीं छुड़ा सके; माया उसके साथ लगी ही रहती है। उनके कथनानुसार माया अनिर्वचनीय, जगत् भी अनिर्वचनीय; तब वह माया का विकार व परिणाम माना जा सकता है। माया विविधरूपा है। प्रकृति का अपर नाम माया होने पर यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है—अनन्त सत्त्व, अनन्त रजस् और अनन्त तमस् प्रकृति का स्वरूप है। वह स्वयं विविध एवं अनेकरूपा है, विचित्र जगत् उसका परिणाम सम्भव है।

जो स्वयं केवल एक है, वह स्वरूप से अनेक नहीं हो सकता। अनेक होने के लिए अन्य किसी साथी का होना आवश्यक है। 'एक और एक' इस समुदाय से ही अनेकता का आरम्भ होता है। जगत्सर्ग के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक खोजों का परिणाम मूलतत्त्व रूप से अनेक का बोध कराता है। फलतः मूल में एकमात्र तत्त्व का अनेक हो जाना सम्भव नहीं। यह एक तर्क है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि एकमात्र ब्रह्मतत्त्व विविध जगद्रूप में भासित हो जाता हो, ऐसा सम्भव नहीं। **'बहु स्यां प्रजायेय'** [तै० उ० २।६] इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों का **'एकं बीजं बहुधा यः करोति'** [श्वे० ६।१२] इत्यादि वाक्यों के साथ समन्वय करके समझने का प्रयास करना चाहिए।[1]

(५) ऐसी दशा में यह अधिक युक्तियुक्त, प्रामाणिक व नैसर्गिक है कि विविध

---

१. इसके अधिक विवेचन के लिए द्रष्टव्य हमारी रचना—'ब्रह्मसूत्रविद्योदय-भाष्य' [१।४।२३–२७] तथा 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० ४६–५२; ४३८।

जगत् के अनुसार उसका मूल उपादानतत्त्व विविधात्मक व अनेकरूप होना चाहिए। इसमें न शास्त्र का विरोध है, न किसी प्रमाण का, न नैसर्गिक प्रक्रिया का। वैदिक एवं अन्य सब प्रकार के साहित्य के अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति जगत् का उपादान-कारण है, यह एक अबाध सत्य है। विभिन्न प्रकार के तीन गुणों में प्रथम मूलत: अनेकता है; द्वितीय, प्रत्येक गुण स्वयं में अनन्त है; उन गुणों की विविधरूप अन्योन्यमिथुनवृत्तिता इस विचित्र जगत् के बनने में एक मूलभूत कारण है। इस प्रकार अनेकात्मक जगत् का मूलत: अनेकात्मक उपादान-कारण होना अधिक प्रामाणिक है। फलत: एकात्मक चेतन ब्रह्म को अनेकात्मक जड़ जगत् का उपादान-कारण माना जाना किसी प्रकार सम्भव प्रतीत नहीं होता।

(६) चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान मानने में यह भी एक महान् असामञ्जस्य है कि चेतन तत्त्व जगद्रूप में कैसे परिणत अथवा प्रतिभासित हो जाता है; और प्रतिभासित भी स्वयं उसी सर्वज्ञ सर्वशक्ति तत्त्व के लिए। इसको लीलामात्र कह या समझकर अपने-आपको बहलाना है। इसमें यथार्थता का कोई अंश प्रतीत नहीं होता।

कहा जाता है कि जड़ मूल उपादानतत्त्व अव्यक्त है, उससे व्यक्त जगत् कैसे हो जाता है? जैसे अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है, वैसे चेतन से जड़ हो सकता है।

यह कथन सर्वथा शिथिल है। अव्यक्त और व्यक्त उस मूल जड़तत्त्व की केवल अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था से तत्त्व दूसरी अवस्था में परिणत होता है, पर वह अपने जड़ स्वरूप का परित्याग नहीं करता। व्यक्त या अव्यक्त होना तत्त्व का स्वरूप नहीं है; वे केवल अवस्थाएँ हैं, जो निमित्तों के प्रभाव से बदलती रहती हैं। ब्रह्म को शास्त्रों में चेतनस्वरूप माना गया है। उसके लिए स्वरूप का परित्याग करना सम्भव नहीं। इस आवश्यक तथ्य-परिस्थिति से बाधित होकर आचार्य शङ्कर ने इस जड़ जगत् को भी चेतन बता दिया है, और कहा है कि इसका वह चैतन्य अप्रकट (अविभावित) रहता है।[1] किसी असत्य परिस्थिति को आग्रह-पूर्वक सत्य बताने का यह एक दुस्साहसपूर्ण अपूर्व उदाहरण है।

सोचना चाहिए, यदि यह सब जगत् चेतन है, ब्रह्मस्वरूप है, तब इस रूप में आनेवाला ब्रह्म विकृत अथवा परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? विवर्त्त आदि की कल्पना सब वाग्जालमात्र है। क्या शास्त्र में यही ब्रह्म 'उपास्य' बताया गया है? यदि ऐसा है, तब जगत् में आसक्त व्यक्ति ब्रह्म में ही आसक्त समझा

---

१. **"योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि ···चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्।"** [ब्र० सू० २।१।६ पर शाङ्करभाष्य]

जाना चाहिए; ब्रह्मचर्यादि तपस्या व उपासना आदि सब ढकोसला है। नियम-धर्म-व्रत आदि सब किसलिए? संसार में जो जितना डूबा है, उतना ही अधिक ब्रह्म में लवलीन समझा जाना चाहिए। यही तो ब्रह्म है! शास्त्रों ने क्या ऐसे ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया है? क्या यही ब्रह्म चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप है? जड़ जगत् को ब्रह्म बतानेवाले और इसे ठीक ऐसा ही समझनेवाले कितने गहरे अन्धकार में डूबे हैं! देखना चाहिए, इस विषय में ब्रह्मसूत्रकार आचार्य बादरायण क्या कहता है।

प्रकृति-विषयक बादरायण-मत

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने इस विषय का विवेचन प्रथम अध्याय के अन्त में किया है।[1] इसके लिए आचार्य ने पाँच सूत्र लिखे हैं। आचार्य शङ्कर ने इन सूत्रों की व्याख्या में ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकरण के आधार पर आचार्य का कहना है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण तथा प्रकृति उपादान-कारण दोनों हैं। आचार्य शङ्कर के परवर्त्ती अन्य व्याख्याकार आचार्यों ने भी शङ्कर का अनुसरण किया है। परन्तु इन सूत्रों में जगत् के प्रकृति-उपादान-कारण को बताने के लिए जो हेतु दिये गये हैं, उनके अनुसार सूत्रकार का यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि वह ब्रह्म को जगत् का 'प्रकृति' न कहकर स्वतन्त्र 'प्रकृति'-तत्त्व का निरूपण कर रहा है। वहाँ हेतुओं का निर्देश निम्न प्रकार है—

१—प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

२—अभिध्योपदेशात्।

३—साक्षात्···उभयाम्नानात्।

४—आत्मकृतेः परिणामात्।

इनकी साधारण व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

(१) उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को बतलाने की प्रतिज्ञा और उसकी स्पष्टता के लिए दृष्टान्तों का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार चेतन पर-ब्रह्म नियन्ता के द्वारा नियम्य जड़ प्रकृति-तत्त्व का जगत् के उपादानकारण रूप में पता लगता है।

(२) उपनिषदों में अनेकत्र ब्रह्म के संकल्प [-अभिध्या] का उपदेश-कथन है। यह अभिध्यान [-संकल्प] जिस प्रकार अभिध्याता की उपेक्षा करता है, अर्थात् अभिध्याता के बिना अभिध्यान सम्भव नहीं, इसी प्रकार वह अभिध्यातव्य की अपेक्षा करता है। अभिप्राय यह—जैसे एक ब्रह्म संकल्प का कर्त्ता है, ऐसे ही

१. द्रष्टव्य—ब्र० सू० १।४।२३–२७॥

संकल्प का कोई विषय होना भी आवश्यक है। ब्रह्म का संकल्प किंविषयक है, यह समझना चाहिए। उस संकल्प का विषय वह जड़ प्रकृति-तत्त्व है, जिसके परिणामस्वरूप जगत् अभिव्यक्त होना है।

(३) उपनिषदों में अनेक स्थलों पर उन दोनों विभिन्न कारण-तत्त्वों का कथन उपलब्ध होता है। उनमें ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण तथा प्रकृति उपादान-कारण है।

(४) इसी अर्थ को चतुर्थ हेतु से स्पष्ट किया—वह परमात्मा अपने संकल्प-रूप प्रयत्न [-कृति] से उपादानतत्त्व त्रिगुणात्मक प्रकृति को प्रेरित कर जगत् के रूप में परिणत कर देता है।

इस अन्तिम हेतु में उपादानकारण के परिणाम से जगत् के अभिव्यक्त होने का निर्देश सूत्रकार ने किया है। यदि आचार्य शङ्कर आदि के कथनानुसार ब्रह्म को जगत्-रूप में अभिव्यक्त हुआ माना जाय, तो उसको परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है ? सूत्रकार ने स्पष्ट मूल उपादान के परिणाम से जगत् की अभिव्यक्ति का निर्देश किया है। मूल उपादान में उस परिणाम का निमित्त है—**'आत्मकृतिः'**=परब्रह्म परमात्मा का संकल्परूप प्रयत्न। इससे सूत्रकार का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। प्रसंग का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अन्तिम सूत्र कहा—

योनिश्च हि गीयते।

परब्रह्म सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी नियन्ता होने से क्योंकि सब जगत् का आधार व आश्रय है, इसी कारण उपनिषदों एवं अन्य वैदिक[1] आदि साहित्य में उसे 'योनि' कहा गया है। 'योनि' पद स्थानविशेष का वाचक है, अर्थात् किसी का आधार अथवा आश्रय। लोक में 'योनि' पद स्त्रीयोनि आदि में प्रसिद्ध है, जो स्थान-विशेष का बोध कराता है। वह गर्भ का आधार अथवा बाहर आने का द्वारमात्र है; गर्भ का उपादान-कारण नहीं। आश्रयमात्र होने से निमित्त कहा जा सकता है। गर्भ के उपादानकारण रज-वीर्य होते हैं, वह स्थान नहीं। ऐसे ही पृथिवी को ओषधि-वनस्पतियों का 'योनि' कहा जाता है। प्रत्येक विचारक जानता है कि वह ओषधि आदि के प्रादुर्भाव का आधारमात्र है। ओषधि आदि के उपादानकारण उनके बीज हैं। पृथिवी आदि तत्त्व उनके प्रादुर्भाव व वृद्धि में सहायक होने से केवल निमित्त कहे जा सकते हैं।[2]

---

१. मुण्ड० १।१।६॥ ३।१।३॥ ऋ० १।१०४।१॥

२. इस अर्थ के विस्तृत विवेचन के लिए देखें इन सूत्रों पर हमारी रचना—'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य'; तथा 'सांख्यसिद्धान्त', पृ० १४७–१५२; ४३५–४४०॥

इस विवेचन के परिणामस्वरूप स्पष्ट हो जाता है, सूत्रकार का आशय जीवात्मा व प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व की उपेक्षा कर ब्रह्म-अद्वैत के उपपादन में नहीं है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं एकमात्र तत्त्व है, अर्थात् ब्रह्म न कोई अन्य सजातीय तत्त्व है, न विजातीय और न स्वयं उसमें किसी भेद व अंश आदि की कल्पना की जा सकती है। ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का उपपादन सूत्रकार का लक्ष्य है। उससे अतिरिक्त तत्त्वों के निषेध में सूत्रकार का तात्पर्य कदापि नहीं। समस्त सूत्रों में कहीं कोई ऐसा प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। एक सूत्र [३।२।४१] में स्वयं सूत्रकार ने जगदुत्पत्ति एवं कर्म-फलप्रदान आदि में ब्रह्म को 'हेतु' होने का संकेत किया है। 'हेतु' पद निमित्तकारण का बोधक माना जाता है, उपादान का नहीं। इससे भी सूत्रकार के वास्तविक अभिप्राय पर प्रकाश पड़ता है।

अष्टम अध्याय

ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार (१)

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर पर्याप्त प्राचीन काल से विभिन्न आचार्यों द्वारा अपने-अपने समय में अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। इनमें बहुत-से ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। कालान्तर में अध्ययनाध्यापन-परम्परा का उच्छेद, अनन्तर-वर्ती भाष्यों का अधिक प्रचार-प्रसार, नवीन विचारधारा के प्राबल्य में पूर्ववर्ती विचारों के प्रति स्वाभाविक शिथिलता का उद्भव आदि अनेक कारण उन व्याख्याग्रन्थों की अनुपलब्धि के कहे जा सकते हैं। सम्भव है, कभी राजनैतिक, प्रशासनिक तथा दैवी विपदाओं एवं उत्पातों का प्रभाव भी उस साहित्य के अनुपलब्ध हो जाने का कारण रहा हो, पर इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलता हुआ जो प्राचीन दार्शनिक एवं तत्संस्पर्शी साहित्य उसके अनुरागी सेवकों द्वारा आज तक सुरक्षित व उपलब्ध है, उसके आधार पर अनेक ऐसे संकेत प्राप्त हैं, जिनसे ब्रह्मसूत्रों के विभिन्न भाष्यकारों का पता लगता है।

उस प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ब्रह्मसूत्रों पर किसी रूप में विवेचन करने वाले जिन प्राचीन आचार्यों का पता लगता है, उनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं— बोधायन, उपवर्ष, भर्तृप्रपञ्च, सुन्दरपाण्डच, द्रमिड, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, गुहदेव, कपर्दी आदि। इनके सैद्धान्तिक व ऐति-हासिक विवरण प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास है, पर इसके लिए कोई निश्चित साधन उपलब्ध नहीं हैं कि इन सभी आचार्यों ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखे थे; फिर भी ये आचार्य वेदान्त-सम्बन्धी अध्यात्म की परम्परा में प्रतिष्ठित रहे हैं, यह निश्चित है। सम्भव है, इनमें से अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्रों पर तथा कुछ ने उपनिषद् आदि पर अथवा दोनों पर भाष्य लिखे हों, पर आज इनका पूरा विवरण देने के लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं है; अत्यन्त सीमित साधन केवल इतना है कि अनन्तर-काल के आचार्यों ने अपनी रचनाओं में इनका उल्लेख किया है। कतिपय भाष्यकारों के सन्दर्भ भी उद्धृत किये गये उपलब्ध होते हैं। इस प्रकरण में आचार्य शंकर, उसके पूर्ववर्त्ती तथा कतिपय उत्तरवर्त्ती व्याख्याकारों के विषय

में विवरण प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है। सर्वप्रथम प्राचीन व्याख्याकार बोधायन का नाम आता है।

वृत्तिकार बोधायन

सम्भवतः ब्रह्मसूत्रों के अभी तक ज्ञात व्याख्याकारों में सबसे प्राचीन बोधायन है। आचार्य रामानुज ने 'श्रीभाष्य' नामक ब्रह्मसूत्र-व्याख्या के प्रारम्भिक भाग में लिखा है—भगवान् बोधायन द्वारा रचित विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्रवृत्ति को पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त किया। उनके प्रदर्शित मत के अनुसार सूत्राक्षरों की व्याख्या की जाती है।[1] आचार्य रामानुज के इस लेख से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में ब्रह्मसूत्रों पर बोधायन ने अतिविस्तृत वृत्ति की रचना की थी, जिसका संक्षेप कालान्तर में अन्य आचार्यों ने किया। रामानुज ने अपनी सूत्रव्याख्या में उनका अनुसरण किया है। स्पष्ट है, वे आचार्य रामानुजाचार्य से पर्याप्त प्राचीन थे।

आचार्य रामानुज के इस कथन की पुष्टि में **'प्रपञ्चहृदय'** नामक ग्रन्थ का लेख द्रष्टव्य है। वहाँ लिखा है—'साङ्गोपाङ्ग वेद के पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड में विभक्त, समस्त अर्थों का विचार करनेवाला मीमांसाशास्त्र है। यह शास्त्र बीस अध्यायों में है। इसमें सोलह अध्याय का पूर्वमीमांसाशास्त्र है, जिसमें पूर्वकाण्डगत धर्मविषयक विचार किया गया है; यह रचना आचार्य जैमिनि की है। उससे अतिरिक्त चार अध्याय का उत्तरमीमांसाशास्त्र है, जो उत्तरकाण्डगत ब्रह्मविषयक विचार को प्रस्तुत करता है; इसकी रचना व्यास ने की। उस बीस अध्यायों में निबद्ध मीमांसाशास्त्र का 'कृतकोटि' नामवाला भाष्य बोधायन ने किया। उस ग्रन्थ के अतिविस्तृत होने के कारण उसमें से कुछ उपेक्षित कर आचार्य उपवर्ष ने उसका संक्षेप किया।[2]

इन विवरणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है—बोधायन मुनि ने ब्रह्मसूत्रों पर 'कृतकोटि' नामक एक विस्तृत व्याख्या की रचना की थी। उसके अति-

---

१. भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते'। [श्रीभाष्य १।१।१।]

२. 'साङ्गोपाङ्गस्य वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्डसंभिन्नस्याशेषवाक्यार्थविचारपरायणं मीमांसाशास्त्रम्। तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम्। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रं पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्। तदन्यदध्यायचतुष्कमुत्तरमीमांसाशास्त्रमुत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्। तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम्। [प्रपञ्चहृदय, उपाङ्ग प्रकरण, पृ० ३९]

विस्तृत होने के कारण कालान्तर में आचार्य उपवर्ष ने उसका संक्षेप किया। ऐसा होता रहा है कि विस्तृत ग्रन्थों के अध्ययन में असुविधा का अनुभव कर आचार्य-जन अध्येताओं की सुविधा के लिए ऐसे ग्रन्थों का संक्षेप कर दिया करते थे। बोधायन की ब्रह्मसूत्रवृत्ति के विषय में ऐसा प्रयत्न आचार्य उपवर्ष का था।

बोधायन नाम पर अन्य रचना—वैदिक कल्पसूत्रों के रचयिताओं में एक बौधायन नाम आता है। बौधायन के गृह्य, श्रौत और धर्मसूत्र उपलब्ध होते हैं। यह निर्धारण किया जाना कठिन है कि ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार बोधायन तथा कल्पसूत्र-कार बौधायन कोई एक व्यक्ति था, अथवा पृथक्। फिर भी यह निश्शंक माना जा सकता है कि वृत्तिकार बोधायन ज्ञानकाण्ड के समान कर्मकाण्ड का भी विशेषज्ञ आचार्य था। स्पष्ट है उसने जैमिनीय मीमांसासूत्रों पर विस्तृत वृत्ति लिखी थी। यह सम्भव है, कर्मकाण्ड का विवरण प्रस्तुत करनेवाले कल्पसूत्रों की रचना उसी व्यक्ति ने की हो। कल्पसूत्रों के गम्भीर अध्ययन से कदाचित् इस दिशा में कुछ संकेत प्राप्त हो सकें।

इस विषय में यह ध्यान रखने की बात है कि ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार व्यक्ति का नाम बोधायन तथा कल्पसूत्रकार का नाम बौधायन उपलब्ध होता है। नाम का यह अल्पभेद व्यक्ति के एक होने में भ्रान्ति का जनक हो सकता है; और यह भी सम्भव है कि इन नामोंवाले व्यक्ति परस्पर भिन्न हों। धर्मसूत्र में बौधायन अनेक स्थलों पर अपने मत का अपने नाम से उल्लेख करता है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि उस काल में ग्रन्थकारों द्वारा अपने मत का अपने नाम से उल्लेख किये जाने की परंपरा चिरकाल तक चालू रही है।[1] परन्तु दो-एक स्थल [३।६।२०] ऐसे हैं, जहाँ नाम के साथ 'भगवान्' पद का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग अपने लिए किया जाना परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। इससे प्रतीत होता है—धर्मसूत्र-कार से अतिरिक्त इस नाम का कोई प्राचीनकालिक व्यक्ति रहा होगा। पर इस नाम के पाठ में बड़ी गड़बड़ यह है कि नाम के सभी स्थलों पर धर्मसूत्र के मैसोर संस्करण में 'बोधायन' पाठ है, और उन्हीं स्थलों पर आनन्दाश्रम संस्करण में 'बौधायन' पाठ है। यह नाम-विपर्यास इस सन्देह को पुष्ट करता है कि क्या इन दोनों पदों से एक ही व्यक्ति का निर्देश किया गया समझना चाहिए?

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौधायन-गृह्यसूत्र [३।६।६] के ऋषितर्पण प्रसंग में प्राचीन ऋषि, मुनि व मान्य आचार्यों की गणना करते हुए

---

१. वेदान्त, मीमांसा आदि दर्शनग्रन्थ, कौटलीय अर्थशास्त्र, आयुर्वेद चरक आदि तथा अन्य भी विभिन्नविषयक तात्कालिक रचनाओं में अपने मत का अपने नाम से उल्लेख किये जाने की परम्परा स्पष्ट देखी जाती है।

एक प्रवचनकार 'कण्व बोधायन' का उल्लेख है।[1] यह व्यक्ति निश्चितरूप से कल्पसूत्रकार बौधायन की अपेक्षा प्राचीन होना चाहिए। विभिन्न काल में इस नाम के अनेक व्यक्तियों का होना इससे प्रमाणित होता है। गृह्यसूत्रवर्णित ऋषि-तर्पण की सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्पसूत्रकार बौधायन से प्रवचनकार बोधायन अतिरिक्त व्यक्ति था, एवं उससे बहुत पूर्वकाल में हो चुका था, इसी कारण तर्पण की ऋषि-सूची में उसका नाम आ सका।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि पूर्वोत्तरमीमांसा-वृत्तिकार बोधायन ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनों विषयों का विशेषज्ञ था। उसने उन विषयों पर ग्रन्थों की रचना की और शिष्यों को अध्यापन कराया; ये दोनों स्थितियाँ उसके प्रवचनकार होने को स्पष्ट करती हैं। यह सम्भव है, प्रवचनकार बोधायन ही मीमांसावृत्ति-कार बोधायन रहा हो। ऐसी दशा में कल्पसूत्रकार और वृत्तिकार बोधायन को भिन्न व्यक्ति माना जाना अधिक प्रामाणिक है।

वृत्तिकार बोधायन का उल्लेख—आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में बोधायन का अनेकत्र उल्लेख किया है। अपने भाष्य का प्रारम्भ ही आचार्य ने बोधायन तथा उसकी ब्रह्मसूत्रवृत्ति का नाम लेकर किया, जिसका अभी पिछली पंक्तियों में उल्लेख हुआ है। बोधायन की वृत्ति के अनेक वाक्य रामानुजभाष्य में उद्धृत किये गये हैं।[2] आचार्य शंकर ने यद्यपि बोधायन का कहीं नामोल्लेख नहीं किया, परन्तु कतिपय सूत्रों के भाष्य में की गई आलोचनाओं को शांकरभाष्य के विवरणकारों ने 'वृत्तिकार' की आलोचना बताया है।[3] यह 'वृत्तिकार' ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत 'कृतकोटि' नामक व्याख्या लिखनेवाला बोधायन अथवा उसकी विस्तृत वृत्ति का संक्षेप करनेवाला उपवर्ष हो सकता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दो स्थलों पर नाम लेकर आचार्य उपवर्ष का उल्लेख किया है,[4] तथा नाम के साथ 'भगवत्' पद का प्रयोग है।[5]

बोधायनकाल साहित्यिक विवरण के आधार पर—इस विषय का कुछ

---

१. **'आत्रेयाय पदकाराय कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय कण्वाय बोधायनाय प्रवचन-काराय आपस्तम्बाय सूत्रकाराय···।'** [बौ० गृ० ३।९।६]

२. द्रष्टव्य—ब्र०सू० १।१।१॥ १।२।१॥ १।३।३२॥ कतिपय स्थलों में 'वाक्य-कार' पद से भी बोधायन का उल्लेख होना विद्वानों ने माना है। देखें—ब्र० सू० १।१।१॥ १।३।१३॥

३. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, ४।३।१४॥

४. देखें, ब्र० सू० शां० १।३।२८॥ ३।३।५३॥ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० ६२–६५।

५. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ का 'उपवर्ष' प्रसंग।

उल्लेख प्रसंगवश गतपृष्ठों [६२ से ६५] में हुआ है। प्रायः दर्शन के इतिहास-लेखकों ने किन्हीं अज्ञात भावनाओं से अभिभूत होकर इस वृत्तिकार की ओर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्रों पर अभी तक उपलब्ध अथवा संस्मृत जिन व्याख्याओं का पता लगता है, बोधायन की व्याख्या उन सब में प्राचीन है। यह सम्भव है कि वह व्याख्या उस परम्परा के उद्भवकाल से पूर्ववर्त्ती रही हो, जिसका प्रचार-प्रसार व पोषण आचार्य शंकर तथा उसके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने किया। आचार्य शंकर का दर्शन बौद्ध दार्शनिक विचारधारा से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित है। शंकर के अनन्तरवर्ती आचार्यों ने उसे 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहकर याद किया है, और उसे असंगत तक कहा है।[1] हमारा लक्ष्य यहाँ पर बौद्ध और शांकर दर्शन के साम्य-वैषम्य का विवेचन करना नहीं; केवल उस परम्परा के विषय में प्रकाश डालना अपेक्षित है, जो ब्रह्मसूत्रों के विषय में अथवा ब्रह्मसूत्रों के आधार पर अध्यात्म में बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व प्रचलित रही है। ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार बोधायन उसी परम्परा का अनुवर्त्ती अथवा पोषक आचार्य था, यह उसके विषय में मध्यकालिक लेखकों द्वारा निर्दिष्ट संकेतों से प्रकट होता है।

उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र आदि के रूप में अथवा उनके आधार पर अध्यात्म की जो परम्परा प्रचलित रही, उसमें–बुद्ध-प्रादुर्भावकाल के अनन्तर–कुछ नवीन उद्भावना की गई; उस मोड़ को आचार्य शंकर तथा उसके समीप पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने सुदृढ़ करने का अभिनन्दनीय प्रयास किया; उसका प्रभावशाली फल अब तक हमारे सन्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर भी उस प्राचीन परम्परा को सुरक्षित एवं सुदृढ़ रखने के प्रयत्न बराबर प्रगति पर रहे। विस्तृत भारतीय साहित्य के अन्य अंशों को एक ओर रख–जिनमें शांकरवाद की सफल आलोचना की गई है–ब्रह्मसूत्रों पर आचार्य शंकर के अनन्तर लिखे गये भाष्यों का भी इस दिशा में महान् योगदान रहा है। इनमें भास्कराचार्य, रामानुजाचार्य एवं श्रीकण्ठ आदि द्वारा किये गये भाष्यों का नाम मूर्द्धन्यरूप से सन्मुख आता है।

यद्यपि इस तथ्य को प्रकाशित करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि ये आचार्य शंकर की चतुरस्र प्रभावपूर्ण व्याख्यापद्धति से सर्वांश में अपने-आपको अछूता रखने में सफल नहीं रहे; यह सम्भव है कि अपने काल की साहित्यिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों तथा उद्भूत परम्पराओं से भी प्रभावित रहे

---

१. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।**
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

—पद्म० उ० ख०, २६३।७१-७२॥

वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।—वही, ७५॥

हैं; फिर भी अध्यात्म की प्राचीन परम्परा को–विविध विरोधों की परिस्थितियों में भी, उसकी सुरक्षा व प्रगति के लिए–सक्रिय योग देकर उन्होंने अपनी दृढ़ आस्था इस विषय में अभिव्यक्त की है। कम से कम उनकी इस विषय की भावना[1] के विषय में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

इन विवरणों की छाया में विचार करने से यह परिणाम सामने आता है कि वृत्तिकार बोधायन का काल बुद्धप्रादुर्भाव-काल से पूर्व होना चाहिए। यदि बोधायन की समस्त रचनाएँ उपलब्ध रही होतीं, तो इस विषय को अधिक स्पष्ट और निश्चित रूप मिल सकता था; पर उनकी अनुपलब्धि की अवस्था में अन्य बाह्य निर्देशों के आधार पर उपर्युक्त परिणाम को अपनी अभिव्यक्ति के लिए थोड़ा अवसर अवश्य मिल जाता है।

बोधायनकाल, ऐतिहासिक आधार पर—ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार बोधायन के प्रादुर्भावकाल का कोई निश्चायक सुपुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य में बिखरे हुए ऐसे निर्देश अवश्य पाये जाते हैं, जिनके आधार पर बोधायन के सम्भावित काल का अनुमान किया जा सकता है।

आचार्य रामानुज-रचित श्रीभाष्य [ब्रह्मसूत्रव्याख्या] के प्रारम्भिक सन्दर्भ तथा 'प्रपञ्चहृदय' नामक[2] ग्रन्थ के लेखानुसार बोधायन की अतिविस्तृत ब्रह्म-

---

१. **सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।**
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥

[भाष्करभाष्य, प्रारम्भिक सन्दर्भ]

आचार्य शंकर ने सूत्रकार के अभिप्राय को छिपाकर एक ओर कर अपना सिद्धान्त ब्रह्मसूत्रभाष्य के बहाने प्रकट किया है। उस अपव्याख्यान का प्रदर्शन कर यथार्थ रूप में सूत्र का आशय प्रकट करना इस भाष्य का उद्देश्य है।

आचार्य रामानुज ने प्रारम्भिक द्वितीय मंगललोक में कहा—

'पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिताम्।

पराशर-पुत्र वेदव्यास की इस वचनसुधा [ब्रह्मसूत्र] को विद्वज्जन सदा पान करते रहें, पूर्वाचार्यों ने जिसको सुरक्षित रक्खा है, इसी कारण जो विविध मतियों के प्रहार से दूर स्थित रह सकी है। भिन्न मतिवालों की चोट से रामानुज का संकेत शांकरभाष्य की ओर है। इसी कारण उसने आगे लिखा है कि भगवान् बोधायन की विस्तृत तथा पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये उसके संक्षेप में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हीं के अनुसार यह व्याख्या की जायगी [—**भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्ति पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः; तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते**]।

२. देखें, इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ६३ तथा १८३ पर (क) की टिप्पणी संख्या १ तथा १, २॥

सूत्रवृत्ति का आचार्य उपवर्ष ने संक्षेप किया, यह गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया। ऐतिहासिक[1] निर्देशों से यह ज्ञात है कि उपवर्ष, प्रसिद्ध व्याकरणग्रन्थप्रणेता पाणिनि के गुरु आचार्य 'वर्ष' का भाई था। पाणिनि का काल कतिपय आधुनिक विद्वानों ने बुद्धप्रादुर्भावकाल के समीप माना है; परन्तु कुछ विचारक पाणिनि को महाभारतयुद्ध के अनन्तर लगभग तीन सौ वर्ष के भीतर मानते हैं।[2] यद्यपि इन दोनों स्थापनाओं में काल का बहुत लम्बा अन्तर है, इनको सन्तुलित करने के साधन अभी तक किसी रूप में दृष्टिगोचर नहीं, फिर भी इनके आधार पर इतना निश्चय अवश्य होता है कि बोधायन बुद्धप्रादुर्भावकाल से पूर्ववर्त्ती था।

आधुनिक संसार के अग्रगामी राजनैतिक तथा उनसे प्रभावित साहित्यिक नेताओं ने बुद्ध का प्रादुर्भावकाल अब से लगभग ढाई सहस्र पूर्व माना है। इन पंक्तियों के लिखने से दस वर्ष पूर्व प्रायः समस्त देशों ने बुद्धप्रादुर्भावकाल की २५००वीं वार्षिकी के उपलक्ष्य में समारोह सम्पन्न किये थे। इनके परिणाम-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि आज का विज्ञ समाज बुद्धप्रादुर्भाव की इस पुण्यतिथि की ओर आकृष्ट है, और इसको निश्चित-जैसा मानता है। परन्तु यह विचार अनेक सन्देहों से भरा है। उनके सामञ्जस्य के लिए अभी तक कोई सुनिपुण प्रयास किया गया दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। महाभारतयुद्ध के अनन्तर आनेवाले राजवंशों की परम्परा का संशोधन अभी तक अछूता पड़ा है। जब यह कार्य यथासम्भव सर्वाङ्गपूर्ण रूप में निष्पक्ष व तथ्यानुसन्धान की भावना से किया जाकर सम्पन्न होगा, तब बुद्धप्रादुर्भाव की इस तिथि के संशोधन की आवश्यकता विज्ञ विचारक के सन्मुख स्पष्ट हो जायगी।[3] बोधायन का काल बुद्ध-प्रादुर्भाव से पूर्व मानने में इस संशोधन का कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका नहीं है। बोधायन के काल के विषय में अभी इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

बोधायन के उद्धृत सन्दर्भ—आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में बोधायनवृत्ति के अनेक सन्दर्भों को प्रसंगानुसार उद्धृत किया है। पाठकों की जानकारी और विवेचन में सुविधा के लिए उनको यहाँ एकत्र प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. कथासरित्सागर, १।२।४६—५४।।

२. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालकृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृ० ४१, तथा ४७२।। एवं पं० युधिष्ठिर मीमांसक-कृत 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, पृ० १८५—९७।

३. इस दिशा में कार्य करने का संकल्प है, यदि अचिन्त्यशक्ति भगवान् के वरदहस्त की छाया बनी रही।

१—तदाह वृत्तिकारः[1]—"वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा" इति।

२—वक्ष्यति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरैकशास्त्र्यम्—"संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः" इति।

३—वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम्—"वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्" इति।

४—"सकृत्प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्" इति पूर्वपक्षं कृत्वा।

५—"सिद्धं तूपासनशब्दात्" इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम्।

६—"उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिः, दर्शनान्निर्वचनाच्च" इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।

७—वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह "तल्लब्धि-र्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः संभवान्निर्वच-नाच्च" इति।

८—विवेकादीनां स्वरूपञ्चाह—"जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् काय-

---

१. श्रीभाष्य में कहीं 'वृत्तिकार' और कहीं 'वाक्यकार' नाम से सन्दर्भ उद्धृत किये गये हैं। 'वाक्यकार' अथवा 'छान्दोग्यवाक्यकार' पदों से आचार्य ब्रह्मनन्दी अभिप्रेत है, यह ब्रह्मनन्दी-प्रसंग में प्रतिपादित किया गया है। हमारा ऐसा विचार है कि यहाँ आचार्य रामानुज द्वारा 'वाक्यकार' पद से उद्धृत सन्दर्भ ब्रह्मनन्दी के हैं, तथा 'वृत्तिकार' पद से उद्धृत सन्दर्भ बोधायन के। वाक्यकार के सन्दर्भों को दोनों स्थलों [यहाँ तथा ब्रह्मनन्दी प्रसंग] में लिख दिया है।

हमारे सन्मुख श्री नरसिंहाचार्य-परिशोधित, आर० वेङ्कटेश्वर कम्पनी द्वारा आनन्द मुद्रायन्त्रालय से सन् १९०९ में प्रकाशित, रामानुज-कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य है। उसके पृ० ११ पर संख्या ७ का उद्धरण मुद्रित है। यह वाक्यकार के नाम से भाष्य में उद्धृत हुआ है; परन्तु इसपर चिह्न देकर टिप्पणी में इसे 'बोधायनवृत्ति' लिखा है। अन्य अनेक ऐसे स्थलों पर भी ऐसे उद्धृत वाक्यों के लिए टिप्पणी में 'वृत्तिः' आदि पदों का निर्देश किया है। 'वृत्तिकार' और 'वाक्यकार' पदों से उद्धृत सन्दर्भों के विषय में हमने अपना विचार पूर्व-पृष्ठ की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है।

उद्धृत पाठ का निर्देश अन्योक्ति-चिह्नों (" ") के भीतर किया है, तथा भाष्य के पूर्वापर वाक्यों को साथ दे दिया है, जिससे उद्धृत अंश का तात्पर्य सरलता से समझा जा सके।

शुद्धिर्विवेकः"[1] इति।

९—"विमोकः कामानभिष्वङ्गः"[2] इति।

१०—"आरम्भणसंशीलनं पुनः पुनरभ्यासः"[3] इति।

११—"पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया"[4] इति।

१२—सत्यार्जवदयादानहिंसानभिध्याः कल्याणानि"[5] इति।

१३—"देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः"[6] इति। तद्विपर्ययोऽनवसादः (श्रीभाष्य)।

१४—"तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः"[7] इति। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः। अतिसन्तोषश्च विरोधीत्यर्थः (श्रीभाष्य)।

१५—तथा च वाक्यकारः—"आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः" इति।

१६—वृत्तिरपि—"जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा" इति।

१७—वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः—"युक्तं तद्गुणकोपासनात्" इति।

१८—"आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्"[8] इति च वाक्यकारः।

---

१. अत्र निर्वचनम्—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' [छा० ७।२६।२] इति (श्रीभाष्य)।

२. 'शान्त उपासीत, [छा० ३।१४।१] इति निर्वचनम्' (श्रीभाष्य)।

३. निर्वचनं स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण 'सदा तद्भावभावितः' [गीता ८।६] इति। (श्रीभाष्य)। भाष्यकारपदेनात्र द्रमिलाचार्यः प्रतीयते।

४. निर्वचनम्—'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' [मु० ३।१।४] 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन [बृ० ६।४।२२] इति च। (श्रीभाष्य)।

५. निर्वचनम्—'सत्येन लभ्यः' [मु० ३।१।५], 'तेषामेवैषः···विरजो ब्रह्मलोकः' [प्र० १।१५-१६] इत्यादि। (श्रीभाष्य)

६. निर्वचनम्—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' [मु० ३।२।४] इति।

७. निर्वचनमपि—'शान्तो दान्तः' [बृ० ३।४।२३] इति। एवं नियमयुक्तस्याश्रमविहितकर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं भवति (श्रीभाष्य)। संख्या ८ से १४ तक के उद्धरण द्रमिलाचार्य के हैं। प्रस्तुत सूची की १० संख्या पर दी गई टिप्पणी से यह ज्ञात होता है, जो श्रीभाष्य के आधार पर है। ये सन्दर्भ द्रमिलाचार्य के प्रसंग में भी दे दिये गये हैं।

८. यहाँ तक समस्त उद्धरण प्रथम सूत्र के श्रीभाष्य में उद्धृत हैं।

१६—यथाह वृत्तिकारः—"सर्वं खलु [छा० ३।१४।१] इति सर्वात्मा ब्रह्मेशः" इति [ब्र० सू० १।२।१ पर]

२०—तदेतद्वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति—"तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेशः" इत्यादिना। [ब्र० सू० १।३।१३ पर]

२१—तदाह वृत्तिकारः—"अस्ति हि मध्वादिषु सम्भवो ब्रह्मण एवं सर्वत्र निचाय्यत्वात्" इति। [ब्र० सू० १।३।३२ पर]

२२—तदाह वृत्तिकारः—"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' [छा० ६।८।१] इति सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदवसीयते; 'प्राज्ञेनात्माना सम्परिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] इति चाह" इति।[1]

२३—तदाह वृत्तिकारः—"भूमा त्वेवेति भूमा ब्रह्म, नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्" इति।[2]

सिद्धान्त—ब्रह्म, जीवात्मा तथा प्रकृति की एकता व विभिन्नता के विषय में बोधायन का सिद्धान्त क्या रहा होगा, यह निश्चित रूप में कहना कठिन है। जब वेदान्त की चर्चा होती है, तब मुख्य रूप से चर्चा का यही विषय सामने आता है। इनकी एकता-अनेकता के आधार पर विशिष्ट सिद्धान्त का निश्चय किया जाता है।

बोधायन के उपर्युक्त बहुत थोड़े सन्दर्भ उपलब्ध हैं। यद्यपि इतने पर किसी निर्णय का किया जाना शक्य नहीं, फिर भी इन सन्दर्भों में ऐसे संकेत अवश्य हैं, जिनके आधार पर बोधायन के इस विषय के सिद्धान्त का आभास मिलता है।

(१) संख्या दो के उद्धरण में ऐसा भाव प्रतीत होता है—आचार्य बोधायन शारीरकमीमांसा—वेदान्त तथा षोडश अध्यायात्मक जैमिनीय मीमांसा को एक-शास्त्र अथवा समान-शास्त्र मानता है। इनकी एकता का आधार क्या होगा, यह कहना कठिन है। दोनों पूर्व-उत्तर मीमांसाओं का प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड है। पूर्व-मीमांसा में यज्ञादि कर्मों के विविध-विधान आदि का विवेचन है, जबकि उत्तरमीमांसा ब्रह्मविषयक विवेचन को प्रस्तुत करती है। इन दोनों में विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों के प्रतिपाद्य विषय भिन्न हैं, दोनों को एक-दूसरे के प्रतिपाद्य विषय के साथ कोई विरोध नहीं। मीमांसा ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वेदान्त यज्ञादि कर्मों को। ऐसे आधार पर इन दोनों की एकता स्वीकार की जाती रही हो, यह सम्भव है। इससे यह परिणाम सामने आता है, उस काल के अध्यात्मवादी आचार्य यज्ञादि

१. श्रीभाष्य, आनन्द प्रैस, मद्रास संस्करण, पृ० १६४।।
२. वही ग्रन्थ, पृ० २८६।। लक्ष्यप्रदेश—छा० अध्याय ७।

कर्मानुष्ठान को उपेक्ष्य नहीं मानते थे; जबकि शङ्कर के परवर्त्ती तदनुयायी अध्यात्मवादी ऐसा मानते रहे हैं।

(२) आचार्य शङ्कर और तदनुयायी आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि **"अहं ब्रह्मास्मि'** इत्यादि महावाक्य से साक्षात् आत्मबोध हो जाता है; इसके लिए निरन्तर उपासना आदि अनपेक्षित हैं। अध्यात्मवादियों की ऐसी परम्परा शङ्कर-काल से पर्याप्त पुरानी चली आ रही है। परन्तु बोधायन इस विचार को स्वीकार करता प्रतीत नहीं होता। चार से छह तक की संख्या के उद्धरणों में यह भावना अभिव्यक्त की गई है। चौथी संख्या के उद्धरण में पूर्वपक्ष का निर्देश है, जिस पक्ष को शङ्कर व उसके अनुयायिओं ने अपना अभिमत माना है। अगले दो सन्दर्भों में दूसरा विचार है। महावाक्य आदि के एक बार प्रयोग से आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं। उसके लिए उपासना का निरन्तर किया जाना आवश्यक है। उद्गीथ अथवा ओम् आदि नाम से भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहना उपासना है। इस प्रकार नाम की असकृत् आवृत्ति ही मोक्ष का साधन है। यही सिद्धान्त वाक्यकार नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मनन्दी आदि प्राचीन अध्यात्मवादी आचार्यों का रहा है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने भी इसी सिद्धान्त को माना है [४।१।१]।

(३) संख्या पन्द्रह के उद्धरण में आत्मा की मोक्ष-स्थिति का निर्देश प्रतीत होता है। मोक्षदशा में आत्मा को ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म के समान बताया है—**'समानो ज्योतिषा'**। परन्तु साथ ही आत्मा का ब्रह्म से भेद प्रकट कर दिया है—**'जगद्व्यापारवर्जम्'** कहकर। समानता सदा भेदघटित रहती है। मोक्षदशा में आत्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, इतनी समानता है। पर उस दशा में आत्मा जगत्-व्यापार-सम्बन्धी सामर्थ्य नहीं रखता। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा आत्माओं के कर्मफल-प्रदान आदि का सामर्थ्य केवल ब्रह्म को है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा मोक्षदशा में भी ब्रह्म से भिन्न अपना अस्तित्व रखता है। अन्यथा ब्रह्मानन्द का अनुभव कौन करे? और किसे जगद्-व्यापार से वर्जित कहा जाय? यह प्रसंग वेदान्त के एक सूत्र [४।४।१७] के अनुसार है। इससे स्पष्ट होता है. आचार्य बोधायन आत्मा और ब्रह्म में पूर्णरूप से भेद मानता है।

(४) संख्या अठारह के उद्धरण से यह विचार स्पष्ट हो रहा है कि आचार्य बोधायन इस जगत् को ब्रह्मरूप नहीं मानता था। छान्दोग्य [३।१४।१] के **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति'** सन्दर्भ की **'सर्वं खलु'** इतनी प्रतीक देकर उपनिषद् के ऐसे लेख का तात्पर्य बोधायन ने इन शब्दों से प्रकट किया है—**'सर्वात्मा ब्रह्मेशः'**। **'आत्मा'** पद का मूलधातु के अनुसार अर्थ है—सर्वत्र प्राप्त, अर्थात् सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी; तथा वह—**'ईशः'**—ईश, नियन्ता है। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी एवं इस समस्त विश्व का नियन्ता है, इसी कारण उपनिषत्कार ने

उक्त उद्गार प्रकट किये। उसका यह तात्पर्य नहीं कि यह विश्व ही ब्रह्म है। ब्रह्म का नियम्य होने से विश्व को ब्रह्म से अनतिरिक्त कहा है। वस्तुतः विश्व ब्रह्म से भिन्न है। यह ऐसा वाक्य है, जैसे लोक में कहा जाता है—**'देवदत्त एव कुलम्'**, यद्यपि वस्तुस्थिति में कुल देवदत्त से अतिरिक्त रहता है। देवदत्त क्योंकि कुल का नियन्ता व पोषक है, इसी कारण वैसा प्रयोग किया जाता है। यही स्थिति उक्त उपनिषद्-वाक्य की है।

(५) जीवात्मा व ब्रह्म की एकता का उपपादन करने के लिए आचार्य शंकर ने कतिपय उपनिषद्-वाक्यों का आश्रय लिया है। उनमें एक वाक्य **'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'** [छा० ६।८।१] है। श्वेतकेतु को उसका पिता अध्यात्म-उपदेश के प्रसङ्ग से सुषुप्ति-दशा में आत्मा की स्थिति को समझा रहा है। प्रस्तुत वाक्य में **'सत्'** पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। उद्दालक आरुणि ने पुत्र श्वेतकेतु को कहा—हे सोम्य! सुषुप्ति-दशा में आत्मा **'सत्'** अर्थात् ब्रह्म के साथ सम्पन्न हो जाता है। इस **'सम्पत्ति'** का तात्पर्य आचार्य शङ्कर ने यह माना है—ब्रह्मचैतन्य जब मन में प्रतिबिम्बित होता है, तब वह जीव कहा जाता है। यह ऐसा ही है, जैसे किसी आदर्श अथवा स्वच्छ जल आदि में किसी पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। आदर्श आदि के न रहने पर प्रतिबिम्ब नहीं रहता, वह अपने वास्तविक बिम्ब-रूप में अवस्थित रहता है। इसी प्रकार सुषुप्ति-दशा में मन आदि से जीव का सम्पर्क नहीं रहता, तब वह अपने ब्रह्मरूप में अवस्थित रहता है। इसी बात को उपनिषत्कार ने उक्त वाक्य के आगे साथ ही स्पष्ट किया—**'स्वम् अपीतो भवति'**—अपने में लीन हो जाता है। इस विवरण के आधार पर कहा जाता है कि जीवात्मा और ब्रह्म में भेद नहीं है, वह एक ही तत्त्व है; स्थिति-भेद से अन्य प्रतीत होता है।

इस विषय में आचार्य बोधायन की सम्मति क्या है? यह स्पष्ट किये जाने से पहले आचार्य शङ्कर द्वारा दिये गये उदाहरणों पर ध्यान देना चाहिए। आदर्श अथवा जल आदि में जिस पुरुष का प्रतिबिम्ब कहा जाता है, वह केवल चेतन आत्मा के देह का प्रतिबिम्ब होता है, आत्मा अथवा आत्मचैतन्य का नहीं। प्रतिबिम्ब में कोई क्रिया दो कारणों से देखी जाती है—एक देह आदि बिम्बी की क्रिया से; दूसरे, प्रतिबिम्ब के आधार जल आदि में कम्पन आदि क्रिया से। परन्तु पुरुष आदि के प्रतिबिम्ब में कहीं भी स्वतः चैतन्य का अस्तित्व नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट होता है कि पुरुषचैतन्य का प्रतिबिम्ब कहीं नहीं होता। चैतन्य का प्रतिबिम्ब होना सम्भव नहीं। ऐसी दशा में ब्रह्मचैतन्य का मन में प्रतिबिम्ब मानना और उसे जीव कहना सर्वथा अप्रामाणिक है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह मान्यता मूलतः असंगत प्रतीत होती है कि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होता है।

उपनिषद् के प्रस्तुत वाक्य में सम्पत्ति का तात्पर्य है—बाह्य विक्षेपों से रहित हो जाना। सुषुप्ति-दशा में बाह्य एवं आन्तर साधन इन्द्रियाँ व मन सक्रिय नहीं रहते; आत्मा का तब बाह्य विक्षेपों से सम्बन्ध टूट जाता है। इसी अवस्था के विषय में कहा जाता है—मानो जीवात्मा ब्रह्म से सम्बद्ध हो गया है। जीवात्मा का ब्रह्म से सम्बद्ध होना यही है कि वह सांसारिक विक्षेपों से अलग हो जाय। वह अवस्था जीवात्मा को आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर प्राप्त होती है। सुषुप्ति-अवस्था तो अज्ञानमूलक है, तामसी है। उस दशा के साथ इसका केवल इतना साम्य है कि इसमें भी बाह्य विक्षेपों का अभाव रहता है। इस आधार पर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर प्राप्त होनेवाली अवस्था का किसी अंश तक बोध कराने के लिए सुषुप्ति-अवस्था का उदाहरण दिया जाता है। इसी स्थिति को ब्रह्म के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध कहा जाता है; अन्यथा जीवात्मा का सम्बन्ध तो सदा ही ब्रह्म से बना है।

आचार्य बोधायन के उद्धरणों के इक्कीसवें सन्दर्भ में ऐसा आशय प्रकट किया है। सम्पत्ति—ब्रह्मसम्बन्ध अथवा ब्रह्म के साथ जीवात्मा की एकरूपता—का निश्चय 'असम्पत्ति' के साथ किया जाना चाहिए—" **'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामवसीयते ।**" तात्पर्य है-सम्पत्ति हो जाने पर भी असम्पत्ति बनी रहती है। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मानन्द का अनुभव करना 'सम्पत्ति' है; पर उस दशा में अपनी स्वतन्त्र आत्मसत्ता को बनाये रखना 'असम्पत्ति' है। इससे स्पष्ट होता है, बोधायन आत्मा का अस्तित्व ब्रह्म से अतिरिक्त मानता है। इसके लिए बोधायन ने बृहदारण्यक [४।३।२१] का वाक्य प्रस्तुत किया —**'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः'** मोक्षदशा में जीवात्मा प्राज्ञ आत्मा—परब्रह्म परमात्मा—के साथ संपरिष्वक्त = सम्बद्ध रहता है। वह स्वयं परमात्मा है, ऐसा नहीं है। परमात्मा के साथ सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है—ब्रह्मानन्द का अनुभव करना। छान्दोग्य [६।८।१] के वाक्य में मोक्ष के साथ सुषुप्ति की समानता इसी रूप में प्रकट की गई है।

आचार्य उपवर्ष

ऐसे कतिपय उल्लेखों का निर्देश प्रथम[1] किया जा चुका है, जिनके आधार पर यह प्रमाणित होता है कि आचार्य उपवर्ष ने जैमिनीय मीमांसासूत्रों तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखे थे। 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ के लेख के अनुसार यह पता लगता है कि उपवर्ष का व्याख्याग्रन्थ 'कृतकोटि' नामक विस्तृत बोधायनवृत्ति का संक्षेप था। आचार्य शङ्कर के उपवर्षविषयक निर्देश[2] को यदि

१. देखें प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० ६२-६३, तथा १८।

२. **अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके**

प्रपञ्चहृदय के लेख के साथ सन्तुलित कर विचार किया जाय, तो उससे यह परिणाम स्पष्ट होता है कि आचार्य उपवर्ष ने बोधायनवृत्ति का जो संक्षेप किया, उसका स्वरूप ऐसा नहीं रहा होगा कि बोधायनवृत्ति के कुछ अंश छोड़ दिये गये हों, और कुछ अंश स्वीकार कर उनका संग्रह कर दिया गया हो; अर्थात् संक्षेप का वह कलेवर बोधायन के ग्रन्थ का ही चुना हुआ भाग रहा हो; प्रत्युत आचार्य बोधायन की विस्तृत व्यवस्था में जिन अर्थों व सिद्धान्तों का उपपादन किया गया था, आचार्य उपवर्ष ने उसका आश्रय लेकर संक्षेप में उन सब अर्थों को प्रस्तुत कर दिया।

तात्पर्य यह है कि आचार्य उपवर्ष का ग्रन्थ अपने रूप में स्वतन्त्र था। यह सम्भव है कि कुछ अंश अथवा कोई साधारण पदानुपूर्वी बोधायनवृत्ति के अनुरूप रहे हों, पर पूर्णरूप में उपवर्ष की व्याख्या ब्रह्मसूत्रों पर एक स्वतन्त्र रचना थी; भले ही दोनों व्याख्याग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्त समान हों। सैद्धान्तिक समानता के साथ कलेवर की लघुता ही संक्षेप कहे जाने का आधार सम्भव है।

उपवर्ष का काल—'बुद्धप्रादुर्भावकाल से पूर्व सूत्रों का अस्तित्व' शीर्षक के नीचे प्रथम इस विषय की चर्चा की गई है। उसके परिणामस्वरूप यह निश्चय है कि उपवर्ष का प्रादुर्भावकाल बुद्ध के अनन्तर नहीं है। यह निश्चय करना कठिन है कि इनके प्रादुर्भावकाल में परस्पर कितना अन्तर रहा होगा। यद्यपि तथाकथित बुद्धकाल [-ख्रीस्ट एरा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व अथवा अब से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व] निश्चित नहीं है। भारतीय साहित्यिक व ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार इसमें संशोधन का पर्याप्त अवकाश है। यह निश्चित है कि बुद्ध का जो काल निर्धारित हो, उपवर्ष का प्रादुर्भावकाल उससे पूर्व है।

उपवर्ष के उद्धरण—आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य में 'वृत्तिकार' अथवा 'वाक्यकार' के नाम से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनको आज तक विद्वान् बोधायन-वृत्ति के सन्दर्भ मानते आये हैं। उसी के अनुसार यहाँ गत पंक्तियों में बोधायन-प्रसंग में उनका संकलन कर दिया है।[1] उपवर्ष के नाम से कोई उद्धरण श्रीभाष्य में उपलब्ध नहीं है। इस विषय में श्रीभाष्य की प्रथम पंक्ति पर थोड़ा विचार

वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः [ब्र० सू० ३।३।५३]। इसी कारण भगवान् उपवर्ष ने प्रथम तन्त्र [मीमांसा] में आत्मा के अस्तित्व का विचार प्राप्त होने पर–शारीरक में इसका वर्णन करेंगे–यह कहकर प्रकरण का उपसंहार कर दिया है।' ऐसा कथन उपवर्ष की स्वतन्त्र रचना माने जाने पर सम्भव है।

१. हमारे विचार में 'वाक्यकार' नाम से उद्धृत सन्दर्भ आचार्य ब्रह्मनन्दी के हैं। वेदान्तविषयक दार्शनिक साहित्य में ब्रह्मनन्दी को 'वाक्यकार' अथवा 'छान्दोग्यवाक्यकार' के नाम से स्मरण किया जाता रहा है। देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ का ब्रह्मनन्दी प्रसंग।

करना अपेक्षित है। पंक्ति इस प्रकार है—

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते।

भगवान् बोधायन द्वारा रचित विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्रवृत्ति का पूर्वाचार्यों ने संक्षेप किया; उनके मत के अनुसार सूत्राक्षरों की व्याख्या की जाती है। इस विवरण से ज्ञात होता है, रामानुज के पूर्ववर्ती आचार्यों ने बोधायनवृत्ति का संक्षेप किया था। प्रपञ्चहृदय ग्रन्थ के अनुसार उस वृत्ति का संक्षेपकर्त्ता आचार्य उपवर्ष है। विचारणीय यह है कि इस सन्दर्भ के 'तन्मतानुसारेण' पद में 'तत्' सर्वनाम से किसका ग्रहण किया जाना चाहिए? संक्षेपकार उपवर्ष का, मूलवृत्तिकार बोधायन का, अथवा दोनों का? प्रत्यासत्तिन्याय से संक्षेपकार का ग्रहण प्राप्त होता है। तब यह कहा जा सकता है कि पूर्वाचार्यमत को प्रकट करने के लिए आचार्य रामानुज ने जो सन्दर्भ उद्धृत किये हैं, वे संक्षेपकार उपवर्ष के होने चाहिएँ।

सम्भवतः यह परम्परा—कि ये सन्दर्भ बोधायन के हैं—इस आधार पर प्रचलित रही हो कि संक्षेपकार का वही मत है, जो मूलवृत्तिकार बोधायन का है। उक्त सन्दर्भ में बोधायन का स्पष्ट नाम-निर्देश है, ऐसा मानकर 'तत्' सर्वनाम से दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। उस अवस्था में यह विवेक करना कठिन है कि उक्त उद्धृत सन्दर्भों में से कौन-सा किस ग्रन्थ का है, अथवा सब किसी एक ग्रन्थ के हैं। तात्पर्य यह कि आचार्य रामानुज के सन्मुख बोधायन का मूल वृत्ति-ग्रन्थ था, अथवा उपवर्षकृत उसका संक्षेप, इसका एकटूक निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। ऐसी अवस्था में यह सन्देह बना रहता है कि श्रीभाष्य में उद्धृत सन्दर्भ इन दोनों में से वस्तुतः किस ग्रन्थ के हैं।

यद्यपि आचार्य रामानुज के भाष्य में उपवर्ष के नाम से कोई उद्धरण उपलब्ध नहीं, परन्तु आचार्य शंकर ने एक वाक्य इस नाम से उद्धृत किया है।[1] शांकर-भाष्य के प्रासंगिक शब्दविषयक विचार में यह उद्धरण दिया गया है; सम्भव है, उपवर्ष के इसी प्रसंग के व्याख्याग्रन्थ का यह वाक्य हो। यह कहना कठिन है कि आचार्य शंकर ने इस वाक्य को उपवर्ष के ग्रन्थ से देखकर लिखा, या अन्यत्र उद्धृत को लिया, अथवा अध्यापन-प्रणाली से गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त किया।

शाबरभाष्य में उपवर्ष का उल्लेख—मीमांसादर्शन [१।१।५] के भाष्य में शबरस्वामी ने लिखा है—**"अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।"** शब्द से अर्थ का बोध कराने में केवल उच्चरित एवं

१. देखें—ब्रह्मसूत्र [१।३।२८ पर] शांकरभाष्य। वहाँ पाठ है—**"वर्णा एव तु न शब्दः' इति भगवानुपवर्षः।"**

श्रूयमाण वर्ण निमित्त होते हैं; उनसे अतिरिक्त कुछ अन्य 'स्फोट' आदि शब्द का स्वरूप नहीं है, जैसा कि अनेक वैयाकरण आचार्य कल्पना करते हैं। वैयाकरणों के मत में अर्थ का बोध कराने के लिए उच्चरित वर्णों से अतिरिक्त एक अन्य 'तत्त्व' की कल्पना की गई है, जिसका नाम 'स्फोट' रक्खा गया। किसी भी पद के समस्त वर्ण एक-साथ उच्चरित न होकर क्रमपूर्वक होते हैं; अगले वर्ण के उच्चारणकाल में पूर्ववर्ण ध्वस्त हो जाता है। ऐसी दशा में कोई पद संहितरूप से एक काल में उच्चरित होना सम्भव नहीं, अतः उन वर्णों में अन्तर्हित उस 'तत्त्व' की कल्पना वैयाकरण आचार्यों ने की, जो अर्थ की अभिव्यक्ति का निमित्त होता है। वह अर्थ को अभिव्यक्त—प्रकट करता है, इसी कारण उसको 'स्फोट' नाम दिया गया।

आचार्य उपवर्ष ने वैयाकरणों की इस मान्यता को चुनौती दी है। उसने केवल वर्णों को अर्थबोध का निमित्त माना है। अर्थबोध के लिए शब्द अथवा पदरूप में जो कुछ उच्चरित व श्रुत होता है, वह वर्णों के अतिरिक्त कुछ नहीं है; वहाँ वर्णों को छोड़ 'स्फोट' आदि का कोई अस्तित्व प्रतीत अथवा प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रसंग पर मीमांसा के उक्त सूत्र [१।१।५] की व्याख्या में शबरस्वामी ने तथा ब्रह्मसूत्र [१।३।२८] के भाष्य में आचार्य शंकर ने बहुत आकर्षक विवेचन प्रस्तुत कर, इस विषय के उपवर्ष के विचारों की प्रतियोगिता में वैयाकरणों के मत की असारता को स्पष्ट किया है।

यहाँ एक विशेष ध्यान देने की बात है—शबरस्वामी ने उपवर्ष के मत को जिस प्रौढ़रूप में प्रस्तुत किया है, आचार्य शंकर ने उसको और एक कदम बढ़कर किया। भिन्न शास्त्र तथा भिन्न लेखक होने पर भी अर्थ के उपपादन की समानता चमत्कारी व आश्चर्यपूर्ण है। एक ही अर्थ को मूल लेखक [उपवर्ष] ने विभिन्न स्थलों में विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।[1] इससे दोनों शास्त्रों के व्याख्याता के रूप में एक व्यक्ति उपवर्ष का पता लगता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि

---

१. **'गौः इत्यत्र–गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दः'**—शबरस्वामी।
'वर्णा एव तु शब्दः'—आचार्य शंकर।
उपवर्ष ने इन प्रसंगों की व्याख्या में अपने अभिप्राय को उसी आनुपूर्वी में अभिव्यक्त किया होगा, जिसका अनुकरण इन अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों ने किया है। उक्त शांकरभाष्य के पाठ को कतिपय भाष्यव्याख्याकारों ने [द्रष्टव्य भामती, १।३।२८] **'वर्णा एव तु न शब्दः'** इस रूप में 'न' पद घटित माना है। परन्तु यह पाठ भाष्यानुसारी नहीं है, यह निश्चित है। फिर भी भाष्य के अनेक संस्करणों में यही पाठ छापा जाता है, अन्य संस्करणों में 'न'-रहित पाठ है। भामती के भाष्यप्रतीक में यह पाठ 'न'-सहित कैसे हो गया, कहना कठिन है। स्वयं भामती का विवरण भी इस पाठ के अनुकूल नहीं है।

दोनों शास्त्रों के परवर्त्ती पृथक् व्याख्याकारों ने उपवर्ष के लिए समानरूप से 'भगवान्' पद का प्रयोग किया है। यह उसके प्रति आदरातिशय का द्योतक है, जो उन व्याख्याकार आचार्यों से उपवर्ष की पर्याप्त पूर्ववर्त्तिता को प्रकट करता है।

अन्य उपवर्ष (?)—कृष्णदेवरचित 'तन्त्रचूडामणि' नामक ग्रन्थ में लिखा है—शाबरभाष्य के ऊपर उपवर्ष की एक वृत्ति थी। इसका विवरण 'फ़िट्ज़ ऐडवर्ड हॉल' द्वारा संकलित 'इन्डैक्स टु संस्कृत फ़िलॉसफ़ी' [Index to Sanskrit Philosophy, by Fitz Edward Hall] के पृष्ठ १६७ पर दिया गया है।[1] कृष्णदेव के कथन का मूल अथवा मूल्य क्या है, इसकी सचाई का–गत-पृष्ठों में दिये गये उपवर्ष के प्रामाणिक विवरण से—पता लग सकता है। शबर-स्वामी स्वयं अपने भाष्य में 'भगवान्' पद के साथ उपवर्ष का उल्लेख करता है, जो इस तथ्य का द्योतक है कि उपवर्ष शबरस्वामी से पर्याप्त पूर्ववर्त्ती था। यह किसी प्रकार सम्भव नहीं कि वह उपवर्ष शाबरभाष्य पर वृत्ति लिखे। इस विषय में कृष्णदेव को स्पष्ट भ्रम हुआ है, यही सम्भव है। यदि किन्हीं प्रमाणों से यह निश्चित हो सके—जिसकी सम्भावना नहीं के बराबर है—कि शाबरभाष्य पर उपवर्ष की वृत्ति है, तो शाबरभाष्य पर वृत्ति लिखनेवाले किसी अन्य उपवर्ष की कल्पना की जा सकती है।

बोधायन तथा उपवर्ष की अभिन्नता (?)—श्री म० म० स० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने अपने एक[2] लेख में यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि बोधायन और उपवर्ष एक व्यक्ति के दो नाम थे—उपवर्ष सांस्कारिक नाम तथा बोधायन गोत्रनाम। प्राचीन काल में अनेक अन्य[3] व्यक्तियों के ऐसे नाम देखे जाते हैं। अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए लेखक का अधिक बल वेदान्तदेशिक नामक आचार्य की एक पंक्ति पर है, जो उसने आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य पर लिखी अपनी 'तत्त्वटीका' नामक रचना में दी है। वह सन्दर्भ इस प्रकार है—

"वृत्तिकारोपज्ञं स्वमतमाह-शब्दस्येति। अपिर्दूषणसमुच्चयार्थः। अत्र शाबरम्—'गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीयाः' इति भगवानुपवर्षः।

---

१. श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज कृत 'अच्युत' पृ० १२ के अनुसार।

२. द्रष्टव्य—Proceedings of Third Oriental Conference, पृ० ४६५–४६८। पूर्ण लेख हमारे सन्मुख है।

३. उक्त लेख में उदाहरणार्थ दिये गये नाम : १—काश्यप-कणाद-उलूक। २—वात्स्यायन-पक्षिल स्वामिन्। ३–आत्रेय-ब्रह्मनन्दिन्-टङ्क ४–अक्षपाद-गौतम।

वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इति स्यान्नाम।"[1]

आचार्य वेदान्तदेशिक का बोधायन और उपवर्ष की अभिन्नता में लिखा गया यह लेख स्वयं अपने में सन्दिग्ध है। लेखक ने 'स्यात्' क्रियापद का प्रयोग किया है, जो यह प्रकट करता है कि लेखक इस विषय में निश्चित नहीं है, उसे सन्देह है; वह केवल सुझाव देता है कि कदाचित्, वृत्तिकार बोधायन का ही नाम उपवर्ष हो। उसके इस मानसिक आन्दोलन का कारण क्या रहा होगा? कहा नहीं जा सकता। अवश्य इसके पीछे कोई सन्देह लेखक को उद्विग्न कर रहे थे, जिनको शान्त करने के लिए उसने यह सुझाव दिया। वृत्तिकार नाम से जो उद्धरण रामानुज के श्रीभाष्य में दिये गये हैं, उनकी आनुपूर्वी के विषय में आज हम इस निश्चय पर नहीं पहुँच सकते कि वह पाठ बोधायन की रचना का है अथवा उपवर्ष की रचना का, कारण—दोनों रचनाएँ आज हमारे सन्मुख नहीं हैं। इस समस्या को हमने बोधायन-प्रसंग के प्रारम्भ में अभिव्यक्त किया है। सम्भव है, यह समस्या वेदान्तदेशिक के सन्मुख रही हो। इसके समाधान के लिए उसने जो उपाय समझा, सुझा दिया।

आचार्य वेदान्तदेशिक अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का उद्भट विद्वान् रहा हो, इसमें किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए; परन्तु इतिहास के विषय में उसका अबाध ज्ञान रहा हो, इसमें सन्देह किया जा सकता है। यह निस्सन्दिग्ध कहा जा सकता है कि उस काल की अपेक्षा आज इतिहासविषयक साधन-सामग्री अधिक मात्रा में संकलित है। इस तथ्य के स्पष्ट लेख उपलब्ध हैं कि बोधायन की पूर्वोत्तर मीमांसाओं पर लिखी अतिविस्तृत 'कृतकोटि' नामक वृत्ति का आचार्य उपवर्ष ने अपने काल में संक्षेप किया।[2] इससे बोधायन और उपवर्ष का भिन्नकालिक भिन्न व्यक्ति होना स्पष्ट है।

आचार्य रामानुज ने उपवर्ष का कहीं उल्लेख नहीं किया। परन्तु शबर-स्वामी और शङ्कर ने नाम-निर्देशपूर्वक उपवर्ष का उल्लेख किया है, तथा एक वाक्य उद्धृत किया है। उनके ग्रन्थों में बोधायन नाम का निर्देश हमें उपलब्ध नहीं हुआ। रामानुजीय श्रीभाष्य की प्रथम पंक्ति से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि बोधायन की अतिविस्तृत वृत्ति का परवर्त्ती आचार्यों[3] ने संक्षेप किया। यह

---

१. तत्त्वटीका, कांजीवरम् ओरियण्टल लाइब्रेरी इन्स्टिट्यूशन सीरीज, नं० ६, तैलुगु संस्करण, १६०६। सुदर्शन प्रैस, कांजीवरम्। द्वितीय भाग, पृ० १४६, पंक्ति ७–१०।

२. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ का बोधायन-प्रसंग।

३. **'भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः'**। इसके अतिरिक्त **'प्रपञ्चहृदय'** का लेख है—**"तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसा-शास्त्रस्य 'कृतिकोटि' नामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्य-भयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम्।"** [उपाङ्गप्रकरण, पृ० ३६]

संक्षेप का संकेत उपवर्ष की ओर माना जा सकता है। इस संक्षेप के स्वरूप में उक्त समस्या का समाधान अन्तर्हित प्रतीत होता है, जिस समस्या से बाधित होकर आचार्य वेदान्तदेशिक ने सम्भवतः इन दोनों आचार्यों के एक होने का सुझाव सन्दिग्धरूप में कुछ झिझकते हुए अभिव्यक्त किया। उस समय यह समस्या नहीं रहती, जब हम समझ लेते हैं कि उपवर्ष द्वारा किया गया संक्षेप बोधायन की रचना के आधार पर एक स्वतन्त्र लघुकाय रचना है। फलतः बोधायन और उपवर्ष को एक व्यक्ति समझना नितान्त भ्रान्ति है।

वेदान्तदेशिक की 'तत्त्वटीका' के उक्त सन्दर्भ में पठित 'स्यात्' पद के साथ 'एव' पद को जोड़कर कतिपय[1] विद्वानों ने यह आशय प्रकट किया है कि बोधायन और उपवर्ष की अभिन्नता के विषय में ग्रन्थकार ने 'एव' पद का प्रयोग कर अपने निश्चय का अभिव्यञ्जन किया है, अतः 'स्यात्' पद के प्रयोग से यहाँ सन्देह की सम्भावना नहीं करनी चाहिए।

इस विषय में हमारा निवेदन है, 'एव' पद सन्देह को ही दृढ़ करता है; सन्देह को निवृत्त नहीं करता। ग्रन्थकार यदि यहाँ अपनी निश्चयात्मक भावना को अभिव्यक्त करता, तो उसे 'स्यात्' पद का प्रयोग करने की कोई अपेक्षा न होती; उस दशा में 'उपवर्ष इति बोधायनस्यैव नाम' इतना लिखना पर्याप्त होता। इसलिए 'स्यात्' पद के प्रयोग की भावना को 'एव' पद धूमिल नहीं करता, प्रत्युत उग्रता के साथ उजागर करता है। प्रतीत होता है, उन विद्वानों ने रामानुजभाष्य की प्रथम पंक्ति तथा 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ के सन्दर्भ की ओर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात नहीं किया।

इसके अतिरिक्त 'कथासरित्सागर' आदि ग्रन्थों तथा अन्य साहित्य में जहाँ उपवर्ष का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसके अपर नाम बोधायन का कोई संकेत नहीं है, और न बोधायन-सम्बन्धी वर्णनों में अपर नाम उपवर्ष का। इन दोनों के विवरण एक-दूसरे से पृथक् रूप में उपलब्ध होते हैं। 'कल्याण' के लेखक महोदय ने बोधायन की वृत्ति के 'कृतकोटि' नाम को लेकर जो त्रिकाण्डशेष और केशवनिघण्टु का प्रमाण दिया है—**'उपवर्षो हलभूतिः कृतकोटिरयाचितः'**, इससे बोधायन और उपवर्ष की एकता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कारण यह है—बोधायन की अतिविस्तृत वृत्ति का उपवर्ष ने संक्षेप किया, यह प्रमाणित है; इसके अनुसार सर्वथा सम्भव है कि लोक में उपवर्ष के किये गये संक्षेप का 'कृतकोटि' नाम से व्यवहार होता रहा हो। यह भी सम्भव है—संक्षेपकर्त्ता ने

---

१. द्रष्टव्य—गीता प्रैस, गोरखपुर से प्रकाशित मासिक पत्र 'कल्याण' का विशेषांक—'वेदान्त अङ्क' पृ० ६८३–८५। 'विशिष्टाद्वैत के तीन महाचार्य…' लेख। लेखक—श्री पं० श्री लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य जी।

अपनी रचना का स्वयं वही नाम रहने दिया हो। उसी आधार पर एक कोशकार ने वैसा लिखा, दूसरे ने उसका अनुसरण किया। कोश में उपवर्ष की पर्यायता के लिए बोधायन का कोई संकेत नहीं है। फलतः बोधायन और उपवर्ष भिन्नकालिक भिन्न व्यक्ति हैं, यह निश्चित समझना चाहिए। इस कारण 'पाराशर्यविजय' नामक ग्रन्थ के ११०वें पृष्ठ पर तथा अन्य सब स्थलों पर बोधायन और उपवर्ष का पृथक्-पृथक् उल्लेख सर्वथा प्रामाणिक है।

आचार्य गुहदेव

वैदान्तिक परम्परा के आचार्यों में आचार्य गुहदेव के नाम का उल्लेख वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचार्य रामानुजरचित वेदार्थ-संग्रह[1] में अन्य कतिपय प्राचीन आचार्यों के नामों के साथ गुहदेव का उल्लेख हुआ है। इन आचार्यों के नामों के साथ 'भगवत्' पद का प्रयोग होने से प्रतीत होता है—आचार्य रामानुज इन पूर्ववर्त्ती आचार्यों के प्रति अपने अन्तरात्मा में आदरातिशय की भावना रखता था।

रचना—आचार्य गुहदेव ने ब्रह्मसूत्रों पर कोई व्याख्याग्रन्थ लिखा था, या नहीं, इसका कोई संकेत कहीं से आजतक हमें उपलब्ध नहीं हो सका। पर सम्भावना है, अपने काल में आचार्य ने वेदान्त के मौखिक या लैखिक प्रचार के लिए अवश्य कोई अभिनन्दनीय प्रयास किया होगा। इसी कारण परवर्ती आचार्यों ने वेदान्त की परम्परा में उसका आदरपूर्वक उल्लेख किया है। श्रीनिवासदास की यतीन्द्रमतदीपिका[2] नामक रचना में अन्य कतिपय आचार्यों के साथ आचार्य गुहदेव का नामोल्लेख है।

सिद्धान्त—निश्चित है, यह आचार्य निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं था। वर्त्तमान वैष्णव सम्प्रदाय का उपजीव्य प्राचीन पाञ्चरात्र सम्प्रदाय माना जाता है। दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से इस आचार्य के विचार सम्भवतः वैसे ही रहे हों, जो बोधायन, भारुचि व द्रमिल आदि आचार्यों के थे। मन्तव्यों में कोई अवान्तर विभेद रहे हों—उसकी किसी रचना के उपलब्ध न होने से—इसका निर्धारण किया जाना सम्भव नहीं।

अध्यात्मदिशा में ब्रह्मज्ञान के लिए वह किस प्रक्रिया का अनुयायी था, इसका निर्णय किया जाना भी कठिन है; निर्विशेष ब्रह्मवाद की उद्भावना से पूर्व प्रायः सभी आध्यात्मिक आचार्य ब्रह्मप्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्म-उपासना-भक्ति आदि

---

१. वेदार्थ संग्रह, पृ० १९६, श्री राघवाचार्य द्वारा सम्पादित, आचार्यपीठ, बरेली संस्करण, संवत् २०१८।

२. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० १, वाराणसी संस्करण।

सभी का समान-जैसा उपयोग मानते रहे हैं। अध्यात्ममार्ग का यात्री यथावसर इन सभी का उपयोग मानते रहे हैं। अध्यात्ममार्ग का यात्री यथावसर इन सभी का उपयोग अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करता था। पूर्णवर्णित आचार्यों के विवरणों में इसका उल्लेख अनेकत्र हुआ है। यह अधिक सम्भव है कि आचार्य गुहदेव इस दिशा में उन्हीं प्रक्रियाओं को स्वीकार करता हो।

प्रादुर्भावकाल—आचार्य भारुचि के प्रसंग में यह उल्लेख किया गया है कि वैदान्तिक परम्परा के आचार्यों की नाम-सूची जो श्रीनिवासदास-कृत यतीन्द्र-मतदीपिका नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत की गई है, उसमें सम्भवतः यह ध्यान रक्खा गया है कि आचार्यों का नाम उनके कालक्रम के अनुसार निर्दिष्ट हो। उस सूची में व्यास एवं बोधायन के अनन्तर तथा भारुचि से पूर्व आचार्य गुहदेव का नाम अङ्कित किया गया है।[1]

यदि उक्त नाम-सूची को कालक्रमानुसार निर्दिष्ट किये जाने की मान्यता प्रदान की जाती है, तो आचार्य गुहदेव का काल आचार्य भारुचि के काल से पूर्व माना जायगा। भारुचि का काल विक्रम-सम्वत् प्रारम्भ होने से लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व के आसपास अनुमान किया गया है।[2] यह कहना कठिन है कि यह काल कितने वर्ष पूर्व रहा होगा। काल का यह अनुमान आचार्य शंकर के कालनिर्धारण पर अवलम्बित है, जिसका विवेचन आगे अध्यायों में किया गया है।

आचार्य भारुचि

अध्यात्म-परम्परा के आचार्यों में भारुचि का नाम प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय के वैदान्तिक साहित्य में इस आचार्य का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है। आचार्य रामानुज ने अपनी रचना वेदार्थसंग्रह[3] में कतिपय अपने पूर्ववर्त्ती प्राचीन वेदान्ताचार्यों का उल्लेख किया है।[4] उन मूर्द्धन्य आचार्यों में भारुचि का नाम है। आचार्य रामानुज द्वारा बड़े सत्कार व आदरपूर्वक इन

१. वहाँ का पाठ इस प्रकार है—**"व्यास-बोधायन-गुहदेव-भारुचि-ब्रह्मनन्दि-द्रमिलाचार्य-श्रीपरांकुशनाथ-यामुनमुनि-यतीश्वर प्रभृतीनां मतानुसारेण"** इत्यादि। [यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० १, वाराणसी संस्करण।

२. देखें, आचार्य भारुचि के विवरण में 'प्रादुर्भावकाल' प्रसंग।

३. वेदार्थसंग्रह, पृ० १९६; राघवाचार्यसम्पादित, आचार्यपीठ, बरेली से सं० २०१८ में प्रकाशित संस्करण। वहाँ का मूलपाठ इस प्रकार है—**"भगवद्बोधायनटङ्कद्रमिडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीत"** इत्यादि।

४. उल्लिखित आचार्यों के नाम हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिन्, द्रमिल।

आचार्यों का उल्लेख किये जाने से प्रतीत होता है—ये प्राचीन आचार्य उस निर्विशेष ब्रह्मवाद को मान्यता नहीं देते थे, जिसको परवर्त्ती आचार्य शंकर ने अधिक स्पष्टरूप में प्रस्तुत किया, और उसकी मान्यता को शास्त्रीय परम्परा में महत्त्वपूर्ण पद तक पहुँचाया। इन आचार्यों ने अपने काल में ऐसे साहित्य की रचना की, जो अध्यात्मशास्त्रीय ज्ञान के लिए उपयोगी था। वे रचनाएँ ब्रह्मसूत्र अथवा उपनिषदों पर किस सीमा तक रहीं, इसका स्पष्ट लेखा-जोखा किया जाना आज सरल नहीं है, जबकि वह साहित्य अनुपलब्ध हो चुका है।

श्रीनिवासदासरचित यतीन्द्रमतदीपिका नामक ग्रन्थ में भी अध्यात्मपरम्परा के अनेक आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है; वहाँ भी भारुचि[1] का उल्लेख है। इस आचार्य के विषय में विशेष जानकारी के लिए आज कोई स्पष्ट साधन उपलब्ध नहीं है। विस्तृत साहित्य में जहाँ-तहाँ जो कतिपय निर्देश मिलते हैं, उनके आधार पर प्राप्त प्रकाश को संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है।

रचना—ब्रह्मसूत्र अथवा उपनिषदों पर इसकी किसी रचना का स्पष्ट पता नहीं लगता; पर आचार्य रामानुज आदि ने जिस रूप में अथवा जिस रीति पर इस आचार्य का उल्लेख किया है, उससे अनुमान होता है—वेदान्तशास्त्र पर भारुचि की कोई रचना अवश्य रही होगी। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र पर आचार्य भारुचि की रचना के स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति [२।१२४] की मिताक्षरा-टीका में आचार्य असहाय और मेधातिथि के मतानुसार यह प्रकट किया गया है कि पिता के देहान्त हो जाने पर सम्पत्ति के बँटवारे में भाइयों को चाहिए कि सम्पत्ति का चतुर्थ भाग अपनी अविवाहित बहनों को देवें। तात्पर्य यह कि दायभाग में अविवाहित कन्या का अधिकार है। परन्तु आचार्य भारुचि का मत इसके विपरीत है। उसका कहना है कि अविवाहित कन्या के लिए सम्पत्ति का चतुर्थ भाग देने का जो निर्देश है, उसका तात्पर्य केवल विवाहोपयोगी धन देने में है। भाइयों का कर्त्तव्य है, वे अपनी अविवाहित बहनों का अपेक्षित धन आदि व्यय कर विवाह कर दें। इससे कन्या का दायभाग में अधिकार नहीं रहता।[2] इस प्रसंग [२।१२४] की

१. वहाँ नाम हैं—व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रमिलाचार्य, श्रीपरांकुशनाथ, यामुनमुनि, ज्योतीश्वर, [यतीन्द्रमतदीपिका; वाराणसी संस्करण, सन् १९०७, पृ० १]। वहाँ मूल पाठ इस प्रकार है—**"वेदान्तवाक्यैः प्रतिपादयतां व्यास-बोधायन-गुहदेव-भारुचि-ब्रह्मनन्दि-द्रमिलाचार्य-श्रीपरांकुशनाथ-यामुनमुनि-यतीश्वर-प्रभृतीनां मतानुसारेण"** इत्यादि।

२. यह विवरण पराशरसंहिता की माधवकृत व्याख्या में उपलब्ध है। यह ग्रन्थ 'पराशरमाधवीय' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ लेख है—**"भारुचिस्तु चतुर्थभागपदेन विवाहसंस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं विवक्षितम्, अतो दायभाक्त्वमसंस्कृतकन्यानां नास्तीति मन्यते।"** [३।२; पृ० ५१०]।

मिताक्षरा व्याख्या में विज्ञानेश्वर ने असहाय और मेधातिथि के विचार को ठीक मानकर आचार्य भारुचि के मत को स्वीकार नहीं किया।

इसके अतिरिक्त 'सरस्वतीविलास' नामक ग्रन्थ [पृ० २० तथा ५१, मैसोर संस्करण] में भारुचि का नाम धर्मशास्त्रकार-रूप से उपलब्ध होता है। उससे प्रकट है—आचार्य भारुचि ने विष्णुधर्मसूत्र पर एक टीका लिखी थी, जिसमें अनेक सूत्रों के स्पष्टीकरण के लिए उसने गहन प्रयास किया। उदाहरणार्थ 'सरस्वतीविलास' के सन्दर्भ में ग्रन्थकार लिखता है—आचार्य भारुचि ने यहाँ 'बीज' पद का अर्थ 'पिण्ड' किया है।[1] 'सरस्वतीविलास' में अन्यत्र [पृ० ४२७] कहा है—आचार्य भारुचि ने विष्णुधर्मसूत्र के एक सूत्र में आये 'निष्कारण' पद का विवरण देते हुए लिखा है—दौहित्र को नाना का श्राद्धकर्म करने का अधिकार नहीं है, यदि नाना का पुत्र विद्यमान है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र [८।२१।२] की अपनी टीका में सुदर्शनाचार्य ने भारुचि के उक्त विचार का उल्लेख किया है, और भारुचि के कुछ पदों को उद्धृत किया है।[2] उसका आशय है, जब नाना अपुत्र हो, तो दुहिता का पुत्र नाना की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी होगा, और नाना का श्राद्धकर्म वही करेगा।

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है, आचार्य भारुचि ने विष्णुधर्मसूत्र पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी थी। विष्णुधर्मसूत्र की टीका लिखने के लिए भारुचि का इतना अधिक आकर्षण प्रकट करता है—अध्यात्मपरम्परा के वेदान्तमूलक सम्प्रदाय में वह पञ्चरात्र सम्प्रदाय का अनुयायी था, जो वर्त्तमान वैष्णव विचारधारा का उपजीव्य माना जाता है। सम्भवतः इसी कारण आचार्य रामानुज आदि ने उसका अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों में सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। अन्य

---

१. वहाँ पाठ है—**"यथाह भारुचिरेतद्विष्णुवचनव्याख्यानावसरे बीजशब्दः पिण्डवाचीति"** [स० वि०, पृ० ४२२-२३; मैसोर संस्करण], विष्णुधर्मसूत्र के जिस सूत्र में 'बीज' पद का प्रयोग है, वह सूत्र है—**'बीजग्रहणानुविधायमंशं गृह्णीयात्'**।

२. वहाँ का लेख है—**"अत्र भारुचिः—निष्कारणमिति वदता विष्णुना भङ्ग्यन्तरेण समनन्तरकर्तृणां पुत्रादीनां विद्यमानत्वे दौहित्रस्य (न) कर्तृत्वसंक्रान्तिरिति।"** [स० वि० पृ० ४२७], व्याख्यात विष्णुधर्मसूत्र है—**'दौहित्रस्य मातामहश्राद्धं निष्कारणम्'**। इस प्रसंग में सुदर्शनाचार्य का लेख है—**"इममेवार्थं भारुचिरप्याह—यस्मिन् पक्षे अपुत्रो मातामहः पुत्रिकासुतश्चाखिलद्रव्यहारी तस्मिन् पक्षे तस्य पिण्डदाननियमः—इत्यादिना ग्रन्थेन।"** [द्रष्टव्य—JBBRHS, सन् १९२५; पृ० २१०-११; तथा 'धर्मशास्त्र का इतिहास' श्री पाण्डुरंग वामन काणे कृत, पृ० २६४–६६]। उक्त पाठ को 'सरस्वतीविलास' ग्रन्थ से मिलाने पर देखा गया, वहाँ पाठ में 'न' पद नहीं है। हमने उसे कोष्ठक ( ) में कर दिया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के साहित्य के समान विष्णुधर्मसूत्र में वासुदेव व नारायण की पूजा एवं उपासना का विधान है। वासुदेव के चार व्यूहों का उसी प्रकार उल्लेख हुआ है। सूत्रव्याख्यान के लिए यह सब भारुचि के आकर्षण का कारण सम्भव हो सकता है। यह परिस्थिति इस बात की सम्भावना को अधिक दृढ़ बनाती है कि धर्मसूत्रव्याख्याकार भारुचि तथा वैदान्तिक आचार्यों की परम्परा में प्रतिष्ठित भारुचि एक ही व्यक्ति था। इस रूप में समान नाम के दो व्यक्ति माने जाने के लिए कोई स्पष्ट आधार नहीं है।

यह एक विचारणीय बात है कि सरस्वतीविलास नामक ग्रन्थ में विष्णुधर्मसूत्रगत जिन सूत्रों के भारुचि द्वारा किये गये विशेष विवरण का उल्लेख हुआ है, उन सूत्रों में से अनेक सूत्र वर्त्तमान प्रकाशित विष्णुधर्मसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। सम्भव है, भारुचि के सन्मुख विष्णुधर्मसूत्र का कोई बृहत्संस्करण रहा हो, जो आज उपलब्ध नहीं है।[1]

भारुचि का काल—अभी पिछली पंक्तियों में निर्देश किया गया है—रामानुज के वेदार्थसंग्रह तथा श्रीनिवासदास की यतीन्द्रमतदीपिका नामक रचनाओं में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ भारुचि का उल्लेख हुआ है। दूसरी रचना में नामों का जो क्रम है, उससे ज्ञात होता है—नामों की यह शृंखला कालिक क्रमानुसार प्रस्तुत की गई है। वहाँ सबसे पहला नाम 'व्यास' है, जो ब्रह्मसूत्रों के रचयिता के लिए दिया गया है।[2] दूसरा नाम 'बोधायन' है। इसका यथासम्भव उपलब्ध विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या लिखनेवाला सम्भवतः यह सर्वप्रथम आचार्य था। ब्रह्मसूत्रों के प्रथम व्याख्याकार के रूप में यह नाम है। तीसरा नाम गुहदेव और उसके अनन्तर चौथा नाम भारुचि का है।

भारुचि के अनन्तर ब्रह्मनन्दी और आगे द्रमिल का नाम है। द्रमिल आचार्य का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। वहाँ स्पष्ट किया है—द्रमिल आचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती है। यदि यह मान लिया जाता है कि यतीन्द्रमतदीपिका में किया गया नाम-निर्देश कालिक क्रमानुसार है, तो यह स्पष्ट है कि आचार्य भारुचि का काल द्रमिलाचार्य से पूर्व है, जो आचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती है। इतने प्रसंग से यह निश्चय करना कठिन है कि आचार्य द्रमिल अथवा भारुचि शंकर से कितने काल पूर्व हुए, अथवा भारुचि व द्रमिल में पूर्वापर-काल का कितना अन्तर

१. द्रष्टव्य—पाण्डुरंग वामन काणे कृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ० ७० एवं टिप्पणी, सं० ११८ तथा पृ० २६६।

२. इससे यह भी ज्ञात होता है कि उक्त ग्रन्थकार व्यास का अपर नाम बादरायण जानता रहा है, जिसका निर्देश ब्रह्मसूत्रों में सूत्रकार-रूप से विद्यमान है।

रहा होगा।

आचार्य शंकर का काल स्वयं अनिश्चित है। शंकर के काल का यथासम्भव निश्चयात्मक रूप सामने आने पर उक्त आचार्यों के काल का अधिक स्पष्टीकरण किया जा सकता है। आज का यह प्रवाद अथवा आधुनिक कतिपय विद्वानों का यह आघोष कि आद्यशंकराचार्य का काल ईसा की आठवीं शताब्दी है, सर्वथा अशुद्ध है। इसे 'आघोष' न कहकर 'आक्रोश' कहा जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। इस प्रसंग के अन्तिम भाग में आचार्य शंकर के काल का कुछ नवीन साधन-सामग्री के आधार पर निर्णय करने का प्रयास किया गया है। आज तथाकथित शंकरकाल के आधार पर उक्त आचार्यों के काल का अनुमान करना भी अशुद्ध होगा।[1]

यतीन्द्रमतदीपिका की नाम-सूची में द्रमिल के आगे श्रीपरांकुश, नाथमुनि और ज्योतीश्वर आचार्यों के नाम हैं। ये सभी आचार्य शङ्कर के परवर्त्ती हैं। आचार्य नाथमुनि के विषय में कहा जाता है कि ये आचार्य रामानुज के गुरु यामुनमुनि के पितामह थे। वेदार्थसंग्रह [पृ० १४६] में आचार्य रामानुज ने इनको आदर के साथ 'परमगुरु' कहकर स्मरण किया है। अपने गुरु के मान्य पूर्वज के प्रति यह आदरभाव स्वाभाविक है। आचार्य रामानुज और यामुनमुनि का प्रादुर्भावकाल अपेक्षाकृत अधिक निश्चित है। उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं। इसके अनुसार ईसवी सन् ९१६ के आसपास यामुनमुनि का प्रादुर्भावकाल कहा जाता है।[2]

आचार्य ज्योतीश्वर के अतिरिक्त शेष सभी आचार्यों का काल—जो यतीन्द्रमतदीपिका की सूची में निर्दिष्ट हैं—नाथमुनि से पूर्व है। किसी आचार्य का काल अपने परवर्त्ती आचार्य से कितना पूर्व है, साधनों के अभाव में ऐसा अनुमान किया जाना भी सन्देह से परे नहीं माना जा सकता; क्योंकि उक्त सूची में नाथमुनि से लेकर व्यासमुनि तक के आचार्यों का उल्लेख है। भारतीय परम्परा में व्यासमुनि को ब्रह्मसूत्रों का रचयिता माना जाता है, जिसका प्रादुर्भाव महाभारतयुद्ध के पूर्वसमकाल में हुआ। इतने लम्बे समय के अन्तरालों का ठीक-ठीक

१. वस्तुतः भगवान् बुद्ध और बुद्ध के पूर्वापर की कतिपय शताब्दियों में होनेवाले आचार्यों के काल के विषय में जो पाश्चात्य तथा उस विचारधारा के अनुयायी पौरस्त्य विद्वानों ने लिखा है, उसमें पुनः शोधन की अत्यन्त आवश्यकता है। सच देखा जाय, तो इनके कालविषयक कूप में पूर्णरूप से भाँग पड़ी है; नक्कटों की तरह जो उसका घूँट भरता है, वही राग अलापता रहता है। निष्पक्ष सत्यान्वेषी ऐतिहासिक विद्वानों का कर्त्तव्य है कि इसपर ध्यान देने का प्रयास करें।

२. द्रष्टव्य—पा० वा० काणे कृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ० २६४।

लेखा-जोखा सरल नहीं।

इस विवरण के अनुसार यदि यह स्वीकार किया जाता है कि यतीन्द्रमत-दीपिका में आचार्यों की नाम-सूची कालक्रमानुसार दी गई है, तो आचार्य भारुचि का काल, आचार्य शंकर के पूर्ववर्त्ती द्रमिलाचार्य से पहले माना जा सकता है, जिसमें कोई विशेष बाधा प्रतीत नहीं होती। यह समय विक्रम-संवत् के प्रारम्भ से लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व के आस-पास सम्भावना किया जा सकता है।[1]

द्रमिलाचार्य के प्रसंग में यह स्पष्ट किया है कि आचार्य ब्रह्मनन्दी द्रमिल का पूर्ववर्त्ती है। प्रस्तुत सूची में द्रमिल से पूर्व ब्रह्मनन्दी का निर्देश है, उससे पूर्व भारुचि का। यह स्थिति सूची-निर्देश के कालिक क्रम की सत्यता पर प्रकाश डालती है।

आचार्य ब्रह्मनन्दी अथवा टङ्क

वेदान्तमूलक अध्यात्मपरम्परा में ब्रह्मनन्दी नामक आचार्य ने अब से पर्याप्त समय पूर्व सुयश प्राप्त किया था। साहित्य आदि के आधार पर इसके विषय में जानकारी के लिए कोई उपयुक्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। प्राचीन वेदान्त सम्प्रदाय में 'ब्रह्मनन्दी' छान्दोग्यवाक्यकार[2] अथवा केवल वाक्यकार[3] के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के साहित्य में किसी एक वाक्यकार अथवा वार्त्तिककार का पता लगता है, वहाँ उसका नाम 'टङ्क' बताया गया है। विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय में 'ब्रह्मनन्दी' और 'टङ्क' दोनों नाम एक व्यक्ति के समझे जाते हैं। परन्तु यह कहाँ तक सत्य है, साधनों के अभाव में यह कहना कठिन है।[4]

---

१. यतीन्द्रमतदीपिका में आचार्य नाम-सूची सम्भवतः कालक्रमानुसार है, इसके लिए द्रष्टव्य—धर्मशास्त्र का इतिहास, पा०वा० काणेकृत, प्रथम भाग, पृ० २६५; १६३० ईसवी का पूना, भण्डारकर संस्करण।

२. द्रष्टव्य—भामतीटीका कल्पतरु, ब्र० सू० १।४।२७॥

३. भास्करभाष्य, ब्र० सू० १।४(२५)२६॥ तथा वेदार्थसंग्रह, श्री बालमुकुन्द-ग्रन्थमाला—११, आचार्यपीठ, बरेली-संस्करण, पृ० १८४। रामानुजाचार्य-कृत, वेदान्तश्रीभाष्य, १।१।१॥

४. द्रष्टव्य—सुदर्शनसूरिकृत तात्पर्यदीपिका, पृ० १४८। वहाँ लेख है—'टङ्को ब्रह्मनन्दी'। अर्थात् ये दोनों नाम एक व्यक्ति के हैं। यामुनाचार्य के 'सिद्धि-त्रय' ग्रन्थ के प्रारम्भ में कतिपय आचार्यों के नाम हैं—**'तथापि आचार्य-टङ्क-**भर्तृप्रपञ्च······' आदि। आचार्य पद पर टिप्पणी करते हुए टिप्पणीकार लिखता है—**'अत्र आचार्यो द्रमिलाचार्यः, टङ्को वार्तिककारः'** यह पीछे कहा गया है, वार्तिककार ब्रह्मनन्दी है। टङ्क वार्तिककार कहने से टङ्क और ब्रह्म-नन्दी एक व्यक्ति के नाम ज्ञात होते हैं। तथा द्रष्टव्य—श्री डॉ० गोपीनाथ कविराजकृत, अच्युत, पृ० १२।

रचना—आचार्य ब्रह्मनन्दी की कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है। पर प्रमाणों से स्पष्ट होता है, उसने अध्यात्म व वेदान्तविषयक अथवा मीमांसाविषयक ग्रन्थों की रचना की थी।

(क) वेदान्त-सम्प्रदाय में ब्रह्मनन्दी का—वाक्यकार अथवा छान्दोग्यवाक्य-कार नाम से—प्रसिद्ध होना इस तथ्य का द्योतक है कि छान्दोग्य आदि उपनिषदों तथा मीमांसा-वेदान्त आदि पर उसकी कोई विशिष्ट रचनाएँ अवश्य थीं।

(ख) तत्त्वमुक्ताकलाप की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका पर लिखे गये भाव-प्रकाश नामक टिप्पण में लेख है[1]—"कल्पतरु[2] में ब्रह्मनन्दी का मत प्रकट किया है—असत् से उत्पत्ति सम्भव नहीं; सत् से उत्पत्ति मानने में प्रवृत्ति ही न होगी, क्योंकि दोनों अवस्था सद्रूप होने से उनमें कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार सत्-असत् पक्ष के प्रत्याख्यान द्वारा पूर्वपक्ष दिखलाकर, सत् से उत्पन्न जगत् सब व्यवहारमात्र है, ऐसा उपपादन कर अनिर्वचनीय सिद्धान्त की स्थापना की है। इस कारण भास्कर द्वारा[3] उदाहृत ब्रह्मनन्दी का 'परिणामस्तु' इत्यादि वाक्य अध्यासमूलक परिणाम के अभिप्राय से कहा गया है।"

तत्त्वमुक्ताकलाप की साक्षी के साथ कल्पतरु तथा ब्रह्मसूत्रों के भास्करभाष्य में उद्धृत ब्रह्मनन्दी के सन्दर्भांशों से उसकी वेदान्तविषयक किसी रचना का होना प्रमाणित होता है।

(ग) संक्षेपशारीरक में सर्वज्ञातममुनि लिखता है—

अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति, प्रत्यग्गुणेति भगवानपि भाष्यकारः।
आह स्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे, संगच्छते न तु पुनः सगुणप्रवादे ॥[4]

इसपर व्याख्या करता हुआ अन्वयार्थप्रकाशिका-टीकाकार रामतीर्थ लिखता

---

१. **"कल्पतरौ [१।४।२७] च ब्रह्मनन्दिना हि—'नाऽसतोऽनिष्पाद्यत्वात्। प्रवृत्त्यानर्थक्यं तु सत्त्वाऽविशेषात्' इति सदसत्पक्षप्रतिक्षेपेण पूर्वपक्षमादर्श्य 'न संव्यवहारमात्रत्वात्' इति अनिर्वचनीयता सिद्धान्तिता। अतः 'परिणा-मस्तु' इति भास्करोदाहृतब्रह्मनन्दिवाक्यम् अध्यासपरिणामाभिप्रायम्,* इत्युक्तम्।'** तत्त्वमुक्ताकलाप, १०वें श्लोक की व्याख्या, पृ० ३४८।

२. ब्रह्मसूत्र [१।४।२७] पर शाङ्करभाष्यटीका भामती की व्याख्या कल्पतरु।

३. ब्रह्मसूत्र, भास्कर भाष्य, १।४।(२५) २६॥

४. संक्षेपशारीरक, ३।२२१॥

---

* भावप्रकाश के इस पाठ के स्थान पर वेदान्तकल्पतरु में 'मिथ्यापरिणामाभि-प्रायम्' पाठ है।

है[1]—ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ में अद्वैतपक्ष ही विवक्षित है, परिणाम आदि नहीं ? यह सब उसके [ब्रह्मनन्दीकृत ग्रन्थ के] व्याख्याकार द्रविडाचार्य के कथन से निश्चय होता है। इसी को 'अन्तर्गुणा' इत्यादि सन्दर्भ से कहा है।···'अन्तर्गुणा' पद की व्याख्या भाष्यकार ने 'प्रत्यग्गुणा' की है अर्थात् परदेवता प्रत्यगात्मरूपा है।··· प्रस्तुत श्लोक में 'भगवान् भाष्यकार' पद से सर्वज्ञ द्रमिलाचार्य अभिप्रेत है, जिसने ब्रह्मनन्दीकृत ग्रन्थ का भाष्य किया।

रामतीर्थ के लेख से स्पष्ट होता है—ब्रह्मनन्दी ने वेदान्तविषयक किसी ग्रन्थ की रचना की थी, उसका भाष्य द्रमिलाचार्य ने किया। इस प्रसंग—तथा वेदार्थ-संग्रह[2] आदि—के अनुसार निम्नलिखित सन्दर्भ एवं सन्दर्भांश ब्रह्मनन्दी की रचना के ज्ञात होते हैं—

(१) नाऽसतोऽनिष्पाद्यत्वात्। प्रवृत्यानर्थक्यं तु सत्त्वाऽविशेषात्।

(२) न संव्यवहारमात्रत्वात्।

(३) परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवत्।[3]

(४) अन्तर्गुणा भगवती परदेवता।

(५) युक्तं तद्गुणकोपासनात्।

(६) वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम्—"वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्" इति।

(७) "सकृत्प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्" इति पूर्व-पक्षं कृत्वा।

(८) "सिद्धं तूपासनशब्दात्" इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम्।

---

१. "अद्वैतमेव ब्रह्मनन्दिग्रन्थे विवक्षितं न परिणामादीत्येतत् तद्भाष्यकृद् द्रविडाचार्यवचनादवसीयत इत्याह—अन्तर्गुणेति। परदेवता सदाख्या···। अन्तर्गुणेत्यस्य व्याख्या प्रत्यग्गुणेति प्रत्यगात्मरूपेत्यर्थः।···भगवान् सर्वज्ञो भाष्यकारो नन्दिकृतग्रन्थभाष्यकारो द्रविडाचार्यः 'अन्तर्गुणा भगवती पर-देवता' इति यदाह स्म तदिह निर्गुणवस्तुवादे संगच्छते संगतं भवति न तु पुनः सगुणप्रवाद इति योजना। परदेवतायाः प्रत्यक्तत्त्वाभिधानमत्यन्ताद्वैतमत एव संगतं भवति नान्यत्रेत्यर्थः।"

२. तत्त्वमसीति सद्विद्यायामुपास्यं ब्रह्म सगुणं सगुणब्रह्मप्राप्तिश्च फलमित्यभि-युक्तैः पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम्। यथोक्तं वाक्यकारेण—'युक्तं तद्गुणकोपास-नात्' इति; व्याख्यातं च द्रमिलाचार्येण विद्याविकल्पं वदता—'यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्नदैवतं गुणगणं मनसाऽनुधावेत् तथाप्यन्तर्गुणामेव देवतां भजते' इति।" वेदार्थसंग्रह, आचार्यपीठ, बरेली-संस्करण, पृ० १८४।

३. ब्रह्मसूत्र [१।४।(२५) २६] के भास्करभाष्य के अनुसार।

(९) "उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिः दर्शनान्निर्वचनाच्च" इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम् ।

(१०) वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह—"तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः संभवान्निर्वचनाच्च" इति ।

(११) तथा च वाक्यकारः—"आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः" इति ।

(१२) वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः—"युक्तं तद्गुणकोपासनात्" इति ।

(१३) "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्" इति च वाक्यकारः ।[1]

(१४) तदेतद् वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति—"तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेशः" इत्यादिना ।[2]

इन आधारों पर आचार्य ब्रह्मनन्दी की वेदान्तविषयक किसी प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित रचना का होना निश्चित होता है ।

सिद्धान्त—आचार्य ब्रह्मनन्दी का उपर्युक्त साहित्य उपलब्ध न होने से उसके वेदान्तमूलक सिद्धान्तों के विषय में कुछ कहना कठिन है । जो कुछ परम्पराप्राप्त है, उसमें व्याख्याकारों ने मनमाना घपला मचाया है । आचार्य भास्कर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य[3] में उसे परिणामवादी बताया, परन्तु अद्वैत अथवा अनिर्वचनीयवाद में विश्वास रखनेवाले विद्वानों ने उसे अपने पक्ष का पोषक बताया है । इस विषय में भास्कर के विचार को उन लेखकों ने भ्रमपूर्ण कहा है ।[4]

---

१. संख्या ६ से १२ तक के उद्धरण प्रथम ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य से लिये गये हैं ।

२. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र, श्रीभाष्य, १।३।१३।। 'तस्मिन् यदन्तः' यह छान्दोग्य उपनिषद् [८।१।१] के सन्दर्भ की प्रतीक है । इसकी विवेचना के लिए सूत्रकार ने दहर अधिकरण [ब्र० सू० १।३।१४] की रचना की । रामानुज ने उसी सूत्र के भाष्य में वाक्यकार का उक्त वचन उद्धृत किया है । इससे दो बातों पर प्रकाश पड़ता है : एक—वाक्यकार ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्य की व्याख्या में उक्त वाक्य लिखकर उपनिषद्-वाक्य को स्पष्ट किया ; दूसरा—सम्भव है, ब्रह्मसूत्रों पर भी उसका कोई व्याख्याग्रन्थ रहा हो, जहाँ सूत्र [१।३।१४] की व्याख्या में यह वाक्य हो ।

३. "परिणामादिति । परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामासेत्यर्थः । ...सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी परिणामपक्षं सूत्रयांबभूव ।" ब्र० सू० [१।४।(२५)२६] पर भास्करभाष्य ।

४. "भास्करस्त्विह बभ्राम–योनिरिति परिणामादिति च सूत्रनिर्देशाच्छान्दोग्यवाक्यकारेण ब्रह्मनन्दिना 'परिणामस्तु स्यात्' इत्यभिधानाच्च परिणामवादो

भास्कर ने ब्रह्मसूत्र [१।४। (२५) २६] के भाष्य में ब्रह्मनन्दी का वाक्य उद्धृत किया है–**'परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवत्'**। सर्वज्ञातममुनि ने संक्षेपशारीरक [३।२२१] में ब्रह्मनन्दी का **'अन्तर्गुणा भगवती परदेवता'** वाक्य उद्धृत किया है। इसके 'अन्तर्गुणा' पद का भाष्य द्रमिलाचार्य ने **'प्रत्यग्गुणा'** किया; इसको भी सर्वज्ञात्ममुनि उद्धृत कर रहा है। रामतीर्थ ने इसकी व्याख्या की—धर्मपर्याय 'गुण' पद स्वरूप का बोधक है। इस प्रकार ब्रह्मनन्दी के 'अन्तर्गुण' पद का अर्थ इन व्याख्याकारों ने—प्रत्यगात्मस्वरूप—किया। ब्रह्म को ऐसा मानना अद्वैतमत में ही संगत हो सकता है, यह तात्पर्य उसका प्रकट किया।

'प्रत्यगात्मस्वरूप' पद का अभिप्राय क्या है, यह विचारणीय है। 'प्रत्यगात्मा' पद देहाभिमानी जीवात्मा के लिए प्रयुक्त माना जाता है। ब्रह्म का स्वरूप प्रत्यगात्मा है, अथवा प्रत्यगात्मा ब्रह्म का स्वरूप है, इस कथन का स्वारस्य समझना चाहिए। दोनों का अभेद कहते हुए, यह स्वीकार कर लिया जाता है कि ये दो हैं। दो का कथन तद्विषयक शास्त्रीय वर्णनों के आधार पर होता है। एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अनन्त आदि कहा जाता है; दूसरा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, देहान्तर्वर्त्ती, एकदेशी। तब इनके भेद का कारण ढूँढा जाता है और उसे अविद्याकृत बताया जाता है। पर यह सब व्याख्यान भेद का अपाकरण नहीं कर पाता। ब्रह्म अविद्या और जीवात्मा के पीछे चुपचाप बैठा, भेद-ऐसी निराधार चर्चाओं को बराबर झाँका करता है। ब्रह्म प्रत्यगात्मस्वरूप है, ऐसे कथन का स्वारस्यपूर्ण अर्थ केवल इतना समझना युक्त होगा कि प्रत्यगात्मा जिस प्रकार एक चेतनसत्ता है, वैसे ही परदेवता भी। प्रत्येक सुबोध व्यक्ति अपने विषय में ऐसी धारणा अनायास रख सकता है, जो स्वाभाविक रूप से सुलभ है। उसी के अनुसार वह परदेवता के विषय में चिन्तन करता है, और अपनी अल्पज्ञता व अल्पशक्ति आदि की प्रतियोगिता में शास्त्रानुमोदित समानचेतनसत्ता परदेवता की सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता आदि को समझने का प्रयास करता है। यह अधिक सम्भव है कि ब्रह्मनन्दी के 'अन्तर्गुणा' और उसके भाष्यकार द्रमिलाचार्य के 'प्रत्यग्गुणा' का आशय यही रहा हो। पर अद्वैतवादी लेखकों ने उसे अपनी कक्षा में घसीटने का पूरा प्रयास किया है।

अब वेदान्तकल्पतरुकार की इस आलोचना पर विचार कीजिए कि ब्रह्मनन्दी के **'परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवत्'** सन्दर्भ का अर्थ समझने में भास्कर को भ्रम

वृद्धसम्मत इति।" भामतीटीका—वेदान्तकल्पतरु, १।४।२७॥ अर्थात्—

भास्कर को तो इस विषय में भ्रम हुआ है कि—'योनिः' और 'परिणामात्' इस सूत्र-[१।४।२६,२७]-निर्देश से, तथा ब्रह्मनन्दी द्वारा 'परिणामस्तु स्यात्' इस कथन से परिणामवाद प्राचीन आचार्यों को सम्मत है।

हुआ है। वेदान्तकल्पतरुकार के अनुसार सूत्र [१।४।२६] के तथा ब्रह्मनन्दी के-'परिणाम' पद का अर्थ—मिथ्यापरिणाम अथवा अध्यासमूलक परिणाम है, वास्तविक परिणाम नहीं। पर आश्चर्य यह है कि न सूत्रकार ने और न ब्रह्मनन्दी ने मिथ्या या अध्यास पद का प्रयोग यहाँ किया है। वाचस्पति [१।४।२७] के अनुसार एकदेश या सर्वदेश से ब्रह्म का परिणाम सम्भव नहीं; तो जिसका सम्भव है, उसी के परिणाम का उल्लेख सूत्रकार द्वारा किया गया क्यों नहीं माना जाता ? इन सूत्रों [१।४।२३–२७] का ठीक अर्थ वही होना चाहिए, जिसके अनुसार जगत् को उस मूलतत्त्व का वास्तविक परिणाम कहा जा सके। अमलानन्द लिखता है[1]—"इस प्रकार सूत्र के 'परिणाम' शब्द का 'विवर्त्त' अर्थ करके योजना की है।" पर ऐसा क्यों करना पड़ा ? 'परिणाम' पद का प्रस्तुत प्रसंग में प्रयोग करनेवाले आचार्य क्या इस विशेषता से अनभिज्ञ थे ? वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक 'विवर्त्त' पद की पारिभाषिकता न ब्रह्मसूत्रकार के सामने थी, न ब्रह्मनन्दी के और न शङ्कर के। उन्होंने इस पद का प्रयोग ठीक उस मूल उपादानतत्त्व के लिए किया है, जिसका यह जड़ जगत् वास्तविक परिणाम है; वह तत्त्व है—त्रिगुणात्मक प्रकृति।[2] आचार्य शङ्कर ने जहाँ जगत् को ब्रह्म का कार्य बताया, वहाँ सर्वत्र परिणाम [ब्रह्म-परिणाम] पद का प्रयोग किया है। ब्रह्म के साथ एक स्थल में भी 'विवर्त्त' पद का प्रयोग नहीं है। इसके विपरीत जगत् को प्रकृति का परिणाम बताने के अवसर पर 'विवर्त्तते' क्रियापद का प्रयोग किया है।[3] इसका स्पष्ट अर्थ है कि आचार्य शङ्कर 'परिणाम' और 'विवर्त्त' पदों में अर्थकृत अन्तर न मानता था। यह कल्पना निश्चित रूप से परवर्ती व्याख्याकारों की है, जिन्होंने पूर्वाचार्यों के कथन का अभिलापन अपने विचारों के अनुसार करने का दुष्प्रयास किया है।

ब्रह्मनन्दी के सन्दर्भ में 'परिणाम' पद के अर्थ की स्पष्टता के लिए 'दध्यादिवत्' दृष्टान्त दिया गया है। क्या दूध का दधि-परिणाम मिथ्या है ? दृष्टान्त जिस अर्थ की सत्यता को अभिव्यक्त कर रहा है, उसे झुठलाना क्या युक्त व विद्वज्जनोचित कहा जायेगा ? भास्कर तो सूत्रकार के 'परिणाम'-पद-प्रयोग को श्रुत्यनुसारी कहता है। पर अद्वैतवादी व्याख्याकारों ने उसे और ही कुछ बना डाला है। यदि ब्रह्मनन्दी और भास्कर का यह आशय हो कि यह जगत् ब्रह्म का ऐसा परिणाम

---

१. **'एवं सौत्रपरिणामशब्दो विवर्त्तपरतया योजितः।'** वेदान्तकल्पतरु, १।४।२७॥

२. प्रस्तुत प्रसंग के सूत्रों की व्याख्या के लिए देखें, हमारी रचना—**ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य।**

३. **ब्र० सू० २।२।१ पर शांकरभाष्य–'···त्रिगुणं प्रधानं···पुरुषस्यार्थं साधयितुं ···विचित्रेण विकारात्मना विवर्त्तत इति।'**

है जैसा दूध का दही, तो उनका यह कथन संगत नहीं माना जा सकता। जहाँ तक ब्रह्मनन्दी के कथन का प्रश्न है, उसके पूर्वोद्धृत चार सन्दर्भों में पहले दोनों इस यथार्थता को स्पष्ट करते हैं कि यह सत् जगत् सत् का परिणाम है। सत् से सत् के परिणाम में प्रवृत्ति का आनर्थक्य नहीं होता; क्योंकि उस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस जगत् की सत्यता में हमारे समस्त व्यवहार सम्पन्न हो पाते हैं। तात्पर्य, यह जगत् सम्यक् व्यवहार के योग्य है, मात्र यही इसका प्रयोजन है। इसलिए सत् जगत् की उत्पत्ति के लिए सत् की प्रवृत्ति को अनर्थक नहीं माना जा सकता। इस कथन में द्वैत की भावना स्पष्ट रूप से अन्तर्निहित है। जगत् का वह मूल उपादान ब्रह्म न होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।

जो हो, यह विवेचन इस भावना से प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह समझने में कुछ सुविधा हो कि पूर्वाचार्यों के आशय को विभिन्न विचारों के व्याख्याकारों ने स्पष्ट करने के स्थान पर एक जिज्ञासु के लिए और चपले में डालकर उलझा दिया है। उपयुक्त साहित्य के अभाव में ब्रह्मनन्दी के निश्चित सिद्धान्तों के लिए कुछ भी कहना कठिन है।

वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग के सूत्र [१।४।२६,२७] के भाष्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"यह उपादान अथवा परिणाम आदि की भाषा इस अभिप्राय से नहीं है कि ब्रह्म में किसी विकार की सम्भावना हो; यह तो ऐसा ही है—जैसे सर्प का उपादान रज्जु है, वैसे इस जगत् का उपादान ब्रह्म समझना चाहिए। नित्य निरवयव ब्रह्म का सर्वात्मरूप से अथवा एकदेशरूप से परिणाम किसी प्रकार सम्भव नहीं, क्योंकि वह नित्य है और सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी है।··· अद्वैत की भावना से ही ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा गया है,···इतने कथन-मात्र से उसमें विकार आ जाने के प्रति आस्थावान् नहीं होना चाहिए।"[1]

इस लेख से स्पष्ट है—वस्तुस्थिति में ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं है। केवल अद्वैतभावना को बहलाने के लिए ऐसा कहा जाता है। इस कथन से ब्रह्म में विकार आ जाने के प्रति घबड़ाने की कोई बात नहीं। यदि ऐसा ही है, तो किस शास्त्ररूप डॉक्टर ने कहा है कि ब्रह्म को उपादान मानना ही चाहिए? वस्तुस्थिति यह है—न वह जगत् का उपादान है, न उसमें विकार की सम्भावना है। 'सर्प का उपादान रज्जु है'—इस दृष्टान्त पर ध्यान दीजिए। इसमें वक्ता

१. इयं चोपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेण, अपितु यथा सर्पस्योपादानं रज्जुरेवं ब्रह्म जगदुपादानं द्रष्टव्यम्। न खलु नित्यस्य निष्कलस्य ब्रह्मणः सर्वात्मनैकदेशेन वा परिणामः सम्भवति, नित्यत्वादनेकदेशत्वादित्युक्तम्।······तस्मादद्वैतोपक्रमादुपसंहाराच्च सर्व एव वेदान्ता ऐकान्तिकाद्वैतपराः······न तूपादानत्वाभिधानमात्रेण विकारग्रह आस्थेयः।

का स्वारस्य क्या है ? रज्जु में जब सर्प का ज्ञान होता है, वस्तुतः सर्प वहाँ उत्पन्न नहीं होता, उसका केवल आभास होता है। इसका तात्पर्य हुआ, सर्प के न होने पर भी सर्प का आभास हो जाता है; इसी प्रकार वस्तुतः जगत् ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होता, पर उसका केवल आभास होता है। सर्प के आभास का आधार रज्जु है, इसी प्रकार जगत् के आभास का आधार ब्रह्म है। न सर्प उत्पन्न हुआ, न उसका कोई उपादान। तब यह होता क्या है ? यह होता है रज्जुविषयक अज्ञान सर्पविषयक मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करता है। इसका तात्पर्य हुआ—आधारविषयक अज्ञान आधेयविषयक मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करता है। 'यह जगत् है' यह एक मिथ्याज्ञान है, यह ब्रह्मविषयक अज्ञान से पैदा हुआ है। इस आधार पर सर्प का उपादान रज्जु नहीं, अज्ञान है।

शांकर अद्वैत वेदान्त यहाँ फँसता है। प्रश्न यह है—यह ब्रह्मविषयक अज्ञान किसको है ? इसका आधार कौन है ? शांकर मत का उत्तर है—अज्ञान अनादि है। ऐसा मानने पर अद्वैत का डिण्डिम घोष निराधार रह जाता है। ब्रह्म के साथ अज्ञान को अनादि मानकर द्वैत का निषेध कैसे ? फिर एक अज्ञान क्या, शांकर वेदान्त छह अनादि पदार्थ मानता है। यह एक शब्दजाल का जादू ही समझना चाहिए कि इतने अनादि पदार्थों के मानने पर भी अद्वैत की रट लगाई जाती रहती है। फिर अज्ञान का आधार ब्रह्म को मानकर यह अच्छा शास्त्रीय ब्रह्म उपपादित किया गया, जो अनादि काल से अज्ञानी है ! एक मनघड़न्त अद्वैत की मिथ्या कल्पना को सत्य सिद्ध करने के प्रयास में न जाने कितने असत्यों की कल्पना करनी पड़ी है।

शास्त्रप्रतिपादित ब्रह्माद्वैत का स्वरूप क्या है ? इसे समझना चाहिए। उपनिषदों में पठित जिन वाक्यों के आधार पर ब्रह्म के अद्वैतभाव का प्रतिपादन किया जाता है, उनका ऐसा तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्रह्मातिरिक्त समस्त तत्त्वों का निषेध कर केवल एकमात्र ब्रह्मतत्त्व की सत्ता को वहाँ प्रकट किया गया हो। ब्रह्म में सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद से शून्य होने का जो वर्णन किया जाता है, वह केवल ब्रह्मविषयक समझना चाहिए। ब्रह्म एकमात्र तत्त्व है, न उसका सजातीय कोई अन्य ब्रह्म है, न विजातीय, और न स्वयं उस एकमात्र तत्त्व में कोई भेद, टूटफूट या उसके टुकड़े आदि होना सम्भव है। यह तात्पर्य ब्रह्म के शास्त्रीय अद्वैत वर्णन का है। इसमें अन्य तत्त्वों के निषेध की कोई भावना नहीं है।

जो हो, यह विवेचन इस भावना से प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह समझने में कुछ सुविधा हो कि पूर्वाचार्यों के आशय को—विभिन्न विचारों के व्याख्याकारों ने स्पष्ट करने के स्थान पर जिज्ञासु के लिए और अधिक बोझिल बना दिया है। व्याख्याकार अपने विचारों को उनपर आरोपित करते प्रतीत होते हैं।

उपयुक्त साहित्य के अभाव में ब्रह्मनन्दी के निश्चित सिद्धान्तों के लिए कुछ

भी कहना कठिन है। विभिन्न विद्वानों द्वारा उसके लेखों को अपने विचारों की पुष्टि में प्रस्तुत करने व अपने मन्तव्यों के अनुसार उनका व्याख्यान करने के प्रयास से यह एक निश्चित धारणा बनती है कि आचार्य ब्रह्मनन्दी अध्यात्मक्षेत्र में एक प्रतिष्ठित, आदरणीय एवं यशस्वी विद्वान् रहा है।

आचार्य ब्रह्मनन्दी का काल—आचार्य ब्रह्मनन्दी के काल के विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। पर यह निश्चय है, यह आचार्य शङ्कर का पूर्ववर्ती है। कितना पूर्ववर्ती है, यह कहना कठिन है। गत पृष्ठों में शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र का रचनाकाल अनुमान करने का प्रयास किया है। उसी के आस-पास आचार्य ब्रह्मनन्दी का प्रादुर्भाव-काल रहा हो, यह सम्भव है, जो अब से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व के समीप जाता है। इसके लिए हमारा कोई आग्रह नहीं; यदि सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर इसमें कुछ अन्तर हो जाय, तो कोई आपत्ति की बात नहीं।

द्रमिल और भारुचि के प्रसंगों में—यतीन्द्रमतदीपिका की आचार्य-नामसूची के अनुसार तथा अन्य निर्दिष्ट प्रमाणों के आधार पर आचार्य शङ्कर से पूर्व द्रमिल तथा उससे पूर्व ब्रह्मनन्दी का काल निश्चित होता है—यह प्रमाणित किया गया है। उसके अनुसार अब से तीन सहस्र वर्ष पूर्व के आसपास उसका काल सम्मान्य हो सकता है।

आचार्य भर्तृमित्र

भर्तृमित्र आचार्य का उल्लेख विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यामुनाचार्य ने अपनी रचना सिद्धित्रय के प्रारम्भ [पृ० ५-६] में भर्तृमित्र का उल्लेख किया है। जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में शब्द के नित्यानित्यविवेचन-प्रसंग में दो स्थलों [पृ० २१३, २२६] पर भर्तृमित्र का उल्लेख हुआ है। नैयायिक मत है—शब्द अनित्य है, अपने विभिन्न निमित्तों से उत्पन्न होता है। मीमांसक मत है—शब्द नित्य है, वह उत्पन्न न होकर तथाकथित निमित्तों के द्वारा केवल अभिव्यक्त होता है। जयन्त भट्ट ने नैयायिक तथा अन्य दार्शनिक मतों को सन्मुख रख इस प्रसंग में शब्द की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति-पक्षों को लक्ष्य कर अति आकर्षक एवं रुचिपूर्ण संवाद बहुत विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। यहाँ मीमांसकमत का निर्देशन आचार्य भर्तृमित्र के नाम से किया गया है। इस विवेचन के प्रसंग में कतिपय पद्य कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक से उद्धृत किये गये हैं।[1]

कुमारिल भट्ट ने स्वयं अपने श्लोकवार्तिक में आचार्य भर्तृमित्रविषयक विचार

---

१. द्रष्टव्य—न्यायमञ्जरी, पृ० २१२, २२१।

का संकेत किया है। कुमारिल का लेख है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे कर्त्तुमयं यत्नः कृतो मया ।।[1]

प्रस्तुत पद्य की अवतरणिका करते हुए वार्त्तिक का टीकाकार उम्बेक भट्ट लिखता है—वेदार्थ के ग्रहण और आवश्यक स्मरण के लिए उस-उस विषय के भर्तृमित्र आदि आचार्यों द्वारा विरचित 'तत्त्वशुद्धि' आदि लक्षण-प्रकरण-ग्रन्थ विद्यमान हैं, तब श्लोकवार्त्तिक की रचना अनावश्यक है। इस विचार के निवारण के लिए वार्त्तिककार ने कहा है कि लोक में प्रायः प्राचीन लेखकों के द्वारा मीमांसाशास्त्र लोकायतीकृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि उक्तशास्त्र की आस्तिक भावनाओं को नास्तिकता की ओर ले जाने का प्रयास हुआ है, उसे आस्तिकमार्ग पर लाने के लिए मेरा [वार्त्तिककार कुमारिल भट्ट का] यह यत्न है। क्योंकि मीमांसा सब आस्तिक शास्त्रों का अग्रणी है, समस्त पुरुषार्थसाधनों के परिज्ञान का मूल आधार है, ऐसे आस्तिक भावनाओं से पूर्ण [=अलोकायतम्] शास्त्र को बहुतायत से लोकायतरूप दिया गया है, सत्-स्मृति और सत्-आचार धर्म के प्रमाण हैं, इस यथार्थ का निराकरण किया गया है, तथा विधि और निषेध के इष्ट और अनिष्ट फलों को स्वीकार नहीं किया गया। केवल इतने आधार पर मीमांसा को नास्तिकशास्त्र से अलग हटाकर रक्खा गया है कि यहाँ विधिमूलक धर्म का निरूपण है। अन्य सब लोकायतशास्त्र के समान बना दिया गया है। ऐसे असत् व्याख्याताओं के कारण मीमांसा की प्रगति को जो असन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया गया, उसका उद्धार कर मीमांसा की आस्तिक मार्ग पर स्थापना करने के लिए इस वार्त्तिक ग्रन्थ के आरम्भ का प्रयत्न मेरे [कुमारिल भट्ट के] द्वारा किया गया है।[2]

कुमारिल भट्ट के श्लोक में संकेतित तथा भट्ट उम्बेक के विवरण से स्पष्टीकृत एक यह समस्या सामने आती है कि मीमांसा को लोकायतरूप किस प्रकार

---

१. मीमांसा प्रथम सूत्र के श्लोकवार्त्तिक का प्रारम्भिक भाग, श्लोक १०।

२. उम्बेक भट्ट का लेख इस प्रकार है—"**ननु वेदार्थग्रहणाविस्मरणार्थमपि तत्तद्भर्तृमित्रादिविरचिततत्त्वशुद्धयादिलक्षणप्रकरणमस्त्येवेति गतार्थमिदं वाक्यमित्यत आह—प्रायेणेति। मीमांसा हि सर्वास्तिकशास्त्राणामग्रणीः सर्वपुरुषार्थसाधनपरिज्ञानस्यैतन्निबन्धनत्वात्। सैवमात्मिका अलोकायतमेव सती बाहुल्येन लोकायतीकृता, सत्स्मृतिसदाचाराणां विना कारणेन धर्मप्रमाणत्वनिराकरणात्, विधिनिषेधयोरिष्टानिष्टफलानभ्युपगमाच्च। प्रायेणेति। चोदनाप्रमाणको धर्म इत्येतावन्मात्रेण नास्तिकशास्त्रादपसारिता, अन्यत्सामान्यमेव कृतमित्यर्थः। तामिमामसद्व्याख्यातृवशादसन्मार्गनिम्नामुद्धृत्यास्तिकपथे कर्त्तुं स्थापयितुं वार्त्तिकारम्भप्रयत्नः कृतो मयेति।**"

दिया गया, और वह रूप क्या रहा होगा ? आचार्य भर्तृमित्र की इस विषय की कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है, जिससे यह अर्थ अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा सके। भट्ट उम्बेक के विवरण से यह संकेत अवश्य मिलता है कि भर्तृमित्र का 'तत्त्वशुद्धि' नामक कोई ग्रन्थ था। उम्बेक के विवरण का ध्यानपूर्वक अध्ययन हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि भर्तृमित्र ने मीमांसा में प्रचलित कतिपय प्रथाओं की कटु आलोचना की थी। सम्भवतः वह आलोचना कुछ शास्त्रीय उपपादन तथा कुछ यज्ञानुष्ठानसम्बन्धी रही हो। उम्बेक इस बात का संकेत देता है कि भर्तृमित्र द्वारा किया गया मीमांसा का लोकायतरूप क्या रहा होगा। उसने 'सत्-स्मृति' और 'सत्-आचार' को धर्म का प्रमाण नहीं माना। इसी प्रकार मीमांसानिर्दिष्ट विधि और निषेध के इष्ट-अनिष्ट फलों को स्वीकार नहीं किया।

'लोकायत' पद बृहस्पति एवं चार्वाक द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का निर्देश करता है। वे कौन-से ऐसे सिद्धान्त रहे होंगे, जिनको मीमांसा में लाकर भर्तृमित्र ने इसे लोकायतरूप दिया ? बृहस्पति ने मीमांसाप्रतिपादित यज्ञों में पशुबलि अर्थात् आमिषप्रयोग की तीव्र भर्त्सना की है। इसी प्रकार श्राद्धक्रिया पर भारी-छींटाकशी की गई है।[1] प्रतीत होता है, भर्तृमित्र ने मीमांसागत इन्हीं उल्लेखों एवं आचारों का घोर विरोध किया, तथा उन प्रसंगों को अन्यथा उपपादित कर मीमांसा की निरामिष वैदिक यज्ञप्रक्रिया को अक्षुण्ण बनाये रखने का उत्तम प्रयास किया। सम्भवतः इसी परिस्थिति को कुमारिल भट्ट ने मीमांसा को लोकायतरूप दे देना कहा है। वस्तुतः भर्तृमित्र का यह कार्य अत्यन्त पवित्र था। मीमांसा की निरामिष यज्ञानुष्ठानप्रक्रिया का स्पष्टीकरण व उपपादन ही उसका प्रयोजन था।

कुमारिल भट्ट ने मीमांसा सूत्र [१।३।२] के तन्त्रवार्त्तिक में धर्माधर्मजनित अदृष्ट के एवं श्रुति-स्मृति-प्रामाण्य के उपपादन-प्रसंग से इस रूप से लोकायत-दर्शन का उल्लेख किया है कि वह अदृष्ट को नहीं मानता, प्रत्येक कार्य का दृष्टफल

---

१. बृहस्पति के विचार निम्न पद्यों में निर्दिष्ट हैं—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्।

[सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन]

ही स्वीकार करता है। परन्तु भर्तृमित्र के द्वारा मीमांसा के लोकायतीकरणरूप में ऐसा स्वीकार करना सम्भव नहीं कि वह 'अदृष्ट' अथवा 'अपूर्व' को न मानता हो। यह भाव चालू प्रसंग के अन्त में स्पष्ट हो जायगा।

मीमांसा का लोकायतीकरण करनेवालों के विषय में उक्त प्रकरण[1] द्वारा कुमारिल भट्ट ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"श्रुति की अनुकूलता व प्रतिकूलता की उपेक्षा कर यदि किन्हीं बाह्य निमित्तों के आधार पर स्मृति के प्रामाण्य-अप्रामाण्य को माना जाता है, तो कौन-सा ऐसा स्थल व अवसर होगा, जहाँ राग, द्वेष, मद, उन्माद, प्रमाद, आलस्य, लोभ आदि को स्मृति-अप्रामाण्य का कारण कल्पना न किया जा सके ? अन्तःकरण का शुद्ध-अशुद्ध होना कार्य के अच्छे-बुरे होने का कारण सम्भव है। कौन-सा ऐसा धर्मकार्य है, जिसमें दृष्ट-प्रयोजन तथा प्रत्यक्ष श्रुतियों के साथ यथाकथंचित् विरोध की योजना न की जा सके ? इन मूर्ख लोकायतिकों को और कोई काम ही नहीं है; प्रत्येक अदृष्टार्थ कर्म को दृष्टार्थ ही कर दिखाते हैं, यहाँ तक कि वैदिक कर्मों को भी दृष्टार्थ ही समझते हैं; थोड़ा-सा सहारा पाकर शास्त्रीय विरोध खड़ा कर देते हैं। यदि कहीं मीमांसकों के द्वारा इन्हें ढील दे दी जाय, तो ये किसी धर्ममार्ग को अपने विचारों से अछूता न छोड़ें। बन्दर व पिशाचों का स्वभाव समान होता है; जब तक ये अवसर नहीं पाते, आक्रमण नहीं करते; यदि इन्हें थोड़ा भी अवसर दे दिया जाय, तो ये अपनी कल्पनाओं की उछल-कूद से धर्म-मार्ग में चलनेवाले लोगों का जीवन दूभर कर दें। इसलिए इन लोकायत-विचारों में अवस्थित जनों के मनोरथ को मीमांसकों द्वारा कभी पूरा नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि धर्म का नाश करना इनका स्वभाव बन गया है।"[2]

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसासूत्र [१।३।३] का तन्त्रवार्त्तिक, वाराणसी संस्करण, पृ० ८५।

२. गृह्यमाणनिमित्तत्वाद्यद्युच्येताप्रमाणता।
उत्प्रेक्षणीयहेतुत्वात् सा सर्वत्र प्रसज्यते॥
रागद्वेषमदोन्मादप्रमादालस्यलुब्धताः।
क्व वा नोत्प्रेक्षितुं शक्याः स्मृत्यप्रामाण्यहेतवः॥
अदुष्टेन हि चित्तेन सुलभा साधुमूलता।
दुष्टमूलत्वलाभस्तु भवत्याशयदोषतः॥
का वा धर्मक्रिया यस्यां दुष्टो हेतुर्न्न युज्यते।
कथंचिद्वा विरुद्धत्वं प्रत्यक्षश्रुतिभिः सह॥
लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत्कर्म विद्यते।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद् दृष्टार्थं हि कुर्वते॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च॥

कुमारिल भट्ट के ये उद्गार उन व्यक्तियों के प्रति उत्कट कटुता को अभिव्यक्त करते हैं, जिन्होंने मीमांसा का लोकायतीकरण किया। मीमांसा का यह लोकायतरूप किया जाना कुमारिल भट्ट के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है। उन विद्वानों ने तो उन्हीं अवैदिक दूषित परम्पराओं को मीमांसा की याज्ञिक प्रक्रियाओं से बाहर निकाल देने का प्रयास किया, जो पवित्र वैदिक परम्पराओं के स्थान पर स्वार्थी और लोलुप जनों द्वारा आरोपित कर दी गई थीं। यज्ञकर्मों में आमिष के प्रयोग की परम्परा ऐसी ही थी। भर्तृमित्र ने अपने काल में उसको दूर करने का प्रबल प्रयास किया।

वह मीमांसा-प्रतिपादित वैदिक यज्ञानुष्ठान में पूर्ण निष्ठा रखता था। उसके विषय में यह कहना अन्याय्य होगा कि वह वैदिक यज्ञकर्मों का केवल दृष्टफल स्वीकार करता था, अदृष्टफल नहीं। जो आचार्य पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, वे वैदिक कर्मों के अदृष्टफल को न मानें, यह सम्भव नहीं। अनेक यज्ञकर्म—कारीरी, पुत्रेष्टि आदि—ऐसे हैं, जिनका केवल दृष्टफल माना गया है। उन यज्ञों में भी—जिनका फल अदृष्ट है—अनेक कर्म ऐसे होते हैं, जो निस्सन्दिग्धरूप से दृष्टफल हैं। जैसे—हवि-द्रव्यों का कूटना, पीसना, छानना आदि, तथा ऋत्विक् आदि को दक्षिणा आदि देना। ऐसी अवस्था में यदि अदृष्टफलक कर्मों का किसी अंश में दृष्टफल भी माना जाय, तो इसमें किसी शास्त्रीय बाधा अथवा विरोध की सम्भावना करना अयुक्त होगा। प्रत्येक वैदिक यज्ञ के—वायु आदि की शुद्धि होना—ऐसे दृष्टफल हैं, जो सर्वथा अनिवार्य हैं। इनको मानना न मानना इनके अस्तित्व के लिए कोई प्रभाव नहीं रखता। आचार्य भर्तृमित्र वैदिक कार्यों के अदृष्टफल के साथ यदि उन सबके दृष्टफल को भी स्वीकार करता है, तो इसका विरोध करना—अथवा इतनी मान्तता से, मीमांसा का लोकायतरूप कर देने का आरोप लगाना—कोई महत्त्व नहीं रखता।

आचार्य भर्तृमित्र का अपने समय में मीमांसा के क्षेत्र का यह प्रयास ऐसा ही है, जैसा वर्तमान काल में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का रहा है। मीमांसाप्रतिपादित समस्त वैदिक कर्मों और उनके अदृष्ट फलों को स्वीकार

तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्।
न च कञ्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे॥
क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम्॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम्।
एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम्॥

करते हुए, स्वामी दयानन्द ने उनके दृष्टफल को भी माना है,[1] और यज्ञों में आमिष-प्रयोग को सर्वथा वेदविरुद्ध बताते हुए, लोकायतदर्शन द्वारा ज्योतिष्टोमादि यागों में आमिषप्रयोग तथा मृतकश्राद्ध की कटु आलोचना को युक्तिसिद्ध एवं अखण्डनीय बताया है।[2]

वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में ऐसी भावना अनेक मध्यकालिक आचार्यों की रही है। विक्रम सम्वत् के प्रारम्भिक काल में महाराजा विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष आचार्य हरिस्वामी ने शतपथब्राह्मण की व्याख्या में ऐसी मान्यता रखनेवाले आचार्यों को **'तार्किक'** पद से स्मरण किया है।[3] सम्भवतः इस पद के द्वारा उनका निर्देश किये जाने का यही कारण रहा होगा कि वे वैदिक कर्मकाण्ड की तात्कालिक चालू परम्परा को यथालिखित रूप में स्वीकार नहीं करते थे, तथा तर्क के आधार पर उसके अन्य रूप व प्रकार को व्यवस्थित कर उसी को यथार्थ वैदिक मानते थे; संशयजनक वाक्यों की तर्कपूर्ण व्याख्या करते थे, जैसे—**'यज्ञो वै आपः'** तथा **'शिरः पुरोडाश इति'** इत्यादि वाक्यों में **'जलों को यज्ञ'** और **'पुरोडाश को शिर'** क्यों कहा गया, यह एक साधारण जिज्ञासा होती है। इसका समाधान शास्त्र में कहीं लिखा नहीं है; तर्कमूलक समाधान है—यज्ञ का साधन होने से जलों को यज्ञ कहा गया, तथा पुरोडाश अन्य साधनों की अपेक्षा प्रथम प्रस्तुत होता है, अतः

---

१. सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३; विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाज़ियाबाद से प्रकाशित स्थूलाक्षर संस्करण, पृ० ४३-४४ तथा ३७१।

२. उक्त ग्रन्थ, व संस्करण, पृ० २४८ तथा ३७२।

३. वाराणसी के 'सरस्वतीभवन' में सुरक्षित—शतपथब्राह्मण के हरिस्वामीकृत हस्तलिखित भाष्य की प्रति से संकलित कतिपय सन्दर्भ इस प्रकार हैं—

पृ० ३० (आ)—**"मन्त्रार्थो वा द्विविधः। स्थूलश्च बाह्यः, श्रौतः आधियाज्ञिकसमाधानक्रियारूपो यः कश्चित्; तार्किकैरयमेवार्थो नान्य इति परिगृहीतः।"**

पृ० ३८ (अ)—**"यज्ञो वा आप इति। तार्किकदृष्टया यज्ञसाधनत्वात्।"**

पृ० ६६ (आ)—**"शिरः पुरोडाश इति। साधनान्तरापेक्षया। प्रधानत्वाद्दुर्बलत्वाच्चेति तार्किकाः।"**

पृ० १२५—**"यज्ञो विग्रहवानपचक्रामेतिहासदर्शनेन।...तार्किकदृष्टया तु यज्ञः क्रियात्मक एव। तस्य विस्मरणमपक्रमणम्। स्मरणमुपावर्त्तनम्।**

पृ० १५० (आ)—**"अग्निः सर्वा देवता इति। उपकारकेऽग्नौ देवतात्वमुपचर्यते। यथा राजा पत्तिगणक इति तार्किकाः।"**

श्री डॉ० मंगलदेव शास्त्री के एक लेख के आधार पर समर्थित।

उसे **'शिर'** बताया गया। इसी तर्क-भावना को अभी प्रथम उद्धृत तन्त्रवार्त्तिक के श्लोक में **'स्वोत्प्रेक्षा'** पद से कहा गया है। इन विचारों को लक्ष्य कर क्या मीमांसा का लोकायतीकरण कहा जा सकता है ?

कतिपय विद्वानों[1] का विचार है—भर्तृमित्र की मीमांसाविषयक रचना को लक्ष्य कर मीमांसा का जो लोकायतीकरण कहा गया है, उसका कारण भर्तृमित्र द्वारा **'अपूर्व'** का स्वीकार न करना है। पुनर्जन्म का अस्तित्व स्वीकार न किये जाने के कारण लोकायत मत में **'अपूर्व'** को मानना अनपेक्षित है। उम्बेक ने अपनी व्याख्या में **'विधिनिषेधयोरिष्टानिष्टफलानभ्युपगमात्'** पंक्ति के द्वारा भर्तृमित्र की इस मान्यता का संकेत किया है। तात्पर्य है, भर्तृमित्र विधि और निषेध के अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होनेवाले यथाक्रम इष्ट एवं अनिष्ट फल को नहीं मानता था। ये फल कर्मानुष्ठान से उत्पन्न **'अपूर्व'** द्वारा प्राप्त होते हैं; उनको न मानना **'अपूर्व'** की सत्ता का निषेध करना है। इसी रूप में मीमांसा का लोकायतीकरण समझना चाहिए।

इस विषय में विचारणीय है—भर्तृमित्र मीमांसानुमोदित वैदिक मार्ग का अनुयायी था; इसी कारण मीमांसा पर उसने कोई रचना की। भट्ट उम्बेक की व्याख्या के अनुसार स्पष्ट है, वह मीमांसा की यज्ञप्रक्रिया को अक्षुण्ण मानता था। ऐसी स्थिति में वह **'अपूर्व'** को स्वीकार न करे, यह सम्भव नहीं। तब तो यज्ञानुष्ठान आदि—जिसको उसने स्वीकार किया—सब निरर्थक हो जाता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भर्तृमित्र 'अपूर्व' को नहीं मानता था। ऐसी स्थिति में विधि-निषेध के इष्ट-अनिष्ट फलों को भर्तृमित्र द्वारा स्वीकार न करने का क्या अभिप्राय है, यह समझना आवश्यक है।

प्रतीत होता है, यज्ञों में आमिष-प्रयोग की विधि और अन्यत्र शास्त्र में हिंसा का निषेध, इन विरोधी स्थितियों को लक्ष्य कर उसने मन्तव्य का निर्धारण किया। इस विरोध को उभयमीमांसक आचार्यों ने **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** कहकर टालने अथवा अपने आन्तर को बहलाने का प्रयास किया है, तथा उत्सर्ग-अपवाद के रूप में प्रस्तुत कर इसके समाधान की चेष्टा की है। परन्तु भर्तृमित्र इस पद्धति को स्वीकार करता प्रतीत नहीं होता। उसका कहना है—**'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** इस विधि का अनुष्ठान करने से इष्टफल की ही प्राप्ति हो, ऐसा नहीं है। पश्वालम्भनरूप हिंसा का अनिष्ट फल अवश्य होगा, भले ही वह विधिविहित मानी जाय। इसी रूप में उसके द्वारा विधि के केवल इष्टफल को स्वीकार न करना है।

आमिष के स्थान पर उसने अन्य औषध व वानस्पत्य द्रव्यों के प्रयोग का

---

१. श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्ञात हुआ, उनके मीमांसा-गुरु श्री चिन्नस्वामी जी का ऐसा विचार था।

निर्देश किया, जो उपलब्ध परम्परानुकूल विधिविहित नहीं है; विधिविहित न होने पर भी उसके प्रयोग को अनिष्टफलप्रद नहीं माना। उम्बेक ने उक्त पंक्ति में भर्तृमित्र के ऐसे अभिप्राय को ही अभिव्यक्त किया है। सांख्याचार्यों ने भी यज्ञिय आमिषप्रयोग के विषय में ऐसा ही मन्तव्य स्वीकार किया है।

भर्तृमित्र की रचना—आज इस आचार्य की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। श्लोकवार्त्तिक के प्रारम्भिक दसवें श्लोक की व्याख्या करते हुए भट्ट उम्बेक ने संकेत दिया है कि भर्तृमित्र-विरचित **'तत्त्वशुद्धि'** नामक कोई लक्षण-प्रकरण-ग्रन्थ मीमांसा पर था। इससे यह प्रतीत होता है, कदाचित् उम्बेक के समय में वह ग्रन्थ उपलब्ध था, तथा उम्बेक उससे परिचित था। वेदान्तशास्त्र पर भी आचार्य भर्तृमित्र की रचना रही होंगी, पर उनका और अन्य किसी रचना का आज पता नहीं लगता।

सिद्धान्त—वेदान्त की अध्यातमपरम्परा में आचार्य भर्तृमित्र किन सिद्धान्तों का अनुयायी था, इसका पर्याप्त सीमा तक पता लगता है। यदि आचार्य का कोई ग्रन्थ उपलब्ध होता, तो उसके सिद्धान्तों के विषय में अधिक निश्चित सूचना मिल सकती थी। अब केवल उपलब्ध साधनों के अनुसार उसका अनुमान किया जा सकता है।

जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में शब्द के नित्य-अनित्य होने का जो विवेचन किया है, उस प्रसंग में मीमांसक का मत प्रस्तुत करते हुए भट्ट ने भर्तृमित्र का उल्लेख किया है। यज्ञों में मीमांसा के अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों द्वारा जो पशुबलि आदि का उपपादन किया गया है, उसका घोर विरोध करते हुए आचार्य भर्तृमित्र ने वनस्पति, ओषधि, अन्नादि द्वारा सम्पन्न होनेवाले निरामिष यज्ञानुष्ठान का मीमांसा द्वारा उपपादन तथा अन्य प्रसंगप्राप्त शास्त्रीय विषयों का अनुमोदन अवश्य किया। यह सम्भव है कि मीमांसागत अन्य विषयों में भी उसके कोई विशिष्ट विचार रहे हों, जिसके अनुसार मीमांसान्तर्गत शब्दविचार-प्रसंग में जयन्त भट्ट ने उसका विशेष रूप से उल्लेख किया।

उम्बेक भट्ट द्वारा संकेतित भर्तृमित्र की **'तत्त्वशुद्धि'** रचना के नामकरण पर यदि ध्यान दिया जाय, तो इससे यह भावना अभिव्यक्त होती है कि उसने मीमांसा की कतिपय ऐसी परम्पराओं का शोधन किया, जिनको वह वास्तविक रूप में मीमांसा द्वारा उपपादित नहीं मानता था। उसने उनका शोधन कर मीमांसा के यथार्थ तत्त्वों को प्रस्तुत किया। इसी आधार पर उसने अपनी रचना का उक्त नामकरण किया होगा। पशुबलि आदि के विषय में उसकी इतनी तीव्र एवं उग्र विरोधी भावना का होना न केवल सम्भव, प्रत्युत स्वाभाविक प्रतीत होता है। कारण यह है कि उसके सिद्धान्तों की मान्यता को लक्ष्य करते हुए, उपलब्ध वैष्णवसाहित्य में उसका विशेष सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ है। आचार्य भर्तृमित्र

प्राचीन पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का अनुयायी रहा, जो वर्त्तमान वैष्णव-सम्प्रदाय का उपजीव्य माना जाता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि वह आमिष के किसी भी प्रकार के प्रयोग का विरोधी हो। उसके अध्यात्मसम्बन्धी सिद्धान्त वे ही सम्भव हैं, जो बोधायन, उपवर्ष एवं द्रमिल आदि आचार्यों द्वारा उपपादित हुए हैं।

वैदिक यज्ञानुष्ठान में आमिष के प्रयोग को सहन न कर सकने के कारण भर्तृमित्र ने अपने काल में उसका विरोध कर पवित्र वैदिक परम्परा को पुनः स्थापित करने का अनुकरणीय प्रयास किया, जिसको आमिषप्रिय व्यक्तियों ने कलुषित कर रक्खा था, परन्तु तथाभिमत परम्परा से अभिभूत कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों ने उसके उक्त विचारों को मीमांसा के विषय में अपसिद्धान्त समझा, और उसे लोकायत-रूप देने का उपहासपूर्ण आरोप भर्तृमित्र पर लगाया, इससे भर्तृमित्र के सिद्धान्तों को समझने में उपयुक्त सहयोग प्राप्त होता है।

प्रादुर्भावकाल आदि—आचार्य भर्तृमित्र का प्रादुर्भाव किस काल और किस देश में हुआ, इसका निश्चय करना कठिन है। कल के विषय में इतना कहा जा सकता है कि यह आचार्य शंकर एवं कुमारिल भट्ट आदि से पूर्ववर्त्ती था। कितना पूर्ववर्त्ती था, यह निर्धारण करने का कोई साधन नहीं है।

भर्तृमित्रविषयक उपर्युक्त विवरण से यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि वैष्णव साहित्य में संस्मृत भर्तृमित्र तथा न्यायमञ्जरी में उल्लिखित एवं श्लोक-वार्त्तिक में आलोचित भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति था। कुमारिल भट्ट द्वारा की गई आलोचना का प्रकार इस विचार की पुष्टि में सहयोग देता है। यज्ञ में पशुबलि आदि के विरोध के अतिरिक्त मीमांसा का लोकायत-रूप अन्य किसी आधार पर सम्भव नहीं, जैसा कि गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है। भर्तृमित्र ने ऐसा क्यों किया ? इसका आधार भी बताया गया है। वह ऐसे सिद्धान्त का अनुयायी था, जहाँ किसी प्रकार का आमिषप्रयोग घोर अधर्म माना जाता है। उसने इस दिशा में मीमांसा के परम्परागत आचारों के संशोधन का प्रयास किया। आलोचना का यह आधार स्पष्ट करता है कि उक्त विभिन्न स्थलों में उल्लिखित व संस्मृत आचार्य भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति है। अन्यथा कुमारिल भट्ट द्वारा की गई आलोचना का कोई उपयुक्त अन्य आधार प्रतीत नहीं होता।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च

बोधायन और उपवर्ष के समान इस आचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर कोई व्याख्या लिखी हो, इसका पता नहीं लगता। अध्यात्म की परम्परा में गणना किये गये आचार्यों में से किसने ब्रह्मसूत्र अथवा उपनिषद् आदि की व्याख्या के रूप में कितना लिखा, इसका पूर्ण व निश्चयात्मक विवरण दिये जाने का आज हमारे

पास कोई उपाय नहीं है। ऐसे निर्देश अवश्य उपलब्ध होते हैं जिनके अनुसार यह प्रतीत होता है कि आचार्य भर्तृप्रपञ्च ने कतिपय उपनिषदों पर व्याख्याग्रन्थ लिखे थे। इस दिशा में विशेष रूप से काठकोपनिषद् तथा बृहदारण्यक का निर्देश किया जा सकता है। इन उपनिषदों पर भर्तृप्रपञ्च के व्याख्याग्रन्थ आचार्य सुरेश्वर तथा आनन्दगिरि के समय में उपलब्ध थे, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि इन आचार्यों ने भर्तृप्रपञ्च के मत का जैसा विवरण[1] प्रस्तुत किया है, वह उसके व्याख्याग्रन्थों का पर्यालोचन किये बिना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

आचार्य शंकर ने बृहदारण्यक उपनिषद् के अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर **'अपरे[2] वर्णयन्ति'** तथा **'केचित्तु मन्यन्ते'** इत्यादि वाक्यों के निर्देश के साथ अपने पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों के मतों का उल्लेख किया है। ऐसे प्रसंगों में आचार्य द्वारा किये गये **'वर्णयन्ति, व्याचक्षते'** आदि क्रियापदों के प्रयोग से स्पष्ट होता है—आचार्य ने अपने से विरोधी जिन मतों का उल्लेख किया है, वे उक्त उपनिषद् की उन व्याख्याओं में किये गये वर्णनों से लिये गये हैं, जो आचार्य शंकर से पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई थीं।

परम्परागत विद्वानों का कहना है कि उक्त उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने अपने विरोधी के रूप में जिन विरोधी मतों का उल्लेख किया है, उनमें से अनेक—आचार्य भर्तृप्रपञ्च के उपनिषद्भाष्य से लिए गये हैं। आधुनिक विद्वानों ने इस विचार को स्वीकार किया है।[3] यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य के कतिपय स्थलों पर आचार्य शङ्कर ने **'पण्डितम्मन्य, औपनिषदम्मन्य'**[4] आदि

१. देखें—बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, आनन्दगिरिटीका-सहित, [२।३। ९०–९२, तथा २।५।६७–७४]।

२. इसके लिए देखें, बृहदारण्यक—१।४।७; १।४।१५; २।१।२०; २।३।६; २।५।१५; ३।१।१०; ३।२।१३; ३।३।१; ३।५।१; ३।८।१२; ४।४।७; ५।१।१ के स्थलों पर शांकरभाष्य।

३. श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज लिखित—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी से प्रकाशित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के हिन्दी अनुवाद की 'अच्युत' नाम से प्रकाशित भूमिका, पृ० ८। प्रो० म० हिरियन्ना एम० ए० का द्रष्टव्य—भर्तृप्रपञ्चविषयक लेख—थर्ड ओरियण्टल कॉन्फ्रैन्स, मद्रास, पृ० ४३९–४५०॥

४. देखें—बृ० २।१।२० तथा २।३।६ पर शाङ्करभाष्य। सुरेश्वर भी [२।१। ५८८ में] यही विशेषण देता है। बृ० २।३।६० पर आनन्दगिरि लिखता है—**'स्वमतयुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चप्रक्रियामवतारयति—अपीत्यादिना।'**

सुरेश्वर का वार्त्तिक है—

अप्यौपनिषदम्मन्याः केचिदत्यन्तनैपुणात्।
प्रक्रियां रचयित्वाऽऽहुर्वेदान्तार्थाविपश्चितः॥

पदों द्वारा भर्तृप्रपञ्च का उपहास किया है, फिर भी इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं कि आचार्य भर्तृप्रपञ्च अपने समय में अध्यात्म-परम्परा के दार्शनिक क्षेत्र के एक माननीय एवं प्रतिष्ठित विद्वान् थे; विद्वत्समाज पर उनका प्रभाव था। सम्भवतः इसी कारण न केवल शंकर के शिष्य सुरेश्वर ने अपने भाष्यवार्त्तिक[3] में 'सम्प्रदायवित्' एवं 'ब्रह्मवादी' कहकर उसकी प्रतिष्ठा को अभिव्यक्त किया है, प्रत्युत स्वयं आचार्य शङ्कर ने उपनिषद्भाष्य के एक स्थल [२।५।१५] पर 'आगमविदः' कहकर स्मरण किया है। सम्भव है, उक्त उपहास-द्योतक पदों के सहयोग से आचार्य का यह प्रयोग भी व्यङ्ग्यपूर्ण हो; पर इससे भर्तृप्रपञ्च की विद्वत्ता व प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती।

भर्तृप्रपञ्च के विचार व सिद्धान्त

आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत विवरणों के आधार पर भर्तृप्रपञ्च के दार्शनिक विचारों का बहुत-कुछ आभास मिल जाता है, जो इस प्रकार समझना चाहिए—

पदार्थ-विभाग—दृश्य-अदृश्य एवं चेतन-अचेतन समस्त विश्व के वस्तुतत्त्व का समाकलन भर्तृप्रपञ्च ने आठ भागों में विभक्त माना है। ये हैं—अन्तर्यामी, जीवरूप, अव्यक्त अथवा अव्याकृत, सूत्र, विराट्, देवतारूप, जाति तथा पिण्ड-रूप। इनमें ब्रह्म की ईषत् प्रचलित अवस्था 'अन्तर्यामी' है। अत्यन्त प्रचलित अवस्था क्षेत्रज्ञ अथवा जीवरूप है। सर्वथा अप्रचलित अवस्था 'अव्यक्त' है, जो

---

३. बृ० भा० वा० २।५।६७ पर पाठ है—

(क) **व्याचक्षतेऽन्यथैवेमं दृष्टान्तं केचिदात्मनः।**
समस्तादिप्रतिज्ञार्थसिद्धये ब्रह्मवादिनः ॥६७॥

इसकी अवतरणिका में आनन्दगिरि लिखता है—**'तद्यथेत्यादिवाक्यस्य भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामुत्थापयति-व्याचक्षत इति।'** ६७वीं कारिका से आगे ७४ तक भर्तृप्रपञ्च की व्याख्या का विवरण दिया है।

(ख) ३।२।४१ पर सुरेश्वर का वार्त्तिक है—

वैश्वानरवरादत्र केचिदाहुर्महाधियः।
देहद्वयविमोकेऽपि नैव युक्तः पुमानिति ॥४१॥

इसपर आनन्दगिरि लिखता है—**'इदानीं भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमुत्थापयति—वैश्वानरेति।'**

(ग) ५।१।२८ पर सुरेश्वर का वार्त्तिक है—

एवं यथोदिते तावत् प्रमाणार्थेऽप्यवस्थिते।
अन्यथेदं वचः केचिद् व्याचख्युरतिनैपुणात् ॥२८॥

यहाँ आनन्दगिरि का लेख है—**'इदानीं भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानमुत्थापयति—एवमिति।'**

अक्षर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप माना जाना चाहिए। जगत् के कारण-कार्यरूप में प्रस्तुत व विवृत मूलतत्त्व 'सूत्र' अथवा सूत्रात्मा है। समस्त विश्व को एक मूल इकाई के रूप में प्रस्तुत करना उसका 'विराट्' रूप है। प्रत्येक वस्तु का एक अधिष्ठाता चेतन है, अर्थात् मूल चेतनतत्त्व सर्वव्यापक होने से जब किसी इकाई के रूप में अभिव्यक्त हुआ प्रस्तुत किया जाता है, तब वह 'देवतारूप' अवस्था है। सबमें समान बुद्धि का अभिव्यञ्जन करनेवाला व्यक्त-अव्यक्त वस्तुसमुदाय, 'जाति' तथा किसी भी एक इकाई के रूप में प्रस्तुत वस्तु 'पिण्डरूप' है। ये आठ विभाग एकमात्र ब्रह्म की अवस्थाएँ हैं।[1]

प्रकारान्तर से इन अवस्थाओं को तीन भागों में बाँट लिया जाता है—परमात्मराशि, जीवराशि, मूर्त्तामूर्त्तराशि।[2] पूर्वोक्त आठ अवस्थाओं में से पहली, तीसरी, चौथी [अंशतः], पाँचवीं, प्रथमराशि अर्थात् परमात्मराशि में आती हैं। दूसरी और छठी जीवराशि में तथा अन्तिम दो और चौथी [अंशतः] मूर्त्तामूर्त्त-राशि में समन्वित की जाती हैं।

ब्रह्म की ये सब अवस्थाएँ ब्रह्म का परिणाम हैं। शंकर और शंकर से पूर्ववर्त्ती मध्यकालिक वैदान्तिक आचार्य समान रूप से इस बात को स्वीकार करते रहे हैं कि यह विश्व, ब्रह्म का परिणाममात्र है। उसी परिणाम के फलस्वरूप आठ अथवा तीन भागों में वह अवस्थित है। भर्तृप्रपञ्च के मत से जगत्सर्गकाल की यही संक्षिप्त व्याख्या है। आचार्य शंकर ने भी जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है। 'परिणाम' और 'विवर्त्त' पदों की आधुनिक पारिभाषिकता शंकर के काल में अभिव्यक्त नहीं हो पाई थी। उसने 'प्रकृति-परिणाम' का 'विवर्त्त' पद से उल्लेख किया है।[3] वैष्णव आचार्यों में भी उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए आचार्य वल्लभ विश्व को साक्षात् ब्रह्म का परिणाम कहकर इसी रूप की ब्रह्म के रूप में उपासना करने का उपदेश देते हैं। आचार्य शंकर ने जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम मानकर, चेतन ब्रह्म का परिणाम जगत् अचेतन कैसे ? इस आशंका के अपवारण के लिए अन्यत्र जगत् को चेतन स्वीकार किया है, तथा कहा है कि चैतन्य उसमें 'अविभावित' (अप्रकट) रहता है।[4]

जगत् चेतन ब्रह्म का परिणाम है, यह कथन वस्तुतः साम्प्रदायिक भावनाओं

---

१. देखें—बृ० उ०, शां० भा०, ३।८।१२॥ आचार्य शंकर ने **'अत्र केचिदाचक्षते'** कहकर यहाँ संक्षेप में इस प्रसंग का उल्लेख किया है।
२. देखें—बृ० उ०, शां० भा०, २।३।६॥ आचार्य शंकर ने यहाँ प्राचीन आचार्य को **'औपनिषदम्मन्य'** कहकर यह विवरण दिया है।
३. देखें—ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।२४, २७; तथा २।२।१॥
४. ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।६॥

से अभिभूत है, तथा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ओझल करता है; युक्ति व प्रमाण के विपरीत एवं अशास्त्रीय है; इसका अनेकत्र सप्रमाण उल्लेख किया गया है। यद्यपि आचार्य शंकर का यह डिण्डिम-घोष रहता है कि हमारा कथन शास्त्रीय व औपनिषद है, जबकि उसी बात को कहते हुए अन्य आचार्य उसकी दृष्टि में **'औपनिषदम्मन्य'** हैं।

जीवात्मा का स्वरूप—भर्तृप्रपञ्च के विचार से जीवात्मा, ब्रह्म का परिणाम है, जैसाकि पूर्वोक्त पदार्थविभाग से प्रकट होता है। जीवात्मा नाना अर्थात् अनेक हैं, और प्रत्येक आत्मा परब्रह्म का एकदेशमात्र है। जिस प्रकार विस्तृत पृथिवी का ऊपर भाग उसका एकदेशमात्र होता है, इसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा के एकदेश में जीवात्मा आश्रित रहता है। अविद्या परब्रह्म से अभिव्यक्त होकर जीवात्मा में राग-द्वेष आदि भावनारूप से विकारों को उत्पन्न करती है, पर वह अनात्मस्वरूप अन्तःकरण में उसके धर्मभाव से विद्यमान रहती है।

राग, द्वेष, काम, वासना आदि जीवात्मा के धर्म हैं, क्योंकि इनकी अनुभूति उसी को होती है। ऐसे अनुभवों की विद्या प्रत्येक इकाई के साथ अपनी कुछ विशेषताएँ रखती है, इस कारण अनुभव करनेवाली प्रत्येक इकाई जीवात्मा-रूप में नाना हैं, और वह नानात्व औपाधिक नहीं है, प्रत्युत उसे धर्म तथा अनुभव-भेद से वैसा माना जाता है। यद्यपि वासना, काम, आसक्ति आदि धर्म अन्तःकरण के हैं, पर जीवात्मा में संक्रान्त होकर जीवात्म-धर्म बन जाते हैं। जीवात्मा ही कर्त्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता है। विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्म-संस्कार [पूर्वप्रज्ञा] जीवात्मा में विद्यमान रहते हैं।[1]

परब्रह्म में जीवभाव का अभिव्यञ्जन कैसे होता है? इस विषय में भर्तृप्रपञ्च के स्पष्ट विचारों का पता नहीं लगता, पर विकीर्ण विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवात्मभाव की अभिव्यक्ति परब्रह्म की हिरण्यगर्भ-स्थिति के अनन्तर आती है। ब्रह्म की जिन आठ अवस्थाओं का प्रथम निर्देश किया गया है, उसके अनुसार अविद्या ब्रह्म का परिणाम है। जब परब्रह्म परमात्मा अविद्या से सम्बद्ध होता है, तब इसकी 'हिरण्यगर्भ' संज्ञा हो जाती है। पूर्वोक्त पदार्थ-विभाग प्रसंग में इसी को 'सूत्र' अथवा 'सूत्रात्मा' कहा गया है। यह सर्वत्र व्यापक रहता है, यही समस्त सत्त्वों का आत्मा अथवा जगदात्मा है। सृष्टि की रचना चलती रहती है; बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय आदि तत्त्व व्यक्त दशा में आकर जीवात्मा के लिए उपयोगी स्थिति में समन्वित होते हैं। इस समन्विति के साथ जब हिरण्यगर्भ को आसक्ति होती है, तब जीवभाव अभिव्यक्ति

---

१. बृ०, शां० भा०, २।१।२०; २।३।६; ३।२।१३॥

में आता है। इस प्रकार यह जीवभाव ब्रह्म का परिणाम रहता है। यह ब्रह्म की अत्यन्त प्रचलित अवस्था बताई गई है।[1] यह चरम परिणति है। भर्तृप्रपञ्च के विचार के अनुसार इन सब स्तरों में ब्रह्म अभिव्यक्त होता चला आता है। इन सब स्तरों को ब्रह्म की अवस्था कहें अथवा परिणाम, एक ही बात है।

इस रूप में भर्तृप्रपञ्च के विचार से जीवभाव की अभिव्यक्ति के लिए किसी 'उपाधि' की अपेक्षा नहीं है। आविद्यिक बुद्धि आदि तत्त्वों का अनन्त समुदय जीवभाव की अभिव्यक्ति में सहयोगी होता है। क्योंकि वह 'समुदय' अनन्तव्यक्तिरूप में उभरकर आता है, इसी कारण तत्सम्बन्धी आसक्ति से अनन्त अथवा नानारूप में जीवात्माओं का अभिव्यञ्जन होता है। उस समुदय का नाम अन्तःकरण है। इस रूप में आसक्ति व वासना आदि यद्यपि अन्तःकरण के धर्म हैं, पर वे जीवात्मा में संक्रान्त होकर जीव-धर्म कहलाते हैं; क्योंकि इनका कर्त्ता, भोक्ता वही है। यही तथ्य पूर्वोक्त पंक्तियों में संक्षेप से कहा है।

द्वैताद्वैत, अनेकान्त एवं ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद--इस विषय में भर्तृप्रपञ्च का दार्शनिक सिद्धान्त है कि 'एक' और 'नाना' दोनों सत्य हैं। जैसे ब्रह्म एक परमार्थ अथवा सत्य है, ऐसे ही नाना जगत् सत्य हैं। जगत् का नानात्व ब्रह्म की व्यापक सत्ता से कभी बहिर्भूत नहीं होता ; जगत् के वैविध्य का विस्तार ब्रह्म की सत्ता में सीमित रहता है, इसी कारण जगत् के नानात्व का ब्रह्मरूप से वर्णन कर दिया जाता है, तथा ब्रह्म का एकत्व सदा वस्तुभूत है, परमार्थ है; इन्हीं परि-स्थितियों के अनुसार ब्रह्म को—एक और नाना—दोनों रूपों में कह दिया जाता है। एकता के आधार पर भेद तथा नानात्व के आधार पर अभेद का वर्णन होता है। ब्रह्म एक और जगत् नाना हैं, इस रूप में दोनों का भेद है; जगद्रूप में ब्रह्म नाना हैं, इस दृष्टि से अभेद है। इस प्रकार द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि पदों से भर्तृप्रपञ्च के मत का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र [२।१।१४] के भाष्य में एक ऐसे ही मत का उल्लेख किया है। शंकर ने इस विचार को एक आशंका अथवा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—कोई आशंका करते हैं कि ब्रह्म अनेकात्मक है; जैसे एक ही वृक्ष अनेक शाखावाला होता है, ऐसे एक ब्रह्म अनेक शक्ति एवं प्रवृत्तियों से युक्त है। इसलिए ब्रह्म के विषय में एकत्व और नानात्व दोनों प्रकार का कथन सत्य है। जैसे 'वृक्ष' कहने से एकता और 'शाखा' कहने से नानात्व का बोध होता है, जैसे समुद्ररूप से समस्त जलराशि एक है, और फेन, तरंग आदि रूप से नाना। इस विषय में एकत्व अंश के द्वारा उसके ज्ञान से मोक्षव्यवहार सिद्ध होता है, और नानात्व अंश के द्वारा कर्मकाण्डाश्रित लौकिक-वैदिक व्यवहार सिद्ध होते हैं। इस

---

१. देखें—बृ०, शां० भा०; ३।६।१२॥

प्रकार एकान्ततः न कर्म को स्वीकार किया जा सकता है, न ज्ञान को, फलतः दोनों की सार्थकता स्वीकार करनी पड़ती है।[1]

बृहदारण्यक [५।१।१] के भाष्य में आचार्य शंकर ने **'यत्तु कैश्चिदुच्यते'** तथा **'अत्रैके वर्णयन्ति'** कहकर इसीप्रकार के सिद्धांत का विस्तृत उल्लेख किया है। दूसरा प्रसंग **'पूर्णमदः पूर्णमिदं'** सन्दर्भ की व्याख्या में है। वहाँ बताया है—'पूर्ण' कारण से जो कार्य प्रकाश में आता है, वह भी पूर्ण है। कारण से परिणत अथवा अभिव्यक्त कार्य अपने वर्त्तमानकाल में पूर्ण परमार्थ एवं वस्तुभूत रहता है, यद्यपि वह द्वैतरूप है। अनन्तर प्रलयकाल में कार्य, कारण में अन्तर्हित होकर कारणरूप से पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। तात्पर्य यह कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों कालों में कार्य और कारण दोनों पूर्ण हैं। वह एक ही पूर्णता कार्य और कारण इन दो भेदों के रूप में कही जाती है। इस प्रकार एक ब्रह्म द्वैत और अद्वैतरूप होता है। समुद्र जैसे जल, फेन, तरंग, बुद्बुद आदि रूप है, वहाँ जैसे समस्त जलराशि अद्वैतरूप सत्य है, ऐसे ही फेन-तरंग आदि द्वैतभाव भी परमार्थ-सत्य है। इस प्रकार द्वैतभाव की सत्यता में कर्मकाण्ड का प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक है। अद्वैतभावना में कर्मकाण्ड के प्रामाण्य का विरोध न हो, इसी वस्तुस्थिति से कार्य-कारणभाव को कल्पित नहीं माना जा सकता। जैसे कारण सत्य है, वैसे कार्य भी सत्य है।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च के इन विचारों से स्पष्ट होता है—आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने–जो अध्यात्मपरम्परा की अध्ययनाध्यापन-प्रगति में संलग्न रहे हैं—कार्यजगत् को मिथ्या नहीं माना। अन्य आचार्यों के विचार उनके प्रसंगों में पाठक देखेंगे।

जीवात्मा का मोक्ष–यह उल्लेख प्रथम किया गया है कि आचार्य भर्तृप्रपञ्च के विचार से जीवात्मा ब्रह्म का परिणामस्वरूप माना जाता है। आचार्य ने जीव के मोक्ष का वर्णन दो रूप में किया है—१–अपरमोक्ष, २–परमोक्ष। चालू देह में ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर पहली मोक्षदशा प्रकट होती है। इसी का नाम अपवर्ग है। यह दशा अन्य आचार्यों द्वारा विभिन्न शास्त्रों में वर्णित जीवन्मुक्ति के समान है। वस्तुतः इस दशा में पूर्णरूप से संसार की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि देह के वर्तमान रहते समस्त दैहिक प्रवृत्तियाँ चालू रहती हैं; पर आवश्यक रूप से विषयों के प्रति आसक्ति का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जब तक देहपात न हो, तब तक परामुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। देहपात के अनन्तर ब्रह्म-साक्षात्कृत जीवात्मा को ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है, यही परममोक्ष है। ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर

---

१. इसके लिए देखें—बृ० [३।३।१; तथा ५।१।१] के शांकरभाष्य की अवतरणिका के भाग।

जब तक देह बना रहता है, यह संसार और परममोक्ष के अन्तराल की अवस्था है। इसमें जीवात्मा भोग्य संसार से व्यावृत्त होकर परममोक्षरूप पूर्ण परमात्मदर्शन की प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार 'अपवर्ग' नामक यह अन्तराल की दशा सांसारिक स्थिति की अपेक्षा से देखने-विचारने पर गौणी मुक्ति अथवा अपरा मुक्ति मानी जाती है। परममोक्ष का उदय देहपात के अनन्तर होता है।[1]

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि आचार्य भर्तृप्रपञ्च ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी—देह के रहते—अविद्या की पूर्ण निवृत्ति नहीं मानता। देह की प्रवृत्तियाँ उस अवस्था में अंशतः अविद्या की विद्यमानता की द्योतक हैं। अविद्या-निवृत्ति के साथ-साथ जब जीवात्मा के ब्रह्मभाव की प्राप्ति का प्रतिबन्धक देह छूट जाता है, तभी परामुक्ति का लाभ होता है। यह एक कैसी चिन्तनीय विडम्बना है कि जिस देह के सहयोग से किसी आत्मा ने उस अविद्यानिवृत्ति की दशा को प्राप्त किया है, वही देह उस समय पूर्ण अविद्यानिवृत्ति में प्रतिबन्धक माना जा रहा है!

यहाँ एक रहस्य है, जिसपर ध्यान देना चाहिए। चालू देह में ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर विषयासंग से दूर हुआ भी मुक्तात्मा कभी-कभी देह के रहते पुनः आसक्ति में फँस जाता है। जड़भरत आदि के दृष्टान्त इस रूप से सुनने-पढ़ने में आते हैं। फलतः ऐसा कहने या मानने में कोई बाधा न समझनी चाहिए कि देह जहाँ प्रबन्धक है, वहाँ किसी दशा में प्रतिबन्धक भी हो सकता है। किसी वस्तु के उपयोग की स्थिति सम्पन्न हो जाने पर उसका पुनः उपयोग किया जाना, उपयोक्ता को दिशान्तर में आकृष्ट करने का साधन बन सकता है। यही प्रति-बन्धक का स्वरूप है।

संसार और परममोक्ष के अन्तराल की यह अवस्था भर्तृप्रपञ्च के विचार से 'हिरण्यगर्भ'-प्राप्ति का रूप है। ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर प्रत्येक जीवात्मा परामुक्ति का अधिगम करने के पहले हिरण्यगर्भभाव को प्राप्त होता है। यह मुक्तावस्था नहीं है; किन्तु परममोक्ष प्राप्त होने के पूर्वकाल की केवल अन्तराल-अवस्था है, जिसका अभी पिछली पंक्तियों में वर्णन किया गया है। इस दशा में परब्रह्म का आभिमुख्य सर्वदा के लिए बना रहता है।[2] यह सर्ग और प्रतिसर्ग का समान क्रमानुक्रम समझना चाहिए।

अपवर्ग तथा परामुक्ति के आत्मदर्शन में भेद—अपवर्ग अथवा जीवन्मुक्ति-दशा में—जबकि ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है—ब्रह्मदर्शन अथवा आत्मदर्शन की जो स्थिति रहती है, देहपात हो जाने के अनन्तर परामुक्ति में आत्मदर्शन की

१. इसके लिए देखें—बृ० शां० भा० ३।२।१; तथा ३।२।१३।।
२. देखें—बृ० शां० भा० ३।२।१३।।

स्थिति उससे भिन्न होती है। इस प्रकार इन दो अवस्थाओं में पुरुष का आत्म-दर्शन—आत्मज्ञान एक-समान नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ 'स्वलोक' अथवा 'आत्मलोक' की उपासना का वर्णन है, उस प्रसंग के भाष्य में आचार्य शंकर ने **'अपरे वर्णयन्ति'** कहकर भर्तृप्रपञ्च के विचार का उल्लेख किया है। वहाँ लिखा है—कोई आचार्य कर्मसम्बन्धी 'लोक' शब्द के अर्थ की दो प्रकार से कल्पना करते हैं। एक व्याकृत अवस्था का कर्माश्रय लोक है, जो 'हैरण्य-गर्भ' नाम से कहा जाता है। इस कर्मसम्बन्धी व्याकृत परिच्छिन्न लोक की जो उपासना करता है, उसके फलस्वरूप उसका दर्शन परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शन है; ऐसे आत्मदर्शी का वह लोक क्षीण हो जाता है, क्योंकि देहस्थित संसारी आत्मा के ऐसे बोध का अस्तित्व अनित्य है। दूसरा है जो अव्याकृत दशा के कारणरूप का ध्यान व उपासना करता है; उसका दर्शन अपरिच्छिन्नात्मदर्शन है। यह लाभ देहपात के अनन्तर होता है; इस लोक का क्षय नहीं होता, यह सत्-चित्-आनन्द-रूप आत्मबोध नित्य है।[1]

यही जीवात्मा का ब्रह्म में लय अथवा जीवात्मा की ब्रह्मभावापत्ति है। अविद्या की पूर्णनिवृत्ति के फलस्वरूप इस अवस्था का आविर्भाव होता है। देह-स्थिति की दशा में यह सम्भव नहीं। उस अवस्था का—'मैं ही यह सब हूँ' अथवा 'आत्मा ही यह सब है' इत्यादि प्रकार का आत्मबोध चित्तसमवायी होने से क्षयी एवं अनित्य रहता है। परामुक्ति में ऐसा न होने से वहाँ आत्मदर्शन पहले से भिन्न रहता है।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च के आध्यात्मिक विचारों का संक्षेप से हमने यहाँ संकलन करने का प्रयास किया है। यह संकलन ब्रह्मसूत्रों के शांकरभाष्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के शांकरभाष्य के आधार पर किया गया है। इन भाष्यों में अनेक स्थलों पर मतान्तरों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक मत आचार्य भर्तृ-प्रपञ्च के हैं—ऐसा विचार गुरु-शिष्य-परम्परा में चला आता है। भाष्यों के जिस स्थल से जो विचार लिये गये हैं, उनका संकेत टिप्पणी में कर दिया गया है। आचार्य भर्तृप्रपञ्च का भाष्य बृहदादण्यक उपनिषद् पर था, इसके पुष्ट प्रमाण[2] उपलब्ध होते हैं; परन्तु ब्रह्मसूत्रों पर उसका भाष्य था, ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता; यद्यपि आचार्य शंकर ने जिस मतान्तर का उल्लेख [२।१।१४] सूत्र पर किया है, वह भर्तृप्रपञ्च के ब्रह्मसूत्रभाष्य के किसी अंश के आधार पर किया गया है, अथवा अन्य किसी उपनिषद् के भाष्यांश के आधार

---

१. इसके लिए देखें—बृ० शां० भा० १।४।१५॥

२. देखें—बृ० भा० वा०, आनन्दगिरिटीका सहित, २।३।६०॥ तथा २।५।३७॥ अथवा प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० २२५ पर टिप्पणी-संख्या ३।

पर,–इसके निश्चय का कोई आधार अभी तक उपलब्ध नहीं है।

प्रादुर्भाव-काल—भर्तृप्रपञ्च के प्रादुर्भाव-काल के विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि यह आचार्य शङ्कर और सुरेश्वर का पूर्ववर्त्ती है। इन दोनों ने अपनी रचनाओं में भर्तृप्रपञ्च का उल्लेख किया है। यह कहना कठिन है कि इनके पूर्वापर-काल में कितना अन्तर है। शङ्कर और सुरेश्वर के काल का निश्चय करने का प्रयास प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम भाग में किया गया है।

नवम अध्याय

ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार (२)

आचार्य द्रमिल

वेदान्त के आधार पर उद्भावित अध्यात्मपरम्परा के आचार्यों में द्रमिल आचार्य का नाम ऊँचे स्थान पर लिया जाता है। इस नाम का उच्चारण द्रमिड अथवा द्रविड रूप में भी किया जाता है। नाम के अन्तिम उच्चारण के आधार पर प्रायः ऐसा समझा जाता है कि यह आचार्य द्रविडदेशोत्पन्न अथवा द्रविड-जाति में उत्पन्न व्यक्ति था। यह भी कहा जा सकता है कि द्रविड जनता के यह आचार्य रहे हों। यह अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है कि आचार्य का सांस्कारिक नाम द्रमिल रहा हो। यह ऐसा ही नाम है, जैसा प्रसिद्ध विन्ध्यवासी का सांस्कारिक नाम 'रुद्रिल' था। नैसर्गिक दाक्षिणात्य उच्चारण के कारण यह 'द्रमिळ' बनकर 'द्रमिड' हो गया, जिसे कालान्तर में 'द्रविड' बना दिया गया। देश अथवा जाति के आधार पर यह नाम प्रचलित हुआ हो, तो निश्चित है, आचार्य का सांस्कारिक नाम कुछ अन्य रहा होगा, जो हमारे लिए अज्ञात है। हम तक वही नाम पहुँचा, जो परम्परा में व्यवहृत होता रहा है।

रचना—आचार्य द्रमिल ने छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों पर विस्तृत भाष्य लिखे थे, ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्रमाण हैं—

(१) छान्दोग्योपनिषद् का भाष्य आरम्भ करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—**'ओमित्येतदक्षरमित्याद्यष्टाध्यायी छान्दोग्योपनिषत्। तस्याः संक्षेपतोऽर्थ-जिज्ञासुभ्य ऋजुविवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते।'** अर्थात् **'ओमित्येतदक्षरम्'** यहाँ से प्रारम्भ कर आठ अध्याय की यह छान्दोग्य उपनिषद् है। उसके अर्थज्ञान की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों के लिए यह संक्षेप व सरल विवरण से युक्त अल्पग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है।

इस सन्दर्भ के **'अल्पग्रन्थं'** पद की अवतरणिका करते हुए भाष्य का टीकाकार आनन्दगिरि लिखता है—**'अथ पाठक्रममाश्रित्यापि द्राविडं भाष्यं प्रणीतं तत्किमनेनेत्याशङ्क्याह—अल्पग्रन्थमिति।'** अर्थात् उपनिषद् के पाठक्रम के

अनुसार आचार्य द्रमिल का भाष्य उपलब्ध है, तब आपके इस विवरण की क्या आवश्यकता है ? इस कारण **'अल्पग्रन्थं'** कहा है। तात्पर्य है, आचार्य द्रमिल के विस्तृत भाष्य उपयोग का पाठक साहस नहीं कर पाता, इसी कारण मैं [आचार्य शंकर] उपनिषद् का सरल विवरण थोड़े ग्रन्थ में प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे स्पष्ट होता है, छान्दोग्योपनिषद् पर द्रमिलाचार्य का बहुत विस्तृत भाष्य था।

(२) आगे छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ३, खण्ड ८–१० के भाष्य की टीका में टीकाकार सूर्य के उदयास्त के विषय में श्रुति-स्मृति का परस्पर विरोध प्रकट कर आचार्य शंकर के लेख का निर्देश करता है—**'अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः'** अर्थात् इस विरोध का परिहार प्राचीन आचार्यों ने कर दिया है। शंकर की उक्त पंक्ति की अवतरणिका करते हुए टीकाकार आनन्दगिरि लिखता है—**'यद्यपि श्रुतिविरोधे स्मृतिरप्रमाणं तथापि यथाकथञ्चिद् विरोधपरिहारं द्रमिलाचार्योक्तमुपपादयति—अत्रेति।'** अर्थात् यद्यपि श्रुति के साथ विरोध होने पर स्मृति प्रमाण नहीं मानी जाती, तो भी जैसे-तैसे द्रमिलाचार्य द्वारा कथित विरोध-परिहार का उपपादन करता है,—'अत्र' इत्यादि सन्दर्भ से।

इससे प्रमाणित होता है, आचार्य शंकर ने उक्त विरोध का परिहार आचार्य द्रमिल के छान्दोग्य-भाष्य के अनुसार स्वीकार किया है। ये लेख सिद्ध करते हैं, छान्दोग्य उपनिषद् पर आचार्य द्रमिल का एक विस्तृत भाष्य था।

(३) माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने माण्डूक्यकारिका [२।३२] के भाष्य में किसी वैदान्तिक आचार्य का एक सूत्र उद्धृत किया है। प्रसंग है—निर्विशेष आत्मा में सुखित्व आदि विशेषों का जो व्यवहार देखा जाता है, वह सब कल्पनामूलक है। इसीलिए अध्यातमशास्त्रों में आत्मा को जो असुखी आदि बताया है, वह सुखित्व आदि विशेषों की निवृत्ति बताने के लिए है। इसी विषय की पुष्टि के लिए आचार्य शंकर ने वह सूत्र[1] उद्धृत किया है। यहाँ शंकर ने सूत्रप्रवक्ता आचार्य का उल्लेख 'आगमवित्' पद द्वारा किया है, जो उद्धृत आचार्य के प्रति शंकर की आदरपूर्ण भावना का प्रतीक है। आधुनिक विद्वानों का विचार है, आचार्य शंकर का यह निर्देश द्रमिलाचार्य के विषय में किया गया है।[2]

आत्मोत्पत्तिवादी आचार्य—आगे माण्डूक्यकारिका [३।२०] के **'अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः'** अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर लिखता है—**'ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूकाः अजातस्यैवात्मतत्त्वस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव।'** कतिपय वावदूक

१. **'सिद्धं तु निवर्त्तकत्वात्' इत्यागमविदां सूत्रम्।**
२. देखें—श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज-कृत 'अच्युत', पृ० १६।

ब्रह्मवादी उपनिषदों की व्याख्या करनेवाले अमृत अजात आत्मा की परमार्थ[1] रूप में उत्पत्ति मानते हैं। उन व्याख्याताओं के लिए आचार्य शंकर द्वारा प्रयुक्त परस्पर-विरोधी भावनाओं को प्रकट करते हुए दो विशेषण [ब्रह्मवादिनः, वावदूकाः] आचार्य शंकर की उन व्याख्याताओं के प्रति आदरभावना व झुँझलाहट दोनों के प्रतीक हैं। आचार्य शंकर उन्हें ब्रह्मवादी मानते हुए भी 'वावदूक' कहने में संकोच नहीं करता। उनके आत्मविषयक कथन को 'बकवाद' समझकर ही ऐसा उल्लेख किया जा सकता है। सम्भव है, 'ब्रह्मवादी' विशेषण भी व्यंग्यपूर्ण हो।

उपनिषदों के व्याख्याता ये कौन आचार्य हैं, जिनके विषय में आचार्य शंकर ने अपनी उक्त भावना अभिव्यक्त की है?—ज्ञातव्य है। गत पृष्ठों में आचार्य भर्तृप्रपञ्च का विवरण देते हुए कहा गया है—यह आचार्य आत्मा को ब्रह्म का परिणाम मानता है। कतिपय आधुनिक विद्वानों का ऐसा संकेत है कि यहाँ आचार्य शंकर ने द्रमिलाचार्य का निर्देश किया है।[2]

शंकर और पूर्ववर्ती आचार्य—प्रतीत होता है, आचार्य शंकर के कुछ समीप पूर्ववर्ती वैदान्तिक आचार्य ब्रह्मैक्यवाद को मानने अवश्य लगे थे, पर अभी तक उसकी कोई अधिक स्पष्ट रूपरेखा प्रकाश में नहीं आई थी। उपनिषदों के भाष्य उन भावनाओं व विचारों की छाया में जैसे भी होते रहे हों, पर वे व्याख्याएँ सम्भवतः उन विचारों को अभिव्यक्त न करती थीं, जो अनन्तरकाल में आचार्य शंकर ने प्रस्तुत किये। वस्तुतः ब्रह्मैक्यवाद का वह रूप जो आचार्य शंकर तथा उसके अधिक समीप पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत किया है, कुछ पूर्ववर्ती परम्पराओं का परिवर्तित रूप कहा जा सकता है। उपनिषत्कारों ने आत्मविषयक अपनी भावनाओं को जिन यथार्थताओं के रूप में अभिव्यक्त किया, वह परम्परा धीरे-धीरे परिवर्तित होती जा रही थी; उसी के परिणामस्वरूप औपनिषद भावनाओं का वर्तमान रूप आज हमारे सामने है। यह स्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उपनिषदों को उनके प्रारम्भिक काल से उसी रूप में नहीं समझा जाता रहा, जो आज हमारे सन्मुख है। इस दृष्टि से उपनिषदों की यथार्थ भावना को समझने का प्रयास अपेक्षित है। उपनिषदों पर आचार्य द्रमिल के भाष्य सम्भवतः उन भावनाओं के अधिक समीप रहे हों, जो भावनाएँ उपनिषदों की रचना के समय उपनिषत्कारों की होंगी। यह सम्भव है, वे विचार परवर्ती आचार्यों के विचारों से कुछ अधिक दूर हटे हुए हों; ऐसी स्थिति में परवर्ती आचार्यों ने उनके लिए

---

१. इसका तात्पर्य है—आत्मा की उत्पत्ति तो आचार्य शंकर को भी स्वीकार है, पर वह उसे परमार्थ न मानकर औपचारिक मानता है।

२. देखें—शांकरभाष्य भूमिका 'अच्युत', पृ० १६।

'वावदूक' जैसे विशेषण देने में संकोच न किया हो। कौन आचार्य किस स्तर पर अपने विचार अभिव्यक्त कर रहा है, यह सदा विवेच्य रहा है, और आगे रहेगा।

आचार्य द्रमिल के कतिपय उद्धरण

आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य नामक ब्रह्मसूत्रव्याख्या में कतिपय स्थलों पर द्रमिलाचार्य के ग्रन्थ से कुछ अंश उद्धृत किये गये उपलब्ध होते हैं। ये सन्दर्भ गद्य और पद्य दोनों रूप में हैं। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य [२।३२] में आचार्य शंकर ने एक सूत्रात्मक वाक्य किसी प्राचीन आचार्य का उद्धृत किया है, यह उद्धरण आचार्य शंकर ने अपने विचारों की पुष्टि में दिया है। विद्वानों का कहना है[1] कि यह उद्धरण आचार्य द्रमिल के ग्रन्थ से लिया गया है। द्रमिलाचार्य के उपलब्ध उद्धरण इस प्रकार हैं—

१—**द्रमिलभाष्यकारश्च—"देवतासायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत् सर्वार्थसिद्धिः स्यात्" इत्याह ॥**

२—**भाष्यकृता व्याख्यातञ्च—"यदापि[2] सच्चित्तः" इत्यादिना,**

३—अथवा

"यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः ॥१॥

---

१. श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज ने 'अच्युत' नाम से प्रकाशित शांकरभाष्य के हिन्दी रूपान्तर की भूमिका, पृ० १६ पर ऐसा निर्देश किया है। माण्डूक्योपनिषद् भाष्य के एक अन्य स्थल (३।२०) का निर्देश कर लिखा है कि वहाँ पर द्रमिलाचार्य को आचार्य शंकर ने 'सम्प्रदायवित्' कहकर आदर दिया है। शंकर ने इनके मतों को देकर उनका प्रतिवाद कहीं नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि द्रमिलाचार्य का सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं था। श्री डॉ० कविराज का यह लेख चिन्त्य प्रतीत होता है; क्योंकि माण्डूक्यभाष्य के द्वितीय स्थल [३।२०] में आचार्य शंकर ने जिस उपनिषद्व्याख्याता का निर्देश किया है, उसके लिए 'ब्रह्मवादी' विशेषण देकर 'वावदूक' भी लिखा है। यदि डॉ० कविराज के अनुसार शंकर का यह निर्देश द्रमिलाचार्य के लिए है, तो यह कथन सर्वथा अयुक्त होगा कि द्रमिलाचार्य का सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं था। इसके अतिरिक्त द्रमिलाचार्य के नाम से उद्धृत अनेक सन्दर्भों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि द्रमिल के सिद्धान्त आचार्य शंकर के अनुकूल न थे। इसका एक स्पष्ट उदाहरण सगुण-निर्गुण उपासना है।

२. तुलना करें, उद्धरण-संख्या ८ के साथ। वहाँ 'यदापि' के स्थान पर 'यद्यपि' पाठ है।

'बहु स्या'[1]मिति संकल्पपूर्वसृष्टयाद्युपक्रमे।
'तासां त्रिवृतमेकैका'[2]मिति श्रुत्यैव चोदितम् ॥२॥
त्रिवृत्करणमेवं हि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।
यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि ॥३॥
शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत्यग्नावेव त्रिरूपता।
श्रुत्यैव दर्शिता तस्मात् सर्वे सर्वत्र संगताः ॥४॥
पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे।
'नानावीर्याः[3] पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ॥५॥
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः।
समेत्यान्योन्यसंभोगं परस्परसमाश्रयाः ॥६॥
'महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्ड'मित्यादिना ततः।
सूत्रकारोऽपि भूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत् ॥
'त्र्यात्मकत्त्वात्तु भूयस्त्वा'[4] दिति तेनाभिधाभिदा ॥७॥

'दित्येतेना' पा०

सोमाभावे च पूतीकग्रहणं श्रुतिचोदितम्।

'दर्शितम्' पा०

सोमावयवसद्भावादिति न्यायविदो विदुः ॥८॥
व्रीह्यभावे च नीवारग्रहणं व्रीहिभावतः।
तदेव सदृशं तस्य यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक् ॥९॥

'यद्यद्द्रव्येति' पा०

शुक्त्यादे रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव बोधितः।
रूप्यशुक्त्यादिनिर्देशभेदो भूयस्त्वहेतुकः ॥१०॥

'निर्देश्यो' पा०

रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते।
अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः ॥११॥
कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः।
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्त्तते ॥१२॥

---

१. छा० ६।२।३॥
२. छा० ६।३।३॥
३. विष्णु० अंश १, अध्या० २, श्लो० ५२–५४
४. ब्र० सू० ३।१।२॥

दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्त्तते।
अतो यथार्थं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु ॥१३॥

बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते।
शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्यग्रहरूपतः ॥१४॥

नातो मिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्वनिबन्धनः।
एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः[1] ॥१५॥

४—यथाह द्रमिलभाष्यकारः—

"यथा लोके राजा प्रचुरदन्दशूके घोरेऽनर्थसंकटेऽपि प्रदेशे वर्त्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् परिपालयति, भोगांश्च गन्धादीनविश्वजनोपभोग्यान् धारयति; तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यचामरो दोषैर्न स्पृश्यते, रक्षति च लोकान् ब्रह्मलोकादीन्; भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान् धारयति" इति।[2]

५—तथाह द्रमिलाचार्यः—

"फलसंबिभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्तीति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा" इति।[3]

६—"सिद्धं तु निवर्त्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम्।[4]

७—यथाहुर्वेदराशिविदग्रेसरा द्रमिलाचार्याः—फलसम्बिभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्तीति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा—इति।[5]

८—व्याख्यातञ्च द्रमिलाचार्येण विद्याविकल्पं वदता—यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्नदैवतं गुणगणं मनसाऽनुधावेत् तथाप्यन्तर्गुणामेव देवतां भजते—इति।[6]

---

१. यहाँ तक समस्त उद्धरण ब्र० सू० १।१।१ के रामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्य से लिये गये हैं। श्रीभाष्य के सम्पादक महोदय ने श्लोकों के विषय में टिप्पणी दी है—

'यथार्थं सर्वविज्ञानं' इत्यारभ्य 'व्यवहारव्यवस्थितिः' इत्येतत्पर्यन्तं भाष्यकारीयाः श्लोकाः। भाष्यकार का तात्पर्य द्रमिलाचार्य है।

२. ब्र० सू० २।१।१४ के श्रीभाष्य से।

३. ब्र० सू० २।२।३ के श्रीभाष्य से।

४. माण्डूक्यकारिका [२।३२] के शांकरभाष्य से।

५. वेदार्थसंग्रह तात्पर्यदीपिका-टीका-सहित, १९२४ ई० में काशी से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, पृ८ २२२।

६. वेदार्थसंग्रह, आचार्य रामानुजकृत। आचार्यपीठ, बरेली-संस्क०, पृ० १८४।

९—विवेकादीनां स्वरूपञ्चाह—"जात्याश्रयनिमित्ताददुष्टादन्नात् कायशुद्धिर्विवेक:" इति।

१०—विमोक: कामानभिष्वङ्ग:" इति।

११—"आरम्भणसंशीलनं पुन: पुनरभ्यास:" इति।

१२—"पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तित: क्रिया" इति।

१३—"सत्यार्जवदयादानाहिंसानभिध्या: कल्याणानि" इति।

१४—"देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसाद:" इति। तद्विपर्ययोऽनवसाद:। (श्रीभाष्य)

१५—"तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्ष:"[1] इति। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्ष:। अतिसन्तोषश्च विरोधीत्यर्थ:। (श्रीभाष्य)

ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों के परवर्ती भाष्यकारों द्वारा उक्त सन्दर्भों के उद्धृत किये जाने का जो प्रकार अपनाया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि आचार्य द्रमिल ने ब्रह्मसूत्रों पर गद्य-पद्यात्मक भाष्य की रचना की थी। सम्भवत: यह भाष्य आचार्य रामानुज के समय तक उपलब्ध रहा है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि जाचार्य रामानुज ने ये उद्धरण किसी अन्य ग्रन्थ में उद्धृत भाग से लिये हों। यह सम्भव है—ब्रह्मसूत्रों पर आधारित आचार्य द्रमिल के सिद्धान्त आचार्य शंकर के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल न होने से शंकर ने उनके उल्लेख की उपेक्षा की हो, यद्यपि उपनिषद्भाष्य में आचार्य शंकर ने कतिपय स्थलों पर द्रमिल के कथन को स्वीकार किया है।[2]

डॉ० गोपीनाथ कविराज के निर्देशानुसार[3] माण्डूक्यकारिका [३।२०] के

---

१. संख्या ९ से १५ तक के उद्धरण प्रथम ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य से लिये गये हैं। इन उद्धरणों को बोधायन-प्रसंग में भी देखिए।

आचार्य द्रमिल के ये सातों उद्धृत सन्दर्भ, वाक्यकार ब्रह्मनन्दी के एक सन्दर्भ के व्याख्यारूप हैं। बोधायन-प्रसंग में 'बोधायन के उद्धृत सन्दर्भ' शीर्षक के नीचे उद्धृत सन्दर्भों की संख्या-७ देखिए।

इससे यह स्पष्ट होता है—आचार्य ब्रह्मनन्दी द्रमिलाचार्य से पूर्ववर्ती है। आचार्य ब्रह्मनन्दी की किसी रचना पर द्रमिलाचार्य ने भाष्य किया। यह रचना छान्दोग्योपनिषद् पर ब्रह्मनन्दीकृत व्याख्यान सम्भव है। इस रचना का नाम 'वाक्य' कहा जाता है; इसी कारण ब्रह्मनन्दी को 'छान्दोग्य-वाक्यकार' अथवा केवल 'वाक्यकार' कहा जाता रहा है।

२. द्रष्टव्य—छान्दोग्योपनिषत् शांकरभाष्य, प्रारम्भिक भाग, तथा अ० तीन, ख० ८–१०; आनन्दगिरिटीका सहित।

३. ब्रह्मसूत्र के हिन्दी शांकरभाष्य की भूमिका, 'अच्युत', पृ० १६।

भाष्य में आचार्य शंकर ने जिस उपनिषद्व्याख्याकार का विवरण दिया है, यदि वह आचार्य द्रमिल है, तो यह स्पष्ट है—आचार्य शंकर के समय द्रमिलाचार्य की गणना ब्रह्मवादी आचार्यों में होती रही है। भले ही आचार्य शंकर ने मतभेद के कारण उसे 'वावदूक' बताया, पर उसके 'ब्रह्मवादी' होने को स्वीकार किया, जिससे विद्वत्समाज में उसके प्रतिष्ठित होने का पता लगता है। क्या यह सम्भव है, शंकर ने 'ब्रह्मवादी' पद का प्रयोग व्यंग्य भावना से किया हो?

सिद्धान्त—जब हम वेदान्तपरम्परागत आचार्यों के सिद्धान्तों के विषय में कोई चर्चा चलाते हैं, तो मुख्यरूप से दो-तीन बातें सामने आती हैं, क्योंकि आज वेदान्त का प्रायः वही रूप समझा जाता है। वे मुख्य बातें हैं–ब्रह्म और जीवात्मा को एक मानना, ब्रह्म को ही जगत् का उपादानकारण मानना, तथा जगत् को असत्य वा अलीक मानना, आदि। भूतरचनाविषयक पञ्चीकरण आदि सिद्धान्तों को भी सामने लाया जाता है। इन्हीं बातों पर परख की जाती है कि अमुक आचार्य वेदान्त-परम्परा में किन विचारों को स्वीकार करता है। इन आधारों को लेकर आचार्य द्रमिल के सिद्धान्तों को समझने का प्रयास अपेक्षित है; आचार्य की कोई पूर्ण रचना आज हमारे सामने नहीं है; केवल कतिपय उद्धरण हैं, जो अन्य आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रमाणरूप से उद्धृत किये हैं। किसी विचार को पूर्णरूप में समझने के लिए यह अत्यल्प सामग्री है, फिर भी प्रयत्न करना विवेचक का कर्तव्य है।

ब्रह्मात्मैक्य-विवेचन—आचार्य द्रमिल ब्रह्म और आत्मा को एक मानता था अथवा भिन्न? इस विषय पर कुछ प्रकाश आचार्य के उन सन्दर्भों से पड़ता है, जो उद्धरणों में चार और पाँच संख्या पर दिये गये हैं। संख्या चार के सन्दर्भ में प्रकट किया गया है कि जैसे लोक में एक राजा—जिसके देह पर छत्र-चँवर आदि डुलाये जा रहे हैं—भयावह क्रूर जंगली जानवरों से भरे घोर अनर्थकारी संकट-पूर्ण प्रदेश में भी रहता हुआ, वहाँ के दोषों की लपेट में नहीं आता तथा अभिप्रेत प्रजाजन की परिपालना करता है; ऐसे ही वह समस्त विश्व का स्वामी, जिसपर अपने असीम सामर्थ्यरूपी चँवर आदि डुलाये जा रहे हैं, विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी उसके दोषों से लिप्त नहीं होता, तथा समस्त लोक-लोकान्तरों की रक्षा करता है, एवं उन अनन्त भोगों को धारण करता है, अथवा वे सदा धारण किये हुए हैं, जो सांसारिक जनों के लिए अनायास उपभोग्य नहीं हैं।

संख्या पाँच में प्रकट किया है कि फलभोग की इच्छा से प्रेरित हुए जीवात्मा कर्मों के द्वारा उस परमात्मा को प्रसन्न करने की अभिलाषा रखते हैं; वह पर-मेश्वर प्रसन्न हुआ फल देने में समर्थ रहता है; शास्त्र की यही मर्यादा है। इन उल्लेखों से अवगत होता है कि आचार्य द्रमिल जीवात्मा और परमात्मा में स्पष्ट-रूप से भेद को स्वीकार करता है। ऐहिक ऐश्वर्य एवं भोगों के साधनभूत विश्व

को धारण करनेवाला एकमात्र परब्रह्म परमात्मतत्त्व है; यह सब जीवात्माओं के लिए असम्भव है। जीवात्मा संसार में कर्मों को करते और उनके अनुसार फलों को भोगा करते हैं; ऐसी शास्त्रप्रतिपादित मर्यादा व व्यवस्था का उल्लेख इन पंक्तियों में आचार्य द्रमिल ने किया है, जो शंकरानुमोदित ब्रह्मात्मैक्यवाद के साथ अनुकूलता नहीं रखता, यद्यपि वेदान्तसूत्रों में वर्णित अर्थों के साथ उसकी अनुकूलता स्पष्ट है।[1]

श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है[2]—"आनन्दगिरि कहते हैं कि **'तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम्, तच्छेषः सृष्टयादिवाक्यम्'** यह मत आचार्य द्रविड का अङ्गीकृत है।" परन्तु इस आनुपूर्वी का लेख छान्दोग्य के 'तत्त्वमसि' प्रसंग के शाङ्करभाष्य की आनन्दगिरिकृत टीका में कहीं उपलब्ध नहीं है। वहाँ [छा० ६।१६।३ पर] एक पाठ ऐसा मिलता है—**"तत्त्वमसीति वाक्यं मुख्यैकत्वपरमिति स्वपक्षमुक्त्वा परपक्षं शङ्कते—नन्विति।"** 'तत्त्वमसि' वाक्य का मुख्य रूप से ब्रह्म और आत्मा [जीवात्मा] के एकत्व का बोध कराने में तात्पर्य है, इस प्रकार अपने पक्ष का कथन करके परपक्ष की आशंका करता है—'ननु' इत्यादि सन्दर्भ से।

इससे स्पष्ट है, 'तत्त्वमसि' वाक्य का मुख्यैकत्व-तात्पर्य शङ्कर ने अपने पक्ष से कहा है। यहाँ ऐसा कोई संकेत नहीं है कि यह पक्ष द्रमिलाचार्य का है अथवा उसको स्वीकृत है। इसके विपरीत आचार्य शंकर ने परपक्षरूप से जो आशंका उठाई है, वह पक्ष आचार्य द्रमिल का रहा हो, यह सम्भव है। उस पक्ष में श्वेतकेतु-प्रतीक से आत्मा को ब्रह्म बताना औपचारिक माना गया है। शंकर ने अगली पंक्तियों में साथ ही उसका प्रत्याख्यान किया है। ऐसी दशा में यह कहना सर्वथा चिन्त्य है कि द्रमिलाचार्य ब्रह्मात्मैक्यवाद को स्वीकार करता था।

जगत् की सत्यता—जगत् के मिथ्या या अलीक होने की भावना बौद्धदर्शन में प्रस्फुटित हुई। उसका परिष्कृत रूपान्तर शंकर-सम्प्रदाय में जगत् और उसके उपादान माया को 'अनिर्वचनीय' नाम देकर किया गया। आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती वैदान्तिक विद्वानों ने जगत् की सत्यता का जो उपपादन किया है, वह बौद्धदर्शन के प्रतिरोध में है। जगत् की सत्यता और असत्यता के विषय में आचार्य द्रमिल का क्या विचार है? इसपर उसके कतिपय उद्धृत[3] श्लोकों से प्रकाश

---

१. देखें—वेदान्तसूत्र, १।१।१६-१७, १।२।३-४; १।३।४-५; २।३।१७-१८; ४।४।१७॥
२. शांकरभाष्य, हिन्दी अनुवाद की भूमिका 'अच्युत' पृ० १७।
३. इसके लिए आठ से पन्द्रह संख्या तक के श्लोक गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं।

पड़ता है। उन श्लोकों में यह भाव प्रकट किया गया है—

सोम के अभाव में पूतीक [करंजवा] का ग्रहण कर लेना चाहिए,–यह श्रुति द्वारा प्रकट किया गया है, क्योंकि पूतीक में सोम के अंश विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार व्रीहि के अभाव में नीवार का उपयोग अनुष्ठानों में कर लिया जाता है, क्योंकि व्रीहि का सादृश्य नीवार में देखा जाता है। ऐसे ही शुक्ति का रजतभाव अथवा रजत का शुक्तिभाव श्रुतिबोधित है; यह सीप है, यह चाँदी है, इस भेद का निर्देश उन-उन अंशों के आधिक्य के कारण होता है; अन्यथा मूलतत्त्व दोनों जगह समान रहते है, जिनके कारण विभिन्न कार्य सीप और चाँदी आदि में सादृश्य देखा जाता है; इस प्रतीति से भी कतिपय अंशों का उभयत्र समान होना निश्चित होता है। कभी-कभी चक्षु आदि के दोष से शुक्ति-अंश छोड़कर केवल रजत-अंश गृहीत हो जाता है, और रजतार्थी उसके लिए प्रवृत्त होता है। परन्तु जब चक्षु-दोष हट जाता है, तब शुक्ति-अंश गृहीत होने पर रजतार्थी की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। यह सब स्थिति स्पष्ट करती है कि सीप में चाँदी का भान हो जाना भी यथार्थ है। सीप का ज्ञान होने पर चाँदी की बाधा हो जाती है, इस प्रकार का बाध्य-बाधक-भाव तो अंशों के भूयस्त्व के कारण होता है, वस्तु के अयथार्थ होने के कारण नहीं। शुक्ति के अधिक भी अंश जब विकल हैं, प्रतीति में नहीं आते, तथा अत्यल्प भी रजत-अंश उभार में रहते हैं, तब वह वस्तु रजत प्रतीत होती है, अन्यथा सीप। वस्तु का मिथ्या या सत्य होना बाध्य-बाधकभाव का कारण नहीं। सब वस्तु सर्वात्मक हैं, अर्थात् वस्तुमात्र के उपादान कारण त्रिगुणरूप में समान हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि आचार्य द्रमिल भ्रान्तिस्थलों में भी वस्तु एवं ज्ञान की सत्यता को स्वीकार करता है; तब अन्य साधारण व्यवहार में वह वस्तु-तत्त्व को असत्य अथवा अलीक माने, यह कदापि सम्भव नहीं।

ब्रह्म की उपादानकारणता—आचार्य द्रमिल के उद्धृत श्लोकों के प्रारम्भिक भाग[1] में सर्गोत्पाद का वर्णन किया गया है। इन श्लोकों का तात्पर्य इस प्रकार है—सब प्रकार का ज्ञान यथार्थ है, यह वेदज्ञ आचार्यों की मान्यता है। श्रुति-स्मृति से, तथा–सब सर्वात्मक है—इस प्रतीति से यह स्पष्ट होता है। जब किसी एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान होता है, तब हम उसे मिथ्या अथवा अयथार्थ ज्ञान कहते हैं, तथा यह समझते हैं कि जो वस्तु यहाँ नहीं है, उसका ज्ञान हमें हो गया है। परन्तु इस विषय में आचार्य द्रमिल का कहना है कि जिस वस्तु का हमें ज्ञान हुआ है, उस वस्तु का अभाव वहाँ नहीं है, प्रत्युत वह वस्तु वहाँ विद्यमान है। उसका कहना है कि सीप में रजत के अंश हैं, उन्हीं की प्रतीति रजतरूप में

१. देखें—श्लोक १ से ७ तक।

होती है । इसी भाव को आगे पन्द्रहवें श्लोक में कहा है, जिसका उल्लेख अभी पूर्वांकित पंक्तियों में किया जा चुका है। उसका कारण आचार्य बताता है कि समस्त वस्तुएँ जिन उपादान-तत्त्वों से किसी इकाई के रूप में परिणत होती हैं, वे समस्त इकाइयों के लिए मूलरूप में समान हैं। वे मूलतत्त्व क्या हैं ? इसका संक्षिप्त विवरण आचार्य ने अगले पद्यों में दिया है। आचार्य लिखता है—

उपनिषद् [छा० ६।२।३] में **'बहु स्यां'** इस प्रकार संकल्पपूर्वक सर्गारम्भ का वर्णन जहाँ किया गया है, वहाँ उपनिषद् [छा० ६।३।३] में **'तासां त्रिवृत-मेकैकां करवाणि'** यह कहा है। कार्यमात्र में यह त्रिवृत्करण प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है—अग्नि अथवा तेज का रोहितरूप, आपस् का शुक्ल और पृथिवी का कृष्ण; यह त्रिरूपता अग्नि में है; उसके समान प्रत्येक वस्तु में ऐसा ही है, यह अर्थ स्पष्ट रूप से उपनिषद् में प्रतिपादित है। विष्णुपुराण [अंश १, अध्या० २, श्लो० ५२–५४] में ऐसा ही वर्णन सर्गारम्भ का उपलब्ध होता है। ये विभिन्न शक्तिसम्पन्न मूलतत्त्व परस्पर संघात [अन्योन्य-मिथुन] हुए बिना सर्गरचना में समर्थ नहीं होते। एक-दूसरे का परस्पर मिथुन होने पर सृष्टि का प्रारम्भ सम्भव होता है।

यह आशय आचार्य द्रमिल के पाँच पद्यों [२ से ६ तक] का है। इनमें छान्दोग्य-उपनिषद् के उस प्रसंग का संकेत है, जहाँ उपनिषत्कार ने सर्गारम्भ का वर्णन किया है। प्रलय के अनन्तर परब्रह्म परमात्मा का ईक्षण प्रकट किया गया है—वह अभी तक अकेला है, सर्गरचना के अनन्तर यह समस्त विश्व अभिव्यक्त होने को है। अकेला कहने का तात्पर्य यह है कि तब तक कोई अन्य चेतन तत्त्व किसी प्रकार की क्रिया करने में अक्षम है। सर्गरचना हो जाने पर तो अनन्त चेतना [जीवात्मतत्त्व] देहेन्द्रियादि की प्राप्ति हो जाने से सक्रिय हो उठते हैं। सृष्टिदशा न रहने पर यह क्षमता केवल परब्रह्म में अवस्थित रहती है। उसी स्वाभाविक परिस्थिति का उपनिषत्कार ने इस प्रकार वर्णन किया—**"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति"** [छा० ६।२।३]। ब्रह्म ने विविधरूप में सृष्टि को बनाने का संकल्प किया, और इसके लिए **'तेजस्, अप्, अन्न'** को सक्रिय किया अथवा प्रेरित किया। ये तीन देवता जगत् के रूप में परिणत कर दिये गये। जीवात्माओं का इस जगत् में प्रवेश हुआ, परब्रह्म तत्त्वमात्र में स्वतः अनुप्रविष्ट है।

ये तीन देवता **'तेजस्, अप्, अन्न'** यथाक्रम **'रजस्, सत्त्व, तमस्'** के प्रतीक हैं। यह तथ्य उपनिषद् के अगले चतुर्थ खण्ड के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ बताया है कि अग्नि की रचना में उक्त तीनों देवताओं का समावेश है। अग्नि का अग्निपना नहीं रहता, पर वे तीन रूप सत्य हैं। तात्पर्य यह कि विकार बनता-बिगड़ता रहता है, पर मूलतत्त्व सदा स्थिर रहते हैं, इसी कारण उन्हें सत्य कहा गया है।

उपनिषद् के इस **'त्रिवृत्करण'** के प्रसंग को आचार्य शंकर और उसके अनुवर्त्ती आचार्यों ने पञ्चीकरण का उपलक्षण मानकर एक नये मतवाद की स्थापना की है। उपनिषद् के इस प्रसंग में स्पष्ट त्रिगुण [**सत्त्व, रजस्, तमस्**] से जगदुत्पत्ति का वर्णन है। कदाचित् आचार्य शंकर ने उपादानमूलक जगत् की त्रिगुणात्मकता को सहन न करने के कारण एक निराधार अवैज्ञानिक विचार को पञ्चीकरण के रूप में उभारने का प्रयास किया है।

आचार्य द्रमिल के प्रस्तुत उद्धृत लेखों में पञ्चीकरण का संकेतमात्र भी नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत स्पष्ट रूप में जगत्सर्ग को त्रिगुणमूलक बताया है। इन मूल तत्त्वों से जो रचना होती है, उसको आगे [श्लोक ७ में **'महदाद्या विशेषान्ता'**] कहकर प्रस्तुत किया है।[1] यह उल्लेख जगत्सर्ग की सांख्यप्रतिपादित प्रक्रिया का स्पष्ट निर्देश करता है। इससे परिणाम निकलता है कि आचार्य द्रमिल ने जगत् का उपादानकारण 'त्रिगुण' को स्वीकार किया है। इसी अर्थ का निर्देश ब्रह्मसूत्र [३।१।२] का उल्लेख कर सप्तम श्लोक की अन्तिम पंक्ति में किया है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है—आचार्य शंकर से पूर्व छान्दोग्य उपनिषद् के इस प्रसंग [६।१–५] तथा ब्रह्मसूत्र [३।१।२] की व्याख्या शांकरव्याख्या से भिन्न रूप में की जाती थी, जो प्रसंग एवं यथार्थता के सर्वथा अनुकूल है। आचार्य शंकर ने अपने विचारों की बाधक समझकर उस व्याख्या की उपेक्षा की। हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि आचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती आचार्य द्रमिल ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण नहीं मानता था, यह विचार उसके उक्त लेखों से स्पष्ट होता है।

आचार्य द्रमिल के उद्धरणों में पाँचवें श्लोक के **'नानावीर्याः'** से प्रारम्भ कर आगे **'महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डं'** तक समस्त पाठ विष्णुपुराण का उद्धरण है। आचार्य ने अपने विचारों की पुष्टि के लिए उसका उल्लेख किया है। विष्णुपुराण के इस अध्याय [अंश १, अध्याय २] में सर्गरचना का जो वर्णन हुआ है, वह सर्वांश में सांख्यप्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार है। उस प्रसंग में कोई ऐसा संकेत नहीं, जिसके अनुसार ब्रह्मचेतनतत्त्व को जगत् का उपादान माना जाना प्रतीत होता हो। आचार्य द्रमिल ने उस प्रसंग के विष्णुपुराण-प्रतिपादित सिद्धान्त का अपने मान्य सिद्धान्त के रूप में उल्लेख किया है। निश्चित है, आचार्य द्रमिल सर्गरचनाविषयक उन विचारों का पक्षपाती नहीं था, जो परवर्ती-काल में आचार्य शंकर द्वारा पुष्ट हुए हैं। विष्णुपुराणगत निम्नलिखित पद्य इस विषय में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

गुणसाम्ये ततस्तस्मिन् पृथक्पुंसि व्यवस्थिते ।
कालस्वरूपं तद्विष्णोर्मैत्रेय परिवर्त्तते ॥२७॥

१. तुलना करें, मैत्र्युपनिषत्, ६।१०॥

प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययो ॥२९॥
गुणसाम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ॥३३॥
प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत्समावृणोत् ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥३४॥
भूततन्मात्रसर्गोऽयमहङ्कारात्तु तामसात् ।
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश ॥४६॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः ॥४७॥
नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥५१॥
समेत्याऽन्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
एकसंघातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ॥५२॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥५३॥[1]

आचार्य द्रमिल का काल—आचार्य के प्रादुर्भावकाल के निर्णायक कोई असन्दिग्ध साधन उपलब्ध नहीं हैं। यह प्रथम उल्लेख किया गया है कि उपनिषदों [माण्डू०, बृ०] के भाष्य में आचार्य शंकर ने द्रमिलाचार्य के मतों का उल्लेख किया है, और 'आगमवित्' आदि पदों से उसका स्मरण किया है। इससे इतना निश्चय होता है कि द्रमिल आचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती है। यद्यपि आचार्य शंकर का काल भी सन्दिग्ध है, पर जो काल निर्धारित हो सके, द्रमिल का काल उससे पूर्व माना जायगा।

किसी का ऐसा मत है कि 'रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में स्मृत द्रमिलाचार्य शंकरोक्त द्रमिल से भिन्न थे। उन्होंने पञ्चरात्र सिद्धान्त का अवलम्बन कर द्रविड भाषा में ग्रन्थरचना की थी'।[2] इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में जिस द्रमिलाचार्य का उल्लेख हुआ है, उसकी रचना द्रविड-भाषा में न होकर गद्य एवं पद्यरूप संस्कृतभाषा में उपलब्ध है, जिसके कतिपय

१. विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय २ में ये पद्य द्रष्टव्य हैं। श्लोकसंख्या श्लोक के साथ निर्दिष्ट है।
२. देखें—'अच्युत' पृ० १७। श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज कृत हिन्दी शांकर-भाष्य की भूमिका।

सन्दर्भ वेदान्तदर्शन के रामानुजभाष्य आदि में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। यही द्रमिलाचार्य उपनिषदों [छा०, बृ०] का भाष्यकार रहा है। आचार्य शंकर आदि के लेख इसी द्रमिलाचार्य के विषय में सम्भव हैं।

सिद्धित्रय नामक ग्रन्थ में यामुनाचार्य ने इसी द्रमिल के विषय में कहा है— **"यद्यपि भगवता बादरायणेन इदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा भाष्यकृता"**[1] यहाँ **'भाष्यकृत्'** पद से इसी द्रमिलाचार्य का ग्रहण किया जाता है। स्पष्ट है, शंकर और रामानुज के भाष्यों में जिस द्रमिलाचार्य का उल्लेख हुआ है, वह द्रविड भाषा के ग्रन्थों का रचयिता नहीं है। यह सम्भव है, इस नाम के विभिन्न आचार्य रहे हों और किसी ने द्रविडभाषा में ग्रन्थ-रचना की हो, पर शंकर एवं रामानुज के भाष्यों में द्रविडभाषा के लेखक आचार्य का कोई संकेत नहीं मिलता। इन भाष्यों में जो द्रमिलाचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती है, यह निश्चित है। इसने आचार्य ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ का विवरणात्मक भाष्य व व्याख्यान किया है, इससे यह ब्रह्मनन्दी का परवर्त्ती सिद्ध होता है।[2]

सिद्धित्रय की उक्त पंक्ति के आधार पर श्री पं० श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य

---

१. उस ग्रन्थ में इसके आगे पाठ इस प्रकार है—**"विस्तृतानि च तानि गम्भीर-न्यायसागरभाषिणा भगवता श्रीवत्साङ्कमिश्रेणापि। तथापि आचार्य-टङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शङ्कर - श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये युक्तः प्रकरणप्रक्रमः।"**

यह पाठ हमने सम्भवतः संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पुस्तकालय में विद्यमान प्रति से प्रतिलिपि किया। पर उस संस्करण का निर्देश करना हमें विस्मृत हो गया। सन्दर्भ के 'आचार्य' पद पर चिह्न देकर उस संस्करण की टिप्पणी में यह लेख है—

"अत्र आचार्यो द्रमिडाचार्यः, टङ्को वार्त्तिककारश्च एतौ द्वौ श्रीसम्प्रदायानुयायिनौ श्रीवत्साङ्कश्च। भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्ता निर्विशेषब्रह्मवादपक्षमास्थिषत-इति शङ्कराचार्यात् प्राचीना अपि तत्सयूथ्याः। अत एव बृहदारण्यकभाष्ये भर्तृप्रपञ्चभाष्यात् स्वग्रन्थे विशेषमावदेयितुं शङ्कराचार्यैः(इत्यल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते) इत्युक्तम्, भर्तृप्रपञ्च-भाष्यस्य विस्तृतत्वादिति भावः। विभिन्नमतमभ्युपगच्छतामप्येषामाचार्याणां संमिश्रय ऐकस्वर्याभिधानं तु तेषां कालक्रमाम्नानायेति विद्मः।

हमारे पास इस समय सिद्धित्रय पुस्तक श्री ति० वीरराघवाचार्य द्वारा परिष्कृत, तिरुपति श्रीवाणी मुद्रणालय से १९४२ में मुद्रित संस्करण है। इसमें मूल के 'भाष्यकृता' पाठ के स्थान में 'द्रमिडभाष्यकृता' छपा है।

२. देखें, उद्धृत सन्दर्भों में १५वें उद्धरण की टिप्पणी, तथा ब्रह्मनन्दी प्रसंग के प्रारम्भिक भाग का 'ग' विभाग एवं उसकी टिप्पणी।

जी ने अपने कुछ विचार अभिव्यक्त किये हैं ।[1]

उनके विचार से यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में निर्दिष्ट आचार्यों की सूची में पठित 'टङ्क' तथा रामानुजाचार्य के वेदार्थसंग्रह की आचार्य-सूची में निर्दिष्ट 'टङ्क' परस्पर भिन्न व्यक्ति हैं । उनका लेख है—"टङ्काचार्य, जिसका दूसरा नाम ब्रह्मनन्दी भी प्रसिद्ध था, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी थे । यामुनाचार्य-विरचित 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में जिन टङ्क का नाम इतरसिद्धान्तानुयायियों में लिखा है, वे टङ्क दूसरे हैं, ये नहीं हैं ।"[2]

यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सिद्धित्रय की समस्त आचार्य-सूची विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय से इतरसिद्धान्तानुयायियों की नहीं है। रामानुजाचार्य के वेदार्थ-संग्रह की आचार्यसूची में 'द्रमिल' का स्पष्ट उल्लेख है; इससे स्पष्ट है, वह विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का आचार्य माना जाता है। सिद्धित्रय की सूची में 'आचार्य' पद से ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार द्रमिल का निर्देश समझा जाता है। वहाँ द्रमिल के साथ टङ्क और श्रीवत्साङ्क को टिप्पणी में श्रीसम्प्रदाय का अनुयायी बताया है ।[3] श्रीवत्सांक ने द्रमिल के वेदान्तभाष्य पर विवरण लिखा, इससे वह भी उसी सम्प्रदाय का अनुयायी निश्चित होता है। सिद्धित्रय की सूची में टङ्क के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी इन दो आचार्यों [द्रमिल, श्रीवत्साङ्क] का स्पष्ट उल्लेख है । इससे उक्त सूची को केवल इतरसिद्धान्ता-नुयायियों की सूची नहीं समझना चाहिए ।

सिद्धित्रय के उक्त सन्दर्भ की "......**भास्करादिविरचितसितासितविविध-निबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावत् अन्यथा च प्रतिपद्यन्ते**" इत्यादि पंक्ति का अर्थ भी उक्त लेख में अस्पष्ट-सा हुआ है। वहाँ का लेख है—"......भास्कर आदि आचार्यों द्वारा रचित परस्पर-विरुद्ध वितण्डावादपरिपूर्ण निबन्धों से तत्त्व-जिज्ञासु जनों की बुद्धि अत्यन्त विप्रलब्ध हो जाती है, और वे वास्तविक तत्त्व को यथावत् नहीं समझ पाते ।"

इस अर्थ में मूल सन्दर्भ के **'सित'** और **'असित'** पदों के प्रयोग की भावना स्पष्ट होने से रह गई है। मूल लेखक का तात्पर्य स्वयूथ्य आचार्यों के लेखों को 'सित' और परयूथ्यों को 'असित' बताने में प्रतीत होता है। सित–यथार्थ प्रकाशमय और असित–अयथार्थ अन्धकारमय । विचारों के इस वैविध्य में बँधी हुई श्रद्धा के

१. देखें—'कल्याण' गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित मासिक पत्र। वर्ष ११, अंक १; पूर्ण संख्या १२१; वेदान्ताङ्क के पृ० ६८३–६८६ में 'विशिष्टाद्वैत के तीन महाचार्य—बोधायन, ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्य' शीर्षक लेख ।

२. कल्याण, वही अंक, पृ० ६८४, कॉलम २, पं० १०–१४ ।

३. देखें—गत पृ० की टिप्पणी सं० १ ।

कारण तत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति ठगा-सा रह जाता है, किसको ठीक माने, किसको न माने। यामुनाचार्य ने इसके निर्णायक रूप में अपने सिद्धित्रय नामक प्रकरण का उपक्रम किया।

इसमें स्वयूथ्य-पक्ष का पोषण और परयूथ्य का अपाकरण किया गया है। फलतः उक्त पंक्ति से पूर्व जो आचार्यों की सूची दी गई है, उसमें उभययूथ्य आचार्यों के नामों का उल्लेख हुआ है; केवल इतरसिद्धान्तानुयायियों का नहीं। इसके फलस्वरूप 'टङ्क' नाम के विभिन्न सम्प्रदायानुयायी दो व्यक्तियों का माना जाना निराधार है। सिद्धित्रय और वेदार्थसंग्रह दोनों ग्रन्थों में 'टङ्क' नामक एक ही आचार्य का उल्लेख हुआ है। उसे भिन्न माने जाने का कोई प्रमाण नहीं।

आचार्य ब्रह्मदत्त

वेदान्तमूलक अध्यात्मपरम्परा के आचार्यों में अन्यतम आचार्य ब्रह्मदत्त हुए हैं। विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध इनके मतों का अन्य आचार्यों द्वारा उस रूप में विवरण दिये जाने से सम्भव है—वेदान्तविषयक मूलग्रन्थों [ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि]पर इनकी कोई प्रौढ़ रचनाएँ रही हों, जो उन विवरणों व विवेचनों का आधार थीं। नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में सुरेश्वराचार्य ने **'केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः'** कहकर किसी आचार्य का मन्तव्य प्रकट किया है—यह जो कहा जाता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' वेदान्तवाक्य से ब्रह्म-विज्ञान उत्पन्न हो जाता है, ऐसे केवल शब्दिक ज्ञान के उत्पन्न होने से अज्ञान का निरास नहीं होता; किन्तु प्रतिदिन दीर्घकाल तक उपासना करते रहने पर भावना के उपचय से अर्थात् उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्काररूप भावना के जागृत हो जाने से अज्ञान की पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है।[1] नैष्कर्म्यसिद्धि की 'ज्ञानामृतविद्यासुरभि' नामक टीका में यह आचार्य ब्रह्मदत्त का मत निर्णीत किया है।[2] सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक में इस मत का उल्लेख किया है।[3]

१. नैष्कर्म्य सिद्धि का लेख है—**"केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः—'यदेतद्वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि ? अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो भावनोपचयान्निःशेषमज्ञानमपगच्छति। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुतेः"** १।६७॥ पृ० ५६, ज्ञानोत्तम मिश्र की चन्द्रिका टीका सहित, सन् १८६० का वाराणसी-संस्करण। इस पाठ को सन् १९२५ ई० के बम्बई-संस्करण से मिला लिया गया है।

२. 'अच्युत' पृ० १३ के आधार पर।

३. बृ० भा० वा० अध्याय ४, ब्रा० १ की व्याख्या में श्लोक २३–२७, पृ० १३५७, पूना संस्करण।

इसी मत का उल्लेख आचार्य शंकर ने बृहदारण्यक उपनिषद् [१।४।७] के भाष्य में किया है। शंकर ने लिखा है—अन्य आचार्य वर्णन करते हैं कि उपासना के द्वारा आत्मविषयक विशिष्ट विज्ञान की भावना से आत्मज्ञान होता है, और वही अविद्या का निवर्त्तक है; **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि वेदान्तवाक्य से प्रादुर्भूत आत्मविषयक विज्ञान अविद्या की निवृत्ति नहीं करता।[1] इन विवरणों से प्रतीत होता है—वैदान्तिक आचार्यों की परम्परा में ब्रह्मदत्त एक लब्धप्रतिष्ठित आचार्य था।

रचना—आचार्य ब्रह्मदत्त की कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है। सम्भव है, ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद् आदि पर उसके कोई व्याख्याग्रन्थ रहे हों।

(क) गत पंक्तियों में वर्णित नैष्कर्म्यसिद्धि के पाठ में 'आहुः' क्रियापद के प्रयोग से ऐसा अनुमान होता है कि कदाचित् क्रियापद के आगे का सन्दर्भ किसी ग्रन्थ का उद्धरण है। नैष्कर्म्यसिद्धि की ज्ञानामृतविद्यासुरभि नामक टीका के निर्णयानुसार यह सन्दर्भ आचार्य ब्रह्मदत्त के किसी ग्रन्थ का सम्भव है; वह ग्रन्थ चाहे ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या रही हो अथवा किसी उपनिषद् की, पर इससे उसकी किसी रचना का स्पष्ट पता लगता है। यद्यपि आचार्य शंकर का लेख उद्धरण न होकर अन्य आचार्य के मन्तव्य को शंकर अपने शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करता है।

(ख) इसके अतिरिक्त वेदान्तदेशिकाचार्य ने तत्त्वमुक्ताकलाप नामक ग्रन्थ तथा उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि [२।१६] में एक मत का उल्लेख किया है, जो आचार्य ब्रह्मदत्त का माना जाता है। उस सन्दर्भ के द्वारा स्पष्ट होता हैं—आचार्य ब्रह्मदत्त एकमात्र ब्रह्म को नित्य मानता है, अन्य जीव आदि को वह उत्पन्न बताता है।[2] सिद्धान्त की दृष्टि से इसका विवेचन 'सिद्धान्त' शीर्षक के नीचे किया जायगा, पर ब्रह्मदत्त के इस प्रकार के अनेक सिद्धान्तों का विविध ग्रन्थों में वर्णन उसकी वेदान्तविषयक रचनाओं के अस्तित्व पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। सम्भवतः शांकर अद्वैत के उत्कट प्रचार ने उस साहित्य को अध्ययनाध्यापनपरम्परा में उपेक्षित कर दिया हो, जिससे धीरे-धीरे वह विलुप्त हो गया।

---

१. आचार्य शंकर का लेख है—**"अपरे वर्णयन्ति–उपासनेनात्मविषयं विशिष्टं विज्ञानान्तरं भावयेत्,' तेनात्मा ज्ञायते, अविद्यानिवर्त्तकं च तदेव; नात्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति।"**

२. तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ का पाठ है—**"एकं ब्रह्मैवनित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभागित्याम्नातं तेन जीवोऽप्यचिदिव जनिमानित्यनध्येतृचोद्यम्॥१६॥** यहाँ सर्वार्थसिद्धिटीका का लेख है—**'ब्रह्मदत्तादिभिरुक्तं जीवानां स्वरूपतः सृष्टिसंहृतिविषयत्वमनूद्य दूषयति—एकमिति।'** सर्वार्थसिद्धि की—नृसिंहदेवविरचित—आनन्ददायिनी टीका में लिखा है—'यादवप्रकाशमतमाह—**ब्रह्मदत्तादिभिरिति। आदिशब्देन भास्करादिग्रहणम्।** सर्वार्थसिद्धि पर

सिद्धान्त—नैष्कर्म्यसिद्धि [१।६७] और बृहदारण्यक उपनिषद् [१।४७] के शांकरभाष्य में आचार्य ब्रह्मदत्त का जो मत प्रकट किया गया है, उससे ज्ञात होता है—यह आचार्य **'अहं ब्रह्मास्मि'** इत्यादि वेदान्तवाक्य के श्रवणमात्र से अपरोक्षज्ञान का होना नहीं मानता, जबकि आचार्य शंकर ने ऐसा माना है। आचार्य ब्रह्मदत्त ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि वेदान्तवाक्यश्रवण के अनन्तर अपरोक्षज्ञान के लिए दीर्घकाल तक निरन्तर उपासना करना अत्यावश्यक है। ब्रह्मोपासना के फलस्वरूप 'अहं ब्रह्म' की साक्षात् भावना का जागृत होना अपरोक्षज्ञान है; यदि यह वेदान्तवाक्यश्रवणमात्र से हो जाया करता, तो **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** [बृ० २।४।५॥४।५।६] इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में आत्मदर्शन के लिए श्रवण के अनन्तर मनन, निदिध्यासन का विधान न होता। जिस अर्थ-तत्त्व को श्रवण से जाना है, उसे सद्युक्ति एवं सत्तर्क से जाँचना, अनन्तर तद्विषयक निदिध्यासन अर्थात् उपासना करना आत्मदर्शन के लिए सर्वथा अपेक्षित है।

आचार्य ब्रह्मदत्त का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि **'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि'** आदि वेदान्तवाक्यों के श्रवण से केवल उस दिशा में प्रवृत्ति के लिए अभिरुचि का जागृत हो जाना सम्भव है, पर उससे ब्रह्मस्वरूपविषयक अखण्डवृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उन शब्दों में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। लोक में स्पष्ट ही उस प्रकार वाक्यश्रवण से किसी को अपरोक्षज्ञान की अखण्डवृत्ति का हो जाना नहीं देखा जाता। लोक में साधारण वस्तु के नाममात्रश्रवण से उसका साक्षात् बोध नहीं होता, केवल संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान होता है। 'मधुर' शब्द के श्रवणमात्र से माधुर्य का साक्षात्कार नहीं होता। फिर अव्यक्त-अतीन्द्रिय ब्रह्मतत्त्व का शब्दश्रवणमात्र से साक्षात् बोध हो जाना कैसे सम्भव है? उपासना आदि में कठोर चर्या आदि से यह स्थिति प्राप्त होती है, इसी कारण आचार्य ब्रह्मदत्त की दृष्टि से समस्त उपनिषदों का तात्पर्य 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में न होकर ब्रह्म की उपासनाविधि में है। उपनिषद् के **'निदिध्यासितव्यः'** [बृ० २।४।५] **'सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः'**, [छा० ८।७।१] **'आत्मेत्येवोपासीत'** [बृ० १।४।७]

एक भावप्रकाश नामक टिप्पणी है, वहाँ का लेख है—**'ब्रह्मदत्तादिभिरिति, आत्मसिद्धौ प्रपञ्चहृदये च एतन्नामोपलभ्यते। ब्रह्मदत्तरचितग्रन्थस्तु नोपलभ्यते। आदिपदेन भर्तृप्रपञ्चयादवप्रकाशौ ग्राह्यौ।'** इस टिप्पणी का लेखक है—अभिनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्रपरकालयति।

[मैसोर-संस्करण, पृ० ४०५]

इस विवरण से यह परिणाम निकलता है—ब्रह्मदत्त, भास्कर, भर्तृप्रपञ्च और यादवप्रकाश ये सभी आचार्य आत्मा को उत्पन्न हुआ मानते हैं। इस मान्यता का प्रभाव वल्लभ आदि वैष्णव सम्प्रदाय में देखा जाता है।

इत्यादि वाक्यों के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट होता है। शंकर के पूर्ववर्त्ती प्रायः सभी आचार्यों का इस विषय में ऐसा ही मन्तव्य रहा है।

ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद—आचार्य ब्रह्मदत्त के मत में जीवन की कोई अवस्था ऐसी नहीं, जिसमें कर्म का त्याग कर दिया जाय। प्रत्येक दशा में कर्म करते रहना आवश्यक है। इसी कारण आचार्य ने उपासना या साधना का क्रम यह बताया है कि प्रथम उपनिषद् आदि से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान करना चाहिए, अनन्तर 'अहंब्रह्म' इत्याकारक भावना का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करना अपेक्षित है। इस अवस्था में भी आवश्यक कर्मानुष्ठान करते रहना चाहिए। जीवन के किसी भाग में कर्म का त्याग करना उचित नहीं।

नैष्कर्म्यसिद्धि [१।६६] में सुरेश्वराचार्य ने प्रस्तुत प्रसंग का उपसंहार करते हुए लिखा है—"...**ततो नास्ति, सांगत्यं ज्ञानकर्मणोः**" ज्ञान और कर्म का समुच्चय उक्त कारणों से सम्भव नहीं। इसके अनन्तर सुरेश्वराचार्य ने '**केचित्... आहुः**' कहकर आचार्य ब्रह्मदत्त का मत उद्धृत किया है, जिसका उल्लेख अभी ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है। उसकी अवतरणिका करते हुए नैष्कर्म्य-सिद्धि की चन्द्रिका टीका का रचयिता ज्ञानोत्तम मिश्र लिखता है—"यह पहले कहा गया कि वेदान्तवाक्य से ज्ञान के उत्पन्न होते ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण उस दशा में कर्मों के साथ समुच्चय अनुपपन्न है। पर अब ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि वेदान्तवाक्यश्रवण के अनन्तर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्विषयक उपासना द्वारा 'अहं ब्रह्म' भावना की उत्कर्ष अवस्था में उस भावना से जो ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है, उसी से अज्ञान की निवृत्ति होती है; इस कारण ज्ञान के अभ्यास की दशा में ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय सर्वथा उपपन्न है; इस एकदेशी मत का उत्थापन करके निराकरण करता है।"[1] इस वर्णन से आचार्य ब्रह्मदत्त का ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी होना प्रमाणित होता है।

ब्रह्म से जीव का भेद अथवा अभेद—भर्तृप्रपञ्च के सिद्धान्त का विवरण प्रथम दिया जा चुका है। प्रस्तुत विषय में भर्तृप्रपञ्च और ब्रह्मदत्त का सिद्धान्त अत्यधिक समान प्रतीत होता है। सर्वार्थसिद्धि के पूर्वोक्त उद्धरण के अनुसार जगत् और जीव दोनों की ब्रह्म से उत्पत्ति होती है, ऐसा मत ब्रह्मदत्त का है। इससे स्पष्ट होता है—जीव अपनी कार्यावस्था में ब्रह्म से भिन्न है। मोक्ष अवस्था

---

१. चन्द्रिका का पाठ इस प्रकार है—"**पूर्वं ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञान-निवर्त्तकत्वात् कर्मभिःसमुच्चयोऽनुपपन्न इत्युक्तम्। इदानीं तदयुक्तम्, वाक्य-जन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्त-रेणैवाज्ञानस्य निवृत्तेर्ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्ते-रित्येकदेशिनां मतमुत्थाप्य निराकरोति—एवमुपसंहृत इत्यादिना।**"

प्राप्त होने पर ब्रह्म—कारण में उसका लय हो जाता है। उत्पत्ति और लय होने से जीवात्मा ब्रह्मदत्त के मत में अनित्य पदार्थ प्रमाणित होता है, पर ब्रह्म को अनित्य नहीं माना जा सकता; अतः जीवात्मा अपनी कार्यावस्था में ब्रह्म से भिन्न माना जा सकता है। वह अपने कारणरूप में होने पर ब्रह्म से अभिन्न है; अर्थात् उस अवस्था में **'जीव'** नाम के किसी तत्त्व के न होने के कारण एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व की सत्ता में अभेदकथन उपयुक्त है। इस प्रकार आचार्य ब्रह्मदत्त के मत से ब्रह्म और जीव का भेदाभेद-स्वरूप प्रमाणित होता है।

जीव और ब्रह्म का भेदाभेद मानने के कारण आचार्य ब्रह्मदत्त को अद्वैतवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्गावस्था में जीवात्मा को ब्रह्म का कार्य अथवा परिणाम माननेवाले आचार्यों के मत से जीव अनित्य एवं रागादि मलों से अभिभूत रहता है; ब्रह्म का ऐसा स्वरूप इन आचार्यों ने किसी अवस्था में नहीं माना, इस कारण ब्रह्मदत्त का मत इस विषय में द्वैताद्वैतवाद प्रमाणित होता है। इसी के फलस्वरूप इन आचार्यों ने ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को उपास्य-उपासक अथवा भजनीय एवं भक्त के रूप में स्वीकार किया है। ब्रह्म और जीव की यह परिस्थिति दोनों का भेद माने बिना सिद्ध नहीं की जा सकती। यह हम पहले लिख चुके हैं[1] कि आचार्य शंकर स्वयं जीव की उत्पत्ति मानता है, पर उसे औपचारिक अथवा प्रातिभासिक बताता है, जबकि भर्तृप्रपञ्च तथा ब्रह्मदत्त आदि अन्य शंकर-पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने इसे यथार्थ स्वीकार किया है।

वस्तुतः इस विषय में इन सब आचार्यों के इतना बेचैन होने का कारण यही है कि ये अपने मन्तव्यों को वैदिक शास्त्रीय परम्पराओं के अनुरूप सिद्ध करने में असफल रहे हैं। यदि जीव, ब्रह्म से अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, वह केवल ब्रह्म है, तो ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मप्राप्ति के लिए समस्त शास्त्रों ने जो ब्रह्मचर्यादि पालन तथा उपासना आदि का विधान किया है, वह सब व्यर्थ है। कहा जाता है कि उपासना आदि सब उस अज्ञान को दूर करने के लिए है, जिससे ब्रह्म अपने-आपको ब्रह्म नहीं समझता। हम पूछते हैं कि यह किसने जाना कि ब्रह्म अपने-अपको ब्रह्म नहीं समझता ? वस्तुतः सब संसार को धोखा देकर यह कहनेवाला ही अपने-आपको ब्रह्म बताना चाहता है, जो परमार्थतः ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार सबको ब्रह्म कहनेवाले न शास्त्र की मर्यादा को अक्षुण्ण रख सके हैं, न उन्होंने ब्रह्मस्वरूप की वास्तविकता को सुरक्षित व पवित्र रहने दिया है। इस रूप में यह सिद्धान्त या मान्यता ही मूलतः असंगत है कि ब्रह्म से जीवात्मा उत्पन्न या परिणत होता है, भले ही उसे अपने असत्य की लीपापोती के लिए औपचारिक या प्रातिभासिक कहा जाय।

---

१. देखें—आचार्य भर्तृप्रपञ्च का प्रसंग।

शंकर के पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ब्रह्म-जीव-विषयक जो विचार अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों ने जिस रूप में प्रस्तुत किये हैं, वे यथार्थरूप में हुए हैं, इसमें सन्देह का पूरा अवसर है। उन पूर्वाचार्यों के विचार आचार्य शंकर के और शांकर विचारों से अभिभूत व्याख्याकारों के विचारों में से छनकर हमारे सामने आते हैं; उनकी अपनी रचना आज हमारे सन्मुख नहीं है। इन आचार्यों व व्याख्याकारों ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के विचारों को अपने विचारों की अनुकूलता में मोड़ने का प्रयास किया है; जहाँ स्पष्टतः ऐसा नहीं हो सका, वहाँ उसका विरोध किया है। उदाहरण के लिए हम एक स्थल सामने रखते हैं।

नैष्कर्म्यसिद्धि [१।६७; पृ० ५६] में ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख हुआ है, जिसका अभी पिछले पृष्ठों में विवरण दिया गया है। उस सन्दर्भ के अन्त में मूल लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए उपनिषद् का वाक्य दिया है—"**देवो भूत्वा देवानप्येति, इति श्रुतेः।**" प्रसंग है, '**अहं ब्रह्म**' की उपासना से जब यह भावना चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, तब ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर उपासक ब्रह्म को अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थ की पुष्टि के लिए पूर्व-आचार्य ने उक्त श्रुतिवाक्य को उद्धृत किया है। श्रुति का स्पष्ट भाव है—देव का साक्षात्कार करके उपासक देव को प्राप्त हो जाता है। ये पद स्पष्ट करते हैं कि उपासक स्वयं देव नहीं बन जाता, प्रत्युत उसका साक्षात्कार कर उसके समीप पहुँच जाता है। नैष्कर्म्यसिद्धि के चन्द्रिका-टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र ने इन पदों की यही व्याख्या की है।[1] फिर भी इस विवरण के आधार पर आचार्य ब्रह्मदत्त को अद्वैतवादी कहा जाता है।[2] अद्वैतवाद का ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद से सामञ्जस्य बिठाना कठिन है। आचार्य ब्रह्मदत्त का ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी होना निश्चित है। तब उसे अद्वैतवादी कहना चिन्तनीय होगा। यदि कहीं अद्वैत की भावना प्रतीत होती है, तो उसे केवल भक्तयतिशय का उद्गार समझना चाहिए। अद्वैत होने पर उसके विरोध का आग्रह नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक परम्परा के दार्शनिक आचार्यों में से किसी ने आत्मतत्त्व अथवा चेतनतत्त्व को उत्पन्न होनेवाला स्वीकार नहीं किया। उत्पन्न

---

१. चन्द्रिका टीकाकार का लेख है--"**देवो भूत्वा, भावनोपचयाद्देवभावं साक्षात्कृत्य पतिते देहे उपास्य-देवताभावं प्राप्नोतीत्यर्थः।**" देवताभाव को प्राप्त होना यही है कि उपासक आत्मा उस अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, यही उसकी मोक्ष दशा है। वह स्वयं अपने अस्तित्व को खोकर ब्रह्म बन जाता है, अथवा स्वरूप से वह ब्रह्म है, ऐसा नहीं है। फिर ब्रह्म कभी बनता नहीं, वह सदा एकरस व अजन्मा, निर्विकार है।

२. अच्युत, कविराज डॉ० गोपीनाथ जी का लेख, पृ० १३, पं० १६-१७॥

होनेवाला पदार्थ प्राकृतिक अथवा भौतिक हो सकता है। जिन बृहस्पति आदि आचार्यों ने आत्मतत्त्व को उत्पन्न होनेवाला माना है, वे उसे भौतिक कहते हैं तथा वैसा उपपादन करते हैं। आचार्य शंकर ने यदि चेतनतत्त्व से जड़ जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार किया है, तो बृहस्पति ने जड़तत्त्व से चेतन की उत्पत्ति बताकर कुछ अधिक दोषपूर्ण बात नहीं कही थी। इस दिशा में ये दोनों आचार्य एक स्तर पर खड़े दिखाई देते हैं। प्रतीत होता है, जिस तात्त्विक विचार-शैली को सर्वप्रथम आचार्य बृहस्पति ने अभिव्यक्त किया, कालान्तर में बौद्ध दार्शनिकों ने उसको परिष्कृत रूप दिया; अनन्तर आचार्य शंकर ने उसी को अपने साँचे में फँसाने का प्रयास किया है। बृहस्पति ने समस्त चेतनाचेतन जगत् के मूलतत्त्व को जड़ कहा था, उसी को आचार्य शंकर ने 'चेतन ब्रह्म' नाम दे दिया। यह केवल नाम का भेद है, मूलतत्त्व का कार्यकलाप दोनों आचार्यों के द्वारा समान रूप में विवृत हुआ है। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि वैदिक दार्शनिक सर्ग-विषयक प्रक्रिया में चेतनतत्त्व को कहीं परिणामी नहीं माना गया। यदि ऐसा माना जाता है, तो वैदिक परम्परा की परमात्मा व जीवात्मा की भावना धूलिसात् हो जाती है। यदि आचार्य ब्रह्मदत्त अथवा आचार्य शंकर की ऐसी मान्यता है, तो वह निश्चित ही वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

जीवन्मुक्ति तथा मोक्ष—नैष्कर्म्यसिद्धि में आचार्य ब्रह्मदत्त के जिस सन्दर्भ का उल्लेख है, उसमें उद्धृत **'देवो भूत्वा देवानप्येति'** इस श्रुत्यंश की व्याख्या करते हुए चन्द्रिकाटीकाकार ने लिखा है—**"भावनोपचयाद्देवभावं साक्षात्कृत्य पतिते देहे उपास्यदेवताभावं प्राप्नोतीत्यर्थः"**—ब्रह्मसाक्षात्कार होने के अनन्तर ब्रह्मभाव अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति देह के समाप्त हो जाने पर होती है। इस कथन के आधार पर ऐसा समझा गया है कि ब्रह्मदत्त जीवन्मुक्ति को नहीं मानता था।[1] विचारना चाहिए, जीवन्मुक्ति का स्वरूप क्या है ? वस्तुतः अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। अज्ञान की निवृत्ति सदा देह के रहने पर ही सम्भव है। यदि चालू देह के रहते अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, तो उसके लिए पुनः देहान्तर धारण करना करना होगा। जब यह निश्चित है कि देह के रहते ही अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है, तब यह भी निश्चित है कि अज्ञान की निवृत्ति होते ही तत्काल देहपात नहीं होता; प्रारब्ध-कर्मानुसार कुछ नियतकाल तक उस दशा में भी देह बना रहता है। यही अवस्था जीवन्मुक्ति की है। देह के रहते तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक व्यवहार—खाना-पीना, सोना-जागना, बैठना-चलना आदि बराबर चालू रहते हैं, चाहे वह देह ब्रह्मज्ञानी का हो, अथवा अज्ञानी का। यह दशा ब्रह्मानन्दानुभव में अवश्य बाधक होती है। इसी कारण सम्भवतः आचार्य ब्रह्मदत्त ने उपास्य के साथ

१. अच्युत, पृ० १४, पं० २३।

उपासक के मिलन में प्रारब्धकर्मलब्ध देह को प्रतिबन्धक माना है। कोई माने या न माने, पर वस्तुतः यह स्थिति प्रतिबन्धक तो अवश्य है, क्योंकि इसमें साधारण सांसारिक क्रियाओं से व्याप्त दैहिक सम्बन्ध बना रहता है, जो ब्रह्मानन्दानुभूति के नैरन्तर्य में बाधक होता है। इस स्थिति की—कोई विचारशील आचार्य—उपेक्षा नहीं कर सकता। फलतः उक्त कथन का ऐसा तात्पर्य निकालना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि आचार्य ब्रह्मदत्त जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करता था।

यद्यपि आचार्य शंकर ने अपना मन्तव्य इस रूप में प्रकट किया है[1] कि अन्तःकरण की शुद्धि अथवा तीव्र वैराग्य हो जाने पर कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती; इस अवस्था में ब्रह्मजिज्ञासु को केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयास करते रहना चाहिए; परन्तु इस दशा में अपनी बाह्य एवं आध्यात्मिक पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए विशेष कर्मों का अनुष्ठान बराबर अपेक्षित रहता है। यह तथ्य पूर्णरूप से मान्य है, इसकी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं, जब तक देह बना रहता है; किन्हीं आवश्यक शास्त्रीय कर्मों के अनुष्ठान का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। यह अलग बात है कि उस दशा में कौन-से कर्म अनुष्ठेय व कौन-से उपेक्षणीय हैं। इन्हीं भावनाओं से शंकर-पूर्ववर्त्ती प्रायः सभी वैदान्तिक आचार्यों ने ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद को स्वीकार किया है। फलतः ब्रह्मज्ञान हो जाने पर देह के रहते आवश्यक कर्मानुष्ठान बराबर चालू रहता है, फिर भी ब्रह्मज्ञान के कारण ब्रह्मानन्दानुभूति के होने से जीवन्मुक्ति के इस रूप में कोई बाधा नहीं है। पूर्ण मोक्ष तो देहपात के अनन्तर ही सम्भव है।

आचार्य शंकर मोक्ष को दृष्टफल मानता है, तथा पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने इसे अदृष्टफल माना है; इसका यही तात्पर्य है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर चालू देह के रहते पूर्ण मोक्षलाभ नहीं होता। देहकालिक आनन्दानुभूति की दृष्टि से उसे दृष्टफल तथा पूर्णमोक्षलाभ की दृष्टि से अदृष्टफल कहा जा सकता है। आनन्दानुभूति दोनों अवस्थाओं में समान रहती है; भेद केवल इतना है कि देह के रहते वह सान्तर है, देहपात हो जाने पर निरन्तर। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर देह के रहते हुए आनन्दानुभूति का होना आचार्य ब्रह्मदत्त एवं अन्य पूर्ववर्त्ती आचार्यों को अस्वीकार्य नहीं है। फलतः मोक्ष को दृष्टफल अथवा अदृष्टफल कहने में कोई विशेष अन्तर नहीं।

प्रादुर्भावकाल—आचार्य ब्रह्मदत्त के प्रादुर्भावकाल व देश का निर्धारण करना कठिन है। यदि उसकी कोई रचनाएँ उपलब्ध रही होतीं, तो उनके आधार पर सम्भवतः कुछ अनुमान किये जा सकते। साधारण रूप से यह मानने में कोई बाधा

---

१. देखें—ऐतरेय उपनिषद् के शांकरभाष्य का प्रारम्भिक प्रस्तावना-भाग।

नहीं कि ब्रह्मदत्त आचार्य शंकर का पूर्ववर्त्ती है; आचार्य शंकर द्वारा इसके मतों का उल्लेख किये जाने से यह स्पष्ट है। पर ब्रह्मदत्त और शंकर के पौर्वापर्य में काल का कितना अन्तर रहा होगा, यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।

महाभारत-युद्ध से लगभग डेढ़-दो सहस्र वर्ष के अनन्तर एक ऐसा समय आया जब औपनिषद उपासनाओं के अनुष्ठान में जिज्ञासु जन सम्भवतः कष्ट का अनुभव करने लगे। औपनिषद उपासनाओं के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि जिज्ञासु विवेक-वैराग्य आदि से सम्पन्न हो, यम-नियम आदि का श्रद्धापूर्वक पालन करता हो, उसकी दिनचर्या संयमपूर्वक नियन्त्रित हो। ज्ञान की दिशा में चलने के लिए यह प्रक्रिया एक कष्टसाध्य मार्ग है। इससे बचने के लिए उस समय ऐसे एक भक्तिमार्ग की उद्भावना की गई, जिससे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे, अध्यात्ममार्ग के यात्री भी बने रहें तथा कष्टसाध्य उपासनाओं से भी बचा जा सके। भक्ति का स्वरूप है—आत्मसमर्पण की भावना, अपने-आपको सर्वात्मना भगवान् के अर्पण कर देना, अपने अस्तित्व को नगण्य कर देना। यदि कोई व्यक्ति इस भावना के उच्चस्तर को छू सके, तो यह भी एक कल्याण का मार्ग है; पर प्रायः संसार में देखा यह जाता है कि ऐसे भक्त-जन—जो जी में आये उल्टा-सीधा करते रहने में संकोच नहीं रखते, क्योंकि वह सब भगवान् के नाम पर उसके निमित्त किया जाता है, और उसे निष्कलंक मान लिया गया है।

भले ही कालान्तर में इसका विकृत रूप हो गया, दुर्बलस्वभाव मानव अपनी ही प्रतिमूर्त्ति को लक्ष्यरूप में खड़ा कर सन्तोष का अनुभव कर लेता है; पर जिन आध्यात्मिक नेताओं ने इस मार्ग का उद्भावन किया, उनका तात्पर्य अध्यात्म की दिशा में एक ऐसे मार्ग को प्रस्तुत करना था, जो साधारण अधिकारी जन के लिए सुविधापूर्ण एवं कल्याणकर हो। इसकी अच्छाई-बुराई से हमारा कोई प्रयोजन नहीं, केवल यह स्पष्ट करना अभिप्राय है कि एक काल ऐसा आया, जब शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र तथा अनन्तर-काल में भागवत आदि भक्तिप्रधान साहित्य की रचना की जाती रही है। आचार्य ब्रह्मदत्त के अवगत मन्तव्यों से ऐसा अनुमान होता है—सम्भवतः इस आचार्य का प्रादुर्भाव उसी काल में हुआ हो। यह समय अब से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व के आसपास माना जा सकता है।[1]

आचार्य सुन्दरपाण्डय

वेदान्त-सम्बन्धी अध्यात्म-परम्परा के इतिहास में तपस्विता एवं विद्वत्ता के

---

१. इस विषय में इसी ग्रन्थ के काश्यप तथा शाण्डिल्य के प्रसंग को देखें।

लिए आचार्य सुन्दरपाण्डय का नाम मूर्द्धन्य व्यक्तियों में गिना जाता रहा है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि आचार्य सुन्दरपाण्डय पहले जैनधर्मानुयायी थे। अपने समकालिक प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञानसम्बन्धर के उपदेश से प्रभावित होकर इन्होंने जैनधर्म को त्याग शैवधर्म स्वीकार किया था। अपनी पूर्वाभ्यस्त अध्यात्मसाधन-सम्पत्ति के प्रभाव से इनकी गणना उच्चतम त्रेसठ शैवाचार्यों के मध्य होती रही है।[1]

यह आचार्य द्रविड देशवासी था, इस कारण किन्हीं लेखकों ने इन्हें 'द्रविडाचार्य' नाम से स्मरण किया है। परन्तु 'द्रविड' अथवा 'द्रमिल' नाम से प्रसिद्ध आचार्य इससे [सुन्दरपाण्डय से] सर्वथा भिन्न व्यक्ति है। सुन्दरपाण्डय द्रविड-देशोत्पन्न थे, अतः उक्त पद का प्रयोग इनके लिए किसी ने कर दिया हो, यह सम्भव है।

आचार्य शङ्कर ने समन्वयाधिकरण सूत्र [१।१।४] के भाष्य में 'अपि चाहुः' लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग की अवतारणा करते हुए लिखा है—**अत्रैव ब्रह्मविदां गाथामुदाहरति—अपि चाहुरिति**। उक्त श्लोकों के रचयिता के लिए वाचस्पति द्वारा 'ब्रह्मवित्' पद के प्रयोग से रचयिता के ब्रह्मवेत्तारूप में यशस्वी होने का पता लगता है। आचार्य शङ्कर और वाचस्पति मिश्र दोनों ने उस व्यक्ति के लिए बहुवचन [-आहुः, ब्रह्मविदां] का प्रयोग किया है, जो उस आचार्य के प्रति इनके अतिशय आदरभाव को प्रकट करता है। इससे स्पष्ट होता है, आचार्य सुन्दरपाण्डय ने अध्यात्म की परम्परा में निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था।

रचना—आचार्य सुन्दरपाण्डय की एक रचना–कारिकाबद्ध वार्त्तिक ग्रन्थ–का पता लगता है। कतिपय उद्धृत कारिकाओं के आधार पर अनुमान होता है—यह ग्रन्थ पूर्वोत्तर मीमांसाविषयक रहा होगा। उत्तरमीमांसाविषयक होने पर यह सम्भव है—इसकी रचना ब्रह्मसूत्रों के किसी प्राचीन व्याख्याग्रन्थ के आधार पर की गई हो। पर इस तथ्य का निश्चय करने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है कि ब्रह्मसूत्रों का वह प्राचीन व्याख्याग्रन्थ आचार्य बोधायन की वृत्ति थी, अथवा उस वृत्ति के आधार पर संक्षेप में लिखा गया उपवर्ष का भाष्य। आज ये सभी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं; इनका कहीं कोई उद्धृत सन्दर्भ अथवा नामोल्लेख ही मिलता है। यदि इन ग्रन्थों के पर्याप्त भाग उपलब्ध रहे होते, तो परस्पर सन्तुलन से इस विषय में किसी सीमा तक प्रकाश पड़ सकता था। यह भी सम्भव है कि सुन्दरपाण्डय के वार्त्तिकग्रन्थ का आधार ब्रह्मसूत्रों का कोई अन्य प्राचीन भाष्य रहा हो।

१. 'अच्युत' नाम से प्रकाशित, कविराज गोपीनाथकृत—वेदान्तशाङ्करभाष्य के हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृ० १८ की टिप्पणी के आधार पर।

(क) अभी गत पंक्तियों में कहा गया है, आचार्य शङ्कर ने समन्वयसूत्र [१।१।४] के भाष्य के अन्त में 'अपि चाहुः' लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] आचार्य शङ्कर के साक्षात् शिष्य पद्मपाद द्वारा विरचित 'पञ्चपादिका' नामक शाङ्करभाष्य-व्याख्या में भाष्य की 'अपि चाहुरिति' प्रतीक देकर लिखा है— **'प्रसिद्धमेतद् ब्रह्मविदामिति पूर्वोक्तं न्यायं संक्षेपतः श्लोकैः संगृह्णाति।'** पञ्चपादिका पर 'प्रबोधपरिशोधिनी' टीका के रचयिता आत्मस्वरूप ने उक्त पंक्ति की अवतरणिका देते हुए लिखा है—**'श्लोकत्रयं सुन्दरपाण्डचप्रणीत प्रमाणयतीत्याह—प्रसिद्धमिति।'** इससे प्रमाणित होता है, आचार्य शङ्कर द्वारा उद्धृत ये श्लोक सुन्दरपाण्डच की रचना हैं।

---

१. **"अपि चाहुः—**

'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधि[बोधे]कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः*।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्'॥ इति"

यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बोध सत्य एवं यथार्थ है, अन्य सब असत्य एवं अप्रमाण है, तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि शास्त्र का प्रामाण्य सम्भव न होगा; क्योंकि यह सब शास्त्र-प्रवृत्ति आदि देहादिभाव के रहने पर सम्भव होती है, जो पूर्वोक्त भावना की विरोधी है। आचार्य शङ्कर ने ऐसी स्थिति में शास्त्र के प्रामाण्य को पुष्ट करने के लिए अथवा उस वास्तविकता को स्पष्ट करने के लिए सुन्दरपाण्डच के उक्त श्लोकों को उद्धृत किया है। श्लोकों का तात्पर्य यह है—

पुत्र तथा स्त्री आदि में जो आत्मभावना होती है वह 'गौण' मानी गई है; क्योंकि यह व्यवहार किन्हीं स्नेहातिशय आदि गुणों के कारण होता है, जैसे गँवार व्यक्ति को बैल तथा बलिष्ठ व क्रूर बालक को शक्ति एवं क्रूरता आदि गुणों के कारण सिंह कह दिया जाता है। देह-इन्द्रिय आदि में आत्मभावना मिथ्या है; क्योंकि यह सर्वथा अन्यथा-प्रत्यय है, जैसे सीप को चाँदी समझ लेना मिथ्या है। पर देहादि प्राप्ति के होने पर श्रवण, मनन एवं उपासना आदि के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बोध सम्भव है। यदि पुत्र-देह आदि के अयथार्थ होने से इनकी बाधा होकर गौण तथा मिथ्या आत्मभावना की सत्ता न रहे, तब श्रवण, मनन एवं उपासना आदि के

---

* सूतसंहिता [३।४।१३] की तात्पर्यदीपिका टीका में 'कल्पितः' के स्थान पर 'सम्मतः' पाठ है। सम्भवतः शङ्कर ने अपनी रचना में उसका विपर्यय कर दिया है।

(ख) ब्रह्मसूत्र (३।३।२५) के शांकरभाष्य की व्याख्या भामती के टीकाकार अमलानन्द ने वेदान्तकल्पतरु टीका में इसी सूत्र पर आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के तीन और पद्य उद्धृत किये हैं। ब्रह्मसूत्रों का यह प्रसंग उपासनाओं में परस्पर गुणों के उपसंहार का विवेचन करता है। उपनिषद्वर्णित विभिन्न उपासनाओं में ब्रह्म का जो वर्णन किया गया है, उन विशेषताओं का ब्रह्मोपासना के अवसर पर कहाँ उपयोग करना चाहिए, कहाँ नहीं, यही उस विवेचन का तात्पर्य है। प्रस्तुत सूत्र में प्रसंग है कि ब्रह्मोपासनाओं में वेध[1] आदि मन्त्रों का उपयोग होना चाहिए, या नहीं ? पूर्वपक्ष का कहना है कि प्रकरण में पठित होने से वेधादि मन्त्रों में वर्णित गुणों का उपयोग ब्रह्मोपासनाओं में होना चाहिए। सूत्रकार ने निर्णय किया कि उक्त मन्त्रों का उपयोग ब्रह्मोपासना में नहीं होता, क्योंकि इन दोनों के प्रयोजन भिन्न हैं। ब्रह्मोपासना मोक्षप्राप्ति के लिए की जाती है, तथा वेधादि मन्त्रों का उपयोग शत्रु के दण्डविधान के लिए होता है।

यह कहना कि वेधादि मन्त्र उपासनाप्रकरणों में पठित हैं, इसलिए उनका उपयोग उपासना में होना चाहिये, ठीक नहीं। कारण यह है कि मीमांसा[2] की व्यवस्था के अनुसार विधिविनियोग में जो कारण बताये गये हैं, उनमें प्रकरण की अपेक्षा श्रुति आदि कारण बलवान् माने गये हैं। जब किसी विधि के विनियोग के लिए प्रकरण और श्रुति आदि अन्य कारण प्रवृत्त होते हैं, तो श्रुति की प्रवृत्ति अन्यनिरपेक्ष होने से तत्काल होती है, प्रकरण आदि विचारसापेक्ष होने से प्रवृत्ति में पिछड़ जाते हैं। इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अमलानन्द ने आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के तीन पद्य यहाँ उद्धृत किये हैं, जिनमें एक रुचिकर उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। श्लोकों का आशय इस प्रकार है—

अभाव में 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बोध की सम्भावना ही न रहेगी।

इसलिए यह आवश्यक है, जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, उससे पहले आत्मा का प्रमाता होना यथार्थ है, और प्रमाण-प्रमेय आदि सब व्यवहार सत्य हैं। पाप-दोष आदि से रहित वह प्रमाता आत्मा ही अन्त में साक्षात्कृत होता है।

जिस प्रकार देह में आत्मभावना का लौकिक प्रामाण्य सिद्ध है, इसी प्रकार शास्त्र का प्रामाण्य आत्मसाक्षात्कार होने तक निश्चित है। अनन्तर शास्त्र आदि सब अनपेक्षित हो जाता है। उस दशा में शास्त्र के प्रामाण्य की चिन्ता का अवकाश नहीं रहता। फलतः शास्त्र का प्रामाण्य सर्वथा अबाधित समझना चाहिए।

१. वेध पद का अर्थ है, बींधना। शत्रु के दण्डविधान के लिए ऐसी प्रार्थना मन्त्रों में देखी जाती हैं। देखें, ऋ० १०।८७।४-५ तथा अथर्व० ८।३।४,६।।

२. जैमिनीय मीमांसासूत्र, ३।३।१३।।

एक फल ऊपर रक्खा हुआ नसेनी [सीढ़ी] पर चढ़कर प्राप्त किया जा सकता है, उसका प्राप्त कर लेना मात्र लक्ष्य है। दो व्यक्ति उसको लेने चले, एक नसेनी पर पहुँच गया है, दूसरा अभी भूमि पर ही खड़ा है। दोनों की गति समान है, बीच में कोई बाधा नहीं। निश्चित है, पहला व्यक्ति फल प्राप्त कर लेता है, दूसरा निष्फल लौट आता है। इसी प्रकार विधिविनियोग में श्रुति आदि बलवान् कारण अपना कार्य प्रथम सम्पन्न कर लेता है, जब तक अन्य कारण प्रवृत्ति के लिए तैयार हो पाता है। फलतः प्रकरणपठित वेधादि मन्त्रों का उपयोग ब्रह्मोपासनाओं में नहीं होता; उपासना जिस रूप में साक्षात् पठित हैं, श्रुतिबल से उनका वही रूप सर्वप्रथम सन्मुख आता है, उन्हीं गुणों का उनमें परस्पर उपसंहार अपेक्षित है। कल्पतरुटीकाकार अमलानन्द ने **'आह चात्र निदर्शनमाचार्यसुन्दरपाण्ड्यः'** लिखकर इन पद्यों को उद्धृत किया है।[1]

(ग) कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक[2] में इन तीन श्लोकों के अतिरिक्त इनके साथ दो श्लोक और उद्धृत किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

"तेन यद्यपि सामर्थ्यं प्रत्येकं सिद्धमन्यदा।
तथापि युगपद्भावे जघन्यस्य निराक्रिया॥
अन्यथैव हि शून्येषु दुर्बलैरपि चर्यते।
अन्यथा बलवद्ग्रस्तैः सर्वशक्तिक्षये सति॥"

इन श्लोकों का अर्थकृत सम्बन्ध उन तीन पद्यों के साथ अतिस्पष्ट है, जो वेदान्तकल्पतरु[3] में आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के नाम से उद्धृत हैं। इन श्लोकों का तात्पर्य है—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण आदि की प्रवृत्ति जब विभिन्न कालों में होती है, तब यद्यपि उनमें से प्रत्येक अपने कार्य को सम्पन्न करने में ठीक सामर्थ्य

---

१. **"आह चात्र निदर्शनमाचार्यसुन्दरपाण्ड्यः—**
'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यं प्राप्तिमात्रोपपादि च।
एकमेव फलं प्राप्तुमुभावारोहतो यदा॥१॥
एकसोपानवर्त्येको भूमिष्ठश्चापरस्तयोः।
उभयोश्च जवस्तुल्यः प्रतिबन्धश्च नान्तरा॥२॥
विरोधिनोस्तदैको हि तत्फलं प्राप्नुयात्तयोः।
प्रथमेन गृहीतेऽस्मित् पश्चिमोऽवतरेन्मुधा॥३॥' इति"

२. मी० सू० ३।३।१४ की व्याख्या, पृ० ८५२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, काशी संस्करण।

३. ब्र० सू० [३।३।२५] शांकरभाष्य की टीका भामती की व्याख्या। ऊपर टिप्पणी में वे श्लोक निर्दिष्ट हैं।

रखता है, पर एक काल में अनेक निमित्तों [श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि] की प्रवृत्ति होने पर जघन्य अर्थात् दुर्बल का निराकरण हो जाता है; जो निमित्त बलवान् है, वह अपना कार्य कर देता है। बलवान् निमित्त की अनुपस्थिति में दुर्बल निमित्त भी अपनी रीति पर कार्य करते हैं; परन्तु जब वे बलवान् निमित्त से दबा दिये जाते हैं तो कार्य अन्यथा होता है, अर्थात् बलवान् के अनुसार होता है।

(घ) आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के—तन्त्रवार्त्तिक में उद्धृत—उक्त पाँच पद्यों की अवतरणिका करते हुए वार्त्तिक की न्यायसुधा टीका के रचयिता भट्ट सोमेश्वर ने लिखा है—**"एतदेव द्रढयितुं वृद्धानां श्लोकपञ्चकं पठति—आह चेति।"**[1] इससे स्पष्ट होता है, आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के श्लोकों के लिए सोमेश्वर ने **'वृद्ध-वचन'** का निर्देश किया है। तन्त्रवार्त्तिक में उद्धृत अन्य कतिपय पद्यों को भी सोमेश्वर ने **'वृद्ध-वचन'** बताया है। सम्भव है, वे पद्य भी आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के वार्त्तिक ग्रन्थ के हों। उनमें से एक पद्य इस प्रकार है—

त्र्यंशवेदप्रमाणत्वादुद्धिदादि ततोऽधिकम्।
धर्मायानुपयुक्तं सदानर्थक्यं प्रपद्यते ॥[2]

(ङ) इसी प्रकार तन्त्रवार्त्तिक के एक अन्य स्थल[3] पर निम्न पद्य उद्धृत है—

साध्यसाधनसम्बन्धः सर्वदा भावनाश्रयः।
तेन तस्य न सिद्धिः स्याद् भावनाप्रत्ययादृते ॥

इस पद्य को भी भट्ट सोमेश्वर ने न्यायसुधा[4] में **'वृद्ध-वचन'** बताया है।

(च) इसके अतिरिक्त सूतसंहिता की माधवमन्त्रीकृत तात्पर्यदीपिका नामक टीका[5] में—आचार्य शङ्कर द्वारा समन्वयाधिकरण [ब्र० सू० १।१।४] के अन्त में

---

१. द्रष्टव्य—मी० सू० ३।३।१४ की व्याख्या तन्त्रवार्त्तिक, पृ० ८५२। तथा तन्त्रवार्त्तिक व्याख्या न्यायसुधा, पृ० १२२८; दोनों ग्रन्थ चौखम्बा संस्करण।

२. मी० सू० १।४।१ के तन्त्रवार्त्तिक में पृ० २८०-८१ पर उद्धृत। न्यायसुधा में पृ० ३६३ पर उक्त पद्य की अवतरणिका है—**'एतमर्थं दर्शयितुं वृद्धवाक्यमुदाहरति—आह चेति।"**

३. मी० सू० २।१।१ के तन्त्रवार्त्तिक में पृ० ३५७ पर उद्धृत।

४. न्यायसुधा के पृ० ५८६ पर उक्त पद्य की अवतरणिका है—**"एनमेव सिद्धान्तं वृद्धवचनेन द्रढयति—आह चेति।"**

५. खण्ड ३, अध्याय ४, श्लोक १३ की टीका में द्रष्टव्य।

उद्धृत तीन पद्यों में से तीसरे के विषय में लिखा है–"**तथा सुन्दरपाण्ड्यवार्त्तिक-अपि**—

'देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन संमतः।[1]
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥' इति।

इन सब आधारों पर प्रमाणित होता है, आचार्य सुन्दरपाण्ड्य की रचना का नाम '**वार्त्तिक**' था। कुमारिल भट्ट तथा आचार्य शङ्कर आदि ने उसके अनेक वचनों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

सिद्धान्त—अध्यात्म-परम्परा में वेदान्तसूत्रों के आधार पर आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के सिद्धान्त क्या रहे हैं ? इस विषय में उपयुक्त सामग्री के अभाव के कारण निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस आचार्य के दो-चार उद्धरण उपलब्ध हैं, उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्देश साहस-मात्र होगा।

देहादि पदार्थ सत्य—आचार्य शंकर ने समन्वयसूत्र [१।१।४] के भाष्य के अन्त में जो तीन पद्य उद्धृत किये हैं, उनके प्रसंग का उल्लेख प्रथम कर दिया गया है। उन पद्यों का गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि आत्म-साक्षात्कार से पूर्व देहादि जगत् की सत्ता को यह आचार्य यथार्थरूप में स्वीकार करता है। यदि वास्तविक रूप से देहादि की सत्ता को बाधित माना जाता है, तो समस्त विधि-निषेध कार्यों का सम्पादन तथा आत्मज्ञान भी सम्भव नहीं हो सकते। इससे आचार्य का ऐसा तात्पर्य प्रकट किया जाना युक्त न होगा कि वह देहादि जगत् की सत्ता को व्यवहारमात्र मानता है। ऐसा कोई संकेत इन पद्यों में नहीं। देह में आत्माभिमान मिथ्या है, इससे देह का मिथ्या होना सिद्ध,नहीं होता; प्रत्युत ऐसा कथन देहादि की यथार्थ सत्ता का साधक है। देहादि जगत् परिणामी होता हुआ अपने रूप में यथार्थ है, और उसका वह रूप त्रिकालाबाध्य है। वैसा रूप चेतन आत्मा का कभी सम्भव नहीं, इसी कारण परिणामी देह में अपरिणामी आत्मा की भावना मिथ्या कही जाती है। आत्मा और देह अपने-अपने रूप में दोनों सत्य हैं। इससे आचार्य सुन्दरपाण्ड्य का ऐसा अभिमत प्रतीत होता है कि

---

१. श्लोक के '**संमतः**' पद के स्थान पर आचार्य शङ्कर ने '**कल्पितः**' पाठ कर दिया है। तात्पर्यदीपिका के अनुसार मूल लेखक का '**संमतः**' पाठ प्रमाणित होता है। आचार्य शङ्कर ने उसके स्थान पर '**कल्पितः**' पाठ कर अपनी भावनाओं को मूल लेखक पर आरोपित करने का प्रयास किया है। इन दोनों पदों की अर्थकृत विशेषता को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है। आचार्य सुन्दरपाण्ड्य जिस विचार को पूर्ण रूप से मान्य [**संमतः**] कहता है, आचार्य शङ्कर उसे कल्पनामूलक [**कल्पितः**] बताना चाहता है। यह दोनों के विचारों में स्पष्ट भेद है।

वह देहादि जड़ जगत् और उसके जड़ उपादान को सत्य एवं यथार्थ मानता रहा है।

ब्रह्म और आत्मा एक (सु० पा०)—आज आचार्य शंकर के परवर्त्ती काल में जब हम वेदान्तविषयक चर्चा प्रारम्भ करते हैं, तो दो बातें मुख्य रूप से सामने आती हैं : १—क्या यह दृश्यादृश्य जड़ जगत् चेतन ब्रह्म का परिणाम है ? और २—क्या आत्मा और ब्रह्म अभिन्न तत्त्व हैं ? पहली बात के विषय में आचार्य सुन्दरपाण्डच का अभिमत पूर्व-सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है। दूसरे के विषय में आचार्य का अभिमत ऐसा प्रतीत होता है कि वह आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न मानता है। पूर्व-उद्धृत दूसरे पद्य में इसके संकेत विद्यमान हैं। आचार्य का कहना है, जो व्यक्ति आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहता है, आत्मज्ञान से पूर्व उसका प्रमाता होना तथा अन्य प्रमाण-प्रमेय आदि सब व्यवहार यथार्थ बना रहता है। पर जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तो वह पूर्वकाल का प्रमाता उस साक्षात्कार में भासता है। तात्पर्य यह कि अज्ञान-अवस्था का वह प्रमाता आत्मज्ञान का लक्ष्य है, वही ब्रह्मज्ञान है; इस प्रकार अज्ञानदशा का प्रमाता आत्मा ज्ञान-दशा में ब्रह्म है। यह वर्णन इनकी अभिन्नता को स्पष्ट करता है।

इन पद्यों के विषय में थोड़ा गम्भीरता से विचार करने पर एक अन्य दृष्टि-कोण सामने आता है, जो पहले श्लोक के तात्पर्य को इस श्लोक के साथ विचार करने से उभरता है। प्रथम श्लोक में आचार्य ने कहा कि 'मैं आत्मा ही सद्ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध हो जाने पर विधि-निषेध आदि समस्त शास्त्रीय मर्यादाएँ विफल हो जाती हैं, तथा देहादि की बाधा मानने से वैसा बोध होना भी सम्भव नहीं। देहादिसहयोग में ही उपासनादि द्वारा आत्मज्ञान सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस-लिए आत्मज्ञान से पूर्व प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि सब व्यवस्थाएँ यथार्थ हैं, तथा ज्ञान होने पर उस ज्ञान में वह प्रमातारूप आत्मतत्त्व ही भासता है। वह प्रमाता आत्मतत्त्व ब्रह्म है, ऐसा कुछ भी निर्देश यहाँ नहीं है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव है, -ऐसा आशय इससे प्रकट होता है। आत्म-साक्षात्कारविषयक यही भावना श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट की गई है।[1] इससे आचार्य सुन्दरपाण्डच का इस विषय में यह अभिमत व्यक्त होता है कि आत्मा और ब्रह्म एक-दूसरे से भिन्न होने चाहिएँ।

यद्यपि 'आत्मा' पद जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) दोनों के लिए अध्यात्म-शास्त्रों में प्रयुक्त है, पर उपनिषदों में प्रायः 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यादि रूप से ज्ञेय तत्त्व के लिए 'आत्मा' पद का अधिक प्रयोग हुआ है। उसमें कहाँ 'जीवात्मा' और कहाँ 'परमात्मा' अपेक्षित है, यह प्रकरणानुसार निश्चय किया जा सकता है; पर

---

१. इसके लिए देखें—श्वेता० १।८–१६; तथा २।१५॥

इसके आधार पर जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व स्वीकार करना प्रमाणानुकूल तथा शास्त्रीय न होगा; क्योंकि जीवात्मा का अस्तित्व अध्यात्मशास्त्र में आविद्यिक कहीं नहीं कहा गया, इसके विपरीत उसकी सत्ता को स्वतन्त्र, नित्य एवं स्वसिद्ध माना है।[1] आत्मा और ब्रह्म दोनों के लिए अध्यात्मशास्त्रों में प्रयुक्त 'आत्मा' पद ने इनके विषय में एकता की भ्रान्ति को सहयोग दिया हो, यह सम्भव है।

सुन्दरपाण्ड्य के पद्य और शंकर—आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के इन श्लोकों को उद्धृत करने के पूर्व आचार्य शंकर ने लिखा है—'ब्रह्मज्ञान को विधिशेष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि विधिविवेचना करनेवाले मीमांसाशास्त्र में ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान की प्रतिज्ञा कहीं नहीं की गई; इस कारण उसके लिए इस शास्त्र का आरम्भ किया जाना युक्त है, जिसका प्रथम सूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।[2]

आचार्य शंकर का यह तर्क बड़ा विचित्र है : विधिविनियोग के यथार्थरूप में जानने की भावना से प्रवृत्त मीमांसाशास्त्र में ब्रह्म और आत्मा के ऐक्यज्ञान की प्रतिज्ञा नहीं की गई, यह कहना ठीक है; क्योंकि मीमांसा का यह प्रतिपाद्य विषय नहीं है। पर आचार्य से पूछा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म और आत्मा के ऐक्यज्ञान की प्रतिज्ञा कहाँ की गई है ? शास्त्र के जिस प्रारम्भिक सूत्र का आचार्य ने निर्देश किया, उसमें केवल ब्रह्मजिज्ञासा का उल्लेख है। उसका यह अर्थ समझना कि यह ब्रह्म और आत्मा के ऐक्यज्ञान की प्रतिज्ञा है, सर्वथा बालजनोचित है। ब्रह्मसूत्रों में ऐसी भावना कहीं नहीं है। फिर यह भी विचारणीय है कि ब्रह्मविषयक जिज्ञासा करनेवाला यह है कौन ? यदि यह ब्रह्म है, तो उसे स्वविषयक अज्ञान कैसे हो गया ? वह तो स्वरूपतः सर्वज्ञ है। इसके विपरीत अनेक सूत्र[3] ब्रह्म और आत्मा के भेद का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। सूत्रों में यह संकेत कहीं नहीं है कि आत्मा का उस प्रकार ब्रह्म से भेदकथन अविद्याकृत है; निश्चित ही सूत्रकार उस भेद को वास्तविक मानता है। इस विचार की छाया में आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के श्लोकों का परीक्षण करना अधिक युक्त होगा।

इसपर भी ध्यान देना चाहिए कि उपनिषदों में आत्मज्ञान के लिए जो

---

१. देखें—छा० ६।११।३॥

२. **'प्रतिपत्तिविधिपरत्वे' हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत।···ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति।**

३. देखें—ब्रह्मसूत्र १।१।१६; १।१।१७; १।२।३; १।२।४; १।३।४; १।३।५; २।३।१७; २।३।१८; ४।४।१७॥

इतना अधिक बल दिया गया है, वह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि आत्मज्ञान ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए एक अनिवार्य सीढ़ी है। प्रथम आत्मा को जाने बिना ब्रह्मसाक्षात्कार असम्भव है; इसके साथ यह आवश्यक ध्यान देने योग्य है कि आत्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाना अनिवार्य है। सम्भवतः इसी कारण आत्मज्ञान को कदाचित् ब्रह्मज्ञान समझ लिया जाता है। ऐसा समझना व व्यवहार करना भले ही दोषावह न हो, पर इतने से आत्मा और ब्रह्म का एकत्व कल्पना नहीं किया जा सकता, और न शास्त्र का ऐसा तात्पर्य है।

वार्त्तिक (सु० पा०) दोनों मीमांसाओं पर—भट्ट कुमारिल द्वारा तन्त्र-वार्त्तिक में उद्धृत पद्य मीमांसा-प्रसंग के हैं। आचार्य शंकर द्वारा जो पद्य उद्धृत किये गये हैं, वे ब्रह्मसूत्रों पर लिखे वार्त्तिक से लिये गये, यह अधिक मान्य है। चालू प्रसंग में सिद्धान्त की दृष्टि से उन्हीं पद्यों के आधार पर कुछ विचार प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है, आचार्य सुन्दरपाण्डच ने दोनों मीमांसा-ग्रन्थों पर वार्त्तिक की रचना की होगी। आचार्य सुन्दरपाण्डच के वार्त्तिक ग्रन्थ का आधार यदि बोधायन अथवा उपवर्ष के व्याख्याग्रन्थ रहे हों, तो ऐसी मान्यता को अवसर प्राप्त नहीं होता कि वह 'ब्रह्मात्मैक्य' को माननेवाला था, अथवा जगत् का उपादान-कारण ब्रह्म को मानता था, जैसा कि परवर्त्तीकाल में होने वाले आचार्य शंकर आदि ने माना है, यद्यपि ऐसी मान्वता शंकर के पूर्वकाल में प्रचलित हो चुकी थी। अध्यात्मपरम्परा के आचार्यों में सुन्दरपाण्डच स्वयं एक प्रतिष्ठित आचार्य थे; पद्मपाद तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने उन्हें 'ब्रह्मवित्' कहकर स्मरण किया है।

काल—आचार्य सुन्दरपाण्डच के प्रादुर्भावकाल का कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं है। भट्ट कुमारिल तथा आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों में सुन्दरपाण्डच के वार्त्तिक से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है, इससे इतना स्पष्ट है कि आचार्य सुन्दरपाण्डच का काल उक्त आचार्यों के प्रादुर्भावकाल से पूर्व होना चाहिए। पर इन आचार्यों का अपना काल भी अभी तक अनिश्चित है। आचार्य शंकर के काल का निश्चय करने का प्रयास चालू प्रकरण के अन्तिम भाग में किया गया है। पश्चिमी एवं तदनुवर्त्ती पूर्वी विद्वानों के द्वारा अंशमात्र से माना गया ख्रीस्ट की सातवीं-आठवीं शताब्दी का शंकरकाल सर्वथा अशुद्ध है। फलतः इस आधार पर आचार्य सुन्दर-पाण्डच का काल यथार्थरूप में, निर्धारित नहीं किया जा सकता!

कालनिर्णय का अन्य प्रयास—प्रसिद्ध विद्वान् श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री ने अपने एक लेख[1] द्वारा सुन्दरपाण्डच के कालनिर्णय का अभिनन्दनीय प्रयास किया है।

---

१. द्रष्टव्य—महामहोपाध्याय श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा लिखित—'Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient

उनके लेख के इस अंश का आशय इस प्रकार है—"आचार्य के सुन्दरपाण्डच नाम से यह ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध पाण्डच देश एवं पाण्डच राजवंश से रहा होगा। पाण्डच राजवंश में कुछ नाम ऐसे मिलते हैं, जिनकी तुलना आचार्य के सुन्दरपाण्डच नाम से की जा सकती है। उसके आधार पर आठवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य शंकर से पूर्व आचार्य सुन्दरपाण्डच का आविर्भावकाल सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। पाण्डच देश का जो राजा आचार्य सुन्दरपाण्डच के रूप में सम्भावना किया जा सकता है, पाण्डच राजवंशावली में उसके नाम हैं—राजा अरिकेसरिन् मारवर्मन् अथवा नेडूमारण अथवा कुणपाण्डच अथवा कुब्जवर्द्धन अथवा सुन्दरपाण्डच। उसी काल में एक सन्त तिरुज्ञान सम्बन्धर् हुए। एक और सुन्दरमूर्ति नामक सन्त हुए। पर इस तीसरे व्यक्ति को सुन्दरपाण्डच नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इसका काल आठवीं शताब्दी के शंकर के बाद है। फलतः राजा अरिकेसरिन् मारवर्मन् आचार्य सुन्दरपाण्डच रहे हों, यह अधिक सम्भव है।

सुन्दरपाण्डच क्या पाण्डचनरेश अरिवर्मन् था?—इस पाण्डच राजा ने चोल राजकुमारी के साथ विवाह किया था। यह पहले जैनधर्म का अनुयायी था। अपने समकालिक शैव सन्त 'तिरुज्ञान सम्बन्धर्' के प्रभाव से इसने शैवधर्म स्वीकार किया। यह राजा विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत था, यह एक शिलालेख[1] के आधार पर ज्ञात होता है। ख्रीस्ट की सातवीं शताब्दी के मध्य एक 'नेदुमारण नायनार' नामक शैवसन्त का वर्णन तमिल-साहित्य में उपलब्ध होता है। यह सुझाव असंगत न होगा कि शैवसन्त नेदुमारण ही पाण्डच राजा नेदुमारण अथवा अरिकेसरिन् मारवर्मन् अथवा सुन्दरपाण्डच है। यह समझना युक्तियुक्त नहीं है कि शंकर से पहले दक्षिण में एकात्मवाद न था; तब एकात्मवादी सुन्दरपाण्डच का शैवसन्त नेदुमारण नायनार के साथ ऐक्य कैसे कहा जाय? यह निश्चित है, शंकर से पूर्व अद्वैत वेदान्त का प्रचार दक्षिण में था। दक्षिण भारत के निवासी कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्त्तिक' में मायावाद का खण्डन[2] किया है, जो शंकर का पूर्व-समकालिक था। यदि शंकर से पूर्व वहाँ मायावाद का प्रचार न होता, तो भट्ट उसका खण्डन कैसे करता?

आचार्य सुन्दरपाण्डच भले ही पाण्डचनरेश हो या न हो, पर दक्षिण भारत

India' नामक लेख, जो 'Journal of Oriental Research Madras' नामक पत्रिका के प्रथम खण्ड [पृ० १–१५] में प्रकाशित हुआ।

१. The Samskrit portion of the Bigges Simmawanur Inscription [बिग्गस शिम्मवणूर के उत्कीर्ण लेख का संस्कृत भाग]

२. श्लोकवार्त्तिक, वाराणसी चौखम्बा संस्करण, पृ० ६६३, श्लोक ८४–८६।

में वह शैव-वेदान्त का प्रवक्ता था, यह बात किसी सीमा तक अधिक निश्चय के साथ कही जा सकती है। सातवीं शताब्दी के मध्य और भी ऐसे राजा हुए हैं, जो अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध रहे। इनमें कान्यकुब्ज के श्रीहर्ष और पल्लववंश के राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम का नाम लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि 'तिरुज्ञान सम्बन्धर्' स्वयं आचार्य सुन्दरपाण्डच नाम से जाना गया हो। शैव परम्परा के तमिल-साहित्य में इसके पर्याप्त संकेत पाये जाते हैं, जहाँ 'सम्बन्ध स्वामी' के अद्‌भुत कार्य और वैदुष्य का वर्णन है। यह जन्म से ब्राह्मण थे, और शैवाचार्यों में मूर्द्धन्य माने जाते थे; यह 'वैदिकवारण' नाम से प्रसिद्ध रहे। ऐसे व्यक्ति के लिए सम्भव है कि उसने 'सुन्दरपाण्डचवार्त्तिक' जैसा ग्रन्थ लिखा हो।

इस मूर्द्धन्य ग्रन्थकार के सम्बन्ध में तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि पूर्वोत्तर मीमांसा पर उच्चकोटि के साहित्य की रचना करनेवाला यह आचार्य पाण्डच देश के अन्तर्गत, कुमारिल भट्ट से कभी पूर्वकाल में प्रादुर्भूत हुआ; उस पाण्डच-नरेश का नाम सुन्दरपाण्डच रहा हो। इसके पूर्वोद्धृत सन्दर्भों के आधार पर यह सर्वथा उपयुक्त है कि आचार्य सुन्दरपाण्डच—कुमारिल भट्ट के काल से बहुत पहले—मीमांसाशास्त्र का एक उद्धारकर्त्ता व्यक्ति था। उसकी रचना 'वार्त्तिक' ग्रन्थ से कुमारिल व शंकर ने महत्त्वपूर्ण सामग्री का अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है। हम उस आचार्य की वन्दना करते हैं।"

कुप्पूस्वामी का सुन्दरपाण्डचविषयक लेख—महामहोपाध्याय श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री के विस्तृत लेख के इतिहास-सम्बन्धी अंश का संक्षिप्त सारमात्र हमने यहाँ दिया है। इस लेख में सुन्दरपाण्डच का काल निर्णय करने के लिए जो रीति अपनाई गई है, उसमें मूलतः एक भ्रान्ति यह रही है कि आचार्य शंकर का काल—खीस्ट की आठवीं शताब्दी—निश्चित रूप से मान लिया गया है। उसी आधार पर उसके कुछ पूर्व इस नाम के व्यक्ति की तात्कालिक इतिहास में खोज की गई है, और सातवीं शताब्दी में उसके प्रादुर्भाव की सम्भावना मान ली गई है, जो केवल सुन्दरपाण्डच के नाम पर कल्पित उस व्यक्ति की स्थिति ठीक कही जा सकती है।

अरिकेसरिन् मारवर्मन् नामक पाण्डचनरेश के सम्बन्ध का जो विवरण लेख में दिया गया है, उसमें कोई ऐसे सुपुष्ट हेतु प्रस्तुत नहीं किये गये, जिनके आधार पर कुछ निश्चय के साथ यह कहा जा सके कि पूर्वोत्तर-मीमांसा पर सुन्दरपाण्डच द्वारा लिखा गया 'वार्त्तिक' ग्रन्थ अरिकेसरिन् पाण्डच नरेश की रचना है। किसी उत्कीर्ण लेख का जो निर्देश हुआ है, उसमें राजा के केवल शास्त्रज्ञ होने का वर्णन है। वहाँ उसके द्वारा किसी ग्रन्थ की रचना का संकेतमात्र भी नहीं है। राजवंश अथवा साधारण प्रजाजनों में शास्त्रज्ञ विद्वान् सदा होते रहते हैं; सातवीं शताब्दी

में यह कोई विशेषता रही हो, ऐसी बात नहीं है। फिर सातवीं शताब्दी में ऐसे व्यक्ति को ढूंढने का उसी दशा में प्रयास किया जा रहा है, जबकि शंकर व कुमारिल का काल आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ मान लिया गया है। यदि सुपुष्ट प्रमाणों से यह निश्चित किया जाता है कि शङ्कर तथाकथित काल से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका है, तो सातवीं शताब्दी में सुन्दरपाण्डच की खोज का क्या परिणाम होगा ?

आचार्य के सुन्दरपाण्डच नाम से यह कल्पना करना भी नितान्त साधारण नहीं कहा जा सकता कि वह अवश्य पाण्डच राजवंश का कोई व्यक्ति था। पाण्डच देश की साधारण जनता में से भी ऐसे व्यक्ति का होना सर्वथा सम्भव है। क्या राजा ही अपने नाम के साथ देश का नाम जोड़ सकता है, प्रजा का व्यक्ति नहीं जोड़ सकता ? इस मिथ्या धारणा को लेकर राजवंश में उस व्यक्ति को ढूंढना, और किसी स्वाभिमत सीमित काल में उसकी उद्भावना का प्रयास करना भ्रमपूर्ण ही कहा जायगा। ऐसी मिथ्या कल्पनाओं के लिए राजवंशों की परम्परा में थोड़ा आश्रय इस कारण मिल जाता है कि आश्रित लेखक उनका थोड़ा-बहुत इतिहास लिखते आये हैं। साधारण जनों का इतिहास कौन लिखता है ? उनका पता उनके उपलब्ध साहित्य से ही लगता है। यह भी एक कैसी विडम्बना है कि आचार्य सुन्दरपाण्डच यदि साधारण जनता में से रहा हो, तो उसकी एक असाधारण रचना को उसी नाम के राजा पर आरोपित करने का प्रयास किया जाय !

पाण्डचनरेश जैनधर्मावलम्बी—पाण्डचनरेश अरिवर्मन् के विषय का यह विवरण भी सन्देहजनक है कि वह पहले जैनधर्मावलम्बी था। पाण्डच-राजवंश सातवीं शताब्दी में अथवा उससे पूर्व जैनधर्मावलम्बी रहा, यह इतिहास के आधार पर जानना अपेक्षित है। राजवंश के किसी स्वीकृत धर्म का परिवर्तन किन्हीं असाधारण अवस्थाओं में सम्भव है। इसके लिए हमारा कोई आग्रह नहीं; विशिष्ट सन्तों के प्रभाव से किसी व्यक्ति या राजवंश का धर्म-परिवर्तन कर लेना कोई असम्भव नहीं, पर यह निश्चय करना आवश्यक है कि पाण्डच-राजवंश में ऐसा हुआ, और यह कब हुआ ? यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अनेक सम्बन्धित बहुत-सी बिखरी हुई घटनाओं को एक के साथ मिला देने का प्रयास किया जा रहा हो।

शैव सम्प्रदाय के तमिल-साहित्य में 'सम्बन्ध स्वामी' नाम से जिस व्यक्ति का वर्णन हुआ है, वह निश्चित रूप से 'तिरुज्ञान सम्बन्धर्' है, इसके लिए लेख में कोई सुपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये। यदि ऐसा मान लिया जाय, तो इसका कोई प्रभाव इस बात पर नहीं पड़ता कि वार्त्तिककार सुन्दरपाण्डच, पाण्डच-नरेश अरिकेसरिन् मारवर्मन् था, भले ही उसका अपर नाम अथवा उपनाम सुन्दरपाण्डच रहा हो।

सुन्दरपाण्डच वार्त्तिककार के विषय में तीन सुझाव—अपनी स्थापना में विद्वान्

लेखक को स्वयं सन्देह था, यह स्पष्ट है। इसी कारण उसने वार्त्तिककार सुन्दर-पाण्ड्य के विषय में तीन सुझाव दिये। पाण्ड्य-नरेश अरिकेसरिन् मारवर्मन् वार्त्तिककार रहा हो, इस प्रथम सुझाव के अतिरिक्त दूसरा सुझाव लेखक ने दिया है—सम्भव है, तिरुज्ञान सम्बन्धर् स्वयं वार्त्तिककार सुन्दरपाण्ड्य नाम से जाना जाता रहा हो। पर इस सुझाव में भी वे समस्त बाधाएँ सामने हैं, जो पहले सुझाव में हैं। इस कथन में कोई महत्त्व नहीं है कि तिरुज्ञान सम्बन्धर् जैसे विद्वान् द्वारा 'वार्त्तिक' जैसे ग्रन्थ की रचना किया जाना उपयुक्त है। उस विषय का कोई भी विशिष्ट विद्वान् ऐसे ग्रन्थ की रचना करने में सक्षम माना जा सकता है।

विद्वान् लेखक का तीसरा सुझाव है—कुमारिल आदि से प्राचीन काल में पूर्वोत्तर-मीमांसा पर ग्रन्थ-रचना करनेवाला यह कोई प्रतिष्ठित एवं सम्मान्य आचार्य रहा हो। यहाँ पर भी प्रस्तुत लेख का लेखक वार्त्तिककार को पाण्ड्य-राजवंश के साथ जोड़ना चाहता है, जिसका नाम सुन्दरपाण्ड्य रहा हो। यह समझ में नहीं आता कि लेखक इस बात के लिए आग्रह-ग्रहिल क्यों है कि वह व्यक्ति राजवंश का होना चाहिए ?

तीसरा सुझाव इस दिशा में बाधारहित एवं अधिक मान्य हो सकता है कि कुमारिल आदि से पूर्वकाल में सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्य हुआ, जिसने पूर्वोत्तर-मीमांसा पर 'वार्त्तिक' ग्रन्थ की रचना की। उसके काल के विषय में तब तक किसी निश्चित शताब्दी का निर्देश नहीं किया जा सकता, जब तक कुमारिल व शङ्कर के काल का निर्धारण न हो। आचार्य शङ्कर के स्थापित मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर यह ज्ञात होता है कि आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव ५०६ वर्ष ईसापूर्व हुआ। कुमारिल भट्ट शंकर का सम-पूर्वकालिक था। आचार्य सुन्दरपाण्ड्य का काल इससे पहले माना जा सकता है। वह कितना पहले रहा होगा, यह कहना कठिन है। विद्वानों ने ऐसा माना है कि सुन्दरपाण्ड्य के 'वार्त्तिक' ग्रन्थ का आधार पूर्वोत्तर-मीमांसा पर बोधायन व उपवर्ष के भाष्य रहे हों; इससे सुन्दर-पाण्ड्य की प्राचीनता का अनुमान भलीभाँति किया जा सकता है।

पाण्ड्य-राजवंश के सुन्दरपाण्ड्य नामक राजा को वार्त्तिककार सुन्दरपाण्ड्य मानने में एक बड़ी बाधा है—पाण्ड्यनरेश सुन्दरपाण्ड्य का एक शिलालेख। इस लेख को श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने खीस्ट तेरहवीं शती का बताया है।[1] पाश्चात्य पादरी विद्वानों द्वारा परिकल्पित तथाकथित काल आठवीं शती के शंकराचाय से पूर्ववर्त्ती वार्त्तिककार १३वीं शती का राजा कैसे सम्भव है ? वस्तुतः वार्त्तिककार को पाण्ड्यनरेश के साथ जोड़ना ही मूलतः अशुद्ध है।

---

१. देखें—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत 'प्राचीन लिपिमाला', लिपिपत्र संख्या ५६, तथा पृ० ६२।

आचार्य भर्तृहरि

अध्यात्म की परम्परा के आचार्यों में भर्तृहरि का नाम प्रसिद्ध है। यामुनाचार्य ने अपनी 'सिद्धित्रय' नामक रचना में इसके नाम का उल्लेख किया है। एक भर्तृहरि व्याकरणविषयक 'वाक्यपदीय' आदि ग्रन्थों का रचयिता प्रसिद्ध है। यही वह आचार्य भर्तृहरि है, जिसका नाम अध्यात्मपरम्परा के वैदान्तिक आचार्यों में लिया जाता है। ब्रह्मसूत्र अथवा उपनिषदों पर इसकी कोई रचनाएँ रही हों, यह सम्भव है। वाक्यपदीय यद्यपि व्याकरणविषयक ग्रन्थ है, पर उसके दार्शनिक रूप होने में कोई सन्देह नहीं। इसमें शब्द-ब्रह्मवाद का उपपादन उपलब्ध होता है, जिसका उपजीव्य वेदान्त का अद्वैतसिद्धान्त माना जा सकता है।

यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में दी गई आचार्यों की सूची में भर्तृहरि का नाम होने से यह अनुमान होता है कि सूची के अन्य अनेक आचार्यों के समान सम्भवतः भर्तृहरि ने ब्रह्मसूत्रों पर कोई व्याख्या लिखी हो; पर इसके लिए कोई अन्य पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड [४६] में एक सन्दर्भ है—

'न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते' अर्थात् आगम [वेदादि शास्त्र] के बिना केवल तर्क द्वारा धर्म की व्यवस्था नहीं की जा सकती। यह कथन एक ब्रह्मसूत्र [२।१।११] का अनुवादमात्र है। यद्यपि मनु के एक श्लोक [१२।१०६] में वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क को धर्मानुसन्धान में सहायक बताता है, परन्तु यहाँ मनु के व्याख्याकारों ने 'तर्क' पद से मीमांसाशास्त्र का ग्रहण किया है, और उसका यह तात्पर्य प्रकट किया है कि धर्मज्ञान का साधन तो केवल वेद है, मीमांसा इतिकर्त्तव्यतामात्र का बोध कराता है। कुमारिल भट्ट ने इसी आशय से लिखा है—वेदरूप साधन से धर्म की नाप की जा सकती है। मीमांसा केवल इतिकर्त्तव्यता की पूर्त्ति करता है।[1] ऐसी स्थिति में वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डगत भर्तृहरि का सन्दर्भ मनुनिर्दिष्ट अर्थ की ओर संकेत न कर ब्रह्मसूत्र की ओर संकेत कर रहा है, यह स्पष्ट होता है। क्योंकि, किसी-न-किसी रूप से मीमांसा धर्मज्ञान में उपयोगी है। इस साधनता से केवल तर्क को भर्तृहरि हटाना चाहता है; ब्रह्मसूत्र में यही भावना है। भर्तृहरि की ऐसी भावना ब्रह्मसूत्रों पर उसकी किसी रचना का उपोद्बलक मानी जा सकती है, यह विचारणीय है।

---

१. **धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।**
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥

उक्त श्लोक [१२।१०६] की कुल्लूक भट्ट कृत टीका में 'तदुक्तं भट्टवार्त्तिककृता' कहकर इस पद्य को उद्धृत किया है। परन्तु कुमारिल भट्ट के वार्त्तिक ग्रन्थ में यह दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

रचना—आचार्य भर्तृहरि की व्याकरणविषयक निम्नलिखित रचनाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

१—वाक्यपदीय, तीन काण्ड,

२—वाक्यपदीय, प्रथम दो काण्ड पर स्वोपज्ञ टीका,

३—महाभाष्य-दीपिका[1]।

इनके अतिरिक्त शतकत्रय [नीतिशतक, शृंगारशतक, वैराग्यशतक] का रचयिता इसी आचार्य भर्तृहरि को माना जाता है। इसके गार्हस्थ्य जीवन में कतिपय क्रान्तिकारी एवं बहुत-कुछ उथल-पुथल करनेवाली घटनाएँ होती रहीं, ऐसा प्रतीत होता है। वर्धमान सूरि ने अपनी रचना 'गणरत्नमहोदधि' में भर्तृहरि-विषयक एक संकेत दिया है—'सकलशास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी हरि [भर्तृहरि] ने सार्वजनिक रूप में अपनी पारिवारिक अन्तरंग घटना का निर्देश किया।'[2] वर्धमान सूरि का यह संकेत यदि नीतिशतक के उस श्लोक[3] की ओर माना जा सकता है, जिसमें भर्तृहरि ने अपने जीवन की एक निजी घटना का उल्लेख किया, तो इस तथ्य की पुष्टि होती है कि शतकत्रय का रचयिता वैदान्तिक भर्तृहरि है। यह अधिक सम्भव व स्वाभाविक है कि ऐसी घटना ने उसे असन्तुलित कर दिया हो, और इस कारण उसमें तीव्र वैराग्य की भावना जागृत हुई हो, जिसका परिणाम शब्दशास्त्रविषयक ग्रन्थों का भी अद्वैत रूप में उपपादन है।

---

१. इस विषय पर श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण के पृ० ३३८–६२ पर विस्तृत विवेचन किया है।

२. वर्धमान सूरि श्लोक १७६ पर लिखता है—"**वार्त्तेव वार्त्तम्। यथा हरिराकुमारमखिलाभिधानवित् स्वजनस्य वार्त्तमयमन्वयुंक्त सः।**" गणरत्नमहोदधि, पृ० १२०, संस्करण [१९५० वि०, १८९४ ई०], पं० भीमसेन शर्मा द्वारा सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग से प्रकाशित।

३. नीतिशतक का वह दूसरा श्लोक है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

नये प्रकाशित कई संस्करणों में यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता, पुराने छपे संस्करणों के आधार पर हमें छात्रावस्था से याद है। 'च इमां' में असन्धि चिन्त्य है।

व्याकरणमूलक प्रसिद्ध भट्टिकाव्य, तथा भागवृत्ति—जो अष्टाध्यायी की एक प्राचीन व्याख्या है—को भी कतिपय लेखकों ने भर्तृहरि की रचना बताया है। पर अनेक पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध है कि उक्त ग्रन्थों के रचयिता व्यक्ति, परस्पर भिन्न होते हुए वाक्यपदीप आदि ग्रन्थों के रचयिता आद्य भर्तृहरि से सर्वथा भिन्न हैं। भट्टिकाव्य वलभी नामक नगरी में श्रीधर सेन राजा के राज्यकाल में भट्टिस्वामी नामक विद्वान् के द्वारा रचा गया। भागवृत्ति नामक ग्रन्थ की रचना भी श्रीधर सेन राजा की आज्ञा से की गई। भागवृत्तिकार का सांस्कारिक नाम विमलमति था।

वलभी में श्रीधर सेन नाम के अनेक राजा हुए हैं। उक्त दोनों ग्रन्थ किसी एक ही राजा के काल में निर्मित हुए अथवा विभिन्न राजाओं के काल में ? इन दोनों ही अवस्थाओं में उक्त ग्रन्थों के रचयिताओं को व्याकरण आदि शास्त्रों में अतिविचक्षण होने के कारण तात्कालिक राजाओं ने उन्हें 'भर्तृहरि' उपाधि से भूषित किया हो, यह अधिक सम्भव व स्वाभाविक है। वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों का रचयिता भर्तृहरि व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा आदि विविध शास्त्रों का अद्वितीय विद्वान् था। उसकी रचनाएँ इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। परवर्त्ती काल में व्याकरण आदि के विशेषज्ञों को प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा यह नाम दिया जाना उनके सम्मान और प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जा सकता है। निश्चित है, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति आद्य भर्तृहरि की रचनाएँ नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भागवृत्ति की रचना काशिकावृत्ति से परवर्त्ती काल में हुई है, तथा वलभी के श्रीधर सेन नामक सभी राजाओं का राज्यकाल सम्वत् ५५० से ७०५ के अन्तराल में स्वीकार किया जाता है।[1] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का प्रादुर्भाव इससे पर्याप्त पूर्वकाल में हुआ, इसका अभी अगली पंक्तियों में विवेचन किया जायगा।

सिद्धान्त—भर्तृहरि की रचनाओं से स्पष्ट है—वैदान्तिक परम्परा में वह अद्वैत सिद्धान्त का माननेवाला आचार्य था। परन्तु आज प्रचलित अद्वैत मत से—जो वेदान्त-परम्परा में शांकरमत से प्रसिद्ध व ज्ञात है—भर्तृहरि के अद्वैत में कुछ विशेषता प्रतीत होती है। उसका क्या स्वरूप है ? क्या आधार है ? और उसमें क्या रहस्य है ? इसका विवेचन करना अपेक्षित है।

उपनिषद् [छा० ६।३।२-३] में बताया है—उस देवता [—ब्रह्म] ने संकल्प किया—मैं तीन देवताओं का 'नाम' और 'रूप' से विस्तार करूँ; उसने तीन देवताओं की सृष्टि को 'नाम' और 'रूप' दो प्रकार में रचा।[2] ओ कुछ वस्तुतत्त्व

१. द्रष्टव्य—श्री पं० युठिष्ठिरकृत 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ३४८–६९ ॥

२. **"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता···नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥··· सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥"**

है, वह रूपात्मक जगत् है; उसके व्यवहार के लिए वाणी का जो व्यापार अथवा प्रयोग है, वह नामात्मक जगत् है। वस्तुतत्त्व विभिन्न प्रकार के प्राणिहित के लिए उपयोग में लाया जाता है, तथा समस्त व्यवहार नामतत्त्व के द्वारा सम्भव होता है। सृष्टि के इन दो भागों अथवा प्रकारों में पूर्णरूप से समस्त विश्व समाविष्ट है; इससे बाहर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। यदि इन दो भागों में से 'नामतत्त्व' न हो, तो समस्त व्यवहार की असम्भावना में 'वस्तु'-तत्त्व का होना न होना बराबर है। 'वस्तु'-तत्त्व के अभाव में 'नाम'-तत्त्व सम्भव ही न होगा। सर्ग के अस्तित्व में इन दोनों के परस्परापेक्षी होते हुए भी दोनों का अपना अस्तित्व स्वतन्त्र एवं अत्यावश्यक है। ये दोनों विश्व के अस्तित्व की धुरी हैं। इन्हीं के रूप में विश्व निरन्तर प्रगतिशील एवं अनिश आवर्त्तमान है। विश्व-रथ के ये दो चक्र—पहिए हैं। किसी एक के हटने पर रथ गतिहीन होकर विशीर्ण हो सकता है।

आचार्य शंकर ने अद्वैत के उपपादन में 'वस्तुतत्त्व' को प्रधानता देकर उसके साथ ब्रह्म का ऐकात्म्य स्थापन कर अपने सिद्धान्त की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। परन्तु आचार्य भर्त्तृहरि ने—शब्दशास्त्र महार्णव का पारंगत होने के कारण—'वस्तुतत्त्व' को द्वितीय श्रेणी में डाल, 'नामतत्त्व' को प्रधानता देकर उसीके साथ ब्रह्म के ऐकात्म्य की स्थापना कर अपने अद्वैत सिद्धान्त का उपपादन किया। यद्यपि, इन दोनों विवेचना-रीतियों में सैद्धान्तिक रूप से कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। एक वस्तुस्थिति के दो पहलुओं में से एक ने एक को पकड़ा, दूसरे ने दूसरे को; इतना बाह्य प्रकार मात्र का भेद कहा जा सकता है। नाम और रूप दोनोंएक-दूसरे के सम्मुख समानस्थिति में सतर्क उपस्थित हैं। विवेचक किसी ओर से अपना विवेचन प्रस्तुत करने में स्वतन्त्र हैं, जबकि दोनों प्रकार से परिणाम के भिन्न होने की कोई आशंका नहीं है।

जिस प्रकार आचार्य शंकर ने अपनी स्थापनाओं की पुष्टि के लिए अनेक शास्त्रीय वचनों का सहारा लिया है, इसी प्रकार आचार्य भर्त्तृहरि को अपने विचारों की स्थापना के लिए शास्त्रीय वचनों का पूर्ण अवलम्ब प्राप्त हुआ है। इस विषय में मनुस्मृति [१।२१] का श्लोक[1] बहुत बड़ा सहारा है। इसके अतिरिक्त स्वयं ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास ने प्रारम्भिक दूसरे-तीसरे सूत्र में इस विषय का निर्देश किया है। इससे और अधिक स्पष्ट रूप में इस विषय का उपपादन करने वाला ब्रह्मसूत्र [१।३।२८] द्रष्टव्य है।[2] आचार्य भर्तृहरि की यह भावना प्रतीत

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

२. शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

होती है कि यह विश्व 'नाम'-तत्त्व से अभिव्यक्त होता है। नाम अथवा वाक् के **"परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी"** इन चार स्तरों में 'परा' निर्विशेष परब्रह्म है; तथा 'पश्यन्ती' वाक् शब्दब्रह्मरूप है, जिससे यह समस्त विश्व अभिव्यक्त होता है। यही वाक् अखिल जगत् का नियामक तथा अन्तर्यामी चित्-तत्त्वरूप है। सारांश यह कि भर्तृहरि जहाँ 'नामतत्त्व' को ब्रह्मरूप कहता है, शंकर वहाँ 'वस्तु-तत्त्व' को ब्रह्मरूप बताता है। आचार्य भर्तृहरि के शब्दाद्वैतसिद्धान्त का भारतीय दार्शनिक साहित्य में अनेकत्र उल्लेख व विवेचन उपलब्ध होता है।[1]

प्राचीन पञ्चरात्र सम्प्रदाय में मूलतत्त्व वासुदेव विष्णु के चार स्तर कल्पना किये गये हैं: १—वासुदेव-परमात्मस्वरूप, २—संकर्षण—जीवस्वरूप, ३—प्रद्युम्न—मन, ४—अनिरुद्ध—अहंकार।

उपर्युक्त दोनों विचारों में आदिसर्गप्रक्रिया के इन चार स्तरों को लक्ष्य कर क्या किसी प्रकार के पारस्परिक सामञ्जस्य व सन्तुलन की कल्पना की जा सकती है?

भर्तृहरि का काल—अन्य आचार्यों के समान भर्तृहरि का प्रादुर्भावकाल पूर्णरूप से निश्चित नहीं है। पाश्चात्य ईसाई विद्वानों तथा उनके अनुवर्ती अन्य पौरस्त्य विद्वानों ने भारतीय मध्यकालिक आचार्यों के विषय में जो इतिवृत्त प्रस्तुत किया है, वह अपूर्ण है, एवं आवश्यक रूप से संशोधनीय है। उसके वर्त्तमान रूप पर विश्वास करना एक ऐसी भ्रान्ति की ओर पग बढ़ाना है, जिसका पार पाना सरल नहीं। भर्तृहरि की चर्चा न केवल विभिन्न विषयों के भारतीय विद्वानों द्वारा की गई है, अपितु उन विदेशी व्यक्तियों के द्वारा भी की गई है, जो मध्यकाल में भारतीय साहित्य-संस्कृति-धार्मिक परम्परा आदि से आकृष्ट होकर भारत की यात्रा के लिए समय-समय पर विदेशों से आते रहे हैं। उनके द्वारा अपनी रचनाओं में भारतविषयक जो विविध सूचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, यह एक महती विडम्बना है कि आधुनिक विदेशी लेखकों ने भारतीय इतिवृत्त के विषय में उनपर अधिक विश्वास किया है, जबकि अनेक सूचनाएँ केवल कल्पना पर

---

१. (क)—तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षितकृत, बौद्धभारती, वाराणसी-संस्करण, पृ० ८५—९६।

(ख)—न्यायमञ्जरी, जयन्तभट्टकृत, लाजरस-वाराणसी संस्करण, पृ० ५३१—३६।

(ग)—इष्टसिद्धि, अविमुक्तात्मकृत।

(घ)—उत्पलाचार्य के गुरु काश्मरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' नामक अपनी रचना में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेषरूप से समालोचना की है। 'अच्युत' पृ० ११।

आधारित रही हैं। न उन्होंने भारतीयता के अंतरंग में कभी प्रवेश करने का प्रयास किया, न यहाँ की संस्कृति, साहित्य व परम्परा आदि की अपेक्षा रक्खी। सर्वथा बहिरंग रूप से जो कुछ कहीं से सुना-पढ़ा पाया गया, उसीको लिपिबद्ध कर दिया। विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों में जो कुछ लिखा गया है, उसमें क्या यथार्थ और कितना अयथार्थ है, इसकी गम्भीरतापूर्वक परख करने का किसी ने साहस प्रकट नहीं किया। उन भ्रान्तिपूर्ण अपरीक्षित सूचनाओं को यथार्थ मानकर जितने असत्य का अध्यापन आज भारतीय विश्वविद्यालयों में होता है, उसका नमूना पाना कठिन है। हम अपने घर को न देखकर बाहर के उधार पर मिथ्या गौरव का अनुभव करते हुए आलसी बन निराधार कोलाहल में अपना सुर मिलाते रहते हैं, जो हमारे राष्ट्र की विविध प्रगतियों में महान् बाधक है।

(क) यह इतिहासप्रसिद्ध है—आचार्य शंकर का सम-पूर्वकालवर्ती है—कुमारिल भट्ट। मीमांसाविषयक अपनी रचना तन्त्रवार्त्तिक [अ० १, पा० ३, अधि० ८] में कुमारिल भट्ट ने भर्तृहरि के वाक्यपदीयगत एक सन्दर्भ को उद्धृत कर उसका प्रत्याख्यान किया है।[1] इससे सिद्ध है, भर्तृहरि आचार्य शंकर से पूर्ववर्ती है।

(ख) हरिस्वामी नामक विद्वान् ने शतपथब्राह्मण पर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था। वहाँ प्रथम काण्ड के अन्त में उसने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥

अवन्ती [उज्जयिनी] के स्वामी श्रीमान् महाराज विक्रमादित्य के धर्माधिकारी हरिस्वामी ने शतपथब्राह्मण की व्याख्या की है। इसके अनन्तर व्याख्याकार ने अपने समय का निर्देश इस प्रकार किया—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

इसका अर्थ किया जाता है—कलि संवत् के ३७४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर इस भाष्य की रचना की गई। भारत में प्रचलित विक्रम संवत् से ३०४५ वर्ष पूर्व चैत्रशुक्ला प्रतिपदा एवं ख्रीस्ट संवत् गणनानुसार ख्रीस्टपूर्व ३१०२ वर्ष की १८ फरवरी से कलि संवत् का आरम्भ माना जाता है। इसके अनुसार कलि-संवत् ३७४० अथवा विक्रम संवत् ६९५ में हरिस्वामी ने शतपथब्राह्मण के उस

---

१. कुमारिल भट्ट का लेख है—**"यद्यपि केनचिदुक्तम्—'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते'** [वाक्यपदीय १।१३] **तद्रूपरसगन्धेष्वपि वक्तव्यमासीत्"** इत्यादि। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय-संस्करण, पृ० ३४२ के अनुसार।

अंश की व्याख्या की।

हरिस्वामी का गुरु स्कन्दस्वामी था, इसका उल्लेख उक्त प्रसंग में स्वयं हरिस्वामी ने किया है।[1] ऋग्वेद पर स्कन्दस्वामी के भाष्य का कुछ अंश प्रकाशित हो चुका है। महेश्वर नामक विद्वान् के सहयोग से स्कन्दस्वामी ने यास्कीय निरुक्त पर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था। इसका प्रकाशन भारत-विभाजन से पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर द्वारा हो चुका है। इस ग्रन्थ का सम्पादन पंजाब विश्वविद्यालय के तात्कालिक संस्कृत-प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मणस्वरूप के द्वारा हुआ। इस सम्पादन-कार्य में हमारा पूर्ण सहयोग रहा। इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका [पृ० ५४–६४] में डॉक्टर महोदय ने स्कन्द स्वामी का समय निर्धारित करने के लिए उसके शिष्य हरिस्वामी के काल-निर्देशक उक्त श्लोक का एक अन्य रूप में विवेचन किया है। उसका सारांश इस प्रकार है--

विक्रम संवत् ६९५ अथवा ६३८ ई० सन् में ऐतिहासिक आधारों पर उज्जयिनी के स्वामी किसी विक्रमादित्य का पता नहीं लगता। ईसवी सन् ६०६ से ६४८ तक निर्विवादरूप से समस्त उत्तरीय भारत का सम्राट् हर्षवर्धन था। ईसवी सन् ५३८ में अर्थात् उक्त काल से लगभग सौ वर्ष पूर्व हूण-जातीय महाराज मिहिरकुल को पूर्णरूप से पराजित कर मालवा के शक्तिशाली राजा यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य-विरुद प्राप्त किया। उसी का धर्माध्यक्ष हरिस्वामी रहा हो, ऐसा सम्भव है। परन्तु हरिस्वामी के काल-निर्देशक पद्य की वर्षसंख्या और यशोधर्मन् के काल में सौ वर्ष का अन्तर था। इस बाधा को हटाने के लिए डॉ० लक्ष्मणस्वरूप ने हरिस्वामी के पद्य में **'सप्त त्रिंशच्छतानि'** के स्थान पर **'षट्-त्रिंशच्छतानि'** रूप में पाठपरिवर्तन कर दिया।

उस समय कालविषयक यह समस्या मेरे सामने भी आई। निरुक्त की स्कन्द-महेश्वर व्याख्या के सम्पादन आदि में मेरा पूर्ण सहयोग रहा था। डॉक्टर महोदय के साथ इस विषय की चर्चा में उनको मैंने यह सुझाव दिया था—भारतीय परम्परा में यह बात दृढ़मूल है कि भारत में प्रचलित विक्रम-संवत् का प्रवर्तक एक राजा विक्रमादित्य था। **'न चामूला जनश्रुतिः'** की कहावत के अनुसार उसकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यदि इस मान्यता को कुछ बल मिलता है, तो हरिस्वामी जैसे विद्वान् व उत्तरदायी व्यक्ति के लेख में कोई असामञ्जस्य नहीं होना चाहिए। सामञ्जस्य के लिए श्लोक में केवल तिल की ओट

---

१. **यः सम्राट् कृतवान् सप्त सोमसंस्थास्तथर्कश्रुतिम्।**
व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥

[राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति के अनुसार]।

पहाड़ है, पद्य में **'सप्त'** पद कदाचित् छन्द की रचना से बाधित होकर ऐसी जगह रक्खा गया है, जहाँ भ्रांति का जनक हो सकता है। यदि **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** पद को एक न मानकर **'सप्त'** को पृथक् तथा **'त्रिंशच्छतानि'** को पृथक् शब्द समझा जाय, तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के काल के साथ हरिस्वामी के निर्दिष्ट काल का कोई असामञ्जस्य नहीं रहता। वहाँ कलि-संवत् ३७४० न होकर ३०४७ है, जो विक्रम-संवत् प्रारम्भ होने के लगभग तीन वर्ष अनन्तर पड़ता है।

अपने कथन की पुष्टि के लिए तब मैंने डॉक्टर महोदय से यह भी कहा था कि हरिस्वामी के पद्य में वाक्य-भेद के लिए दो पद निर्दिष्ट हैं—**'अन्याः'** तथा **'च'**। इसके अनुसार श्लोक का अर्थ-सान्वय इस रूप में समझना चाहिए—**"यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि अन्याः सप्त चत्वारिंशत् च समाः जग्मुः, वै तदा इदं भाष्यं कृतम्।"** यदि अन्य वर्ष केवल **'चत्वारिंशत्'** गिनते हैं, तो पद्य का **'च'** पद अनर्थक रह जाता है। रचयिता ने साथ में **'वै'** पद रखकर अपने निर्देशन की निश्चयात्मकता प्रकट की है। **'च'** पद को केवल पद-पूर्त्यर्थ मानकर रचना की शिथिलता को प्रकट करना होगा। पदपूर्ति-प्रयोजन वहीं माना जाना चाहिए, जहाँ किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति न होती हो। यहाँ तो ऐसा नहीं है। **'त्रिंशच्छतानि'** से अलग **'अन्याः'** **'सप्त'** तथा **'चत्वारिंशत्'** हैं, उन्हीं का भेदक यहाँ **'च'** पद है।

इस सब चर्चा के अनन्तर भी डॉक्टर महोदय ने मेरे इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया था। उसका कारण मुझे यह ज्ञात हुआ कि पाश्चात्य लेखकों ने उस युग के भारतीय इतिहास की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उसमें ख्रीस्ट-संवत् के प्रारम्भ से ५७ वर्ष पूर्व के आसपास किसी ऐसे मालवाधिपति का पता नहीं लगता, जो विक्रमादित्य नाम अथवा विरुद से प्रसिद्ध एवं भूषित हुआ हो। सम्भवतः डॉ॰ लक्ष्मणस्वरूप उस लक्ष्मण-रेखा को लाँघने का साहस नहीं कर सके; पर एक समञ्जस एवं विश्वस्त रचना में परिवर्तन कर देना उन्हें सरल प्रतीत हुआ। कदाचित् वह समय ऐसा ही था, यदि रेखा को लाँघ दिया जाता, तो यशः-सीता के अपहरण के लिए शासन-चाटुकार रावणों का झुण्ड चतुर्दिक् कोलाहल करता आ घेरता; यह आशंका लघु न रही होगी। जो हो, उस समय वह चर्चा वहीं समाप्त हो गई।

इस चर्चा के लगभग नौ-दस वर्ष अनन्तर विक्रम-संवत् के दो सहस्र वर्ष बीतने पर समस्त भारत में इसके अभिनन्दन के लिए एक भव्य आयोजन किया गया। इसी उपलक्ष्य में एक बृहदाकार 'विक्रम स्मृतिग्रन्थ' का संवत् २००१ में प्रकाशन हुआ। इसमें अनेक मूर्द्धन्य विद्वानों के विक्रम-विषयक उच्च कोटि के लेखों का संकलन है। उस समय तक श्री डॉ॰ लक्ष्मणस्वरूप के विक्रमादित्य-विषयक

विचारों में कुछ संशोधन हो गया प्रतीत होता है।

विक्रम-स्मृतिग्रन्थ में अनेक विद्वान् लेखकों ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि ख्रीस्टाब्द-प्रारम्भ से ५७-५८ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम का एक प्रतापी पराक्रमी राजा हुआ, जो मालव प्रदेश का अधिपति अथवा मालवगण का नेता था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इस विषय में उक्त स्मृतिग्रन्थ के ३, ४, ६, ७, ६, ११ संख्या पर दिये गए लेख पठनीय हैं, जिनमें एक लेख श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का भी है।

प्रस्तुत प्रसंग में यही कहना है कि हरिस्वामी ने अपने-आपको उज्जयिनी के अधिपति जिस विक्रमादित्य का धर्माध्यक्ष बताया है, वह यही संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य था। इसी स्मृति-ग्रन्थ में एक लेख श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का है जिसमें उन्होंने हरिस्वामी के कालनिर्देशक पद्य में पठित **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** को एक पद न मानकर 'सप्त' को पृथक् और **'त्रिंशच्छतानि'** को पृथक् पद मान उसे प्रमाणित किया है। ऐसी स्थिति में हरिस्वामी और उसके गुरु स्कन्दस्वामी का काल निश्चित हो जाता है, जिसने महेश्वर के सहयोग से निरुक्त पर भाष्य लिखा।

हरिस्वामी शतपथब्राह्मण के भाष्य में प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों के मत का उल्लेख करता है।[1] प्रभाकर भट्टकुमारिल का शिष्य माना जाता है। कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक [१।३।८] में वाक्यपदीय के वचन को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है।[2] इससे स्पष्ट होता है—हरिस्वामी से पूर्ववर्त्ती प्रभाकर, उससे पूर्व कुमारिल, तथा उससे पर्याप्त प्राचीन भर्तृहरि है।

(ग) स्कन्दस्वामी के निरुक्त [१।२; प्रथम भाग, पृ० २८] भाष्य में **'आह च'** कहकर वाक्यपदीय [३।११६] का निम्नांकित पद्य उद्धृत है—

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम्।
संमूर्च्छत इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ॥

इसी निरुक्तभाष्य के अन्य स्थल [५।१६] पर वाक्यपदीय [२।३१७] का एक अन्य **'साहचर्यं विरोधिता'** पद्यांश **'तथा चोक्तम्'** कहकर उद्धृत है। इसके अतिरिक्त निरुक्त-भाष्य के प्रथम भाग के पृष्ठ १० पर क्रिया के विषय में जिन विभिन्न पक्षों का निर्देश किया गया है, वह सब वाक्यपदीय के **'क्रियासमुद्देश'** प्रसंग के आधार पर लिखा गया है।[3] इससे स्पष्ट होता है—निरुक्त पर स्कन्द-

१. **"अथवा सूत्राणि यथाविध्युद्देश इति प्राभाकराः-अपः प्रणयतीति यथा।"** संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ३४२, टि० १ के अनुसार।

२. **यदपि केनचिदुक्तम्—तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते'** [वा० प० १।१३] **तद्रूपरसगन्धेष्वपि वक्तव्यमासीत्।"** वही ग्रन्थ, पृ० ३४२ के अनुसार।

३. द्रष्टव्य—संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास (पं० युधिष्ठिर मीमांसक-कृत); प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ३४२।

स्वामी की टीका लिखे जाने के पर्याप्त पूर्व भर्तृहरि के वाक्यपदीय की रचना हो चुकी थी। इस आधार पर भर्तृहरि के काल का अनुमान किया जा सकता है।

इत्सिंग का लेख—चीनी यात्री इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—'उसकी [भर्तृहरि की] मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।'[1] कहा जाता है, ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में इत्सिंग भारत की यात्रा पर प्रवृत्त था। इसके अनुसार भर्तृहरि का मृत्युकाल ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्य में माना जाना चाहिए। भर्तृहरि के पूर्वोक्त कालनिर्णय में यह लेख महान् बाधक है। आइए, इसकी तथ्यता को समझने के लिए इत्सिंग के लेख का पर्यालोचन करें।

उक्त पंक्ति को लिखने के पूर्व इस भर्तृहरि के विषय में इत्सिंग ने जो विवरण दिया है, प्रतीत होता है उसपर आधुनिक लेखकों ने उपयुक्त ध्यान नहीं दिया। यह विवरण स्पष्ट करता है—इत्सिंग ने अपने समीप पूर्ववर्ती किसी बौद्ध-मतानुयायी भर्तृहरि को नामसाम्य से भ्रान्त होकर महाभाष्यव्याख्याकार तथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरि समझ लिया है, और दोनों को एकत्र जोड़ दिया है। यह निश्चित है, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि दृढ़ मीमांसक व वेदानुयायी आचार्य था। परन्तु इत्सिंग ने अपने से चालीस वर्ष पूर्व जिस भर्तृहरि के मर जाने का उल्लेख किया है, वह व्यक्ति निश्चित रूप से बौद्धमतानुयायी है। इस विषय में इत्सिंग का विवरण द्रष्टव्य है—

"उसका तीन रत्नों (अर्थात् रत्नत्रय) में अगाध विश्वास था, और वह 'दुहरे शून्य' का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिङ्गन की इच्छा से वह परिव्राज हो गया।......वह धर्मपाल का समकालीन था। एक बार जब वह मठ में प्रव्रजित (बनकर रहता) था, सांसारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी में लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक गाड़ी लाने को कहा। कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया—यह वह स्थान है जहाँ मनुष्य पुण्य-कर्म करता है और यह उन लोगों के निवास के लिए है जो शील रखते हैं। अब मेरे भीतर मनोराग पहले ही प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म पर चलने में असमर्थ हूँ। मेरे-जैसे मनुष्य को प्रत्येक प्रदेश से यहाँ आये हुए परिव्राजकों की सभा में घुसना नहीं चाहिए।

तब वह उपासक की अवस्था में वापस चला गया, और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर, सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।"[2]

---

१. इत्सिंग की भारतयात्रा, अनुवादक—लाला सन्तराम, बी०ए०; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। १९२५ ई० का प्रथम संस्करण, पृ० २७५।

२. वही ग्रन्थ, पृ० २७४-७५

यह विवरण वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का होना असम्भव है। अभी तक भर्तृहरि नाम के तीन व्यक्तियों के प्रमाणित होने का पता लगता है। प्राचीन आद्य भर्तृहरि वाक्यपदीयकार हैं। इसके अतिरिक्त भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टिस्वामी, तथा अष्टाध्यायी पर 'भागवृत्ति' नामक व्याख्या के रचयिता विमलमति को कतिपय लेखकों ने भर्तृहरि नाम से स्मरण किया है। यह निर्देश गत पंक्तियों में किया जा चुका है कि अन्तिम दोनों व्यक्तियों का यह औपाधिक नाम है। ये दोनों वलभी में श्रीधर सेन राजा के संरक्षण में रहे हैं। वलभी में इस नाम के चार राजा हुए, जिनका समय संवत् ५५० से ७०५ के अन्तराल में बताया जाता है। इन दोनों में भट्टिस्वामी पहले और विमलमति बाद में हुआ हो, यह सम्भव है। संवत् ७०५, ई० सन् ६४८ के समीप आता है। इससे स्पष्ट होता है—भागवृत्तिकार विमलमति वलभी के चतुर्थ श्रीधर सेन राजा के काल में रहा, उसी के आदेश[1] से अष्टाध्यायी पर उसने यह वृत्ति लिखी, इसी की मृत्यु का उल्लेख इत्सिंग ने किया है। यह समय सातवीं शताब्दी के ठीक मध्य में आता है।

बौद्धाचार्य गुणमति, स्थिरमति आदि के समान 'विमलमति' नाम इसके बौद्ध होने को प्रमाणित करता है। इस सब विवेचन से स्पष्ट हो जाता है—इत्सिंग ने अपने से चालीस वर्ष पूर्व जिस भर्तृहरि की मृत्यु हो जाने का उल्लेख किया है, वह बौद्धाचार्य विमलमति है। व्याकरण-शास्त्र में विचक्षण होने के कारण तात्कालिक आश्रयदाता वलभी-महाराज ने उसे 'भर्तृहरि' उपाधि से भूषित किया। अपने काल का वह भर्तृहरि-समान वैयाकरण था, इतना ही इसका तात्पर्य है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के साथ मृत्युविषयक इत्सिंग के लेख का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि उसने ऐसा समझा, तो यह उसकी स्पष्ट भ्रान्ति है। फलतः आद्य भर्तृहरि का काल कुमारिल भट्ट से पूर्व माने जाने में कोई बाधा नहीं है। इसका तात्पर्य है—भर्तृहरि आचार्य शङ्कर का पूर्ववर्त्ती है।

कुमारिल भट्ट और कालिदास—आचार्य सुन्दरपाण्डच और भर्तृहरि के विवरण-प्रसंगों में कुमारिल भट्ट का अनेक बार उल्लेख हुआ है। आचार्य शंकर के जीवन की एक घटना बताई जाती है कि विद्याध्ययन आदि के अनन्तर जब आचार्य वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सन्नद्ध हुए, उन्होंने जाना, मेरे इस कार्य में बौद्ध धर्म तथा दर्शन प्रबल बाधक होगा; इसके उपायरूप में कुमारिल भट्ट का सहयोग आवश्यक है। उस समय के वैदिक विद्वद्वर्ग में कुमारिल भट्ट बौद्धदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित एवं शास्त्रीय चर्चाओं में यशस्वी विजेता माने जाते थे। उनकी

---

१. **'भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता' वृत्तिटीकाकार सृष्टिधराचार्य, ८।४।६८। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, १ भाग, पृ० ३४६।**

विद्वत्ता व यशस्विता से आकृष्ट होकर शंकर उनके पास पहुँचे। कहा जाता है, अपने जीवन के अन्त-समय प्रायश्चित्त की भावना से तब कुमारिल भट्ट प्रयाग में त्रिवेणी-तट पर अपने नश्वर शरीर को तुषानल द्वारा दग्ध करने में लगे थे। यह स्थिति देखकर शंकर की भावनाओं को बड़ा धक्का लगा, फिर भी अपने आने के कारण एवं आन्तरिक भावों को भट्ट के सन्मुख अभिव्यक्त किया। इस दिशा में सहयोग के लिए मण्डन मिश्र का संकेत देकर भट्ट ने शंकर को विदा किया।

यदि इस घटना में कुछ ऐतिहासिक तथ्य है, तो इससे स्पष्ट होता है—कुमारिल भट्ट आचार्य शंकर का सम-पूर्वकालवर्त्ती व्यक्ति था। एक जीवन पूरा कर रहा था, दूसरा कार्यक्षेत्र में उतर रहा था। आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव अगले पृष्ठों में ईसा-पूर्व ५०९ वर्ष निर्धारित किया गया है। कुमारिल भट्ट से मिलने के समय आचार्य शंकर की आयु लगभग अठारह वर्ष थी। इसके अनुसार भट्ट का देहावसान ४९० वर्ष ईसा-पूर्व के आसपास सम्भव है।

कुमारिल भट्ट का यह काल स्वीकार करने में एक बड़ी बाधा है—तन्त्र-वार्त्तिक में कालिदास के एक सन्दर्भ का उल्लेख। कालिदास का काल सुपुष्ट ऐतिहासिक आधारों पर ईसा-पूर्व की प्रथम शती निश्चितप्राय है। उसको अधिक इधर-उधर हटाया जाना सम्भव नहीं। कालिदास के शकुन्तला-गत सन्दर्भ का कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्त्तिक में उल्लेख, कुमारिल के काल को ईसा-पूर्व बताने में महान् बाधक है। यदि कुमारिल और शंकर की समकालिकता अबाधित है, तो शंकर को भी कुमारिल का अनुवर्त्ती रहना होगा। तब शंकर का पूर्व-निर्दिष्ट प्रादुर्भाव-काल असिद्ध रह जाता है। इसकी स्पष्टता और यथार्थता के लिए तन्त्र-वार्त्तिक में उल्लिखित कालिदास-सन्दर्भ की परीक्षा करनी आवश्यक है।

तन्त्रवार्त्तिक में कालिदास-सन्दर्भ—मीमांसा सूत्र [१।३।७] की व्याख्या में कुमारिल भट्ट ने विस्तार के साथ यह विवेचन प्रस्तुत किया है कि किसी कार्य के करने में कर्त्ता व्यक्ति का आत्म-सन्तोष धर्म की सीमा में आता है, या नहीं? ब्रह्मा, राम, भीष्म, द्वैपायन आदि की अनेक प्राचीन गाथाओं एवं ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर यह निर्णय किया है कि ऐसे महान् व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्यों को कहाँ तक धर्ममर्यादा में गिना जा सकता है? तथा ऐसे व्यक्तियों की तथाकथित आत्मतुष्टि का सम्बल इस दिशा में कहाँ तक सहयोग दे सकता है?

उक्त विषय में निर्णयात्मक सम्मति देते हुए कुमारिल भट्ट ने लिखा है—"केवल शिष्ट व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझकर जो आचरण व अनुष्ठान करते हैं, वही धर्म है; साधारण प्राणियों द्वारा किया गया प्रत्येक आचरण धर्म नहीं होता। इससे यह निश्चित होता है कि वेदों में प्रतिपादित अनन्त धर्मों की भावना से जो आत्मा संस्कृत हो चुके हैं, उनकी आत्मतुष्टि धर्मशुद्धि के लिए प्रमाण मानी

जा सकती है। उसी प्रकार बहुत काल तक वेद और उसके अर्थज्ञान के अभ्यास से जिनके आत्मा में वैदिक संस्कार स्थान पा गये हैं, ऐसे वेदनिर्धारित मार्ग के अनुसार विचार रखनेवाले पुरुषों की प्रगति कभी उन्मार्ग पर सम्भव नहीं हो सकती; इसी आधार पर ऋषियों ने कहा है—**'यदेव किंचन अनूचानोऽभ्यूहति आर्षं तद्भवति'** इति। अर्थात् वेदानुसार आचरण करनेवाला जो कुछ सोचता व करता है, वह सब आर्ष होता है। वेदानुकूल आचरण से बनी वासनाओं के अनुरूप किये जाने के कारण वह कार्य वेद जैसा ही होता है।"[1]

इतने सन्दर्भ के आगे पाठ इस प्रकार है—

"तथाहि—

यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वोज्ज्वलरुक्मभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत्स्यात् तथा भवेद्वेदविदात्मतुष्टिः॥
एवं च विद्वद्वचनाद्विनिर्गतं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निरूपितम्।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥" इति।

हमारा विचार है, यह पाठ मूलग्रन्थ का नहीं है। पठन-पाठन के समय में किसी अध्यापक आचार्य ने कालिदासश्लोक के उत्तरार्द्ध के साथ प्रसंगानुगत स्वनिर्मित पूर्वार्द्ध जोड़कर तन्त्रवार्त्तिक की हस्तलिखित पुस्तकों पर छात्रों को लिखवा दिया। छात्रों द्वारा पत्र के प्रान्तभाग (-हाशिया) पर लिखा पाठ कालान्तर में प्रतिलिपि करते समय लिपिकारों ने ग्रन्थ के मध्य डाल दिया।

प्रथम श्लोक के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह रचना उसी प्राध्यापक आचार्य की है, अथवा प्राचीन रचना को उद्धृतमात्र कर दिया गया है। उद्धरण की दशा में यह मूलग्रन्थकार द्वारा हुआ है, अथवा द्वितीय श्लोक का प्रक्षेप करनेवाले के द्वारा, यह निश्चय करना कठिन हैं। सम्भव है, पहला श्लोक स्वयं ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत किया गया हो।

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र [१।३।७] पर तन्त्रवार्त्तिक, पृ० १३२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी-संस्करण। वहाँ मूलपाठ इस प्रकार है—

तत्र यः कार्यरूपेण शिष्टानेवानुवर्त्तते।
स एवं केवलो धर्मो नेतरः प्राणिमात्रगः॥
एतेन वैदिकानन्तधर्मधीसंस्कृतात्मनाम्।
आत्मतुष्टेः प्रमाणत्वं प्रसिद्धं धर्मशुद्धये॥

तथैव बहुकालाभ्यस्तवेदतदर्थज्ञानाहितसंस्काराणां वेदनियतमार्गानुसारिप्रतिभानां नोन्मार्गेण प्रतिभानं सम्भवतीत्याश्रित्योच्यते-यदेव किंचनानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवतीति। वैदिकवासनाजनितत्वाद् वेद एव स भवति।

हमारी उक्त धारणा के विषय में निम्नलिखित कारण हैं—

(१) कुमारिल भट्ट के—प्रस्तुत प्रसंग के—निर्णयात्मक दो श्लोकों के अनन्तर जो गद्य-सन्दर्भ—"**तथैव बहुकालाभ्यस्त**···" इत्यादि, "**वैदिकवासना-जनितत्वाद् वेद एवं स भवति**" इत्यन्त—मूलग्रन्थ का है; उसी का उपसंहाररूप सन्दर्भ प्रक्षिप्त श्लोक के अनन्तर इस प्रकार पठित है—

"**बहुदिनाभ्यस्तधर्मव्याप्तात्मनो हि न कथंचिद्धर्मकरणरूपात्मतुष्टिरन्यत्र सम्भवतीति धर्मत्वेनाभ्यनुज्ञायते ॥**"

ये दोनों सन्दर्भ परस्पर पद-पदार्थ के आधार पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि इनके मध्य अन्य कोई व्यवधान नहीं आना चाहिए।

(२) कुमारिल भट्ट की समस्त रचना—श्लोकवार्त्तिक व तन्त्रवार्त्तिक—में अनुष्टुप् छन्द को छोड़कर अन्य किसी छन्द का आश्रय नहीं लिया गया। भट्ट की अपनी रचना केवल अनुष्टुप् छन्द में है। अन्य रचनाओं के उद्धरण अवश्य दूसरे छन्दों के दिये गए हैं, जो अत्यल्प हैं। तथाकथित दो श्लोकों में से पहला श्लोक स्वयं भट्ट द्वारा उद्धृत किया गया हो, यह सम्भावना की जा सकती है। पद-पदार्थ के आधार पर पूर्वापर सन्दर्भों के साथ यह मेल खाता है। श्लोक से पूर्व 'तथाहि' पद का प्रयोग इसके उद्धृत किये जाने का द्योतक है। यह पद्य स्वयं भट्ट की रचना हो, इसमें पूर्ण सन्देह है।

(३) द्वितीय श्लोक के प्रक्षिप्त होने का प्रबल प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिए। कुमारिल भट्ट ने प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों का नाम-संकीर्तन किया है, जिन्होंने अपने जीवन में कोई अटपटा कार्य किया। वे नाम इस प्रकार हैं—प्रजापति, इन्द्र, वसिष्ठ, विश्वामित्र, युधिष्ठिर, कृष्णद्वैपायन, भीष्म, धृतराष्ट्र, वासुदेव, अर्जुन।[1] इन्होंने अपने जीवन में जो अवाञ्छनीय कार्य किये, वे गाथा एवं इतिहास में सर्वविदित हैं।

इस प्रसंग के उपसंहार में कुमारिल भट्ट ने स्वयं उन घटनाओं का उल्लेख कर उन सबका अपने विचार के अनुसार समाधान किया है,[2] और वह धर्म का रूप माना जा सकता है, या नहीं, इसका निर्णय दिया है। इन प्रसंगों में किसी भी स्थल पर न दुष्यन्त का नाम है, न उस घटना का संकेत। दुष्यन्त-शकुन्तला के स्नेह-परिणय को कुमारिल भट्ट ने उस कोटि में नहीं गिना, जिसमें अन्य प्राचीन विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख किया है। निश्चित है, यदि कुमारिल कालिदास के पद्यांश का स्वयं उद्धर्त्ता होता, तो वह अवश्य अन्य नामों की पंक्ति में दुष्यन्त

१. द्रष्टव्य—वही ग्रन्थ, पृ० १२७।
२. द्रष्टव्य—वही ग्रन्थ, पृ० १३३–१३७।

का उल्लेख करता, और उस घटना का वैसे ही समाधान करता, जैसे अन्य कीर्त्तित व्यक्तियों की घटनाओं का किया है।

जो पद्यांश कालिदास का कहा जाता है, यह सम्भव है, लोकोक्ति के रूप में वह पूर्वप्रचलित रहा हो। कालिदास ने उसे नाटक के प्रसंगानुकूल अपनी रचना में बाँध दिया। पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि कुमारिल भट्ट ने अपनी रचना में उसका उपयोग नहीं किया। निरन्तर अभ्यास के रूप में वेदानुकूल आचरण आदि की जो शर्त्त आत्मतुष्टि के साथ कुमारिल भट्ट ने लगाई है, उसका सामञ्जस्य दुष्यन्त की घटना से न होने के कारण ही कुमारिल ने अपने विवेचन में उसकी उपेक्षा की। आत्मतुष्टि-विषयक कुमारिल की भावना और दुष्यन्त-वाली घटना में कोई ताल-मेल नहीं है। परन्तु कालिदास ने अपने नाटक के नायक की स्थिति को उच्च भावनाओं में अभिव्यक्त करने के लिए, पूर्व-प्रसिद्ध आभाणक-सम सन्दर्भ को उस प्रसंग में चस्पाँ कर दिया है। इन सब आधारों पर तन्त्र-वार्त्तिक के उक्त प्रसंग में इस सन्दर्भ का प्रक्षिप्त किया जाना प्रमाणित होता है। फलतः कुमारिल भट्ट का काल ऐसे सन्दिग्ध आधारों पर कालिदास के अनन्तर नहीं लाया जा सकता, न उसके साथ आचार्य शंकर का।

इसी सन्दर्भ में विशिष्ट पदों के प्रयोग की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है, जो इस अंश के प्रक्षिप्त होने की भावना को पुष्ट करता है। कालिदास के वाक्य में **'अन्तःकरणप्रवृत्ति'** पद का प्रयोग हुआ है, परन्तु कुमारिल भट्ट उक्त प्रसंगों में जिस भावना को अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए वह सर्वत्र **'आत्मतुष्टि'** पद का प्रयोग करता है। इन पदों के प्रयोग का क्षेत्र अवश्य एक-दूसरे से कुछ भिन्न है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए **'आत्मतुष्टि'** पद का सर्वत्र प्रयोग करने-वाला कुमारिल उसी अर्थ में **'अन्तःकरणप्रवृत्ति'** को मान्य कैसे करता? अपने अभिप्रेत अर्थ के लिए अपनी रचना में उसने कहीं इन पदों का प्रयोग नहीं किया है। इसमें उच्छृङ्खलता अथवा उन्मार्ग-गामिता की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है, जो **'आत्मतुष्टि'** पद में नहीं है।

श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने एक लेख[1] में प्रकट किया है कि कुमारिल भट्ट ने अपनी रचना तन्त्रवार्त्तिक में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथमाङ्कगत श्लोकार्द्ध को उद्धृत किया है।

प्रतीत होता है, श्री काणे महोदय ने तन्त्रवार्त्तिक के उस भाग के पूर्वापर प्रसंग को गम्भीरतापूर्वक विचारने की उपेक्षा की है, अन्यथा सम्भव है, वे उसी परिणाम पर पहुँचते, जो गत पंक्तियों में अभिव्यक्त किया गया है। आपाततः

---

१. द्रष्टव्य—जर्नल, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट्, जिल्द १९, भाग १; सन् १९३८, पृ० १९२।

देखने पर साधारण रूप से वैसी भावना का होना सम्भव है। वस्तुतः यह श्लोकार्द्ध अपने रूप में उद्धृत नहीं है, न उसके साथ उद्धरण के कोई संकेत हैं। हाशिये का यह पाठ प्रतिलिपिकारों द्वारा मूलग्रन्थ में आ गया है। कोई भी विचारक समस्त प्रसंग को गम्भीरतापूर्वक विचारने के फलस्वरूप इसी परिणाम पर पहुँच सकता है।

आचार्य कपर्दी

रामानुजाचार्य के वेदार्थसंग्रह में जिन प्राचीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है, उनमें एक नाम आचार्य कपर्दी का है।[1] कतिपय विद्वान् इस नाम का **'कर्पाद्दक'** रूप में उल्लेख करते हैं।[2]

वेदार्थसंग्रह एवं यतीद्रमतदीपिका आदि वैष्णव सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों में वैदान्तिक परम्परा के जिन प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है, वे सभी सिद्धान्त की दृष्टि से भेदवादी आचार्य रहे हैं। उनमें अधिक संख्या आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों की है; कतिपय श्रीपरांकुश, नाथमुनि, ज्योतीश्वर आदि परवर्ती आचार्यों के भी नाम हैं।

अभी तक इस प्रकरण में लगभग बारह प्राचीन आचार्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र अथवा उपनिषद् आदि पर अपने व्याख्याग्रन्थ लिखे। इन आचार्यों ने वेदान्त की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में महान् प्रयत्न किया, जिस अभिनन्दनीय प्रयास के फलस्वरूप उन आचार्यों की भावनाओं को न्यूनाधिक रूप में समझने के लिए दीर्घकाल की सीमा लाँघे जाने पर भी आज हम समर्थ हो सके हैं।

आचार्य कपर्दी की किसी रचना अथवा उसके किसी विशेष सिद्धान्त के विषय में कोई संकेत दार्शनिक एवं अन्य साहित्य के किसी भाग में उपलब्ध नहीं हो सके। फिर भी रामानुजाचार्य आदि के द्वारा प्राचीन आचार्यों की सूची में आदरपूर्वक नामोल्लेख से अनुमान होता है कि ब्रह्मसूत्रादि की व्याख्या अथवा स्वतन्त्र रूप में इनकी कोई ऐसी रचनाएँ रही हों।

इन आचार्यों के सिद्धान्तों के विषय में यह पर्याप्त निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि ये आचार्य वेदान्त की उसी परम्परा का आदर करते थे, जिसको ब्रह्मसूत्रों के प्राचीन व्याख्याकार बोधायन एवं उपवर्ष आदि ने—पूर्वप्रचलित परम्पराओं को अक्षुण्ण रखते हुए—प्रस्थापित किया था। किसी सीमा तक यह

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० १९६, श्री राघवाचार्य द्वारा सम्पादित, संवत् २०१८ का आचार्य पीठ, बरेली संस्करण।
२. डॉ० गोपीनाथ कविराज, अच्युत, पृ० १६, पं० ६।

भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपनिषद् अथवा ब्रह्मसूत्र-मूलक जो सिद्धान्त ब्रह्म, आत्मा, जगत् एवं जगत् के मूल उपादानकारण के विषय में उन प्राचीन व्याख्याकार आचार्यों ने प्रस्थापित किये थे, आचार्य शंकर ने उनकी अन्यथा व्याख्या करने का सफलप्राय प्रयास किया। फलतः आज हमारे सन्मुख वह व्याख्या दो मुख्य शाखाओं में विभाजित है। एक शाखा द्वैत-मूलक है, जो प्राचीन है, जिसका आधार मुख्यतः वेद-संहिताएँ हैं। दूसरी शाखा है—अद्वैत-मूलक, जिसका प्रवर्तन शंकर के कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया, और इसके आधाररूप में उपनिषदों के कतिपय सन्दर्भों का आश्रय लिया गया। इस विचार की उद्भावना में तात्कालिक विद्वानों पर बौद्धदर्शन का प्रभाव भी किसी सीमा तक कारण रहा है। उसकी तथाकथित युक्तता-अयुक्तता की परख विद्वान् अपनी प्रतिभा के अनुसार समय-समय पर किया करते हैं। भले ही वस्तुतत्त्व की यथार्थता किसी के द्वारा न जानी जा सके, पर उसके जानने के लिए प्रयास करना सबका समान अधिकार है।

दशम अध्याय

आचार्य शंकर और उसकी गुरुपरम्परा

वैदान्तिक परम्परा के भाष्यकार आचार्यों में आज आचार्य शंकर का नाम सर्वोपरि है। आचार्य ने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए भारत देश के अन्दर चारों दिशाओं में चार मुख्य धार्मिक पीठों की स्थापना की, जो आज 'शङ्कराचार्य मठ' के नाम से जाने जाते हैं। इन धार्मिक मठों ने आचार्य शंकर के विचारों का प्रचार करने में महान् सहयोग दिया। इससे आचार्य की दूरदर्शिता-पूर्ण पैनी दृष्टि और अद्भुत चमत्कारपूर्ण संघटनशक्ति का पता लगता है। आचार्य का देहावसान बत्तीस वर्ष और कुछ मास की अल्पायु में हो गया, पर इतने थोड़े समय में जो कार्य आचार्य कर गया, वह अनुपम है।

कोई चिन्तक जब आचार्य के जीवन पर दृष्टि डालता है, तब वह आश्चर्य-चकित रह जाता है। जिस आयु में एक साधारण व्यक्ति जीवन के पथ पर अपने-आपको ठीक तरह सम्भाल पाने की भी क्षमता नहीं रखता, उस सोलह वर्ष की आयु में आचार्य ने समस्त शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिख दिया था। भाष्य प्रत्येक दृष्टि से इतना प्राञ्जल है कि उसके प्रारम्भिक काल से आज तक विद्वत्समाज उसके आगे नतमस्तक है। भाषा का सौष्ठव व सौन्दर्य, अभिलषित अर्थ की अभिव्यक्ति का पूर्ण अबाधित सामर्थ्य, लेखशैली की हृदय-ग्राहिता आदि विशेषताएँ इस भाष्य में पद-पद पर प्रस्फुट हैं।

कहा जाता है—वह एक अवतारी पुरुष थे, मानो साक्षात् शंकर उस रूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुए। भारतीय समाज में पर्याप्त समय से यह परम्परा रही है कि इस प्रकार के लोकोत्तर कार्यकारी महापुरुषों के प्रति असीमित प्रशंसा प्रकट करने की उदात्त भावना से उन्हें परमेश्वर का रूप मान लिया जाता है। भारतीय इतिहास का कोई ऐसा महान् व्यक्ति दिखाई नहीं देता, जिसे परमेश्वर अथवा उसके प्रतिनिधि किसी देवता के रूप में स्वीकार न कर लिया गया हो। प्रत्येक ऐसा लोककर्त्ता पुरुष, ब्रह्मा-विष्णु-शंकर-सरस्वती-बृहस्पति आदि में से किसी का अथवा ऐसे ही किसी अन्य कल्पित अभिमत देवता का अवतार मान लिया

जाता है। पर ऐसा करते हुए हम यह नहीं सोचते कि उस दशा में व्यक्ति की महत्ता को उपेक्षित कर हमने उसे परमात्मा में आरोपित कर दिया है, जो उसके लिए एक नगण्य कार्य है। आचार्य शंकर भी इस परम्परा के बन्धन से छूट न सका। जो हो, वह हमारे लिए परमादरणीय है। उसके कार्य हमारे पथप्रदर्शन में प्रदीप के समान हैं।

शङ्कर जगद्गुरु

इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं कि ब्रह्मसूत्रों पर शांकरभाष्य के अध्ययनाध्यापन की प्रवृत्ति ने प्राचीन भाष्यों को विलीन कर दिया। भारतीय समाज सदा से प्रायः धर्मप्राण रहा है। गुरु के प्रति इसकी भावना सदा उदात्त रही है।[1] आचार्यस्थापित मठों के प्रति जनता पूर्ण श्रद्धान्वित थी; वह भावना आज तक अक्षुण्ण बनी है। आद्य शङ्कराचार्य अपने अनुपम कार्य-कलापों के द्वारा भारतीय समाज के गुरु बने, पर समाज ने उनको जगद्गुरु के रूप में स्वीकार किया। यह आद्य आचार्य के कार्यों का प्रभाव समझना चाहिए, जो आज तक प्रत्येक मठ का अध्यक्ष आचार्य 'जगद्गुरु शंकराचार्य' कहलाता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक पीठाधिपति आचार्य पूर्ण विद्वान्, तपस्वी, संयमी एवं सदाचारप्रिय होते रहे हैं। समस्त समाज इनमें अद्वितीय श्रद्धा रखता है। अन्तराल-काल में अन्य अनेक आचार्यों ने साहित्य तथा मौखिक प्रचार द्वारा समाज का सब प्रकार से मार्गदर्शन किया है।

शङ्कर का ब्रह्मसूत्रभाष्य

इन्हीं भावनाओं के साथ समाज में प्रबल वेग से जब ब्रह्मसूत्र व उपनिषद् आदि पर आचार्य शंकर के भाष्यों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ तो अध्यात्म-जगत् में एक नई लहर उठी। धीरे-धीरे उसने एक तूफ़ान का रूप धारण किया, जो प्राचीन भाष्यकारों द्वारा संस्थापित अध्यात्म-भावनाओं को बहा ले गया। प्राचीन भाष्यों का पठन-पाठन रुद्ध हो गया; धीरे-धीरे कराल काल उन्हें चबा गया। अनभ्यास में वे लुप्त हो गये। आज संसार के समस्त विद्वत्समाज पर अध्यात्म अथवा वैदान्तिक दशा की दृष्टि से शांकर विचारों का उल्लेखनीय प्रभाव है।

आचार्य शंकर के परवर्ती काल में अनेक आचार्यों ने शंकर से पूर्व प्रचलित वेदान्त की अध्यात्म-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अभिनन्दनीय प्रयास

---

१. **'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥'**—श्वेता० ६।२३॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ [स्तोत्र]
'गुरु बिन कौन बतावे बाट'—एक गीत।

किये, पर वे उस रूप में उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर सके, जो आचार्य शंकर ने प्राचीन भाष्यों व उनके द्वारा संस्थापित भावनाओं को अभिभूत करने में प्राप्त की। भास्कर-रामानुज-श्रीकण्ठ-मध्व-वल्लभ-निम्बार्क आदि के भाष्य केवल अपने सम्प्रदाय में सीमित हैं; अथवा इस विषय पर विविध दिशा से अध्ययन करनेवाले की दृष्टि में कभी आ जाते हैं। वेदान्त की अध्ययनाध्यापन-परम्परा में सम्प्रदाय की सीमा को लाँघकर आज मुख्य रूप से शांकरभाष्य को प्राथमिकता दी जाती है।

आचार्य शङ्कर की गुरुपरम्परा

आचार्य शंकर की रचनाओं के मध्य तथा अन्त में जो पुष्पिका[1] उपलब्ध होती हैं, उनके अनुसार निश्चयपूर्वक शंकर के गुरु का नाम 'गोविन्द भगवत्पाद' है। इसमें **'भगवत्'** पद सम्भवतः आदरातिशय प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। गुरु का नाम 'गोविन्दपाद' समझना चाहिए। प्राचीन काल में इस तरह के अनेक नामों का पता लगता है—अक्षपाद, उत्तानपाद, कल ापपाद, गौडपाद आदि। अधिक सम्भव है, आचार्य का नाम केवल 'गोविन्द' रहा हो। गोविन्दपाद के गुरु आचार्य गौडपाद थे। शंकरदिग्विजय[2] में गोविन्दपाद का नाम गोविन्दनाथ भी प्रयुक्त हुआ है।

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इस परम्परा को न केवल सूत्रकार व्यास तक, अपितु आदिसर्ग के नारायण तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। 'आचार्यस्तव'[3] के श्लोकों के अनुसार यह परम्परा आगे ऊपर की ओर इस प्रकार चलाई गई है — गौडपाद के गुरु शुकदेव, उसके गुरु व्यासदेव अर्थात् स्वयं सूत्रकार बादरायण। व्यास के गुरु व पिता पराशर, पराशर के गुरु व पिता शक्ति, शक्ति के वसिष्ठ, वसिष्ठ के ब्रह्मा, ब्रह्मा के नारायण अर्थात् स्वयं परब्रह्म परमेश्वर। व्यास से पहले की परम्परा के विषय में इस ग्रन्थ के 'ब्रह्मसूत्र-रचयिता कौन' शीर्षक के नीचे विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है।[4]

वेदव्यास से शंकराचार्य तक की परम्परा में वेदव्यास और शुकदेव पिता-पुत्र

---

१. ग्रन्थकार का नाम तथा उसके सम्बन्ध में अन्य आवश्यक परिचय देनेवाला एवं अध्याय तथा ग्रन्थसमाप्ति का द्योतक सन्दर्भ 'पुष्पिका' कहा जाता है।

२. सर्ग ५, श्लोक १०५॥

३. **नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्रीशंकराचार्यम्**...।

४. पृ० ४४ से ४७ तक द्रष्टव्य।

तथा गुरु-शिष्य दोनों हैं। उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार इन दोनों का प्रादुर्भाव महाभारत-युद्धकाल के पूर्व-समीप माना जाता है। युद्धकाल तथा उसके अनन्तर भी ये कुछ समय तक जीवित रहे। इनके इस काल तथा पौर्वापर्य के विषय में कोई सन्देह नहीं है। इस परम्परा के अन्तिम तीन आचार्य गौडपाद, गोविन्दपाद और शंकराचार्य हैं--गौडपाद के शिष्य गोविन्दपाद तथा गोविन्दपाद के शंकर। इन तीनों की गुरु-शिष्य-परम्परा और पौर्वापर्य में किसी विद्वान् को कोई आपत्ति नहीं है; इनकी ऐतिहासिकता को सबने स्वीकार किया है, परन्तु इस पूरी गुरु-शिष्य-परम्परा में गौडपाद का अविच्छिन्न गुरु व्यासपुत्र शुकदेव को अथवा शुकदेव का शिष्य गौडपाद को बताया जाना गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

शुकदेव, गौडपाद का गुरु

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गौडपाद आदि का प्रादुर्भावकाल महाभारत-युद्धकाल के पर्याप्त अनन्तर है। वह इतना अधिक लम्बा समय है कि उतने दिन तक कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। शंकर का काल अधिक-से-अधिक पहले, विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व, तथा अधिक-से-अधिक पीछे, विक्रम की आठवीं शताब्दी के आस-पास कहा जाता है। इस अनिश्चय की दशा में यदि पहले के समय को कम अन्तर की दृष्टि से स्वीकार कर लें, तो शंकर के कुछ पूर्व होनेवाले उसके दादा गुरु गौडपाद के काल तथा महाभारतयुद्ध के अवसर पर विद्यमान शुकदेव के काल में ढाई सहस्र वर्ष के लगभग अन्तर रहता है। आचार्य गौडपाद को पढ़ाने के लिए शुकदेव इतने समय तक जीवित रहकर वहाँ आये हों, यह सर्वथा असम्भव है। महाभारत[1] में वर्णन है-- शुकदेव की मृत्यु उसके पिता व्यासदेव के जीवनकाल में ही हो चुकी थी।

शुकदेव का सिद्धशरीर

वेदान्तसम्प्रदाय के ग्रन्थों में लिखित इस गुरु-परम्परा को माने जाने के पक्ष में यह कहना या समझना कि व्यासपुत्र शुक ने सिद्धशरीर में अथवा निर्माण-शरीर में आविर्भूत होकर गौडपादाचार्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था—जिस प्रकार परमर्षि भगवान् कपिल ने निर्माणकाय अवलम्बन करके जिज्ञासु शिष्य आसुरि को षष्टितन्त्र का उपदेश दिया—सर्वथा निराधार एवं अनैतिहासिक है। न कपिल ने वैसा किया, न शुकदेव ने। ऐसी निराधार बातों की कल्पना कर मध्यकालिक लेखकों ने भारतीय साहित्य को अविश्वसनीय उल्लेखों व प्रसंगों का

१. शान्तिपर्व, अध्याय ३३३। गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण।

एक अजीब-सा ऐलबम बना दिया है। यथार्थता से देखा जाय, तो पञ्चशिख के जिस सूत्र[1] के आधार पर कपिलविषयक घटना का उल्लेख किया जाता है, उसमें 'निर्माणकाय' पद तक नहीं है। वहाँ 'निर्माणचित्त' पद है; उसका अर्थ 'निर्माण-काय' कैसे समझ लिया गया, यह विचार से परे की बात है। उस पद का स्वारसिक अर्थ यही है कि लोक के प्रति करुणापूर्ण होकर कपिल ने अपनी मनो-भावनाओं को उपदेश के अनुकूल बनाया, और आसुरि को शास्त्र का उपदेश दिया। कपिल और आसुरि अपने भौतिक शरीरों के साथ एक काल में विद्यमान थे; अन्य व्यक्तियों के समान कपिल ने अपने माता-पिता से जन्म लिया,—यह परम्पराप्राप्त इतिहास द्वारा ज्ञात होता है। कपिल के अन्य पारिवारिक जनों का पौराणिक इतिवृत्त में उल्लेख है।[2] फिर उपदेश के लिए उसे अन्य काय [-शरीर] के निर्माण की क्या आवश्यकता हो सकती है? शुकदेव और गौडपाद के काल में तो सहस्रों वर्षों का अन्तर है।

विचारक को यह भी सोचना चाहिए—केवल आत्मा का लौकिक व्यवहार में आने का कोई विशेष नाम नहीं होता। शुकदेव नाम उस देह के साथ किसी आत्मा का था, जिससे व्यास के औरस पुत्र के रूप में जन्म लिया। महाभारत में यह स्पष्ट उल्लेख है[3] कि शुकदेव का वह शरीर व्यास के जीवित रहते समाप्त हो गया था। लगभग ढाई सहस्र वर्ष के अनन्तर उसी आत्मा ने बिना माता-पिता के स्वयं शरीर धारण कर गौडपाद को उपदेश दिया, यह किसने और कैसे जान लिया? यह विश्लेषण किया जाना सर्वथा असम्भव है कि शुकदेव-संज्ञक देह के छूट जाने पर उस आत्मा ने फिर कहीं जन्म नहीं लिया; वह इस प्रतीक्षा में रहा कि गौडपाद नाम का कोई व्यक्ति पैदा हो, और वह बिना माता-पिता के नया शरीर धारण करे, फिर भी शुकदेव नामक पहले देह में उसका लगाव बना रहे, और उसी नाम से वह गौडपाद को उपदेश करे। यह सब मिथ्या कल्पनाओं की लम्बी परम्परा है। यह नानी की कहानी से कुछ अलग नहीं है, यदि उसको तथाकथित रूप में मान्यता दी जाये।

गौडपाद का गुरु शुकदेव कैसे

गम्भीरता से विचार करने पर कहा जा सकता है—हमने सम्भवतः उन लेखकों की वास्तविक भावनाओं को समझने का प्रयास नहीं किया, जिन्होंने

१. सूत्र का पाठ है—**आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।**

२. इसके लिए द्रष्टव्य हैं—श्रीमद्भागवत का तृतीय स्कन्ध; पद्मपुराण, उत्तर-खण्ड ११२।२-३ ॥

३. महाभारत, शान्ति०, अ० ३३३। गीताप्रैस, गोरखपुर-संस्करण।

गौडपाद का गुरु शुकदेव को बताया। शंकर से गौडपाद तक गुरुपरम्परा ऐतिहासिक है, यह सबको मान्य है। गौडपाद और शुकदेव के अन्तराल की गुरु-परम्परा का इतिहाससिद्ध ज्ञान उन लेखकों को नहीं था, जिन्होंने गौडपाद का गुरु शुकदेव को लिखा। आज भी इसका ज्ञान किसी को नहीं है। पर यह ज्ञान तब भी था और अब भी है कि गौडपाद ने अपने समय में जिस वेदान्तमूलक ब्रह्मज्ञान-प्रक्रिया को प्रस्तुत किया, उसका मूलप्रवक्ता वेदव्यास था, और उसने अपने पुत्र व शिष्य शुकदेव को उसका अध्ययन कराया था। गुरुपरम्परा के उस अन्तिम भाग के समान यह आदि-भाग भी ऐतिहासिक है। शुकदेव ने अपने पिता व गुरु वेदव्यास से जिस ज्ञान को प्राप्त किया, वही ज्ञान गौडपाद ने लम्बी परम्परा के अनन्तर अपने समय में प्राप्त किया। उस लम्बी गुरुपरम्परा के अज्ञान—तथा गौडपाद और शुकदेव के अध्यापित, प्रचारित व उपदिष्ट ज्ञान के समान होने अथवा समझे जाने—के कारण मध्यकालिक लेखकों ने गौडपाद का गुरु शुकदेव को लिख दिया। गुरुपरम्परा के इस आदि-अन्त-भाग के विषय में वे लेखक निश्चित थे; जो अंश अज्ञात व सन्दिग्ध था, उसका उल्लेख नहीं किया। उन लेखकों का तात्पर्य गुरुपरम्परा का इतिहास देना नहीं था, प्रत्युत गौडपाद द्वारा अपने काल में प्रस्तुत उन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को प्रकट करना था, जो मूलप्रवक्ता आचार्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर प्रकट की जा सकती थी। हमारे विचार से इसी रूप में उस परम्परा को समझना उपयुक्त होगा।

ऐसे गुरु-शिष्यभाव के सम्बन्ध को लेकर हमने अन्यत्र[1] वार्षगण्य और विन्ध्यवास के विषय में इस तथ्य का उपपादन किया है। इसमें किसी तरह के असामञ्जस्य का अवसर नहीं रहता। सम्भव है, मध्यकालिक आचार्यों ने इसी भावना से उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के गुरु-शिष्यभाव का उल्लेख किया हो, जिस भावना को समझने की ओर आधुनिक लेखकों ने प्रायः ध्यान नहीं दिया।

गोविन्दपाद—आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद ने वेदान्तविषयक किसी ग्रन्थ की रचना की हो, इसका पता नहीं लगता। न ऐसी कोई परम्परामूलक प्रसिद्धि है, न ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध है। माधवाचार्य की रचना **'सर्वदर्शन-संग्रह'** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रसेश्वरदर्शन-प्रकरण में **'रसहृदय'** नामक एक ग्रन्थ के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है। यह ग्रन्थ रसायनशास्त्रविषयक है। इसके रचयिता का नाम **'गोविन्द भगवत्पाद'** है। परन्तु यह पूर्ण निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यही गोविन्द भगवत्पाद आचार्य शंकर का गुरु था।

शंकर के गुरु गोविन्दपाद के विषय में कोई परिचयात्मक ऐतिहासिक तथ्य

१. देखें—हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ४३४–४४२॥

उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु कहा जाता है—'गोविन्दपाद' नर्मदा-तट पर रहते थे। वे महायोगी थे और उनका देह रसप्रक्रिया से सिद्ध था, ऐसी किंवदन्ती अब तक साधकमण्डल में सुनी जाती है। यह भी प्रसिद्ध है कि उनका देह वस्तुतः एक हज़ार वर्ष से स्थूल जगत् में रहने पर भी ऐसा मालूम होता था कि उसमें किञ्चिन्मात्र भी जरा का आविर्भाव नहीं हुआ। वे नित्य ही षोडशवर्षीय प्रतीत होते थे। वस्तुतः गोविन्दपाद कौन थे, इसका ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना असम्भव है।"

इस परम्पराप्राप्त विवरण से ज्ञात होता है--नर्मदा-तट-निवासी गोविन्दपाद एक महायोगी व्यक्ति था। पातञ्जल योगशास्त्र में सिद्धि प्राप्त करने के जिन उपायों का विवरण व संकेत दिया है, उनमें से एक साधन–रसप्रयोग–द्वारा गोविन्दपाद ने सिद्धि प्राप्त की थी।[2] यह विवरण उस गोविन्दपाद आचार्य का सर्वथा सम्भव है, जिसने रसहृदयतन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें सन्देह नहीं, वह इस विषय का अनुभवी आचार्य रहा होगा। पर वही व्यक्ति आचार्य शंकर का गुरु था, यह माना जाना सम्भव नहीं। कारण यह है—

शंकर का गुरु रसहृदयतन्त्रकार गोविन्द नहीं

(१) माधवाचार्य की रचना सर्वदर्शनसंग्रह के रसेश्वरदर्शन-प्रकरण में 'रसहृदयतन्त्र' नामक जिस ग्रन्थ के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है, उस दर्शन की मान्यताओं के साथ आचार्य शंकर का दर्शन मेल नहीं खाता। गौडपाद–गोविन्दपाद–शंकर इस आचार्यत्रयी ने जिन सिद्धान्तों का उपपादन किया है, उनको उसी रूप में न माननेवाला व्यक्ति इस आचार्यत्रयी में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता। गौडपाद और शंकर की रचनाएँ विद्यमान हैं; उनमें उपपादित अर्थों व सिद्धान्तों की समानता को उस विषय का प्रत्येक विद्वान् जानता है। उन दोनों के मध्य में ऐसा व्यक्ति नहीं समा सकता, जो उन सिद्धान्तों को उसी रूप में स्वीकार न करता हो। फलतः आचार्य शंकर का गुरु वह गोविन्दपाद नहीं माना जाना चाहिए, जो 'रसहृदयतन्त्र' नामक ग्रन्थ का रचयिता है, जिसमें भौतिक देह को अधिकाधिक पुष्ट व दिव्य बनाने के रासायनिक प्रयोगों का वर्णन है।

---

१. श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज कृत 'अच्युत' नाम से प्रकाशित हिन्दी शांकर-भाष्य की भूमिका, पृ० २०।

२. द्रष्टव्य—पात० यो० सू० ४।१; तथा इसका व्यासभाष्य एवं वाचस्पत्य [तत्त्ववैशारदी] जिसमें ओषधि एवं रसायन के उपयोग से देह के अजर-अमर होने, तथा अन्य अणिमादि सिद्धि प्राप्त होने का उल्लेख है। यहाँ वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि माण्डव्य मुनि ने रसायन द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी, जो विन्ध्य में निवास करता था।

(२) रसहृदयतन्त्र के प्रथम अवबोध का १५वाँ श्लोक है—

स्थिरदेहोऽभ्यासवशात् प्राप्य ज्ञानं गुणाष्टकोपेतम् ।
प्राप्नोति ब्रह्मपदं पुनर्भवावासदुःखे न ॥

रसायन आदि के प्रयोग द्वारा स्थिर [दृढ़ अथवा चिरस्थायी] देहवाला व्यक्ति अभ्यासवश अर्थात् निरन्तर उपासना आदि करने से सिद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मोक्ष-पद का लाभ कर पाता है, पुनर्जन्म व गर्भवास आदि के दुःख से छूट जाता है। आचार्य शंकर के मत से अखण्डज्ञान की प्राप्ति **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि महावाक्य से हो जाती है, उसके लिए अभ्यास अनावश्यक है। प्रस्तुत पद्य में ज्ञान होने का जो प्रकार बताया है, वैसा मत आचार्य ब्रह्मदत्त आदि का है। इसलिए रसहृदयतन्त्रकार गोविन्द, आचार्य शंकर का गुरु नहीं माना जाना चाहिए।

(३) रसहृदयतन्त्र के रचयिता गोविन्द भिक्षु ने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में स्वयं इस प्रकार दिया है—

शीतांशुवंशसंभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा ।
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्यः ॥७८॥

यस्य स्वयमवतीर्णा रसविद्या सकलमङ्गलाधारा ।
परमश्रेयसहेतुः श्रेयः परमेष्ठिनः पूर्वम् ॥७९॥

यस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रसकर्मनिरतः ।
रसहृदयाख्यं तन्त्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः ॥८०॥

चन्द्रवंशसम्भव हैहयकुल में जन्म लेने के कारण महान् गुणों से युक्त, किरात देशों का राजा रसाचार्य श्रीमदन विजय को प्राप्त हो। प्रथम ब्रह्मा ने जिस रसविद्या से कल्याण प्राप्त किया, वह समस्त मंगलों का आधार और परम श्रेयस का हेतु रसविद्या उस राजा को स्वयं अवतरित हो गई थी। उस किरात राजा से बहुत सम्मान प्राप्त कर, निरन्तर रस-क्रिया में रत रहनेवाले भिक्षु गोविन्द ने रसहृदय नामक तन्त्र की रचना की।

श्रीमदन नाम का किरात राजा नेपाल आदि पर्वतीय राजवंश का सम्भव है। भिक्षु गोविन्द का यह परिचय इसे आचार्य शंकर के गुरु माने जाने में बाधक है। आचार्य के गुरु गोविन्दपाद के विषय में कोई ऐसा संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिससे उसका 'रसकर्मनिरत' आदि होना प्रकट होता हो।

(४) डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय लिखित 'History of Hindu Chemistry' में उपर्युक्त अन्तिम पद्य के अनन्तर दो पद्य और निर्दिष्ट हैं—

नत्वा मङ्गलविष्णोः सुमनोविष्णोः सुतेन ग्रन्थोऽयम् ।
श्रीगोविन्देन कृतस्तथागतः श्रेयसे भूयात् ॥१॥
अष्टादशसंस्कारं रसेन्द्रदेवस्य दिव्यतनु दृष्ट्वा ।
लिखितमिदं पुण्यतमं रसहृदयमवाप्यते सकलम् ॥२॥

प्रथम पद्य के चतुर्थ चरण के आधार पर श्री प्रफुल्लचन्द्र राय ने गोविन्द भिक्षु को बौद्ध बताया है, यद्यपि ग्रन्थकार ने प्रस्तुत पद्य में मंगलमय विष्णु को नमस्कार किया है, अपने पिता का नाम सुमनोविष्णु लिखा है, तथा ग्रन्थ के आदि[1] में हर, हरि प्रभृति का उल्लेख उपलब्ध होता है; इससे उसके बौद्ध होने में सन्देह किया जा सकता है। परन्तु **'तथागतः श्रेयसे भूयात्'** इस स्पष्ट लेख से, तथा उस काल में बौद्ध एवं आर्य धर्म व संस्कृति के प्रति ग्रन्थकार की उदार भावना रहने से यह सम्भव है कि बौद्ध होते हुए भी उसने 'विष्णु' को नमस्कार किया। वैसे तो अनन्तर-काल में भगवान् बुद्ध को विष्णु अथवा विष्णु का अवतार पुराण-परम्परा में स्वीकार कर लिया गया है। इसमें किसी प्रकार के संशय का अवकाश नहीं कि रसहृदयतन्त्रकार गोविन्दभिक्षु के पर्याप्त पूर्वकाल से उक्त पुराण-परम्परा प्रवृत्त हो चुकी थी। जो हो, रसहृदयतन्त्रकार की यह परिस्थिति आचार्य शंकर का गुरु होने में अवश्य सन्देहजनक है।

सहस्रवर्ष का देह

रससिद्धयोगी गोविन्दपाद के विषय की यह स्थिति सन्दिग्ध प्रतीत होती है कि उसका भौतिक देह एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी सोलह वर्ष जैसा प्रतीत होता था। सम्भवतः इस कथन में अतिरञ्जन की मात्रा अधिक है। जनता की उत्सुकता ऐसे कथानकों के घड़ने में प्रायः देखी जाती है। मानव स्वभावतः किसी चमत्कार की ओर आकृष्ट रहता है। विचारने की बात है, यदि एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर वह देह सोलह वर्ष जैसा दिखाई देता था, तो अवश्य वह और भी हज़ार दो हज़ार वर्ष स्थिर रह सकता था। काश, आज का व्यक्ति उसके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर पाता! फलस्वरूप शंकर के गुरु गोविन्दपाद के विषय में यही कहना उपयुक्त है कि उसका ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना आज सम्भव नहीं।

गोविन्दपाद 'शङ्करदिग्विजय' में

माधवाचार्य ने अपनी रचना शङ्करदिग्विजय नामक ग्रन्थ के पाँचवें सर्ग में गोविन्दपादविषयक जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह विचारणीय है। भारत के मध्यकालिक लेखकों में ऐसा प्रचलन रहा है कि जिसके प्रति उनकी अनुकूल

१. द्रष्टव्य—'रसहृदयतन्त्र', श्लोक २, ७, १४ आदि।

भावना बनी रहती है, उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते हैं। अतिरञ्जन की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उसका वास्तविक तथ्य सर्वथा ओझल हो जाता है। उस वर्ण्य व्यक्ति को या तो किसी मूर्द्धन्य पूर्वाचार्य की आत्मा बताया जाता है, या फिर उसे शंकर, विष्णु, ब्रह्मा आदि का रूप बताकर उसका सीधा सम्पर्क परमात्मा के साथ जोड़ दिया जाता है। गोविन्दपाद भी इस लपेट में आने से बच नहीं सका; क्योंकि वह आचार्य शंकर का गुरु था, किसी देवात्मा के अनुरूप कैसे न होता?

शंकरदिग्विजय के इस प्रसंग में माधवाचार्य ने गोविन्दपाद को शेषनाग तथा तद्रूप पतञ्जलि का आत्मा बताया है। शेषनाग सहस्रफणयुक्त देह में अपने शिष्यों को व्याकरण-महाभाष्य पढ़ाते थे, गुरु और शिष्यों के बीच गहरा पर्दा पड़ा रहता था। एक बार पर्दा हटने से शिष्य भयभीत हो गये, तब मानवदेह में पतञ्जलिरूप से अध्यापन कराते थे। वही पतञ्जलि का आत्मा गोविन्दपाद है।[1]

आगे लिखा है— गोविन्दपाद आचार्य गौडपाद के शिष्य हैं, गौडपाद ने समस्त ब्रह्मज्ञान-विषयक शास्त्र का अध्ययन व्यासपुत्र शुकदेव से किया।[2]

माधवाचार्य के इस कथन की ऐतिहासिकता कहाँ तक सम्भव है, विचारणीय है। यह 'पतञ्जलि' नाम बड़ा विवादास्पद है, इसका उपयुक्त विवेचन 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ[3] में हमने किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि को आदिशेष अथवा शेषनाग का अवतार माना जाता है, या यों कहना चाहिए कि शेषनाग, पतञ्जलि के रूप में प्रकट हुआ।

पतञ्जलि, शेषनाग

यह शेषनाग अथवा आदिशेष कौन है? ज्ञातव्य है। पौराणिक कल्पना के अनुसार समझा जाता है—यह सहस्रफणोंवाला नाग-सर्प है जिसने अपने फण पर पृथिवी को धारण किया हुआ है। वही शिवजी के हाथ का आभूषण-कंगन तथा विष्णु के लेटने की शय्या है। इसी रूप में उसने महाभाष्य का प्रवचन किया।

क्या कोई विचारशील व्यक्ति आज इस कहानी को इसी रूप में स्वीकार कर सकेगा? पर आज न केवल साधारण जन, अपितु अधीतशास्त्र व्यक्ति भी बिना कुछ सोचे-विचारे अविकल रूप में इस बात को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह ज्ञान-अज्ञान का नहीं, केवल श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा प्रायः अन्धी होती है, वह सत्य-

---

१. द्रष्टव्य—शंकरदिग्विजय, माधवाचार्यकृत, ५।९४–९६॥
२. वही ग्रन्थ, ५।९७॥
३. अध्याय ८, पृ० ५१२–२३॥

असत्य, यथार्थ-अयथार्थ को जानने-समझने की अपेक्षा नहीं रखती। इसी कारण श्रद्धालु जन इसपर विश्वास कर सकते हैं कि सर्पाकृति देह में फण या फणों के द्वारा महाभाष्य का प्रवचन तथा अध्यापन हो सकता था। जिन वर्णों का उच्चारण केवल व्यक्तवाक् मानव के मुखाङ्गों द्वारा हो सकता है, क्या वे अंग व स्थान सर्प-देह में सम्भव हैं ? इसको विचारने की कोई आवश्यकता वे लोग नहीं समझते। यह भी नहीं सोचते कि मानव पतञ्जलि के रूप में शेषनाग जब महाभाष्य का अध्ययन कराते थे, तब पृथिवी किसके ऊपर टिकी हुई थी।

माधवाचार्य ने 'शंकर दिग्विजय' में यहाँ तक लिखा है कि गोविन्दपाद पृथिवी के विवर में प्रवेश कर पतञ्जलि-रूप शेषनाग के पास व्याकरणभाष्य का अध्ययन करने के लिए पाताल में पहुँचे थे। इन वहमों का भला कोई इलाज हो सकता है ?

आज प्रत्येक विचारक इस तथ्य को जानता है कि पृथिवी किसी नाग के फण पर धारित नहीं है। प्राचीन काल में भी विद्वत्समाज इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं था। पर आश्चर्य तो यह है कि इस तथ्य को जानते हुए—आज का तथा-कथित विद्वान् उसी लकीर का फकीर बना हुआ है, उसी की रट लगाता रहता है। इसे अन्धी श्रद्धा के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

शेषनाग [आदिशेष] कौन था

मानवसमाज की स्थिति और उसका इतिहास बतलाते हैं—आदिशेष अथवा शेषनाग एक व्यक्ति था, जो किसी प्राचीनकाल में प्रसिद्ध नागवंश का नेता रहा होगा। उसके लिए भारतीय उपलब्ध साहित्य में **'फणिभृद्भर्त्ता'** **'अहिपति'** आदि पदों का प्रयोग देखा जाता है।[2] संस्कृत-साहित्य में यह परम्परा निर्बाध रूप से बराबर रही है कि न केवल साधारण सामान्यवाचक पदों के लिए, अपितु व्यक्तिवाचक नाम-पदों के लिए भी उनके पर्याय-पदों का प्रयोग कर दिया जाता है। मानव-समाज में 'नाग' एक वंश है, जो आर्यवंश का एक अंग अथवा एक शाखा है। किसी अज्ञात कारण से आर्यों के उस वंश का यह नाम रख दिया गया। संस्कृत में **'नाग'** सर्प को भी कहते हैं। परम्परानुगत पर्याय-पदों के प्रयोग ने कालान्तर में इन पदों के विशिष्टार्थक प्रयोग को भुला दिया, और एक नया झमेला खड़ा हो गया। जो **'शेष'** नामक व्यक्ति नागवंश का नेता था, वह एक साधारण साँप बना दिया गया, और उसके अनुरूप न जाने कितनी

१. सर्ग ५, श्लोक ९६।।

२. द्रष्टव्य—योगसूत्र-भोजवृत्ति, प्रारम्भिक श्लोक ५।। चरकसंहिता की चक्रपाणिकृत टीका का प्रारम्भिक पद्य **'मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः'** इत्यादि।

नानी की कहानियाँ घड़ ली गईं। अविचारशील श्रद्धालु समाज पर आज उसी का साम्राज्य है।

नागवंश का नेता : शेष

नागवंश का नेता **'शेष'** अथवा **'आदिशेष'** हमारे समान मानवाकृति पुरुष था। नागवंश के सब प्रकार के सम्बन्ध अन्य आर्यवंशों के साथ भारत में पर्याप्त प्राचीनकाल से बराबर रहे हैं; इनके उल्लेख महाभारत[1] आदि इतिहासग्रन्थों में उपलब्ध हैं। ये लोग वेद-वेदांगों का अध्ययन तथा यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान अन्य आर्यवंशों के समान बराबर करते थे। वह नागवंशीय **'शेष'** अपने समय में संस्कृत-व्याकरण आदि का मूर्द्धन्य विद्वान् रहा होगा। उसके द्वारा रचित संस्कृत के एक कोष-ग्रन्थ का पता लगता है।[2] इससे उसके व्याकरणादि शास्त्रविषयक गम्भीर ज्ञान का अनुमान होता है।

पतञ्जलि 'शेष' का अवतार

जैसा कि अभी ऊपर की पंक्तियों में लिखा गया—अनन्तर-काल में होने वाले उस विषय के विशेषज्ञों को पूर्वाचार्यों का रूप अथवा अवतार मान लिया जाता रहा है; सम्भवतः महाभाष्यकार पतञ्जलि को अपने काल में व्याकरणादि शास्त्रों का विशेषज्ञ होने से आदिशेष का रूप अथवा अवतार मान लिया गया। यह जान सकना आज सम्भव नहीं कि पतञ्जलि स्वयं नागवंश का व्यक्ति था अथवा आर्यवंश का; अधिक सम्भावना यही होती है कि वह आर्यवंश का व्यक्ति रहा होगा। व्याकरणादि शास्त्रों का विशेषज्ञ होने के कारण उसको **'शेषनाग'** का रूप अथवा अवतार मानने की कल्पना में निहित वह भावना स्पष्ट होती है कि उस काल में नागवंश के सम्बन्ध परस्पर मान्यता व सहानुभूतिपूर्ण थे।

पतञ्जलि के साथ **'मुनि'** पद का प्रयोग प्रायः समस्त साहित्य में देखा जाता है। मुनि, मननशील को कहते हैं, एक स्वतन्त्रविचारक व्यक्ति, दूसरे की बनाई लीक पर न चलनेवाला, प्रत्युत स्वयं लीक का बनानेवाला। पतञ्जलि ऐसा ही व्यक्ति था।

गोविन्दपाद को पतञ्जलि का रूप अथवा अवतार कल्पना किया गया है।

१. अर्जुन का विवाह एक नाग-महिला से, म० भा०, भीष्म० अ० ९०॥ पिता कश्यप और कद्रू माता के पुत्र नहुष तथा तक्षक सगे भाई थे, म० भा०, आदि० ३५।५, ९॥ आयु और स्वर्भानुकुमारी का पुत्र नहुष अन्य था, जो राजा ययाति का पिता था, म० भा० आदि १।२२९; तथा ७५।२५॥

२. हेमचन्द्र के कोष में 'शेष' के नाम से उद्धृत शतशः वाक्य उपलब्ध होते हैं, जो उसके किसी कोषग्रन्थ की रचना का अनुमान कराते हैं।

यह सब उनके समान गुणों–विद्वत्ता आदि पर अवलम्बित है। अन्यथा कौन किसके कान में कह गया कि शेषनाग की उसी एक आत्मा ने पतञ्जलि और गोविन्दपाद के विभिन्नकालिक देहों में जन्म लिया ? जैसे तिब्बती जनता के विचारानुसार गौतमबुद्ध की आत्मा परम्परा से तिब्बत के **'दलाईलामा'** देहों में चलती चली आ रही है। यह केवल श्रद्धामूलक अज्ञान के साम्राज्य की एक विडम्बना मानी जा सकती है।

गोविन्द-शङ्कर वार्त्तालाप

शंकरदिग्विजय[1] में आगे गोविन्दपाद और शंकर के वार्त्तालाप का उल्लेख है। गोविन्दपाद ने शंकर से पूछा—तुम कौन हो ? यह एक स्थानिक व्यक्ति का नये आगन्तुक के प्रति साधारण तथा स्वाभाविक प्रश्न है, जिसके उत्तर में शंकर को अपना नाम-परिचय तथा आने का प्रयोजन आदि साधारण रीति पर बताना चाहिए था; परन्तु ग्रन्थकार ने शंकर के मुख से जो उत्तर प्रस्तुत कराया है, उसमें अपने भावी गुरु के प्रति शिष्य के विनय एवं सोम्यभाव का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। उसमें उच्छृङ्खलता तथा कथन की रीति में छलपूर्ण भावना एवं गुरु के प्रति अवहेलना स्पष्ट झलकती है। शंकर का उत्तर है—न मैं पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश हूँ, और न उनका गुण हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ; इनसे अतिरिक्त बचा जो केवल परम तत्त्व है, वही शिव मैं हूँ।[2]

कहने को कहा जा सकता है कि गुरु ने शिष्य की परीक्षा के लिए ऐसा प्रश्न किया, और शिष्य ने समझकर उत्तर दिया। वैसे तो दोनों ने एक-दूसरे को समाधिदृष्टि से पहले ही जान लिया होगा।

इस प्रश्नोत्तर के विषय का ऐसा समाधान प्रकट करता है कि समाधाता मिथ्या श्रद्धा से आमूलचूल अभिभूत है। गुरु-शिष्य का आरम्भिक ऐसा वार्त्तालाप प्राचीन भारतीय संस्कृति में कहीं देखा नहीं जाता। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय के प्रारम्भ में गुरु-शिष्य का कुछ ऐसा ही एक संवाद वर्णित है। नारद गुरु सनत्कुमार के पास पहुँचता है, यह कहता हुआ—'भगवन् ! मैं आपके पास अध्ययन करने के लिए आया हूँ।' गुरु सनत्कुमार ने पूछा—'जो तुमने अभी तक पढ़ा है वह बताओ, उसके आगे मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा।' नारद ने सब वेदादि शास्त्र तथा अन्य अनेक विद्यासंस्थानों का उल्लेख किया, जिनका अध्ययन वह कर चुका

---

१. सर्ग ५। श्लो० ९८-९९॥

२. **स्वामिन्नहं न पृथिवी न जलं न तेजो,**
न स्पर्शनो न गगनं न च तद्गुणा वा।
नापीन्द्रियाण्यपि तु विद्धि ततोऽवशिष्टो,
यः केवलोऽस्ति परमः स शिवोऽहमस्मि ॥९९॥

था, पर साथ ही अतिविनयभाव से कहा—'महाराज ! मुझे इनका केवल अक्षर-ज्ञान है; इनके परमलक्ष्य आत्मतत्त्व को मैं नहीं समझ सका हूँ। उसकी जिज्ञासा है।' तुलना कीजिए, दोनों में कितना अन्तर है ! नारद के कथन में सोम्य तथा विनयभाव ओत-प्रोत है।

यह सब कहने का हमारा केवल इतना तात्पर्य है कि माधव का यह शंकर-दिग्विजय ग्रन्थ कोई इतिहास का ग्रन्थ नहीं है; इसे उत्तम काव्यग्रन्थ अवश्य कहा जा सकता है। अच्छी परख के साथ कुछ अंश इतिहास की विचार-छलनी में अवश्य छाने जा सकते हैं। हमारा विश्वास है, आर्यसंस्कृति के वैदिक ब्राह्मण-परिवार का एक सुसंस्कृत शिक्षार्थी-बालक गुरु के प्रश्न का कभी ऐसा उत्तर नहीं दे सकता, जो ग्रन्थकार ने शंकर के मुख से दिलाया है। यह केवल ग्रन्थकार की कल्पना है, जो प्रकट करती है कि ग्रन्थकार शंकर के प्रति अतीव श्रद्धालु है, और उसके विचारों व सिद्धान्तों से पूर्णरूप में अभिभूत है।

इस विवरण से गोविन्दपाद के विषय में इतना तथ्य ज्ञात होता है कि उसने व्याकरणादि शास्त्र का अध्ययन[1] शेषनागस्वरूप पतञ्जलि से तथा वेदान्त आदि का अध्ययन गौडपाद से किया। यह भी ज्ञात होता है कि 'रसहृदय' नामक ग्रन्थ का रचयिता रसायनशास्त्री रससिद्ध देहवाला गोविन्दपाद, आचार्य शंकर का गुरु नहीं था।

शंकर का गोविन्द से सम्पर्क—परीक्षा के लिए यदि इस बात को स्वीकार किया जाय कि रसायनशास्त्री गोविन्दपाद का देह सहस्र वर्ष अथवा और अधिक समय तक जीवित रहा, तो इस बात की परख करना अति कठिन होगा कि जीवन के किस भाग में गोविन्दपाद का शंकर से सम्पर्क हुआ ? गोविन्दपाद ने अपनी आयु के प्रारम्भिक भागों में गौडपाद से वेदान्त आदि का अध्ययन किया होगा। क्या गोविन्दपाद के साथ शंकर का सम्पर्क होने के समय गौडपाद जीवित था ?[2]

नर्मदातीर पर गोविन्दपाद का निवास तथा एक सहस्र वर्ष उस समय तक जीवित रहने का कथन यह प्रकट करता है कि यह बात गोविन्दपाद का शंकर के साथ सम्पर्क होनेके समय की होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गोविन्द-पाद की आयु उस समय एक सहस्र वर्ष के लगभग थी, जब शंकर का उससे सम्पर्क हुआ। गौडपाद से अध्ययन करने के अनन्तर इतने दीर्घकाल तक क्या गोविन्दपाद ने अन्य किसी को अध्ययन आदि न कराया होगा ? यह एक अनोखी बातलगती है कि इतने लम्बे समय में गोविन्दपाद ने कुछ भी अध्यापन आदि कार्य

१. शंकरदिग्विजय, सर्ग ५, श्लो० ९३, १०५, १०६॥
२. शंकर के तथाकथित काल [आठवीं-नौवीं ख्रीस्ट शती] में गौडपाद जीवित न था, यह अगली पंक्तियों में स्पष्ट किया है।

न किया हो। ऐसा करने का किसी तरह के साहित्य में कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। इससे दो परिणाम सामने आते हैं— एक यह कि रसायनशास्त्री गोविन्द-पाद शंकर का गुरु नहीं था; दूसरा यह कि उसकी आयु को इतना लम्बा बताना कल्पनामात्र है।

शंकरकाल में गौडपाद—यह भी विचारणीय है कि शंकर के समय तक आचार्य गौडपाद जीवित था, या नहीं? यदि जीवित था, तो उसकी भी आयु सहस्र वर्ष से अधिक मानी जानी चाहिए; फिर देह को इतने समय तक अविकृत रखने की सिद्धि उसको रसायन द्वारा प्राप्त हुई थी, अथवा अन्य किसी साधन से? यदि जीवित नहीं रहा, तो इस परम्परा में शंकराचार्य के तथाकथित काल तक अन्तरालवर्त्ती अन्य अज्ञात आचार्यों की कल्पना करनी होगी, जिससे परम्परा की अविच्छिन्नता सम्भव हो सके। नागार्जुन आदि के ग्रन्थों में गौडपादीयकारिका के अंश उपलब्ध होने से[1] यह निश्चित है कि गौडपाद का काल तथाकथित शंकर-काल [आठवी-नौवीं ख्रीस्ट शती] के समीप नहीं माना जा सकता। यह सब विवेचन काकदन्तपरीक्षा के समान नहीं है। इसके बिना तथ्यात्मक इतिहास का शोधन सम्भव न होगा।

राजवाड़े-कथा प्रसंग—श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं,[2] "राजवाड़े-कथा नामक ग्रन्थ में लिखा है—जिनसेन, गुणभद्र और शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समकालीन थे। इस ग्रन्थ के अनुसार जिनसेन का छात्र गुणभद्र था और उसका छात्र गोविन्दपाद। भट्टारक गोविन्दपुत्र हस्तिमल्ल ने स्वरचित 'विक्रान्तकौरव' नामक नाटक के अन्त की कविप्रशस्ति में लिखा है—गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गुणभद्र की शिष्य-परम्परा में गोविन्द अन्यतम था। यह गोविन्द पृथक् आचार्य का नाम था। इसमें सन्देह नहीं कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में अर्थात् ७८३ ई० सन् में हरिवंश बनाया था। इस ग्रन्थ में लिखा है

---

१. तुलना करें—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदाम्वरम्॥ [गौ० का ४।१]
य. प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदताम्वरम्॥
[नागार्जुनीय, मा० का० प्रारम्भिक भाग]

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ [गौ० का० २।३१]
यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम्॥ [मा० का०, ७।५७२]

२. द्रष्टव्य—अच्युत, पृ० २० की टिप्पणी।

कि ये तीनों आचार्य धारापति भोज के सभा-पण्डित थे। परन्तु यह लेख प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसिद्ध राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। कोई-कोई समझते हैं कि ये भोज धारापति प्रसिद्ध भोज नहीं हैं, अपितु कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय कोई राजा हैं, इत्यादि (द्रष्टव्य—Proceedings of Third Oriental Conference, P. 224)। प्रभावकचरित में लिखा है कि बप्पभट्टि, गोविन्द प्रभृति समकालीन थे। ८३९ ख़ीस्टाब्द में बप्पभट्टि के मरण के अनन्तर गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। बप्पभट्टि का जन्मकाल ७४४ ख़ीस्ट है। यह गोविन्द लोकोत्तर पण्डित थे, यह बप्पभट्टि के वचन से भी प्रतीत होता है। बप्पभट्टि ने वाक्पति के पाण्डित्य की प्रशंसा विशेषरूप से की है।"

इस सन्दर्भ में पाठकों का ध्यान हम केवल गोविन्दपादविषयक विवरण की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। राजवाड़े-कथा नामक ग्रन्थ में जिनसेन, गुणभद्र और शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद को समकालीन बताया है। इनमें जिनसेन का शिष्य गुणभद्र, और गुणभद्र का शिष्य गोविन्दपाद था, इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए गोविन्द-पुत्र हस्तिमल्ल के 'विक्रान्तकौरव' नामक नाटक के अन्त में दी गई कविप्रशस्ति को प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया है। राजवाड़े-कथा और विक्रान्त-कौरव का इस विषय का लेख दोनों समान हैं। किसने किसका अनुसरण किया है, यह कालक्रम की जानकारी से स्पष्ट हो जाता है। ध्यान दीजिए।

विक्रान्तकौरव नामक नाटक का रचयिता गोविन्दपुत्र हस्तिमल्ल है। यहाँ हस्तिमल्ल नाटककर्त्ता का और गोविन्द उसके पिता का नाम है। यह गोविन्द कौन है? डॉ० कविराज के उक्त सन्दर्भ में स्पष्ट नहीं किया गया। प्रतीत होता है—यह गोविन्द वही व्यक्ति है, जो जिनसेन के शिष्य गुणभद्र का शिष्य, नाटक में बताया गया है। यदि यह सत्य है, तो निश्चित ही अपने पिता और उसके समकालीन आचार्यों के विषय में उसका लेख प्रामाणिक माना जाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है, नाटककर्त्ता हस्तिमल्ल के पिता गोविन्द का गुरु गुणभद्र था और गुणभद्र का गुरु जिनसेन। ये तीनों युवा-वृद्ध रूप में समकालीन हो सकते हैं। उक्त नाटक की रचना इन आचार्यों के समय में अथवा उसके आसपास हुई। **'राजवाड़े-कथा'** नामक ग्रन्थ निश्चित उक्त नाटक से परवर्त्ती-काल की रचना है। अतः पूर्वोक्त तीनों आचार्यों के विषय का विवरण राजवाड़े-कथा में नाटक के आधार पर उसी के अनुसार दिया गया ज्ञात होता है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है—हस्तिमल्ल ने नाटकवर्णित कविप्रशस्ति में अपने पिता गोविन्द को शंकराचार्य का गुरु नहीं बताया। सम्भवतः इसी कारण डॉ० कविराज ने उक्त सन्दर्भ में नाटकविषयक विवरण देकर लिखा है—'यह गोविन्द पृथक् आचार्य का नाम था।' इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद से यह हस्तिमल्ल का पिता गोविन्द पृथक् आचार्य

था। न मालूम किन भ्रान्तियों के कारण **'राजवाड़े-कथा'**[1] के लेखक ने इस गोविन्द को शंकराचार्य का गुरु लिख दिया है।

शंकराचार्यसम्बन्धी प्राचीन साहित्य में उसके गुरु गोविन्दपादविषयक जो अस्पष्ट लेख अथवा संकेत उपलब्ध होते हैं, उसके अनुसार गोविन्दपाद के गुरु का नाम गौडपाद तथा आदिशेषरूप पतञ्जलि ज्ञात होता है। गुरु के रूप में गुणभद्र का संकेत तक कहीं उपलब्ध नहीं होता। प्रभावकचरित में जिस गोविन्द का विवरण दिया गया है, उसे शंकराचार्य का गुरु नहीं बताया गया। विक्रान्त-कौरव तथा प्रभावकचरित इन दोनों रचनाओं में वर्णित गोविन्द, शंकराचार्य का गुरु नहीं था, यह निश्चित है।

गौडपाद—गोविन्दपाद का गुरु आचार्य गौडपाद था, यह साम्प्रदायिक ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात होता है। आचार्यस्तव तथा शंकरदिग्विजय[2] आदि के लेख इसमें प्रमाण हैं।

आचार्य गौडपाद की एक महत्त्वपूर्ण रचना माण्डूक्योपनिषद् पर 'माण्डूक्य-कारिका' नाम से प्रसिद्ध है। यह कलेवर की दृष्टि से लघुकाय होने पर भी सिद्धान्त एवं अर्थगाम्भीर्य के कारण वेदान्त-साहित्य में अपना मूर्द्धन्य स्थान रखती है। ये कारिकाएँ जिस उपनिषद् के व्याख्यारूप में लिखी गई हैं, उसका परिणाम अतिक्षुद्र है। उसमें केवल १२ कण्डिका हैं। फिर भी प्राचीन व प्रामाणिक ग्यारह उपनिषदों में इसका विशिष्ट स्थान है। इसपर आचार्य गौडपाद द्वारा लिखी गई कारिकाओं की संख्या २१५ है, जो चार प्रकरणों में विभक्त की गई हैं। प्रकरणानुसार कारिकाओं की संख्या इस प्रकार है—

प्रकरण-नाम	**कारिका-संख्या**
आगम प्रकरण	२९
वैतथ्य प्रकरण	३८
अद्वैत प्रकरण	४८
अलातशान्ति प्रकरण	१००
	२१५ योग

माण्डूक्यकारिका-विवरण—उपनिषद् की १२ कण्डिकाओं की साक्षात् अक्षरानुकारी व्याख्या प्रथम प्रकरण में पूरी कर दी गई है। कलेवर में अति अल्प होते हुए यह उपनिषद् परब्रह्म परमात्मा के मुख्य नाम **'ओम्'** का शास्त्रीय

१. यह ग्रन्थ खोजने पर भी हमें प्राप्त नहीं हो सका।

२. **'व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्'** 'आचार्यस्तव' का श्लोकांश। शंकरदिग्विजय, सर्ग ५, श्लोक ९७।१०५॥

विवरण प्रस्तुत करती है। समस्त[1] उपनिषदों में इस नाम की महिमा का उल्लेख हुआ है। वेदान्त का प्रधान उपपाद्य ब्रह्मतत्त्व है; उसके साक्षात्कार के लिए मूल साधनभूत ओंकार का वर्णन इस उपनिषद् में हुआ है, इस कारण इसका महत्त्व सर्वोपरि है। आचार्य गौडपाद ने अपनी भावनाओं व मान्यताओं को अभिव्यक्त करने के लिए सम्भवतः इसी कारण प्रस्तुत उपनिषद् को चुना। गौडपाद की ये कारिकाएँ उन वेदान्तविषयक सिद्धान्तों के लिए मूलभूत आधार हैं, जो आज विद्वत्समाज में शांकरवेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपनिषद् के समस्त १२ सन्दर्भों की साधारण-सीधी व्याख्या प्रथम आगम-प्रकरण में आ गई है। पहले छह सन्दर्भों की व्याख्या नौ कारिकाओं में है। सातवें सन्दर्भ की व्याख्या आगे नौ कारिकाओं में की है। इस प्रकार प्रथम सात सन्दर्भों की व्याख्या अठारह कारिकाओं में की गई है। इसके आगे आठ से ग्यारह तक चार सन्दर्भों की व्याख्या पाँच कारिकाओं द्वारा प्रस्तुत हुई है। अन्तिम बारहवें सन्दर्भ की व्याख्या के लिए इस प्रकरण की अन्तिम छह कारिकाएँ लिखी गई हैं। इस प्रकार प्रथम आगम प्रकरण की समस्त २९ कारिकाओं का सन्निवेश उपनिषद् के बारह सन्दर्भों के अन्तराल में व्याख्यानुसार कर दिया गया है। शेष तीन प्रकरणों की कारिकाएँ उन सिद्धान्तों के उपपादन में लिखी गई हैं, जो आचार्य ने मूल उपनिषद् से समझे।

पहला आगमप्रकरण है, इसमें आगम अर्थात् मूल उपनिषद् के सन्दर्भों का व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। इसमें ओङ्कार के स्वरूप का निर्णय है, जो आत्मज्ञान के लिए प्रधान उपाय है। दूसरा वैतथ्यप्रकरण है। जिस द्वैतप्रपंच के शान्त हो जाने पर अद्वैतज्ञान का उद्भावन होता है, जैसे रज्जु में सर्प आदि विकल्पों के शान्त हो जाने पर रज्जुतत्त्व का बोध हो जाता है, उस द्वैत का हेतुओं द्वारा वैतथ्य = मिथ्यात्व प्रतिपादन करने के लिए यह दूसरा प्रकरण है। तीसरा अद्वैतप्रकरण है। जिस प्रक्रिया से द्वैत का मिथ्यात्व प्रतिपादन किया जाता है, वह प्रक्रिया अद्वैत के मिथ्यात्व के लिए भी लागू होती है; युक्तिपूर्वक अद्वैत की यथार्थता को प्रकट करने के लिए यह तीसरा प्रकरण है। चौथे अलात-शान्तिप्रकरण में अद्वैत के प्रतिपक्षभूत अन्य वादों का निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

---

१. **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** [छा० १।१।१], **'ओंकार एवेदं सर्वम्'** [माण्डू० १] **'ओमिति ब्रह्म'** [तै० १।८।१]
'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।' [कठ० १।२।१५]
'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।' [मुण्डक० २।२।४]
'तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति।' [प्रश्न० ५।७]

अपनी रचनाओं में आचार्य शंकर ने जिस प्रकार से अपने गुरु के नाम का सर्वत्र स्पष्ट परिचय दिया है, उस प्रकार से आचार्य गौडपाद ने अपनी रचना में कहीं अपने गुरु के नाम का संकेत तक नहीं किया। इसके कारण के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सम्भव नहीं कि उसका कोई गुरु न रहा हो।

'द्राविड' सम्प्रदाय नहीं--कतिपय आधुनिक[1] विद्वानों ने गौडपाद के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है। सुरेश्वराचार्य ने अपनी एक रचना नैष्कर्म्यसिद्धि [४।४१–४४] में गौडपाद की कतिपय कारिकाएँ[2] तथा आचार्य शंकर के उपदेशसाहस्री ग्रन्थ से एक श्लोक[3] उद्धृत कर लिखा है— **'एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रकाशितः।'** सुरेश्वराचार्य ने अपने अभिमत प्रतिपाद्य अर्थ में प्रमाणभूत प्राचीन वाक्यों को उद्धृत कर बताया कि इस प्रकार हमारे पूज्य गौड और द्राविड आचार्यों ने यह अर्थ प्रकाशित कर दिया है।

पर आधुनिक तथाकथित विवेचकों ने सुरेश्वर-श्लोक के 'नः' इस षष्ठयन्त पद को 'न' इस रूप में निषेधार्थक अव्यय समझकर अर्थ किया कि उक्त उद्धृत श्लोकों में प्रतिपादित अर्थ द्रविड-सम्प्रदाय को मान्य नहीं है [द्राविडैर्न]। तब श्लोक के **'गौडैः'** पद से यह अभिप्राय निकाला कि गौडपाद अर्थात् इस नाम के सम्प्रदाय को वह अर्थ मान्य है। उनका तात्पर्य यह है, जब **'द्राविडैः'** पद किसी द्रविड़-सम्प्रदाय का बोधक है, तो दूसरा **'गौडैः'** पद भी किसी गौड अथवा गौड-पाद-सम्प्रदाय का वाचक होना चाहिए।

स्पष्ट है, आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा से अभिभूत विवेचकों द्वारा प्रस्तुत विवेचन-प्रक्रिया की यह एक विडम्बना है। सुरेश्वराचार्य **'गौडैः'** पद से गौडपादाचार्य तथा **'द्राविडैः'** पद से शंकराचार्य का निर्देश कर रहा है, उन्हें अपना पूज्य बता रहा है। उन्हीं के सन्दर्भ प्रथम उद्धृत किए गए हैं। यहाँ किसी सम्प्रदाय का निर्देश नहीं है। ये दोनों पद दो विशिष्ट व्यक्तियों के लिए निर्दिष्ट हैं, जिनके

---

१. द्रष्टव्य—अच्युत, पृ० २१, २२ की टिप्पणी।

२. गौडपादकारिका के आगम प्रकरण की निम्नलिखित ११वीं तथा १५वीं दो कारिकाएँ उद्धृत हैं—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्धचतः ॥११॥
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

३. शङ्कराचार्यकृत उपदेशसाहस्री का निम्न श्लोक उद्धृत है—

सुषुप्ताख्यं तमोज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः।
आत्मबोधप्रदग्धं स्याद् बीजं दग्धं यथाभवम् ॥१७।२६॥

ग्रन्थों से उक्त प्रमाणों का उल्लेख हुआ है। फलतः गौडपाद के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में इस प्रकार के सन्देह प्रकट करना सर्वथा निराधार है।

गौडपाद की अन्य रचना—ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा उत्तरगीता[1] पर भी गौडपाद के व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु वह गौडपाद माण्डूक्य-कारिकाकार से सर्वथा भिन्न है, यह अनेक प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है। अन्यत्र[2] हमने इसका यथासम्भव उपपादन किया है। सांख्यकारिका तथा उत्तर-गीता का व्याख्याकार गौडपाद अभिन्न व्यक्ति है, अथवा भिन्न हैं, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, न इसके निश्चय का यह अवसर है।

गौडपाद पतञ्जलि का शिष्य

अभी पहले ऊपर की पंक्तियों में कहा गया—आचार्य गौडपाद ने अपनी रचना में कहीं अपने गुरु के नाम का संकेत नहीं किया है। परन्तु इस विषय में मध्यकालिक लेखकों ने कुछ बातें लिखी हैं, जिनके आधार पर श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज का लेख है—

"रामभद्र[3] दीक्षित के पतञ्जलिचरित नामक ग्रन्थ में लिखा है—आचार्य गौडपाद भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। प्रसिद्ध है कि पतञ्जलि पर्दा के आड़ से बहुत-से शिष्यों को महाभाष्य पढ़ाते थे। किसी समय शिष्यों ने उत्सुक होकर पर्दे के छिद्र से देखा कि स्वयं आदिशेष सहस्र मस्तक और सहस्र जिह्वाएँ धारण किये वहाँ विराजमान हैं। शिष्यों के ऐसे व्यवहार से शेषरूपी पतञ्जलि की क्रोधाग्नि प्रदीप्त हुई और उससे सब शिष्य दग्ध हो गए। परन्तु शिष्य-मण्डली

---

१. कतिपय विद्वानों का कहना है—महाभारत के आश्वमेधिक पर्वान्तर्गत अनुगीता का प्रारम्भिक [अ० १६-१६] भाग 'उत्तरगीता' है; इससे आगे कुछ अध्याय 'ब्राह्मणगीता' कहे जाते हैं। अनन्तर ६१ अध्याय तक अनु-गीता पर्व है। परन्तु लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' के ३२१ पृ० पर [सन् १६२८ ई० का षष्ठ संकरण, 'संन्यास और कर्मयोग' प्रसंग] उत्तरगीता का एक श्लोक दिया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

यह श्लोक महाभारत के उक्त प्रसंग में उपलब्ध नहीं है। लोकमान्य तिलक ने उसी पृष्ठ पर टिप्पणी की है—"वेदान्तसूत्र के शांकर भाष्य में यह श्लोक नहीं है। परन्तु सनत्सुजातीय के भाष्य में आचार्य ने इसे लिया है; और वहाँ कहा है कि यह लिंगपुराण का श्लोक है।"

२. सांख्यदर्शन का इतिहास, गौडपाद प्रसंग, पृ० ४०५-०६॥

३. द्रष्टव्य—अच्युत, पृ० २२।

में से एक शिष्य पहले ही बाहर चला गया था। उसने इस समय आकर क्षमा-प्रार्थना की। इस शिष्य का नाम गौडपाद था। पतञ्जलि ने उसे ब्रह्मराक्षस होने का शाप दिया, परन्तु साथ ही यह भी कहा कि यदि किसी समय अच्छा शिष्य मिल जाएगा, तो तुम्हारी शापनिवृत्ति हो जाएगी। इसके बाद यह शिष्य ब्रह्मराक्षस होकर लोगों से पूछता था—**'पच्'** धातु के निष्ठा का रूप क्या है? प्राय: सभी लोग उत्तर देते थे—**'पचितम्'** होता है; किसी के मुँह से शुद्धरूप **'पक्वम्'** निकला ही नहीं। जिसका उत्तर अशुद्ध होता था उसको ब्रह्मराक्षस उसी समय खा जाता था। बहुत दिनों के बाद एक शिष्य से ठीक उत्तर मिला, यह उज्जैन का एक ब्राह्मण था; इसका नाम चन्द्र था।"

इस सन्दर्भ के आधार पर निम्नलिखित परिणाम सन्मुख आते हैं—

१—गौडपाद, व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का शिष्य था।

२—पतञ्जलि का पर्दे की आड़ से शिष्यों को पढ़ाना।

३—कभी उत्सुकतावश शिष्यों द्वारा पर्दे के छेद से सहस्रफणयुक्त आदि-शेष के रूप में पतञ्जलि को देखना।

४—इस उद्दण्ड व्यवहार से पतञ्जलि की क्रोधाग्नि द्वारा शिष्यों का दग्ध हो जाना।

५—बाहर गए शिष्य गौडपाद के द्वारा अपने साथियों की उद्दण्डता-अपराध के लिए गुरु से क्षमा-प्रार्थना करने पर गुरु के द्वारा उसे ब्रह्मराक्षस होने का शाप दे देना।

६—योग्य शिष्य मिलने पर गौडपाद का शापमुक्त हो जाना।

इस प्रसंग में संख्या २ से ५ तक का विषय सब कल्पनामात्र है। पतञ्जलि सहस्रफणयुक्त सर्परूप थे, यह सर्वथा मिथ्या कल्पना है। अभी पिछले पृष्ठों में इस विषय का विवेचन किया गया है। यह कहानी किन कारणों से घड़ी गई होगी, इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है। सम्भव है, यह भावना पतञ्जलि के अतिक्रोधी होने के कारण उभरी हो, अथवा शिष्यों के प्रति उनका सदा अति कठोर व्यवहार रहता हो, इस कारण उन्हें सहस्र मुख से फुफकारनेवाला शेष-नाग बना दिया गया हो; जो हो, हमें इस बात से विशेष प्रयोजन नहीं, पर इतना अवश्य है कि पतञ्जलि अन्य मानव-देहधारी व्यक्तियों के समान थे। उनके सर्परूप का विवरण कल्पनामात्र है।

पतञ्जलि-कथा में तथ्य अंश—पतञ्जलि-विषयक कहानी के मूल में एक अन्य कारण सम्भव है। पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना कर अपने काल में पाणिनिव्याकरण का उद्धार किया, उसके प्रचार-प्रसार में अपना जीवन लगाया। पतञ्जलि के अनन्तर—प्रतीत होता है—कालान्तर में इस महाभाष्य का पठन-पाठन छूट गया और एक प्रकार से ग्रन्थ तथा उसका अध्ययनाध्यापन नष्टप्राय

हो गया। सम्भवतः इसी स्थिति का वर्णन कवि ने आलंकारिकरूप से पतञ्जलि-शिष्यों के दग्ध हो जाने के रूप में किया। कालान्तर में किसी आचार्य गौडपाद के सहयोग से उज्जैन-निवासी 'चन्द्र' नामक ब्राह्मण ने महाभाष्य-ग्रन्थ को अध्ययन व लिखित रूप में प्राप्त किया, तथा नष्टप्राय महाभाष्य का प्रचार-प्रसार द्वारा पुनः उद्धार किया। कदाचित् यही गौडपाद के शापमोचन का स्वरूप हो। इन्हीं स्थितियों पर एक चमत्कारपूर्ण रोचक कथानक घड़ लिया गया हो।

राजतरंगिणी[1] से ज्ञात होता है, यह चन्द्राचार्य महाभाष्य-ग्रन्थ को लेकर कश्मीर आदि प्रदेशों के अधिपति महाराज अभिमन्यु के आश्रय में पहुँचा, और वहाँ उसके अध्यापन आदि का प्रबन्ध किया। चन्द्राचार्य देश के अन्य भागों में भी इस कार्य के लिए अवश्य भ्रमण करता रहा होगा। राजाश्रय होने से कश्मीर के प्रसंग का उल्लेख राजतरंगिणी में हो गया है। भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय[2] में चन्द्राचार्य के महाभाष्य-प्रचार का उल्लेख किया है। इस प्रकार पतञ्जलि का सर्प-रूप होना सर्वथा मिथ्या कल्पना है।

गौडपाद का गुरु पतञ्जलि—उक्त लेख से संख्या एक में प्रदर्शित यह ऐतिहासिक तथ्य अवश्य अवगत होता है कि आचार्य गौडपाद का गुरु व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि था। इससे यह स्पष्ट होता है, व्यासपुत्र शुकदेव से गौडपाद ने किसी विद्या का अध्ययन नहीं किया, न होना किसी तरह सम्भव था। गौडपाद का व्यासपुत्र शुकदेव के साथ सम्बन्ध जोड़ने का कारण यही हो सकता है कि जिन वेदान्तमूलक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार गौडपाद ने अपने काल में किया, वे वही सिद्धान्त थे जिनका व्यास तथा व्यासपुत्र ने अपने समय में उपदेश किया। जिससे गौडपाद-प्रचारित सिद्धान्तों को प्रमाणित समझा जा सके, इस विषय का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इसके फलस्वरूप प्रस्तुत गुरु-परम्परा में एक कड़ी और जुड़ जाती है कि आचार्य गौडपाद का गुरु पतञ्जलि था। इसे ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार करने के लिए इसकी परीक्षा होनी आवश्यक है।

'पतञ्जलिचरित' नामक ग्रन्थ के पूर्वोक्त उल्लेख के आधार से अन्तिम छठी

---

१. **चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।**
प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥१।१७६॥

२. **पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।**
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥२।४८६॥

इस विषय में श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने एक विस्तृत प्रमाणपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। द्रष्टव्य—'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण [संवत् २०२० में प्रकाशित], पृ० ३१८–२६॥

संख्या पर जो परिणाम आया है, उससे एक ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकट होता है कि आचार्य गौडपाद का प्रबुद्ध मेधावी शिष्य उज्जैननिवासी एक ब्राह्मण था, जिसका नाम 'चन्द्र' बताया जाता है। गौडपाद ने इसे महाभाष्य का पूर्ण अध्ययन कराया, इसने महाभाष्य-ग्रन्थ को लिख लिया, और कश्मीर तथा भारत के अन्य प्रदेशों में इसकी अध्ययनाध्यापन-प्रणाली को चालू कर महाभाष्य के पुनरुद्धार में अनुपम कार्य किया, जैसा कि पूर्वांकित पंक्तियों में प्रकट किया गया है।

इतिहासशोधन की भावना से यह बात गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है—पतञ्जलि-चरित के वर्णनानुसार गौडपाद ने जिस चन्द्र नामक ब्राह्मण को महाभाष्य पढ़ाया, क्या वही चन्द्र कश्मीरराज अभिमन्यु के समय कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार करने गया, अथवा वह कोई अन्य चन्द्राचार्य था? इसके विवेचन के बिना अनेक समस्याओं का सम्मुख आ जाना सम्भव है।

चन्द्राचार्य के चार विवाह—आचार्य आत्मबोध-रचित 'गौडपादोल्लास' नामक ग्रन्थ में गौडपाद और गोविन्द का विवरण प्रस्तुत करते हुए जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—"चन्द्राचार्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति की कन्याओं के साथ चार विवाह हुए थे। चारों स्त्रियों के चार पुत्र हुए थे। वे वररुचि, विक्रम, भट्टि और भर्तृहरि थे। भर्तृहरि अत्यन्त बुद्धिमान् थे। चन्द्राचार्य ने उन्हें महाभाष्य पढ़ाया था। भर्तृहरि महावैयाकरण हुए। गौडपाद ने हिमालय में जाकर योगाभ्यास किया, चन्द्राचार्य को संन्यास देकर उनका नाम गोविन्द रक्खा। यही गोविन्द शंकराचार्य भगवान् के गुरु हैं। गोविन्द संन्यास लेकर नर्मदा-तट पर पुत्र भर्तृहरि के साथ वास करते थे। शंकराचार्य जी संन्यास लेने के लिए इन्हीं के पास आये थे।"[1]

चन्द्राचार्य के चारों वर्णों की कन्याओं से चार विवाह होने के विषय में ऐतिहासिक तथ्य क्या है, इसका विवेचन करना अभी कठिन है। पर उक्त लेख से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य का संन्यास-अवस्था का नाम गोविन्दपाद है, यही व्यक्ति शंकराचार्य का गुरु है।

चन्द्राचार्य और भर्तृहरि—चन्द्राचार्य के साथ भर्तृहरि का सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। यह भर्तृहरि महावैयाकरण वही व्यक्ति सम्भव है, जिसने वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों की रचना की। भर्तृहरि के प्रसंग में प्रथम यह स्पष्ट

१. यह प्रसंग यहाँ हमने श्री गोपीनाथ कविराज कृत 'अच्युत' के पृष्ठ २३ के आधार पर दिया है। डॉक्टर महोदय ने लिखा है कि ये सब विषय आत्म-बोध के 'गौडपादोल्लास' ग्रन्थ में लिखित हैं। डॉक्टर महोदय ने यह सब जहाँ से लिखा है, उसका निर्देश टिप्पणी में इस प्रकार किया है—द्रष्टव्य, एन० वेंकटरमणकृत श्री शंकराचार्य, पृष्ठ २५। 'गौडपादोल्लास' नामक ग्रन्थ को हम यत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं कर सके।

किया गया है कि संवत्-प्रवर्त्तक विक्रम नामक राजा के प्रादुर्भावकाल से पहले भर्तृहरि का काल सम्भव है। क्योंकि विक्रम के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी रचना में भर्तृहरि के वाक्यपदीय का उल्लेख किया है।[1] भर्तृहरि का पिता उक्त चन्द्राचार्य [संन्यस्तदशा का तथाकथित गोविन्दपाद] है, यदि इस वृत्त को तथ्य माना जाता है, तो आचार्य शंकर की गुरु-परम्परा का काल विक्रम-संवत् के प्रारम्भ होने से पूर्व चला जाता है। इस स्थिति का गम्भीरतापूर्वक विचार करना अत्यावश्यक है।

चन्द्राचार्य शंकर का गुरु नहीं—आचार्य शंकर का गुरु गोविन्दपाद, जिसका गृहस्थाश्रम का नाम चन्द्राचार्य है, यदि वही कश्मीरराज अभिमन्यु के राज्यकाल में महाभाष्य का प्रचार करने के लिए कश्मीर में गया माना जाता है, तो शंकर की इस गुरु-परम्परा का काल निश्चित ही विक्रम-संवत् प्रारम्भ होने से कई शती पूर्व मानना होगा। राजतरंगिणी के अनुसार अभिमन्यु का काल लगभग १२०० [बारह सौ] वर्ष ईसा-पूर्व है। यदि यही काल चन्द्राचार्य [अपरनाम गोविन्द] का माना जाता है, तो शंकर का जो काल अधिकाधिक पूर्व माना जा सकता है, उससे सात सौ वर्ष पूर्व का यह काल है। गौडपाद, गोविन्द और शंकर इस आचार्यत्रयी को कालक्रम की दृष्टि से परस्पर असम्बद्ध नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है, इनके जीवनकाल में क्रमिकरूप से वर्षों का अधिक अन्तर असम्भव है। ये तीनों ही गुरु-शिष्य-प्रशिष्य सम-पूर्वापरकालिक माने जा सकते हैं। यह कदापि सम्भव नहीं कि गुरु गौडपाद और उसका शिष्य गोविन्द बारहवीं शती ईसापूर्व में हों, तथा गोविन्द का साक्षात् शिष्य शंकर लगभग पाँचवीं शती ईसा-पूर्व में प्रादुर्भूत हो।

इतिहास की इस समस्या का समाधान मेरे सामने यह आता है कि पतञ्जलिचरित, गौडपादोल्लास अथवा अन्य किसी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर गौडपाद का गुरु, जो महाभाष्यकार पतञ्जलि को बताया गया है, वह साक्षात् गुरु का निर्देश नहीं है, प्रत्युत उसे साम्प्रदायिक गुरु का संकेत समझना चाहिए। पूर्वोक्त कथा के अनुसार पतञ्जलि-शिष्यों के दग्ध होने के काल में गौडपाद की अनुपस्थिति इस उद्भावना को पुष्ट करती है। पतञ्जलि के अनन्तर महाभाष्य की पठन-पाठन-प्रणाली नष्टप्राय हो गई। गौडपाद का कालान्तर में पतञ्जलि-रचना के साथ सम्पर्क हुआ। उसने अपने शिष्य चन्द्राचार्य द्वारा उसका पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। यदि इनको समकालिक माना जाता है, तो पतञ्जलि के साक्षात् शिष्य गौडपाद व उसके शिष्य चन्द्राचार्य द्वारा महाभाष्य के जीर्णोद्धार का प्रश्न सर्वथा असंगत होता है। चन्द्राचार्य को अभिमन्युकालिक

---

१. स्कन्दस्वामीकृत निरुक्तटीका १।२, तथा ५।१६।

मानने पर यह स्पष्ट है कि वह शंकर का गुरु गोविन्द नहीं था। कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार करनेवाले अन्य किसी चन्द्राचार्य का इतिहास में पता नहीं लगता, इसलिए उसे ठीक माना जा सकता है, पर वही व्यक्ति शंकर का गुरु था, यह सम्भव नहीं।

चन्द्राचार्य का गुरु गौडपाद, शंकर का दादा-गुरु नहीं—इस विवेचन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, महाभाष्यप्रचारक चन्द्राचार्य और उसका गुरु गौडपाद, शंकर की अपेक्षा इतिहास के पर्याप्त पुराने व्यक्ति हैं। शंकर का दादा गुरु गौडपाद, पहले गौडपाद से भिन्न व्यक्ति है। मेरा विचार है—भाष्यप्रचारक चन्द्राचार्य के संन्यास-दीक्षा की कल्पना और संन्यस्त दशा में उसके गोविन्द नाम की कल्पना उसके गुरु गौडपाद के नामसाम्य से कर ली गई। चन्द्राचार्य को राजाश्रय मिला था, और उसके गुरु कोई गौडपाद नाम के विद्वान् थे। अनन्तरकाल में राजाश्रय की महत्ता से गुरुनाम को भी महत्त्व प्राप्त हुआ। क्योंकि यही नाम आचार्य शंकर के दादा गुरु का था, यह समझ लिया गया कि वही गौडपाद शंकर का दादा गुरु रहा होगा, फलतः उसके प्रसिद्ध शिष्य चन्द्राचार्य को कल्पना-जगत् में संन्यास की दीक्षा देकर गोविन्द बना दिया गया। वस्तुतः उस चन्द्राचार्य के संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। जो व्यक्ति संन्यास की दीक्षा लेकर 'गोविन्द' नाम से आचार्य शंकर का गुरु हुआ, वह उज्जयिनी-निवासी 'चन्द्रशर्मा' नामक एक अतिरिक्त ब्राह्मण था, जो भाष्य-प्रचारक चन्द्राचार्य से कई शती अनन्तर हुआ। यह निश्चित है कि कश्मीर के महाराजा अभिमन्यु के काल का व्यक्ति आचार्य शंकर का दीक्षा-गुरु होना असम्भव है।

गौडपाद तीन—इसके फलस्वरूप गौडपाद नाम के तीन व्यक्तियों का इतिहास में पता लगता है—

१—व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि का साम्प्रदायिक शिष्य गौडपाद। पतञ्जलिकाल[1] के पर्याप्त अनन्तर महाभाष्य का प्रचार-प्रसार नष्टप्राय हो जाने पर जिसने अपने प्रिय शिष्य चन्द्राचार्य के सहयोग से महाभाष्य के जीर्णोद्धार का अभिनन्दनीय कार्य किया।

२—आचार्य शंकर के दादा गुरु गौडपाद, जिसने माण्डूक्योपनिषद् पर माण्डूक्यकारिका लिखी।

---

१. पतञ्जलि का काल तथाकथित ईसा-पूर्व दूसरी शती नहीं है। भारतीय तिथि-लेखा के अनुसार शुंगवंश का आरम्भ लगभग बारह सौ वर्ष ईसा-पूर्व होता है। इस वंश का संस्थापक 'पुष्यमित्र' था। पतञ्जलि को महाभाष्य के कतिपय प्रयोगों [**'इह पुष्यमित्रं याजयामः'** इत्यादि] के अनुसार पुष्यमित्र का समकालिक बताया जाता है। पर वस्तुतः ये साधारण प्रयोग

३—ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका के व्याख्याकार गौडपाद। कारिकाओं पर जिसकी व्याख्या 'गौडपादभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है।

चन्द्राचार्य के चार विवाह कल्पनामात्र—प्रथम गौडपाद के शिष्य चन्द्राचार्य ने चारों वर्णों की चार कन्याओं से विवाह किया, और प्रत्येक से एक-एक लड़का हुआ, जिनके नाम यथाक्रम—वररुचि, विक्रम, भट्टि, भर्तृहरि थे, इत्यादि गौडपादोल्लास नामक ग्रन्थ में वर्णित वृत्तान्त सर्वथा निराधार व कोरी कल्पना प्रतीत होता है। इतिहास से इन चारों व्यक्तियों के विषय में पर्याप्त प्रकाश प्राप्त है। ये सब विभिन्न कालों में होने वाले विद्वान् हैं। भोजप्रबन्ध के रचयिता बल्लाल पण्डित ने जिस प्रकार पूर्वापरकाल के अनेक कवियों को एकत्र भोज के दरबार में उपस्थित कर दिया है, प्रतीत होता है इसी प्रकार गौडपादोल्लास के रचयिता आत्मबोध ने इन चारों विभिन्नकालिक व्यक्तियों को चन्द्राचार्य का तनुज बना डाला है। एक विचारक को इस वर्णन में थोड़ा भी ऐतिहासिक अंश दिखाई नहीं देगा।

पतञ्जलि शुंगवंशीय पुष्यमित्र का समकालिक नहीं—यदि राजतरंगिणी के —महाराजा अभिमन्यु और चन्द्राचार्य-सम्बन्धी समकालिक होने के—वर्णन को ऐतिहासिक महत्त्व दिया जाता है, और इसकी तथ्यता को स्वीकार किया जाता है, तो इतिहास के एक अन्य प्रसंग पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। यह घटना मान ली गई है कि कश्मीर के राजा अभिमन्यु के समकालिक चन्द्राचार्य ने अपने गुरु गौडपाद के अनुग्रह से प्राप्त पतञ्जलि के महाभाष्य का जीर्णोद्धार किया। राजतरंगिणी की गणना के अनुसार अभिमन्यु का काल लगभग बारह सौ वर्ष ईसा-पूर्व है। पुराण आदि में वर्णित भारतीय तिथिगणना के अनुसार शुंगवंश का प्रारम्भ ईसा-पूर्व १२१८ वर्ष से है।[1] इस वंश के दस राजा हुए, इन्होंने तीन सौ वर्ष तक शासन किया। इसी वंश का प्रथम राजा पुष्यमित्र है। यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि को पुष्यमित्र का समकालिक माना जाता है, तो बारह सौ वर्ष ईसा-पूर्व के अभिमन्यु-समकालिक चन्द्राचार्य द्वारा महाभाष्य के जीर्णोद्धार का प्रश्न नहीं उठ सकता। उक्त गणना के अनुसार यह ज्ञात होता है कि अभिमन्यु

हैं, किसी विशेष घटना का संकेत नहीं करते। महाभाष्य में उक्त वाक्य के साथ ही प्रयोग है—**'इह अधीमहे'**, तो क्या इसका यह तात्पर्य समझा जाएगा कि पतञ्जलि पाटलिपुत्र में यज्ञावसर पर छात्ररूप से अध्ययन कर रहा था? फलतः ऐसे प्रयोगों से पतञ्जलि का पुष्यमित्र के साथ गठजोड़ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पतञ्जलि का काल इस काल से कतिपय शताब्दी पूर्व ही माना जाना चाहिए।

१. द्रष्टव्य—श्री पं० कोटा वेंकटाचल पाकयाजीकृत 'एन्शण्ट हिन्दू हिस्ट्री' [Ancient Hindu History], पृ० १४०।

का शासनकाल समाप्त[1] होने के लगभग पैंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्व शुंगवंश का राज्य-काल प्रारम्भ होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि पुष्यमित्र-समकालिक व्यक्ति की रचना साथ ही नष्टप्राय होकर अभिमन्युकाल में उसके जीर्णोद्धार का अवसर आ जाये ?

शुंगवंश के शासन का प्रारम्भकाल प्रायः अभिमन्यु के शासनकाल के साथ आता है। उक्त गणना के अनुसार ये विभिन्न प्रदेशों के समकालिक शासक हैं। ऐसी स्थिति में चतुरस्र संतुलन के लिए यह आवश्यक है कि महाभाष्य के **'इह पुष्यमित्रं याजयामः'** इत्यादि प्रयोगों की वास्तविकता को समझने का हम प्रयास करें। उसका यही मार्ग है कि अन्य देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्र आदि नामपद-प्रयोगों के समान इनको भी साधारण प्रयोग समझा जाय, किसी घटना-विशेष के साथ इन प्रयोगों का सम्बन्ध न जोड़ा जाय। इसके अनुसार पतञ्जलि का समय अभिमन्यु एवं पुष्यमित्र आदि से कतिपय शताब्दी पूर्व ही माना जाना चाहिए।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद का चन्द्राचार्य से कोई सम्बन्ध नहीं। गोविन्दपाद के विषय में किसी भी अन्य विशेष की जानकारी के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। केवल आचार्य शंकर के आधार पर अल्प परिचय प्राप्त होता है।

१. राजतरंगिणी के कालक्रम-निर्देशानुसार अभिमन्यु का शासन ११८२ वर्ष ईसापूर्व समाप्त हुआ।

एकादश अध्याय

आचार्य शंकर का काल

आचार्य शंकर के प्रादुर्भावकाल के विषय में आधुनिक इतिहास-लेखकों का ऐकमत्य नहीं है। मध्यकालिक जिन आचार्यों ने अपनी रचनाओं में रचनाकाल का निर्देश किया है, आधुनिक पाश्चात्य ईसाई लेखकों द्वारा उनके निर्देशों को भी संदिग्ध बनाए जाने का प्रयत्न हुआ है। अनेक भारतीय लेखकों ने अपनी परिस्थिति का ध्यान रखते हुए उन्हीं का अन्धानुकरण किया। फिर जिन प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं में अपने अथवा अपनी रचना आदि के काल का कोई निर्देश नहीं किया, उसके विषय में तो कहना ही क्या ?

शंकर महान्—आचार्य शंकर हमारे देश का एक महान् व्यक्ति हुआ है, जिसने अपने अनुपम वैदुष्य एवं अध्यात्मसाधना के बल से भारतीय विद्वत्समाज के पूर्वप्रवृत्त विचार-प्रवाह को बदल डाला। आज न केवल भारत का, अपितु समस्त संसार का विद्वत्समाज उसकी विद्वत्ता, विचारशैली एवं उसके स्थापित सिद्धान्तों के प्रति नतमस्तक है। ऐसे मूर्धन्य लोककर्ता नेतृ-पुरुष के विषय में विद्वत्समुदाय सन्दिहान है कि उसका प्रादुर्भाव कब हुआ ? वस्तुतः देखा जाय, तो अभी तक सन्देहों को दूर करने की जगह उनको बढ़ाने की दिशा में अधिक कार्य होता रहा है। जब आचार्य के आविर्भाव के विषय में सन्देहजनक अनेक विकल्प प्रस्तुत कर दिये गये, तब अनन्तरवर्ती लेखकों ने उनकी गणना कर देने में ही अपना कल्याण समझा; उनका विवेचन कर अन्तर्हित तथ्य को खोजने का बहुत कम प्रयास हुआ। जो सत्प्रयास थोड़ा-बहुत इस दिशा में हुआ भी, उसकी ओर — ऐसे विषयों में अपने-आपको ठेकेदार माननेवालों ने—कभी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। वे पाश्चात्य ईसाई विद्वानों द्वारा इस विषय में किये गए निराधार मिथ्या प्रलापों को पत्थर की लकीर समझकर निश्चिन्त बैठे हैं। उन्हीं के हाथ में आज वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई विचार प्रचार-प्रसार पा जाते हैं।

शंकर-चरित्र के लिए प्रयास—शंकर के जीवन के विषय में लिखने की प्रवृत्ति आरम्भिक काल से विद्वानों में रही है। कहा जाता है—आचार्य के शिष्य पद्मपाद

ने आचार्य के दिग्विजय आदि का वर्णन अपने **'विजयडिण्डिम'** नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया था; पर दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। अन्य परवर्त्ती विद्वानों द्वारा लिखे गए शंकर-जीवन-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ[1] प्रकाश में आये हैं, पर मुद्रित रूप में दो-चार ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। मठों एवं चरित-ग्रन्थों की—तथा समस्त साहित्य में बिखरी आचार्य-विषयक अन्य—सामग्री को सन्मुख कर उसके काल-विवेचन में पूर्णप्रयास अभी तक नहीं हुआ, सत्य के प्रकाश के लिए जिसकी अतिशय अपेक्षा है। यह कार्य साधन-सम्पन्न संस्थानों द्वारा किया जा सकता है।

हमारा विचार है—शंकरकाल-विषयक उपलब्ध सामग्री में आचार्य-संस्थापित मठों की सुरक्षित सामग्री को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए। मठों की अधिकतर सामग्री स्वाभाविक रूप से घटना-क्रम के अनुसार प्रस्तुत की जाती रही है; उसमें किसी निमित्तविशेष को लेकर अन्यथा लिखे जाने की सम्भावना

---

१. अब तक इस विषय के ज्ञात ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :

ग्रन्थनाम	कर्तृनाम
१—शंकरविजय	आनन्दगिरि [मुद्रित, कलकत्ता]
२— ,,	चिद्विलास यति [ग्रन्थाक्षर में मुद्रित]
३— ,,	व्यासगिरि
४— ,,	सदानन्द
५— ,,	माधव [आनन्दाश्रम, पूना; तथा श्रवण-नाथ मन्दिर, हरद्वार से प्रकाशित]
६—आचार्यचरित (केरलीय)	
७—शंकराभ्युदय	राजचूडामणि दीक्षित [श्री वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् से मुद्रित]
८—शंकरविजयविलासकाव्य	शंकरदेशिकेन्द्र
९—शंकरविजयकथा	
१०—शंकराचार्यचरित	
११—शंकराचार्यावतारकथा	आनन्दतीर्थ
१२—शंकरविलासचम्पू	जगन्नाथ
१३—शंकराभ्युदयकाव्य	रामकृष्ण
१४—शंकरदिग्विजयसार	व्रजराज
१५—प्राचीनशंकरविजय	मूकशंकर [काँची-कामकोटिपीठ के १८वें आचार्य]
१६—बृहत् शंकरविजय	सर्वज्ञ चित्सुख
१७—शंकराचार्योत्पत्ति	
१८—गुरुवंशकाव्य	लक्ष्मणाचार्य [श्रीरङ्गम् से प्रकाशित]
१९—शंकरमन्दारसौरभ	नीलकण्ठ भट्ट

कम रही है। यदि कहीं अन्यथा लेखन हुआ है, तो अन्य प्रामाणिक आधारों पर उसका संशोधन अनायास सम्भव है। सर्वप्रथम यहाँ मठों की सुरक्षित सामग्री को प्रस्तुत कर देना उपयुक्त है। उसके आधार पर अन्य सामग्री-समूह का विवेचन व सन्तुलन सुगम होगा।

आचार्य के पीठों की परम्परा—आचार्य के पीठों में प्रत्येक पीठ के आज तक के शंकराचार्यों की नामावली तथा उनके पीठाध्यक्ष-काल का निर्देश उपलब्ध है। उसके अनुसार शारदापीठ की वंशानुमातृका में सर्वप्रथम आद्य आचार्य शंकर का विवरण इस प्रकार है—

जन्म—वैशाख शुक्ल पंचमी, २६३१ युधिष्ठिर संवत्
उपनयन—चैत्र शुक्ल नवमी, २६३६ ,,
संन्यास—कार्तिक शुक्ल एकादशी, २६३९ ,, इत आरम्भ
शिक्षा (गोविन्दपाद से)—फाल्गुन शुक्ल द्वितीया, २६४० तक
भाष्यादि रचना—(बदरिकाश्रम में)–ज्येष्ठ बदि अमावास्या, २६४६ तक
ज्योतिर्मठनिर्माण—इसी अन्तराल में
मण्डनमिश्र से वाद—मार्गशीर्ष बदि तृतीया, २६४७
(यह वाद कई मास चला)
शारदापीठस्थापन—कार्त्तिक बदि त्रयोदशी, २६४८
शृंगेरीमठनिर्माण—फाल्गुन शुक्ल नवमी, २६४८
मण्डन का संन्यासग्रहण—(सुरेश्वराचार्य नाम)–चैत्र शुक्ल नवमी, २६४९
सुधन्वा राजा से सम्पर्क—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी, २६४९
सुरेश्वराचार्य का शारदापीठाभिषेचन—माघ शुक्ल सप्तमी, २६४९
दिग्विजयारम्भ—वैशाख शुक्ल तृतीया, २६५०
दिग्विजय-प्रसंग के अन्तराल में अन्य कार्य—

त्रोटक का आना—श्रावण शुक्ल सप्तमी, २६५३
हस्तामलक का आना—आश्विन शुक्ल एकादशी, २६५४
त्रोटक का ज्योतिर्मठ में—
हस्तामलक का शृंगेरी में } अभिषेचन संकेत—पौष शुक्ल पौर्णमासी, २६५४
गोवर्द्धनपीठस्थापन—वैशाख शुक्ल दशमी, २६५५
पद्मपाद का वहाँ अभिषेचन—वैशाख शुक्ल दशमी, २६५५
दिग्विजय कार्य—
कश्मीर में शारदापीठवास } भाद्र पौर्णमासी, २६५५ से पौष अमावस्या, २६६२ तक
देहावसान—कार्तिक पौर्णमासी, २६६३

शंकर का जन्म व आयुमान—इस विवरण के अनुसार साधारण स्थूलमान से आचार्य शंकर का अयुमान ३२ वर्ष, ६ मास, १० दिन होता है। शंकर का

जन्म २६३१ युधिष्ठिर संवत् में बताया है। युधिष्ठिर-संवत् कलि-संवत् से ३८ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ युधिष्ठिर का राज्याधिरोहणकाल है। ३६ वर्ष युधिष्ठिर ने राज्य किया, उसके दो वर्ष अनन्तर कलि का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार ख्रीस्ट-संवत् प्रारम्भ होने से ५०९ वर्ष पूर्व[1] शंकर का जन्म-काल अथवा प्रादुर्भावकाल आता है। आचार्य के आयुमान के लगभग ३२ वर्ष, जन्मकाल की वर्ष-संख्या में कम करने पर [५०९ — ३२ = ४७७] ईसा-पूर्व ४७७ में आचार्य का अवसानकाल आता है।

शारदापीठ के आचार्य—शारदापीठ की वंशानुमातृका से ज्ञात होता है, आचार्य ने सर्वप्रथम ज्योतिर्मठ का निर्माण कराया, उसके अनन्तर शारदापीठ का, फिर शृंगेरी का और अन्त में गोवर्द्धनपीठ का। आचार्य ने शारदापीठ के अध्यक्ष-पद पर सुरेश्वराचार्य का युधिष्ठिर-संवत् २६४९ में अभिषेक किया। यह काल ख्रीस्ट से ४९१ वर्ष पूर्व आता है। सुरेश्वराचार्य से लेकर शारदापीठ के वर्तमान आचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ तक ७७ आचार्य हैं। उनकी नामावली और उनका अध्यक्षकाल वंशानुमातृका के अनुसार निम्न प्रकार से है—

क्रम-संख्या	आचार्य का नाम	भारतीय संवत् युधिष्ठिर „		ख्रीस्ट संवत् ई० पू० से ई० तक
१	ब्रह्मस्वरूप (सुरेश्वर)	२६४९-२६९१ तक,	४२ वर्ष	४९१-४४९
२	चिन्सुख	२७१५ „	२४	४४९-४२५
३	सर्वज्ञान	२७७४ „	५९	४२५-३६६
४	ब्रह्मानन्दतीर्थ	२८२३ „	४९	३६६-३१७
५	स्वरूपाभिज्ञान	२८९० „	६७	३१७-२५०
६	मङ्गलमूर्त्ति	२९४२ „	५२	२५०-१९८
७	भास्कर	२९६५ „	२३	१९८-१७५
८	प्रज्ञान	३००८ „	४३	१७५-१३२
९	ब्रह्मज्योत्स्न	३०४० „	३२	१३२-१००
१०	आनन्दाविर्भाव	वि० सं० ९ „	५२	१००-४८
११	कलानिधितीर्थ	८२ „	७३	ई० सन् २५

१. कलि-संवत् का प्रारम्भ ख्रीस्टाब्द के प्रारम्भ से ३१०२ वर्ष पूर्व [१८ फरवरी को] होता है। इसमें [३१०२ में] ३८ जोड़ने पर ख्रीस्टाब्द से पूर्व युधिष्ठिर-संवत् का प्रारम्भकाल [३१४० वर्ष] होगा। इसमें से शंकर के जन्मकाल का २६३१ घटाने [३१४० — २६३१ = ५०९] पर ५०९ वर्ष ख्रीस्ट-पूर्व में शंकर का जन्मकाल आता है।

क्रम-संख्या आचार्य-नाम	भारतीय सं० वि० सं०	अध्यक्षकाल वर्ष	खीस्ट संवत् से — तक
१२—चिद्विलास	११९ तक	३७	२५-६२
१३—विभूत्यानन्द	१५४ ,,	३५	६२-९७
१४—स्फूर्त्तिनिलयपाद	२०३ ,,	४९	९७-१४६
१५—वरतन्तुपाद	२५९ ,,	५६	१४६-२०२
१६—योगारूढ	३६० ,,	१०१	२०२-३०३
१७—विजयडिण्डिम	३९४ ,,	३४	३०३-३३७
१८—विद्यातीर्थ	४३७ ,,	४३	३३७-३८०
१९—चिच्छक्तिदैशिक	४८३ ,,	४६	३८०-४२६
२०—विज्ञानेश्वरतीर्थ	५११ ,,	२८	४२६-४५४
२१—ऋतम्भर	५७२ ,,	६१	४५४-५१५
२२—अमरेश्वर गुरु	६०८ ,,	३६	५१५-५५१
२३—सर्वतोमुखतीर्थ	६६९ ,,	६१	५५१-६१२
२४—आनन्ददैशिक	७२१ ,,	५२	६१२-६६४
२५—समाधिरसिक	७९९ ,,	७८	६६४-७४२
२६—नारायणाश्रम	८३६ ,,	३७	७४२-७७९
२७—वैकुण्ठाश्रम	८८५ ,,	४९	७७९-८२८
२८—विक्रमाश्रम	९११ ,,	२६	८२८-८५४
२९—नृसिंहाश्रम	९६० ,,	४९	८५४-९०३
३०—त्र्यम्बकाश्रम	९६५ ,,	५	९०३-९०८
३१—विष्णवाश्रम	१००१ ,,	३६	९०८-९४४
३२—केशवाश्रम	१०६० ,,	५९	९४४-१००३
३३—चिदम्बराश्रम	१०८३ ,,	२३	१००३-१०२६
३४—पद्मनाभाश्रम	११०९ ,,	२६	१०२६-१०५२
३५—महादेवाश्रम	११८४ ,,	७५	१०५२-११२७
३६—सच्चिदानन्दाश्रम	१२०७ ,,	२३	११२७-११५०
३७—विद्याशंकराश्रम	१२६५ ,,	५८	११५०-१२०८
३८—अभिनवसच्चिदानन्दाश्रम	१२९३ ,,	२८	१२०८-१२३६
३९—शशिशेखराश्रम	१३२६ ,,	३३	१२३६-१२६९
४०—वासुदेवाश्रम	१३६२ ,,	३६	१२६९-१३०५
४१—पुरुषोत्तमाश्रम	१३९४ ,,	३२	१३०५-१३३७
४२—जनार्दनाश्रम	१४०८ ,,	१४	१३३७-१३५१

क्रम-संख्या आचार्य-नाम	भारतीय सं० वि० सं० तक	अध्यक्षकाल वर्ष	ख्रीस्ट संवत् से — तक
४३—हरिहराश्रम	१४११ ,,	३	१३५१-१३५४
४४—भवाश्रम	१४२१ ,,	१०	१३५४-१३६४
४५—ब्रह्माश्रम	१४३६ ,,	१५	१३६४-१३७९
४६—वामनाश्रम	१४५३ ,,	१७	१३७९-१३९६
४७—सर्वज्ञाश्रम	१४८९ ,,	३६	१३९६-१४३२
४८—प्रद्युम्नाश्रम	१४९५ ,,	६	१४३२-१४३८
४९—गोविन्दाश्रम	१५२३ ,,	२८	१४३८-१४६६
५०—चिदाश्रम	१५७६ ,,	५३	१४६६-१५१९
५१—विश्वेश्वराश्रम	१६०८ ,,	३२	१५१९-१५५१
५२—दामोदराश्रम	१६१५ ,,	७	१५५१-१५५८
५३—महादेवाश्रम (२)	१६१६ ,,	१	१५५८-१५५९
५४—अनिरुद्धाश्रम	१६२५ ,,	९	१५५९-१५६८
५५—अच्युताश्रम	१६२९ ,,	४	१५६८-१५७२
५६—माधवाश्रम	१६६५ ,,	३६	१५७२-१६०८
५७—अनन्ताश्रम	१७१६ ,,	५१	१६०८-१६५९
५८—विश्वरूपाश्रम	१७२१ ,,	५	१६५९-१६६४
५९—चिद्घनाश्रम	१७२६ ,,	५	१६६४-१६६९
६०—नृसिंहाश्रम	१७३५ ,,	९	१६६९-१६७८
६१—मनोहराश्रम	१७६१ ,,	२६	१६७८-१७०४
६२—प्रकाशानन्द सरस्वती	१७९५ ,,	३४	१७०४-१७३८
६३—विशुद्धाश्रम	१७९९ ,,	४	१७३८-१७४२
६४—वामनेन्द्राश्रम	१८३१ ,,	३२	१७४२-१७७४
६५—केशवाश्रम	१८३८ ,,	७	१७७४-१७८१
६६—मधुसूदनाश्रम	१८४८ ,,	१०	१७८१-१७९१
६७—हयग्रीवाश्रम	१८६२ ,,	१४	१७९१-१८०५
६८—प्रकाशाश्रम	१८६३ ,,	१	१८०५-१८०६
६९—हयग्रीवानन्द सरस्वती	१८७४ ,,	११	१८०६-१८१७
७०—श्रीधराश्रम	१९१४ ,,	४०	१८१७-१८५७
७१—दामोदराश्रम	१९२८ ,,	१४	१८५७-१८७१
७२—केशवाश्रम	१९३५ ,,	७	१८७१-१८७८
७३—राजराजेश्वरशंकराश्रम	१९५७ ,,	२२	१८७८-१९००

क्रम-संख्या	भारतीय सं० वि० सं० तक	अध्यक्षकाल वर्ष	खीस्ट संवत् से — तक
७४—माधवतीर्थ	१९७२ ,,	१५	१९००-१९१५
७५—शान्त्यानन्द सरस्वती[1]	१९८२ ,,	१०	१९१५-१९२५
७६—चन्द्रशेखराश्रम	२००२ ,,	२०	१९२५-१९४५
७७—अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ	[वर्त्तमान आचार्य]		१९४५-

मठों का स्थापनाकाल—शारदापीठ की इस परम्परा के अनुसार आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल खीस्ट-संवत् प्रारम्भ होने से ५०९ वर्ष पूर्व है। आचार्य द्वारा स्थापित चार मठों का काल शारदापीठ के लेखानुसार निम्न प्रकार है—

ज्योतिर्मठ	२६४१ से २६४५ युधि० संवत् का अन्तराल काल	४९७ खीस्ट-पूर्व के लगभग
शारदामठ	२६४८ [कार्त्तिक] ,,	४९२ ,,
शृंगेरीमठ	२६४८ [फाल्गुन] ,,	,, ,,
गोवर्द्धनमठ	२६५५ ,,	४८५ ,,

काञ्ची-कामकोटि पीठ—शारदापीठ की वंशानुमातृका में काञ्ची के कामकोटि-पीठ का कोई उल्लेख नहीं है। अनन्तर-काल में आद्य आचार्य के नाम से स्थापित हुए अनेक मठ हैं, पर काञ्ची-कामकोटि पीठ की परम्परा अन्य प्रधान मठों से अर्वाचीन नहीं है। उस पीठ की स्थापना का काल वहाँ के सुरक्षित लेखों में २६२० कलि-संवत् बताया गया है, जो ४८२ खीस्ट-पूर्व में होता है। उसकी स्थापना के अनन्तर आचार्य शंकर लगभग पाँच-छह वर्ष जीवित रहे। उसके पीछे काञ्ची-कामकोटि पीठ पर सुरेश्वराचार्य का ७० वर्ष अध्यक्षताकाल लिखा है।

विचारणीय है, आचार्य शंकर ने अपने जीवनकाल में शारदापीठ की अध्यक्षता पर सुरेश्वराचार्य को नियुक्त किया। काञ्ची-पीठ पर किसी अन्य को नियुक्त न कर आचार्य शंकर स्वयं अपने जीवन-काल तक [लगभग पाँच-छह वर्ष] उसके संचालक रहे। शंकर के अनन्तर वहाँ की आचार्य-परम्परा में सुरेश्वर का नाम है।

---

१. शारदापीठ के इन तीन आचार्यों के साथ लेखक का साक्षात् परिचय रहा है। वर्तमान आचार्य [सं० ७७] बड़ा कृपाभाव रखते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि एक आचार्य के परमधाम को प्राप्त होने पर तत्काल अन्य आचार्य अध्यक्ष नहीं बन पाता—एक-दो या अधिक वर्षों तक गद्दी रिक्त रहती है, अनन्तर आचार्य अधिष्ठित होता है। हमने सूची में ऐसे रिक्त काल को अधिष्ठित होनेवाले आचार्य के अध्यक्षताकाल में सम्मिलित करके दिखाया है।

शारदापीठ का प्रथम अध्यक्ष—शारदापीठ की वंशानुमातृका में अध्यक्ष-पद पर सर्वप्रथम आचार्य का ब्रह्मस्वरूप नाम लिखकर कोष्ठ में सुरेश्वर लिखा है। इसके दो अभिप्राय निकलते हैं। एक—ब्रह्मस्वरूप, सुरेश्वर का अपर नाम है। दूसरा अभिप्राय है, काञ्ची-पीठ पर स्वयं आचार्य शंकर के अधिष्ठित रहने से, उसके देहावसान के अनन्तर सुरेश्वराचार्य शारदापीठ का भार ब्रह्मस्वरूप नामक अन्य आचार्य के अधीन कर स्वयं काञ्चीपीठ के अध्यक्ष होकर चले गए। सम्भव है, यह परिवर्तन आद्य आचार्य के संकेत पर अथवा उसकी इच्छा के अनुसार हुआ हो, क्योंकि आचार्य सुरेश्वर ने अपने जीवनकाल में शारदापीठ पर अपने प्रतिनिधिरूप से आचार्य ब्रह्मस्वरूप को अधिष्ठित किया, इस कारण शारदापीठ की अध्यक्षता में सुरेश्वर का नाम चलता रहा, जो आचार्य ब्रह्मस्वरूप के नाम के साथ कोष्ठक में नाम देकर प्रकट किया गया है।

काञ्ची-पीठ के निर्देशानुसार–संभव है–आचार्य सुरेश्वर आचार्य ब्रह्मस्वरूप के देहावसान होने पर कुछ काल जीवित रहे हों, पर अगले आचार्य का शारदा-पीठ पर अभिषेक व्यवस्थानुसार प्रतिनिधिरूप से न होकर स्वतन्त्र रूप से हुआ, क्योंकि पूर्व-अभिषिक्त आचार्य का देहावसान हो चुका था। सम्भवतः सुरेश्वरा-चार्य का जीवनकाल कुछ लम्बा रहा होगा, काञ्ची-पीठ पर उसका सत्तर वर्ष तक अधिष्ठित रहना अतिरञ्जित नहीं है।

काञ्चीपीठ के लेख में शंकर का काल—काञ्ची-कामकोटि पीठ के सुरक्षित लेखों में आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल २५९३ कलि-संवत् लिखा है। श्री पं० बलदेव उपाध्याय ने माधवरचित[1] शंकरदिग्विजय के हिन्दी-अनुवाद की भूमिका [पृ० ७] में शारदापीठ और काञ्चीपीठ के लेखों का परस्पर अन्तर दिखाते हुए लिखा है—"(क) कामकोटि पीठ के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलि-वर्ष में हुआ था, तथा उनका तिरोधान २६२५ कलिवर्ष में सम्पन्न हुआ था। (ख) शारदापीठ (द्वारका) की वंशानुमातृका के अनुसार शंकर ने कलि-वर्ष २६३१ के वैशाख शुक्ल पञ्चमी को जन्म ग्रहण किया तथा २६६३ कलि-वर्ष की कार्तिक पौर्णमासी को ३२ वर्ष की अवस्था में हिमालय में गुहाप्रवेश किया।

काञ्ची शारदापीठ के लेखों में अन्तर नहीं—उपाध्याय जी के लेख में शारदापीठ की वंशानुमातृका के नाम पर जो 'कलिवर्ष' पद लिखा गया है, वह युक्त नहीं है। वह वंशानुमातृका हमारे सम्मुख है। उसमें युधिष्ठिर-संवत् का निर्देश है, कलिसंवत् का नहीं। कामकोटि पीठ के लेखों में कलिसंवत् का निर्देश है। ये निर्देश युधिष्ठिर-संवत् और कलिसंवत् के प्रारम्भ होने के अन्तर को स्पष्ट

---

१. श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरद्वार से संवत् २००० में प्रकाशित।

करते हैं। शारदापीठ-वंशानुमातृका में आचार्य का प्रादुर्भावकाल २६३१ युधिष्ठिर-संवत् लिखा है, जबकि कामकोटिपीठ के लेखों में २५९३ कलि-संवत् है। इसका तात्पर्य है कि इन दोनों संवत्सरों के प्रारम्भ होने में ३८ वर्ष का अन्तर है। यह प्रसिद्ध है—युधिष्ठिर-संवत् युधिष्ठिर के राज्यारोहणकाल से प्रारम्भ हुआ। युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष राज्य किया। अनन्तर श्रीकृष्ण का देहावसान हो जाने पर कलिकाल अतिसमीप आया जान, युधिष्ठिर अपने पौत्र परीक्षित को राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त कर अपने भाइयों तथा द्रौपदी-सहित 'हिमालय' में चले गये। यह सर्वथा सम्भव है कि परीक्षित के राज्य सम्भालने पर लगभग दो वर्ष के अनन्तर कलि ने प्रवेश किया।[1] इस प्रकार कलि-वर्ष अथवा कलि-संवत् का आरम्भ, युधिष्ठिर-संवत् के आरम्भ से ३८ वर्ष पश्चात् हुआ। फलतः दोनों मठों के आचार्य-जन्म-विषयक कालनिर्देश में कोई अन्तर नहीं है।

जैसे कलि-सम्वत् ख्रीस्ट-सम्वत् से ३१०२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है, वैसे ही युधिष्ठिर-सम्वत् ३१४० वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। जब हम शारदापीठ के लेखानुसार आचार्य शंकर के जन्मकाल को ज्ञात करना चाहें, तो हमें युधिष्ठिर-सम्वत् के २६३१ वर्ष, ख्रीस्ट-पूर्व युधिष्ठिर-सम्वत् के प्रारम्भिक गणनांकों [३१४०] में से घटाने चाहिएँ [३१४०—२६३१=५०९], तब ५०९ ख्रीस्ट-पूर्व में शंकर का जन्मकाल आता है। यदि कांची-कामकोटि पीठ के लेखानुसार आचार्य का जन्मकाल निकालते हैं, तो वहाँ निर्दिष्ट कलि-सम्वत् के वर्षों [२५९३] को ख्रीस्ट-पूर्व की प्रारम्भिक कलि-सम्वत् की संख्या [३१०२] में से घटाना चाहिए [३१०२–२५९३=५०९]। इसके अनुसार आचार्य का जन्मकाल ख्रीस्ट-सम्वत् के प्रारम्भ से ५०९ वर्ष पूर्व आता है। फलतः दोनों पीठों की गणना में एक दिन का भी अन्तर नहीं है। अन्तर की भ्रान्ति का आधार युधिष्ठिर-सम्वत् और कलि-सम्वत् को समझना है, जिनमें वस्तुतः ३८ वर्ष का अन्तर है।

---

१. यद्यपि श्रीमद्भागवत [१।१५।३६] में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने जिस दिन शरीर त्याग किया, उसी दिन कलि प्रवृत्त हुआ—

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाऽहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्त्तत॥

सम्भवतः श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय भक्तिभावना से प्रेरित होकर ऐसा लिख दिया गया है, मानो अभी तक श्रीकृष्ण के अस्तित्व ने कलि को रोका हुआ था, उनके जाते ही कलि उभर आया। यदि कुछ वर्षों के अनन्तर कलि का प्रवेश हुआ हो, तो भी ऐसे लेखों का कोई असामञ्जस्य नहीं है, व्यावहारिक प्रयोग प्रायः ऐसे होते रहते हैं।

कांची-कामकोटि की परम्परा

कांची-कामकोटि पीठ के लेखानुसार पीठ की स्थापना कलि-सम्वत् २६२० में अर्थात् ख्रीस्ट-सम्वत् के प्रारम्भ होने से ४८२ वर्ष पूर्व हुई, तब युधिष्ठिर-सम्वत् २६५८ है। उस समय आचार्य शंकर की आयु २६-२७ वर्ष के लगभग थी। छह वर्ष तक स्वयं आचार्य उस पीठ के संचालक रहे। आचार्य के देहावसान के अनन्तर सुरेश्वराचार्य उस पीठ के अध्यक्ष हुए। कामकोटि के अद्यावधि आचार्यों की नामावलि और उनका अध्यक्षताकाल इस प्रकार है—

क्रम-संख्या	आचार्य-नाम	अध्यक्षता-काल	भारतीय सं० कलि सं०	अन्तिम वर्ष	ख्रीस्ट सं० ई० पू०
१	श्री शंकराचार्य	६	,,	२६२६	४७६
२	सुरेश्वराचार्य	७०	,,	२६९६	४०६
३	सर्वज्ञात्मन्	४२	,,	२७३८	३६४
४	सत्यबोध	९६	,,	२८३४	२६८
५	ज्ञानानन्द	६३	,,	२८९७	२०५
६	शुद्धानन्द	८१	,,	२९७८	१२४
७	आनन्दज्ञान	६९	,,	३०४७	५५
८	कैवल्यानन्द	८३	,,	३१३०	ई० सन् २८
९	कृपाशंकर (२)*	४१	,,	३१७१	६९
१०	सुरेश्वर (२)	५८	,,	३२२९	१२७
११	चिद्घन	४५	,,	३२७४	१७२
१२	चन्द्रशेखर (१)	६३	,,	३३३७	२३५
१३	सच्चिद्घन	३७	,,	३३७४	२७२
१४	विद्याघन (१) **(S.E. 239)	४५	,, ,,	३४१९	३१७
१५	गङ्गाधर (१)	१२	,,	३४३१	३२९
१६	उज्ज्वल शंकर (३)	३८	३४६९	४२४	३६७
१७	सदाशिव	८	३४७७	४३२	३७५
१८	सुरेन्द्र	१०	३४८७***	४४२	३८५

* 'शंकर' पद जिन आचार्यों के नामों का भाग है, तथा जो नाम अनेक बार आये हैं, उनके आगे २, ३, ४ आदि संख्या निर्देश है।

** S. E. से सदर्न एरा अर्थात् दक्षिणी सम्वत् का निर्देश है।

*** पीठ के लेख में यहाँ कलि सम्वत् ३४८६ लिखा है।

क्रम-संख्या	आचार्य-नाम	अध्यक्षता-काल	भारतीय सं० कलि सं०	अन्तिम वर्ष वि० सं०	ख्रीस्ट सं० ई० सन्
१९	—विद्याघन (२)	१३	३५००	४५५	३९८
२०	—मूलशंकर (४) (S.E. 359)	३९	३५३९	४९४	४३७
२१	—चन्द्रचूड (१)	१०	३५४९	५०४	४४७
२२	—परिपूर्णबोध	३४	३५८३	५३८	४८१
२३	—सच्चित्सुख	३१	३६१४	५६९	५१२
२४	—चित्सुख (१)	१५	३६२९	५८४	५२७
२५	—सच्चिदानन्दघन (S. E. 470)	२१	३६५०	६०५	५४८
२६	—प्रज्ञाघन	१६	३६६६	६२१	५६४
२७	—चिद्विलास	१३	३६७९	६३४	५७७
२८	—महादेव (१)	२४	३७०३	६५८	६०१
२९	—पूर्णबोध	१७	३७२०	६७५	६१८
३०	—बोध (१)	३७	३७५७	७१२	६५५
३१	—ब्रह्मानन्दघन (१)	१३	३७७०	७२५	६६८
३२	—चिदानन्दघन	४	३७७४	७२९	६७२
३३	—सच्चिदानन्द (२)	२०	३७९४	७४९	६९२
३४	—चन्द्रशेखर (२)	१८	३८१२	७६७	७१०
३५	—चित्सुख (२)	२७	३८३९	७९४	७३७
३६	—चित्सुखानन्द	२१	३८६०	८१५	७५८
३७	—विद्याघन (३)	३०	३८३०	८४५	७८८*
३८	—अभिनवशंकर (५)	५२	३९४२**	८९७	८४०
३९	—सच्चिद्विलास	३३	३९७५	९३०	८७३
४०	—महादेव (२)	४२	४०१७	९७२	९१५
४१	—गङ्गाधर (२)	३५	४०५२	१००७	९५०
४२	—ब्रह्मानन्दघन (२)	२८	४०८०	१०३५	९७८
४३	—आनन्दघन	३६	४११६	१०७१	१०१४

---

* पीठ के लेख में कलि सम्वत् ३९४१ लिखा है।

** आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार आद्य शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव-काल।

क्रम-संख्या आचार्य-नाम	अध्यक्षता-काल	भारतीय सं० कलि सं०	अन्तिम वर्ष वि० सं०	ख्रीस्ट सं० ई० सन्
४४—पूर्णबोध (२)	२६	४१४२	१०९७	१०४०
४५—परमशिव (१)	२१	४१६३	१११८	१०६१
४६—बोध (२)	३७	४२००	११५५	१०९८
४७—चन्द्रशेखर (३)	६८	४२६८	१२२३	११६६
४८—अद्वैतानन्दबोध	३४	४३०२	१२५७	१२००
४९—महादेव (३)	४७	४३४९	१३०४	१२४७
५०—चन्द्रचूड (२)	५०	४३९९	१३५४	१२९७
५१—विद्यातीर्थ	८८	४४८७	१४४२	१३८५
५२—शङ्करानन्द	३२	४५१९	१४७४	१४१७
५३—पूर्णानन्द सदाशिव	८१	४६००	१५५५	१४९८
५४—महादेव (४)	९	४६०९	१५६४	१५०७
५५—चन्द्रचूड (३)	१७	४६२६	१५८१	१५२४
५६—सर्वज्ञ सदाशिवबोध	१५	४६४१	१५९६	१५३९
५७—परमशिव (२)	४७	४६८८	१६४३	१५८६
५८—आत्मबोध	५२	४७४०	१६९५	१६३८
५९—बोध (३)	५४	४७९४	१७४९	१६९२
६०—अद्वयात्माप्रकाश	१२	४८०६	१७६१	१७०४
६१—महादेव (५)	४२	४८४८	१८०३	१७४६
६२—चन्द्रशेखर (४)	३७	४८८५	१८४०	१७८३
६३—महादेव (६)	३१	४९१६	१८७१	१८१४
६४—चन्द्रशेखर (५)	३७	४९५३	१९०८	१८५१
६५—महादेव (७)	४०	४९९३	१९४८	१८९१
६६—चन्द्रशेखर (६)	१७	५०१०	१९६५	१९०८
६७—महादेव (८)	७ दिन	,,	,,	,,
६८—चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती	वर्तमान आचार्य			

भिन्न मठों की आचार्य-संख्या का अन्तर—शारदापीठ (द्वारका) एवं काञ्चीकामकोटि पीठ में उपलब्ध सामग्री के आधार पर आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल ख्रीस्ट-सम्वत् प्रारम्भ होने से ५०९ वर्ष पूर्व निश्चित होता है। शारदापीठ के वर्तमान आचार्य ७७वें हैं। काञ्ची-कामकोटि पीठ के आचार्यों की परम्परा में वर्तमान आचार्य की संख्या ६८वीं है। इतनी लम्बी परम्परा में इतना

अन्तर नगण्य है। इन पीठों में ब्रह्मचर्य-अवस्था से ही संन्यास लेकर आचार्य के अभिषिक्त होने की परम्परा है। इनका अध्यक्ष-काल प्रत्येक आचार्य की दृष्टि से उनकी अपेक्षा कुछ अधिक रह सकता है, जहाँ गृहस्थाश्रम के अनन्तर संन्यास लेकर आचार्य पीठ पर अभिषिक्त होते रहे हैं। गोवर्द्धन पीठ (जगन्नाथ पुरी) की परम्परा ऐसी ही है। प्रस्तुत पहले दो पीठों की परम्परा के समान होने पर भी इतने लम्बे काल में पाँच-सात आचार्यों की न्यूनाधिकता का हो जाना असम्भव नहीं है, न यह अन्तर उक्त परम्पराओं के निर्देशों में किसी प्रकार की आशंका का जनक हो सकता है।

गोवर्द्धन पीठ की परम्परा

गोवर्द्धन पीठ की परम्परा में वर्तमान आचार्य १४४वें हैं। अन्य पीठों की अपेक्षा इस पीठ के शंकराचार्यों की इतनी अधिक संख्या का कारण है कि इस पीठ के अध्यक्ष आचार्य प्रायः सब गृहस्थाश्रम के अनन्तर संन्यास लेकर पीठाध्यक्ष होते रहे हैं, स्वभावतः आचार्यों की संख्या अधिक हो गई। गोवर्द्धन पीठ के आचार्यों की पूर्ण परम्परा हमें वर्तमान[1] आचार्य के अनुगृह से प्राप्त हो गई है, पर उसमें आचार्यों के अध्यक्षताकाल का कोई निर्देश नहीं है। आचार्यों की वह नाम-सूची इस प्रकार है—

गोवर्द्धन पीठ पर अभिषिक्त होने वाले आचार्यों की नाम-सूची

क्रमसंख्या आचार्य-नाम	क्रमसंख्या आचार्य-नाम
१. पद्मपाद	१०. श्रीधर (१)
२. शूलपाणि	११. माधवानन्द (१)
३. नारायण (१)	१२. कृष्णब्रह्मानन्द
४. विद्यारण्य (१)	१३. रामानन्द (१)
५. वामदेव (१)	१४. वागीश्वर
६. पद्मनाभ	१५. परमेश्वर
७. जगन्नाथ (१)	१६. गोपाल (१)
८. मधुरेश्वर	१७. जनार्दन (१)
९. गोविन्द (१)	१८. ज्ञानानन्द

१. जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरञ्जनदेवतीर्थ स्वामी जी महाराज। एक बार श्री आचार्य महोदय के गाजियाबाद पधारने पर मैंने इस सूची के लिए उनसे प्रार्थना की थी। सूची प्राप्त हो गई, पर आचार्यों के अध्यक्षताकाल का उसमें निर्देश नहीं है। यद्यपि अभी तक मैं उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न-शील रहा हूँ, पर प्राप्त नहीं कर सका।

क्रमसंख्या आचार्य-नाम	क्रमसंख्या आचार्य-नाम
१९. बृहदारण्य	५१. श्रीधर (२)
२०. महादेव	५२. नारायण (२)
२१. परमब्रह्मानन्द	५३. सदाशिव (२)
२२. रामानन्द (२)	५४. जयकृष्ण
२३. सदाशिव (१)	५५. विरूपाक्ष (क्ष्य ?)
२४. हरीश्वरानन्द	५६. विद्यारण्य (२)
२५. बोधानन्द (१)	५७. विश्वेश्वर
२६. रामकृष्ण (१)	५८. विबोधेश्वर
२७. चिद्बोधात्मा	५९. महेश्वर (१)
२८. तत्त्वाक्षर	६०. मधुसूदन (१)
२९. शंकर (१)	६१. रघूत्तम (१)
३०. वासुदेव (१)	६२. रामचन्द्र (१)
३१. हयग्रीव (१)	६३. योगीन्द्र
३२. स्मृतीश्वर	६४. महेश्वर (२)
३३. विद्यानन्द (१)	६५. ओंकार
३४. मुकुन्दानन्द	६६. नारायण (३)
३५. हिरण्यगर्भ	६७. जगन्नाथ (२)
३६. नित्यानन्द	६८. श्रीधर (३)
३७. शिवानन्द (१)	६९. रामचन्द्र (२)
३८. योगीश्वर	७०. ताम्राक्ष
३९. सुदर्शन	७१. उग्रेश्वर
४०. व्योमकेश	७२. उद्दण्ड (?) उद्दामानन्द, (उदयानन्द)
४१. दामोदर (१)	७३. संकर्षण
४२. योगानन्द	७४. जनार्दन (२)
४३. गोलकेश	७५. अखण्डात्मा
४४. कृष्णानन्द (१)	७६. दामोदर (२)
४५. देवानन्द	७७. शिवानन्द (२)
४६. चन्द्रचूड	७८. विद्याधर
४७. हलायुध	७९. गदाधर
४८. सिद्धच (?) सेव्य	८०. वामन
४९. तारकात्मा	८१. शंकर (२)
५०. बोधायन	

क्रमसंख्या आचार्य-नाम	क्रमसंख्या आचार्य-नाम
८२. नीलकण्ठ	११४. बोधानन्द (२)
८३. रामकृष्ण (२)	११५. सुतपानन्द
८४. रघूत्तम (२)	११६. श्रीधर (४)
८५. दामोदर (३)	११७. जनार्दन (३)
८६. गोपाल (२)	११८. कामनाशानन्द
८७. मृत्युञ्जय	११९. हरिहरानन्द
८८. गोविन्द (२)	१२०. गोपाल (३)
८९. वासुदेव (२)	१२१. कृष्णानन्द (२)
९०. गंगाधर	१२२. माधवानन्द (२)
९१. सदाशिव (३)	१२३. मधुसूदन (२)
९२. वामदेव (२)	१२४. गोविन्द (३)
९३. उपमन्यु	१२५. रघूत्तम (३)
९४. हयग्रीव (२)	१२६. वामदेव (३)
९५. हरि	१२७. हृषीकेश
९६. रघूत्तम (३)	१२८. दामोदर (४)
९७. पुण्डरीकाक्ष	१२९. गोपालानन्द
९८. परशंकरतीर्थ	१३०. गोविन्द (४)
९९. वेदगर्व	१३१. रघूत्तम (५)
१००. वेदान्तभास्कर	१३२. रामचन्द्र (३)
१०१. विज्ञानात्मा	१३३. गोविन्द (५)
१०२. शिवानन्द (३)	१३४. रघुनाथ
१०३. महेश्वर (३)	१३५. रामकृष्ण (४)
१०४. रामकृष्ण (३)	१३६. मधुसूदन (३)
१०५. वृषध्वज	१३७. दामोदर (५)
१०६. शुद्धबोध	१३८. रघूत्तम (६)
१०७. सोमेश्वर	१३९. शिव (१८४९-१८७०; २१ वर्ष)
१०८. गोपदेव	१४०. लोकनाथ (१८७०-१८८३; १३ वर्ष)
१०९. शम्भुतीर्थ	
११०. भृगु	१४१. दामोदर (६), (१८८३-१८९८; १५ वर्ष)
१११. केशवानन्द	
११२. विद्यानन्द (२)	१४२. मधुसूदन (४), (१८९८-१९२६; २८ वर्ष)
११३. वेदानन्द	

क्रमसंख्या आचार्य-नाम

१४३. भारती कृष्ण (१९२६-१९६०; ३६ वर्ष)
१४४. निरंजनदेव (वर्तमान, १ जुलाई १९६४ से)

अध्यक्षता का औसत काल—गोवर्द्धन पीठ के उपान्त्य पाँच [संख्या १३९ से १४३ तक के] आचार्यों का अध्यक्षता-काल ११३ वर्ष है, जिसमें प्रत्येक आचार्य का औसत अध्यक्षताकाल साढ़े बाईस वर्ष के लगभग आता है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि एक आचार्य के परलोकवासी हो जाने पर कई वर्ष तक पीठ अध्यक्ष से रहित रह जाता है। गोवर्द्धन पीठ के वर्तमान आचार्य, पूर्वाचार्य के दिवंगत हो जाने के लगभग चार वर्ष अनन्तर पीठाभिषिक्त हुए हैं। इससे आचार्यों की संख्या में न्यूनता तथा अध्यक्षताकाल में कुछ वृद्धि हो जाती है।

गोवर्द्धन पीठ के अतीत आचार्यों की संख्या १४३ है। पीठ की स्थापना का काल शारदापीठ की वंशानुमातृका के अनुसार २६५५ युधिष्ठिर-संवत् है, अर्थात् ख्रीस्टपूर्व ४८५ वर्ष। चालू ख्रीस्ट संवत् [१९६८]में इस प्रकार मठ को स्थापित हुए २४५३ वर्ष होते हैं। इस अन्तराल में प्रत्येक आचार्य का औसत अध्यक्षता-काल १७ वर्ष से कुछ अधिक आता है। काञ्ची-कामकोटि और शारदापीठ के आचार्यों का औसत अध्यक्षताकाल इससे लगभग दुगुना है, और आचार्यों की संख्या लगभग आधी। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि शारदा और काम-कोटि पीठों में ब्रह्मचर्य-अवस्था से ही संन्यास लेकर आचार्य पीठाधिपति होते रहे हैं, जबकि गोवर्द्धन पीठ पर गृहस्थाश्रम के अनन्तर संन्यास लेकर आचार्यों के पीठाभिषिक्त होने की परम्परा रही है। इस प्रकार पीठों की स्थापना के लगभग ढाई सहस्र वर्ष के अन्तराल में विभिन्न मठों के आचार्यों की जो संख्या रही है, उसके आधार पर पीठस्थापना के काल में किसी प्रकार का वैषम्य अथवा असामञ्जस्य नहीं है। इसके अनुसार आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भाव का उक्तकाल [५०९ ख्रीस्ट पूर्व] माने जाने में कोई बाधा नहीं।

ज्योतिर्मठ की परम्परा

द्वारकापीठ की वंशानुमातृका के अनुसार २६४० युधिष्ठिर-संवत् के फाल्गुन शुक्ल द्वितीया से लगाकर २६४६ युधिष्ठिर-संवत् के ज्येष्ठ की अमावास्या तक आचार्य शङ्कर का निवास बदरिकाश्रम में रहा। इस अन्तराल में आचार्य ने बदरीनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया, तथा ज्योतिर्मठ की स्थापना की, एवं ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। यह सम्भव है—वहाँ निवास हो जाने पर सर्वप्रथम आचार्य ने बदरीनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया हो, और तब मठ

की स्थापना का विचार आने पर उसका निर्माण कराया हो। यदि निवास का पहला वर्ष मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए समझ लिया जाय, तो यह विचार असंगत न होगा कि दूसरे वर्ष में आचार्य ने मठ की स्थापना कराई हो। यह निश्चित है, बदरिकाश्रम में निवास के लगभग पाँच वर्ष तीन मास के अन्तराल-काल में आचार्य ने मठ की स्थापना कराई; तब निवास के दूसरे वर्ष अर्थात् युधिष्ठिर-संवत् २६४२ में मठस्थापना का अनुमान सम्भव है। ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष के रूप में त्रोटकाचार्य के अभिषेचन का आदेश आचार्य ने युधिष्ठिर-संवत् २६५४ के पौष मास की पूर्णमासी को दिया।[1] यह काल विक्रमपूर्व ४२९ वर्ष, तथा ख्रीस्ट-पूर्व ४८६ वर्ष आता है। आचार्य-परम्परा की गणना त्रोटकाचार्य के इस अभिषेचनकाल से की जानी चाहिए।

ज्योतिर्मठ के आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है, टिहरी राज्य के दरबार में ज्योतिर्मठसम्बन्धी पर्याप्त लिखित सामग्री सुरक्षित रही है। अभी पिछले दिनों टिहरी राज्य के दीवान श्री पं० हरिकृष्ण रतूड़ी ने "गढ़वाल का इतिहास" नामक एक पुस्तक ईसवी सन् १९२० में प्रकाशित किया। उस पुस्तक के पृष्ठ ५५ पर लिखा है—

"ज्योतिर्मठ का संन्यासी महन्त ही बद्रीनाथ के मन्दिर का अधिकारी और पूजक भी रहा, जबकि ज्योतिर्मठ का लगाव ही मन्दिर बद्रीनाथ से था। केवल सम्वत् १५५४ अर्थात् १४९७ ई० से बद्रीनाथ के महन्तों की जो नामावली मिलती है, वह इस प्रकार है—

नाम महन्त	सम्वत् पूजा में दाखल होने का	सम्वत् मृत्यु का	कितने वर्ष पूजा की
१—बालकृष्ण[2]	१५००[3]	१५५७	५७
२—हरिब्रह्म	१५५७	१५५८	१
३—हरिस्मरण	१५५८	१५६६	८
४—वृन्दावन	१५६६	१५६८	२
५—अनन्तनारायण	१५६८	१५६९	१
६—भवानन्द	१५६९	१५८३	१४

१. यह निर्देश द्वारकापीठ-वंशानुमातृका के अनुसार है।

२. सूची में प्रत्येक नाम के साथ 'स्वामी' पद लगाया हुआ है। हमने केवल नाम का निर्देश किया है।

३. ऊपर लिखा है—सम्वत् १५५४ से महन्तों की नामावली मिलती है; परन्तु यहाँ १५०० सम्वत् से प्रारम्भ की है। इस भेद का कारण समझ में नहीं आया।

नाम महन्त	संवत् पूजा में दाखल होने का	संवत् मृत्यु का	कितने वर्ष पूजा की
७—कृष्णानन्द	१५८३	१५९३	१०
८—हरिनारायण	१५९३	१६०१	८
९—ब्रह्मानन्द	१६०१	१६२१	२०
१०—देवानन्द	१६२१	१६३६	१५
११—रघुनाथ	१६३६	१६६१	२५
१२—पूर्णदेव	१६६१	१६८७	२६
१३—कृष्णदेव	१६८७	१६९६	९
१४—शिवानन्द	१६९६	१७०३	७
१५—बालकृष्ण (२)	१७०३	१७१७	१४
१६—नारायण उपेन्द्र	१७१७	१७५०	३३
१७—हरिश्चन्द्र	१७५०	१७६३	१३
१८—सदानन्द	१७६३	१७७३	१०
१९—केशव	१७७३	१७८१	८
२०—नारायणतीर्थ	१७८१	१८२३	४२
२१—रामकृष्ण	१८२३	१८३३	१०

यहाँ तक अर्थात् सम्वत् १८३३ विक्रमी, सन् १७७६ ई० तक ज्योतिर्मठ और उसके साथ बद्रीनाथ मन्दिर शङ्कर-सम्प्रदाय में दण्डी स्वामियों के अधिकार में था, किन्तु उसके पश्चात् संन्यासियों के हाथ से निकलकर ब्रह्मचारी रावलों के हाथ में आ गया।

उसका इतिहास इस तरह पाया जाता है कि जब शङ्कर-सम्प्रदाय का आखिरी महन्त रामकृष्ण स्वामी सन् १७७६ ई० में मर गया, उस काल वहाँ अन्य कोई दण्डी संन्यासी विद्यमान नहीं था।...उस समय गढ़वाल-नरेश महाराज प्रदीपशाह ने गोपाल नामक ब्रह्मचारी को, जो नम्बूरी जाति का ब्राह्मण था और मन्दिर में भगवान् के वास्ते भोग पकाता था, वही रावल पदवी से विभूषित करके रामकृष्ण स्वामी के स्थान पर नियत कर दिया।"

इस प्रकार उक्त सूची के अन्तिम आचार्य के द्वारा कोई शिष्य अभिषिक्त न होने से ज्योतिर्मठ अध्यक्ष-हीन चला आया। पूजा तथा सम्पत्ति आदि का प्रबन्ध रावल जी करते आये। आचार्य के अभाव में इस सबकी देख-भाल टिहरी-नरेश के अधीन रही।

गढ़वाल पर दैवी प्रकोप—सम्वत् १८३५ [१७७८ ई०] के आसपास दिल्ली के बादशाह नजीबुद्दौला [जलालुद्दीन] की ओर से गढ़वाल पर आक्रमण

किया गया। इस घटना के अनन्तर तात्कालिक गढ़वाल-नरेश प्रदीपशाह का सम्वत् १८३७ [१७८० ई०] में देहान्त हो गया। इसके दस वर्ष अनन्तर सम्वत् १८४७ [ई० सन् १७९०] से नेपाल की महारानी राजेन्द्रलक्ष्मी ने गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया, और दुर्ग लंगूरगढ़ अपने हस्तगत कर लिया। गढ़वाल के तात्कालिक महाराज जयकृतशाह ने गोरखों को वार्षिक २५०००) रु० कर देना स्वीकार कर लिया।

अभी गढ़वाल पर दुर्भाग्य की छाया का अन्त नहीं हुआ था। इस घटना के चार-पाँच वर्ष अनन्तर सम्वत् १८५१-५२ [ई०सन् १७९४-९५] में गढ़वाल पर घोर दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ। पूर्णरीति पर अभी जनता दुर्भिक्ष के दिनों को भूल नहीं पाई थी कि सम्वत् १८६० [ई० सन् १८०३] में भूकम्प ने गढ़वाली प्रजा-जनों के दिलों को सम्पत्ति के प्रबल विनाश के साथ प्रकम्पित कर दिया। साथ हीं भूकम्प के कुछ दिन बाद उसी सम्वत् [ई० सन् १८०३ के फरवरी मास] में अमरसिंह थापा के नेतृत्व में पुनः गोरखों द्वारा गढ़वाल पर आक्रमण किया गया। इस बार थापा के साथ 'हस्तिदल चौतरिया' भी आया। गढ़वाल के तात्कालिक महाराजा पराक्रमशाह ने वीरतापूर्वक युद्ध किया, पर विजयश्री गोरखों के हाथ रही। गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर पर गोरखों का अधिकार हो गया। राजपरिवार किसी तरह बचकर अलखनन्दा के पार बनगढ़ में चला गया।

इसके अनन्तर विभिन्न राजनैतिक दाव-पेचों के फलस्वरूप सम्वत् १८७१ [ई० सन् १८१४] में अंग्रेज सरकार ने गढ़वाल से गोरखों को हटाया। तब सम्वत् १८७२ [ई० सन् १८१५] में गढ़वाल को दो भागों में बाँट दिया गया; पूर्वी भाग अंग्रेज सरकार के अधिकार में चला गया और पश्चिमी भाग राजा के अधिकार में रहा। पश्चिमी भाग की राजधानी टिहरी रही। उस समय टिहरी-गढ़वाल के राजा सुदर्शनशाह बने। इनके पिता का नाम महाराजा प्रद्युम्नशाह था।

ज्योतिर्मठ में पुनः आचार्य का अभिषेक—गढ़वाल की इस लम्बी उथल-पुथल के अवसर पर सम्वत् १८३३ से १९९७ तक लगभग १६४ वर्ष के अन्तराल में ज्योतिर्मठ की गद्दी आचार्य से रिक्त रही। विक्रमी सम्वत् १९९८ के चैत्र मास में श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती मठ के अध्यक्ष अभिषिक्त हुए।

आचार्य त्रोटक के अनन्तर विक्रम-सम्वत् १८३३, तदतुसार सन् १७७६ ई० तक ज्योतिर्मठ की आचार्य-परम्परा अक्षुण्ण रही है। ऊपर आचार्यों की जो सूची विक्रमी-सम्वत् १५००, तदनुसार १४४३ ई० सन् से दी गई है, उसमें आचार्यों की संख्या २१ है। इतने समय में प्रत्येक आचार्य का औसत अध्यक्षता-काल लगभग १६ वर्ष आता है। अभी पिछली पंक्तियों में लिखा गया है कि

आचार्य शङ्कर ने ज्योतिर्मठ की स्थापना युधिष्ठिर-संवत् २६४२ में की; परन्तु उसके अध्यक्ष के रूप में अभिषिक्त करने के लिए त्रोटकाचार्य को आदेश युधिष्ठिर-सम्वत् २६५४ की पौष-पौर्णमासी को दिया। आचार्य-परम्परा की गणना इसी सम्वत् से करना उचित होगा। यह काल विक्रमपूर्व ४२६ वर्ष, तथा ख़ीस्ट-पूर्व ४८६ वर्ष होता है। विक्रमी-सम्वत् १५०० तक यह काल १६२६ वर्ष होता है। इतने काल में केवल २१ आचार्यों के नामों का और पता लगता है। कविरत्न पं० मायादत्त शास्त्री द्वारा लिखित **'ज्योतिष्पीठ परिचय'** नामक पुस्तिका [पृ० १६] के अनुसार ज्ञात होता है—पैठाणी ग्राम के कूर्माचलीय पाण्डेय राठों के हस्तलिखित पुस्तक-संग्रहालय में, **'मन्त्ररहस्य'** के **'परिशिष्ट'** में तथा **'महावाक्य व्याख्यावली'** में इन प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख है। उधर के पर्वतीय प्रदेशों में ये नाम स्तोत्रपाठ के रूप से प्रचलित हैं। वे निम्न श्लोक में इस प्रकार निबद्ध हैं—

> **त्रोटको विजयः कृष्णः कुमारो गरुडः शुकः,**
> **विन्ध्यो विशालो वकुलो वामनः सुन्दरोऽरुणः।**
> **श्रीनिवासः सुखानन्दो विद्यानन्दः शिवो गिरिः,**
> **विद्याधरो गुणानन्दो नारायण उमापतिः॥**
> **एते ज्योतिर्मठाधीशा आचार्याश्चिरजीविनः,**
> **य एतान् संस्मरेन्नित्यं योगसिद्धिं स विन्दते।**

प्राचीन आचार्यों के ये नाम त्रोटक से आरम्भ कर उमापतिपर्यन्त संख्या में २१ होते हैं। लगभग १६०० वर्ष के लम्बे काल में आचार्यों के चिरजीवी होने पर भी यह संख्या बहुत कम है। इन नामों की गणना में कुछ रहस्य अवश्य है। हम अन्य पीठों के आचार्यों की सूची में देखते हैं कि अनेक नाम विभिन्न कालों में कई आचार्यों के रहे हैं। कामकोटि पीठ की सूची में तो कई नाम चार-चार, पाँच-पाँच, छह-छह बार कई आचार्यों के आए हैं और दो नाम तो सात व आठ बार आए हैं। वहाँ की सूची के अब तक होनेवाले लगभग ७० आचार्यों के नामों की संख्या केवल ३८ है। तात्पर्य यह है कि एक ही नाम अनेक आचार्यों का होता रहा है। जिस किसी व्यक्ति ने पूर्वोक्त श्लोक में उन नामों को निबद्ध किया प्रतीत होता है, उसने केवल नामों का निर्देश श्लोक में किया है; इसमें आचार्यों की पूरी संख्या का निर्देश नहीं समझना चाहिए। सम्भव है, कोई नाम चार-चार, छह-छह बार तक अनेक आचार्यों के रक्खे गये हों। इसके अनुसार कल्पना की जा सकती है कि आचार्यों की संख्या उतने काल में लगभग चालीस-पैंतालीस रही हो। शारदापीठ की परम्परा में इतने काल के आचार्यों की संख्या ४८ है। इससे यह अनुमान संगत माना जाएगा कि उतने काल में ज्योतिर्मठ के

आचार्यों की लगभग ४५ संख्या होना युक्तियुक्त है। उन सबके नामों की संख्या २१ रही होगी, जिसको तात्कालिक किसी विद्वान् ने उक्त श्लोक में निबद्ध किया है।

१५०० विक्रमी सम्वत् से १८३३ तक के आचार्यों की संख्या २१ को पूर्वोक्त संख्या में जोड़ने से उस समय [१८३३ वि०] तक के आचार्यों की संख्या ६६ सम्भावित होती है। इसके आगे के लगभग १६४ वर्ष तक ज्योतिर्मठ आचार्य से रिक्त रहा। इतने वर्षों में नौ-दस आचार्यों का होना सर्वथा सम्भव है। इसके अनन्तर वि० सम्वत् १९९८ के प्रारम्भ में श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती[1] अध्यक्ष नियत हुए। इस प्रकार वर्तमानकाल तक ज्योतिर्मठ के आचार्यों की पूर्ण संख्या ७६ के लगभग आती है, जो अन्य पीठों के आचार्यों की संख्या से सर्वथा सन्तुलित है। केवल गोवर्द्धनपीठ के आचार्यों की अधिक संख्या के कारण का निर्देश प्रथम कर दिया गया है। वहाँ पर अभिषिक्त होनेवाले आचार्यों की परम्परा गृहस्थाश्रम के अनन्तर संन्यास ग्रहण कर पीठ के अध्यक्ष बनने की रही है, जबकि अन्य पीठों में ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण कर पीठ पर अभिषिक्त होने की परम्परा है। फलतः ज्योतिर्मठ के आचार्यों की संख्यात परम्परा भी आद्य आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव का काल खीष्ट-पूर्व ५०९ वर्ष नानने में किसी प्रकार बाधक नहीं है, प्रत्युत अन्य पीठों की परम्परा के समान पूर्ण रूप से यह उक्त स्थापना की पुष्टि करती है। अब श्रृंगेरी मठ की परम्परा की परीक्षा करनी चाहिए।

श्रृंगेरी मठ की आचार्य-परम्परा

श्रृंगेरी और काञ्ची-कामकोटिपीठ का पारस्परिक संघर्ष पर्याप्तकाल से चला आ रहा है। यह कहना कठिन है कि यह कब से चला और क्यों चला। सम्भव है, समान क्षेत्र में एक ही उद्देश्य के दो संस्थानों का अस्तित्व, अपने पोषक साधनों के बँट जाने के भय से एक-दूसरे को अखरा हो, और यही संघर्ष का कारण बन गया हो। श्रृंगेरीमठ के वर्तमान आचार्य जगद्गुरु श्री अभिनवविद्यातीर्थ जी महाराज से स्वयं हमें श्रृंगेरीमठ सम्बन्धी कुछ साहित्य उपलब्ध हुआ है। उसमें एक ग्रन्थ है—**'काशी में कुम्भकोणमठविषयक विवाद'**। इस ग्रन्थ के अध्ययन से इन मठों के पारस्परिक संघर्ष का नग्नरूप सामने आता है। इसमें यह परिणाम अभिव्यक्त किया गया है कि दक्षिणाम्नाय मठ केवल श्रृंगेरी आद्य शंकराचार्य का मठ है, काञ्ची-कामकोटि आदि अन्य कोई संस्थान आचार्य का स्थापित नहीं है।

१. इनका स्वर्गवास हो चुका है।

पर इस पारस्परिक संघर्ष अथवा विवाद से कोई प्रयोजन नहीं। हम केवल आद्य शंकराचार्य के प्रादुर्भावकाल के विषय में खोज करने के लिए प्रस्तुत हुए हैं। हम देखते हैं कि आद्य आचार्य के चरित का जितना साहित्य है, चाहे वह किसी पीठ अथवा किसी अन्य आचार्य एवं विद्वान् लेखक द्वारा प्रस्तुत किया गया है, प्रत्येक ग्रन्थ में आचार्य शंकर का काञ्ची जाने और वहाँ कुछ काल निवास करने का उल्लेख है। आचार्य का वहाँ के लिए विशेष आकर्षण कामाक्षी का मन्दिर रहा है। आचार्यसम्बन्धी लेखों से कामाक्षी के प्रति आचार्य की भक्तिपूर्ण अन्तरङ्ग निष्ठा का पता लगता है।

काञ्ची में आचार्य का निवास—आचार्य के जीवन-सम्बन्धी[1] साहित्य के सन्तुलित अध्ययन से यह परिणाम स्पष्ट होता है कि चार पीठों की स्थापना के अनन्तर आचार्य शङ्कर ने कुछ वर्षों तक काञ्ची-कामकोटि में निवास किया। यह आचार्य के जीवन का अन्तिम भाग था। आचार्य के निवास के कारण वहाँ एक संस्थान का स्थापित हो जाना स्वाभाविक था। आचार्य के अनेक शिष्य उसके साथ अवश्य रहे होंगे। आचार्य के अनन्तर उसके उत्तरवर्त्ती शिष्यों ने उस संस्थान को निरन्तर संचालित रखने में पूर्ण सहयोग दिया है। चाहे अन्य चार पीठों की स्थापना के समान आचार्य ने उस रूप में वहाँ पीठ की स्थापना न की हो, और यह ठीक है कि अन्य चार मठों के समान 'कामकोटि' की मठ के रूप स्थापना नहीं की गई, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य के अनेक वर्षों तक वहाँ निवास करने के कारण नैसर्गिक रूप में एक संस्था बन गई, जिसका निश्चित रूप में

---

१. ऐसे साहित्य में निम्नलिखित ग्रन्थ सम्मिलित हैं—

१—शंकरविजय, अनन्तानन्दगिरि विरचित। आजकल इसके कर्त्ता के रूप में 'आनन्दगिरि' नाम प्रसिद्ध है। इससे उक्त ग्रन्थ के कर्त्ता, वेदान्तशांकर-भाष्य के व्याख्याकार आनन्दगिरि को समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। २—शंकरविजय-विलास, चिद्विलास यति कृत। [यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है; मद्रास ओरियण्टल लायब्रेरी में तैलङ्गाक्षरों में इसकी प्रति सुरक्षित है। शंकरदिग्विजय—बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७६], ३—पुण्य-श्लोक मञ्जरी, सर्वज्ञ सदाशिवबोध कृत। यह काञ्ची-कामकोटिपीठ के ५६वें पीठाध्यक्ष [१५८१–१५९६ वि०, तथा १५२४–१५३९ ई०] थे। ४—गुरुरत्नमाला, परमशिवेन्द्र सरस्वती कृत। ये उक्तपीठ के ५७वें आचार्य थे। ५—गुरुवंशकाव्यम् [१७३० ई०], लक्ष्मणशास्त्री रचित। श्रृंगेरीमठ के आचार्यों का चरित्रवर्णनात्मक। इस ग्रन्थ के तृतीय सर्ग के ३४।३५ श्लोकों में आचार्य की काञ्चीयात्रा और वहाँ देवी की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। ६—केरलीयशंकरचरितम्, गोविन्दनाथ यति कृत। [इन सूचनाओं का अधिक भाग माधवीय शंकरदिग्विजय के हिन्दी अनुवादकार श्री पं० बलदेव उपाध्याय लिखित 'परिशिष्ट' के आधार पर है]

आचार्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। काञ्ची-कामकोटि के आचार्यों की परम्परा आद्य आचार्य के प्रादुर्भावकाल पर स्पष्ट प्रकाश डालती है। शृंगेरी को छोड़कर शेष तीनों मठों के साथ उसका पूर्ण सामञ्जस्य है, जैसा कि पिछले पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है। आइये, अब शृंगेरी की परम्परा पर विचार करें।

शृंगेरी की परम्परा मध्य में विच्छिन्न हुई—शृंगेरी मठ के आचार्यों की सूची में आचार्य शङ्कर से लेकर वर्तमान आचार्य तक केवल ३५ नाम हैं। यह सूची अगले पृष्ठों में प्रस्तुत कर दी गई है। इसमें पहले दो नाम क्रमशः आचार्य शङ्कर और सुरेश्वर के हैं। स्वतः आचार्य शङ्कर किसी मठ के अध्यक्ष बनकर नहीं रहे। यदि इसकी गणना सूची में न की जाय, तो आचार्यों की संख्या ३४ रह जाती है। इसमें सर्वप्रथम आचार्य का नाम 'सुरेश्वर' है। आद्य आचार्य शङ्कर के चार मुख्य शिष्य बताये जाते हैं—पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटक एवं सुरेश्वर। इसमें प्रथम तीन शिष्यों ने आचार्य शङ्कर से शिक्षा और संन्यास की दीक्षा दोनों का ग्रहण किया। अन्तिम शिष्य सुरेश्वर है। यह गृहस्थाश्रम के मण्डन मिश्र हैं, जिन्होंने आचार्य से उस अवस्था में शास्त्रार्थ किया। यह प्रथमतः समस्त शास्त्रों के पूर्ण विद्वान् थे। यह शङ्कर के शिक्षा-शिष्य नहीं थे, केवल संन्यासदीक्षा-शिष्य थे; आयु में भी आचार्य शङ्कर से पर्याप्त बड़े थे। शिष्य होने पर भी उस मण्डल में इनका बहुत आदर था।

मठों के प्रथम अध्यक्ष—द्वारकापीठ की वंशानुमातृका के अनुसार तथा अन्य मठों के लेखानुसार आचार्य शङ्कर ने मठों की स्थापना कर किस मठ में अध्यक्षता के लिए कौन-से शिष्य को अभिषिक्त किया, इसका क्रम निम्न प्रकार है—

पीठ	आचार्य-नाम
ज्योतिष्पीठ	त्रोटकाचार्य
शारदापीठ (द्वारका)	सुरेश्वराचार्य
शृंगेरीपीठ	हस्तामलकाचार्य
गोवर्धनपीठ (पुरी)	पद्मपादाचार्य

इनमें प्रथम और चतुर्थ आचार्य के विषय में किसी का कोई विशेष मतभेद नहीं है। द्वितीय, तृतीय के विषय में पीठ की अध्यक्षता का विपर्यास देखा जाता है।[1] मठाम्नायसेतु में शृंगेरी के सुरेश्वर तथा शारदा पीठ (द्वारका) के हस्तामलक अध्यक्ष बताये गये हैं।

१. **द्वारकाख्यं हि क्षेत्रं स्याद् देवः सिद्धेश्वरः स्मृतः।**
भद्रकाली तु देवी स्यात् हस्तामलकदेशिकः।। शारदामठाम्नाय, २।।
कामाक्षी तस्य देवी स्यात् सर्वकामफलप्रदा।
सुरेश्वराख्य आचार्यस्तुङ्गभद्रेति तीर्थकम्।। शृंगेरी मठ, ३।।

रत्नप्रभा, भामती, न्यायनिर्णय (आनन्दगिरीय) टीकाओं-सहित बम्बई से प्रकाशित वेदान्तशाङ्करभाष्य[1] की भूमिका पृष्ठ २२ पर विभिन्न मठों के विषय में जो तालिका दी गई है, उसमें मठाम्नायसेतु ग्रन्थ के अनुसार शृंगेरी मठ के प्रथम अभिषिक्त आचार्य का नाच 'पृथ्वीधर' दिया हुआ है। उसपर चिह्न देकर नीचे टिप्पणी में **'सुरेश्वराचार्य'** लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि **'पृथ्वीधर'** सुरेश्वराचार्य का अपरनाम होना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत हिन्दी व्याख्या-सहित **'शङ्करदिग्विजय'**[2] की भूमिका के ७४ पृष्ठ पर **'अद्वैतमठाम्नाय'** शीर्षक के नीचे मठों की सविवरण जो तालिका दी गई है, उसमें शृंगेरी मठ के प्रथम अभिषिक्त आचार्य का **'पृथ्वीधर'** नाम देकर वहाँ साथ ही कोष्ठक में **'हस्तामलक'** नाम लिखा है। इससे एक नया सन्देह खड़ा हो जाता है कि **'पृथ्वीधर'** अपर नाम सुरेश्वर का है अथवा हस्तामलक का ?

इसके अतिरिक्त शाङ्करभाष्य के उक्त बम्बई-संस्करण की निर्दिष्ट तालिका में शारदा पीठ (द्वारका) पर विश्वरूपाचार्य (सुरेश्वराचार्य) के नाम के साथ किसी अन्य मत के अनुसार पद्मपाद का नाम भी लिखा हुआ है। इसी प्रकार गोवर्धन (पुरी) पीठ पर मुख्य नाम पद्मपाद का देकर मतान्तर से **'हस्तामलक'** नाम लिखा है। यह विश्वस्तरूप से माना जाता है कि **'विश्वरूप'** सुरेश्वर का अपरनाम था, **'पृथ्वीधर'** हस्तामलक का। बम्बई-संस्करण की भूमिका में यह [पृथ्वीधर] सुरेश्वर का अपर नाम किस आधार पर लिखा गया है, कहा नहीं जा सकता। यदि इसके अनुसार **'पृथ्वीधर'** सुरेश्वर का अपरनाम हो, तो सुरेश्वर का प्रथम अध्यक्षरूप से दो मठों (द्वारका तथा शृंगेरी) में अभिषेक प्राप्त होता है, जो किसी परम्परा या अन्य प्रमाण से पुष्ट नहीं है। इस गड़बड़ के कारण की खोज करना आवश्यक है। बम्बई-संस्करण के उक्त भाष्य की २२ पृष्ठगत तालिका में द्वारकापीठ पर प्रथम अभिषिक्त आचार्य का नाम **'विश्वरूप'** लिखा है, जो निश्चितरूप से सुरेश्वर का अपर नाम है।

काञ्ची-मठ कैसे बना—शृंगेरी आदि दक्षिणाम्नाय मठों के उपलब्ध साहित्य के गम्भीर अध्ययन के परिणामस्वरूप उक्त गड़बड़ का कारण यह प्रतीत होता है—आद्य आचार्य शङ्कर अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कामाक्षी देवी के प्रति अप्रतिम निष्ठा होने के कारण काञ्ची में निवास करते रहे। यद्यपि आचार्य ने

---

१. खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से संवत् १९७० में प्रकाशित संस्करण।

२. माधवीय शङ्करदिग्विजय का हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण। अनुवादक तथा भूमिका आदि के लेखक श्री पं० बलदेव उपाध्याय, एम०ए० साहित्याचार्य। प्रकाशक—महन्त शान्तानन्दनाथ, श्रीश्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरद्वार, संवत् २०००।

काञ्ची में किसी मठ की स्थापना नहीं की, पर अनेक वर्षों तक शिष्य एवं भक्त-जनों सहित काञ्ची में निवास के कारण अनायास वहाँ एक संस्थान स्थापित हो गया। प्रतीत होता है, अपने अन्त-समय में आचार्य ने उस संस्थान की देखभाल सुरेश्वर के अधीन रखने की अभिलाषा प्रकट की हो; क्योंकि वही उस मण्डल में सबकी अपेक्षा वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध थे। पीठ की स्थापना व उसपर अध्यक्षाभिषेक का प्रश्न न होने पर भी काञ्ची-कामकोटि संस्थान के सर्वप्रथम प्रधान अधिष्ठाता सुरेश्वर माने गये, यद्यपि पीठाध्यक्षरूप में उनका अभिषेक शारदा (द्वारका) मठ पर हुआ था। आगे वह संस्थान उसी प्रकार के एक धार्मिक केन्द्र के रूप में प्रवृद्ध हो गया, जैसे अन्य चार पीठों की स्थापना आचार्य शङ्कर ने की थी। परम्परागत रूप से यहाँ के अध्यक्ष अन्य मठाध्यक्षों के समान **'जगद्गुरु शङ्कराचार्य'** कहलाने लगे। सम्भवतः सुरेश्वर के अधिष्ठाता होने के कारण प्रारम्भकाल से ही काञ्ची-संस्थान की मान्यता व प्रतिष्ठा प्रादेशिक जनता में अधिक बढ़ गई। धीरे-धीरे उसका परिणाम—किसी के अनजाने में—यह हुआ कि शृङ्गेरीमठ क्षीण होता गया। कालान्तर में वह विच्छिन्नप्राय हो गया।[1] यह स्थिति कब आई और इसके विशेष कारण क्या थे? इसका लेखा-जोखा करना कठिन है; पर उस काल का स्पष्ट अनुमान होता है, जब इसका पुनः जीर्णोद्धार किया गया।

शृंगेरी का जीर्णोद्धार—यह काल काञ्ची-कामकोटिपीठ के ३७वें आचार्य की अध्यक्षता का सम्भव है। आचार्य का नाम है—**'विद्याघन'**। इसका अध्यक्षता-काल ख्रीस्ट ७५९ से ७८८ तक ३० वर्ष है। अनुमान होता है, इस आचार्य के मस्तिष्क में अपने आद्य आचार्य गुरु शङ्कर और उनके कार्यों के प्रति एक विशिष्ट भक्तिभावना का उद्रेक हुआ। फलस्वरूप उसने विचारा कि आद्यगुरु का स्थापित

१. 'ज्योतिषपीठ का परिचय' नामक पुस्तक के पृष्ठ ७ की टिप्पणी में लिखा है—"शृङ्गेरी मठ के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि वह ५०० वर्ष तक आचार्यों से रिक्त एवं उच्छिन्न रहा।" [इस पुस्तक के लेखक हैं—कविरत्न पं० मायादत्त शास्त्री, सञ्चालक बदरीश विद्यापीठ। प्रकाशक हैं—पं० जगदीशप्रसाद मिश्र, उपाध्यक्ष मिश्रबन्धु कार्यालय, जबलपुर, सी० पी०] शृङ्गेरी मठ के विच्छिन्न होने के अन्य कारण भी सम्भव हैं, जो अभी तक अज्ञात हैं। मठों की ऐतिहासिक परम्परा से यह बात अवश्य ज्ञात होती है कि किसी काल में अनेक विपत्तियों व बाधाओं के कारण यह मठ 'कुडली' में स्थानान्तरित हो गया था। सम्भवतः उस समय भी मठ की दशा क्षीण-प्राय थी; वह अपनी पुरानी परम्पराओं की रक्षा नहीं कर सका। वर्तमान शृङ्गेरीमठ-परम्परा की अपेक्षा 'कुडली' मठ की परम्परा प्राचीन है, यह आज भी सर्वप्रसिद्ध है। कुडली मठ की उपलब्ध परम्परा का निर्देश शृङ्गेरी-प्रसंग के अनन्तर कर दिया गया है।

शृङ्गेरी मठ प्रायः विध्वस्त हो चुका है, उसका अवश्य उद्धार किया जाना चाहिए,—यह संकल्प कर उसने अपने सहयोगी अथवा अपने एक सुयोग्य शिष्य को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। इसका नाम—**'नित्यबोधघन'** शृङ्गेरी की आचार्यपरम्परा-सूची में लिखा है। शृङ्गेरी मठ की परम्परा में आचार्य शंकर और सुरेश्वर के अनन्तर इसी नाम का उल्लेख है। वस्तुतः वर्तमान शृङ्गेरी-परम्परा का यही प्रथम आचार्य है। शृङ्गेरी के साहित्य में इसका अध्यक्षताकाल ख्रीस्ट ७७३ से ८४८ तक ७५ वर्ष का लिखा है। इसने संन्यास की दीक्षा ख्रीस्ट ७५७ में ली। इस काल में काञ्ची-कामकोटिपीठ पर ख्रीस्ट ७५९ में आचार्य **'विद्याघन'** अभिषिक्त हुए। अवश्य इस आचार्य ने पीठाभिषेक से कतिपय वर्ष पूर्व संन्यास की दीक्षा ले ली होगी। शृङ्गेरी पीठ पर आचार्य **'नित्यबोधघन'** के अभिषिक्त होने का काल, कामकोटि पीठ पर **'विद्याघन'** के अभिषेक से १५ वर्ष अनन्तर का है। यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि आचार्य **'नित्यबोधघन'** कामकोटिपीठ की परम्परा का व्यक्ति था। इसमें सबसे पुष्ट प्रमाण है—स्वयं आचार्य का नाम।

शृंगेरी [वर्तमान] का प्रथम आचार्य—पीठों की परम्परा में 'घन'-पदान्त नाम केवल कामकोटिपीठ के आचार्यों के मिलते हैं। आद्य शङ्कराचार्य-स्थापित मठों की परम्परा में दीक्षित संन्यासियों के नाम किस प्रकार के होने चाहिएँ, इसके निर्देश मठ-सम्बन्धी ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। किस मठ में दीक्षित संन्यासी का नाम किस पद से अङ्कित होना चाहिए, इसकी व्यवस्था निम्न प्रकार की गई है—

शारदा मठ (द्वारका)······तीर्थ, आश्रम
गोवर्धन (पुरी)·············वन, अरण्य
ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम)···गिरि, पर्वत, सागर
शृङ्गेरी······················सरस्वती, भारती, पुरी

शङ्कर-सम्प्रदाय के साधारण संन्यासियों तथा पीठाभिषिक्त आचार्यों की नाम-सूची प्रायः इसी व्यवस्था के अनुसार पाई जाती है। यह व्यवस्थाकृत बन्धन कामकोटिपीठ के आचार्यों के लिए नहीं है। समस्त पीठों की नामावली में कामकोटिपीठ को छोड़कर तथा शृङ्गेरी पीठ के केवल दो आचार्यों को छोड़कर 'घन' पद के अन्तवाला नाम किसी आचार्य का उपलब्ध नहीं होता। शृङ्गेरी के आचार्यों में सर्वप्रथम यही 'नित्यबोधघन' है, और दूसरे हैं, इनके शिष्य 'ज्ञानघन'। पर कामकोटिपीठ की नामावली में—शृङ्गेरी के 'नित्यबोधघन' के समकालिक—'विद्याघन' के अतिरिक्त पूर्वकालवर्ती तथा परकालवर्ती

१. द्रष्टव्य—'काशी में कुम्भघोणमठविषयक विवाद', पृ० २५३।

अनेक आचार्यों के नाम 'घन'-पदान्त हैं। कुछ नाम तो ऐसे हैं, जो 'आनन्द' पद से युक्त होने पर भी उनके अन्त में 'घन' पद लगा हुआ है, जैसे **'सच्चिदानन्दघन'** (२५), **'ब्रह्मानन्दघन'** (३१) आदि। नामों का यह विशिष्ट क्रम स्पष्ट करता है कि श‍ृङ्गेरी में 'घन'-पदान्त नामवाला—वर्तमान सूची का सर्वप्रथम आचार्य **'नित्यबोधघन'**—कामकोटिपीठ की परम्परा से निकलकर यहाँ आया। जैसा कि प्रथम लिखा जा चुका है, इसका कारण था, कामकोटि के तात्कालिक आचार्य **'विद्याघन'** का संकल्प—श‍ृङ्गेरी पीठ का जीर्णोद्धार।

श‍ृंगेरी के आचार्यों की भावना—श‍ृङ्गेरी की अब तक की समस्त परम्मरा काल-कवलित हो चुकी थी। आचार्य नित्यबोधघन ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य का नाम भी अपनी पूर्वपरम्परा के अनुसार 'ज्ञानघन' रक्खा। प्रतीत होता है, कुछ पीढ़ियों तक दोनों मठों का पारस्परिक सौमनस्य बना रहा। अनन्तर श‍ृङ्गेरी मठ पर अभिषिक्त होनेवाले आचार्यों के मस्तिष्क में सम्भवतः यह भावना जागृत हुई हो कि यह मठ तो साक्षात् आद्य आचार्य शंकर द्वारा स्थापित चार मठों में से अन्यतम है, और दक्षिण प्रदेश इसी मठ के अधिकार-क्षेत्र में है, तब यहाँ श‍ृङ्गेरी का प्राधान्य सर्वथा उचित माना जाना चाहिए। कामकोटिपीठ के आचार्य यह सोचते हों कि यहाँ के पूर्ववर्ती आचार्यों ने श‍ृङ्गेरी का जीर्णोद्धार किया है, इसलिए हमारा प्राधान्य पूर्ववत् बना रहना चाहिए। इन भावनाओं की प्रतिक्रिया का परिणाम कालान्तर में यह होना स्वाभाविक है कि पूर्वकालिक पारस्परिक सौमनस्य को नष्ट कर दुर्दान्त दौर्मनस्य ने अपना आसन जमाया, जो आर्यजाति के दौर्भाग्य से आज भी अपने नग्नरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है।

श‍ृंगेरी [वर्तमान] का आद्य शंकर से सम्बन्ध—ऐसी दशा आने पर यह स्वाभाविक है कि श‍ृङ्गेरी के तात्कालिक आचार्यों ने अपना सम्बन्ध सीधा आद्य आचार्य के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया हो। इस दिशा में कुछ भी करने के लिए वे बाध्य थे, क्योंकि श‍ृङ्गेरी की प्राचीन परम्परा सर्वात्मना कालग्रस्त हो चुकी थी। तब उनके सामने केवल यही एक मार्ग था कि जो परम्परा उनकी विद्यमान है, उसको सीधा आद्य आचार्य के साथ सम्बद्ध कर दिया जाये। कामकोटिपीठ की परम्परा में किसी भी रूप से आचार्य सुरेश्वर का नाम आचार्य शंकर के अनन्तर प्रथम स्थान पर था; श‍ृङ्गेरी के आचार्यों ने भी अपनी वर्तमान परम्परा के प्रारंभ में उसी प्रकार उन नामों को जोड़ दिया। उन्होंने इसका विचार नहीं किया कि इतने लम्बे रिक्त अन्तराल का सामञ्जस्य कैसे होगा। वस्तुतः उनके सामने ऐसे किसी विचार का उस समय कोई महत्त्व न हो सकता था। मठ की श्रेष्ठता को निरापद बनाये रखना उनका मुख्य लक्ष्य था; उसके लिए जो सरल उपाय सम्भव था, उसका उन्होंने अनुसरण किया। पर कालान्तर में उस व्यवस्था ने महान् ऐतिहासिक घोटाला उपस्थित किया है।

शृंगेरीमठानुसार क्या आचार्य का काल प्रामाणिक है ?—शृङ्गेरी मठ की परम्परा के अनुसार आचार्य नित्यबोधघन का काल ७५७ से ८४८ ई० तक है। यह काल उसके संन्यासग्रहण से निर्वाणपर्यन्त का है। इससे पूर्व आचार्य सुरेश्वर का काल ७०१।२ से ७७३ ई० तक लिखा है। यह काल आचार्य के संन्यासदीक्षा-ग्रहण से लेकर निर्वाणपर्यन्त का है। 'विवाद'[1] में लिखा है कि लगभग ७१२/१३ ई० में सुरेश्वर को व्याख्यान-सिंहासन पीठ पर अभिषिक्त किया गया। इसी ग्रन्थ में सुरेश्वर से पूर्व आद्य आचार्य श्री शंकरभगवत्पाद का समय ६८४ से ७१६ ई० तक बताया है। लिखा है—**'श्री गुरुदेवजी का जन्म कालटी में ६८४ ई० में हुआ।'** यह ईसवी सन् ३७८६ [=३१०२+६८४] कलि-संवत् में आता है।

आद्य शंकर के जन्मकालविषयक उल्लेख—आद्य आचार्य शंकर के जन्मकाल के विषय में एक प्रसिद्ध श्लोक है, जो ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के विभिन्न संस्करणों के प्रथम पृष्ठ पर अथवा किन्हीं संस्करणों में भूमिका आदि के मध्य उल्लिखित रहता है। श्लोक है—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्यामेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्र्याम्।[2]
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्त्ते राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशम्याम्॥

इस श्लोक को[3] 'शङ्करमन्दारमरन्दसौरभ' नामक ग्रन्थ का लिखा है, और कहीं सदानन्द के शंकरदिग्विजय[4] का। वस्तुतः मूलरूप में यह श्लोक कहाँ का है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ है—कलियुग के ३८८९ वर्ष व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि में शिवगुरु की पत्नी ने बालक को जन्म दिया। यह कलिसंवत्, ईसवी सन् ७८७/८८ में पड़ता है।

इसी आशय का एक और श्लोक हम छात्रावस्था से सुनते चले आते हैं।

---

१. इस प्रसंग में यह काल आदि का निर्देश **'काशी में कुम्भघोणमठविषयक विवाद'** नामक ग्रन्थ के आधार पर किया गया है। यह ग्रन्थ हमें शृङ्गेरी के वर्तमान आचार्य श्री अभिनवविद्यातीर्थ महाराज से प्राप्त हुआ है। उक्त 'विवाद' पद से इसी ग्रन्थ का संकेत है।

२. इस पद्य का प्रारम्भिक भाग इस प्रकार कहा जाता है—
जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे।

३. निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित मूल ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के आदि पृष्ठ पर आचार्य की मुद्रित आकृति के ऊपर। सन् १९२७ तथा १९४८ के विभिन्न संस्करण। यह ग्रन्थ हमने नहीं देखा।

४. श्री खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित (रत्नप्रभा, भामती, न्याय-निर्णय) टीकाओं सहित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की भूमिका, पृ० ५१। संवत् १९७० वि० संस्करण। भूमिका लेखक—श्री वेङ्कटाचल शर्मा। यह शंकरदिग्विजय हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

इसको भी **'शङ्करमन्दारमरन्दसौरभ'** नामक ग्रन्थ का बताया जाता है। हमने इस ग्रन्थ को मुद्रित-अमुद्रित किसी रूप में आज तक देखा नहीं। किसने देखकर वहाँ से इस श्लोक को प्रथम प्रचारित किया, इसका भी पूर्ण निश्चय नहीं है। वह श्लोक इस प्रकार है—

निधिनागेभवह्न्यब्दे[1] विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः॥

इसका अर्थ पूरे सोलह आने वही है, जो पहले श्लोक का है। ये दोनों श्लोक किसी एक परम्परा के विद्वानों द्वारा लिखे गये, यह निश्चित है। द्वितीय श्लोक के अन्त में **'स्मृतः'** पद के प्रयोग से यह प्रतीत होता है—श्लोककर्त्ता विद्वान् ने कहीं अन्यत्र से आचार्य शङ्कर के काल को ज्ञात कर अपने ढंग पर श्लोकबद्ध कर दिया है। तात्पर्य यह कि दूसरा पहले की प्रतिलिपिमात्र कहा जा सकता है। लेखक ने कौन-से शङ्कर का यह कालनिर्देश किया है, यह भी कहना कठिन है। पहले श्लोक में शङ्कर के पिता का नाम शिवगुरु बताया है, इससे प्रतीत होता है—यह आद्य शङ्कराचार्य के काल का निर्देश है। परन्तु जब तक इस श्लोक के मूलग्रन्थ का अवलोकन न किया जाये, निश्चित रूप से कुछ कहा जाना सम्भव नहीं।

शृङ्गेरी-कामकोटिपीठों का सौमनस्य— इस विषय के उपलब्ध साधनों का विवेचन करने के फलस्वरूप सम्भव है, उक्त श्लोक की रचना उस समय हुई, जब कामकोटि और शृंगेरी मठों के पारस्परिक सौमनस्य का संचार अबाध रूप में प्रवाहित था। यह प्रथम लिखा जा चुका है कि नष्टप्राय शृंगेरी मठ का जीर्णोद्धार, कामकोटि के ३७वें आचार्य विद्याघन की प्रेरणा से उनके सहयोगी व शिष्य—आचार्य नित्यबोधघन ने किया। कामकोटि के आचार्यों की सूची में विद्याघन के उत्तराधिकारी शिष्य **'अभिनव शंकर (५)'** हैं। यह अपने समय के अद्वितीय विद्वान् व प्रौढ़ प्रवक्ता थे। शृंगेरी मठ पर उसका जीर्णोद्धार करने की भावना से आचार्य नित्यबोधधन का अभिषेक ७७३ ई० सन् में हुआ। उस समय इन्हें संन्यास ग्रहण किये सोलह वर्ष हो चुके थे। तब तक कामकोटिपीठ के आचार्य विद्याघन अपने अध्यक्षताकाल के १५ वर्ष व्यतीत कर चुके थे। विद्याघन का अध्यक्षताकाल कुल ३० वर्ष है। इस प्रकार शृंगेरी के नवीन आचार्य नित्यबोधघन को पन्द्रह वर्ष तक आचार्य विद्याघन का सहयोग प्राप्त होता रहा। विद्याघन के अनन्तर कामकोटिपीठ पर 'अभिनवशङ्कर (५)' अभिषिक्त हुए।

---

१. इस श्लोक में निधि ९, नाग ८, इभ ८, वह्नि ३; नियमानुसार अंकों को दाएँ से बाएँ की ओर गिना जाता है। इस प्रकार यह संवत् ३८८९ हुआ। इस कलि-वर्ष के वैशाख शुक्लपक्ष की दशमी को शंकर आर्य का उदय बताया गया है।

इनका यह समय ठीक ७८८ ई० सन् है। अपने गुरु की भावनाओं का आदर करते हुए इस आचार्य ने अपनी प्रौढ़ प्रवक्तृशक्ति और विद्वत्ता के कारण, शृंगेरी मठ पर अभिषिक्त अपने साथी को प्रबल सहयोग प्रदान किया। इस आचार्य ने विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण कर अपने प्राञ्जल प्रवचनों द्वारा मठों की परम्परा को अधिक प्रतिष्ठित और दृढ़ बनाया।

ये ५३ वर्ष कामकोटिपीठ के अध्यक्ष रहे। इनकी अध्यक्षता के पूरे समय में शृंगेरी मठ के अध्यक्ष आचार्य नित्यबोधघन ही थे। शृंगेरी मठ के लेखों में इनका अध्यक्षताकाल ७५ वर्ष लिखा है। कामकोटिपीठ के अध्यक्ष अभिनवशङ्कर के परलोक सिधारने पर ये आठ वर्ष और शृंगेरी के अध्यक्ष रहे। इनके अनन्तर उत्तराधिकारी शिष्य आचार्य ज्ञानघन हैं। इनका अध्यक्षताकाल ६२ वर्ष रहा।

शृंगेरी-कामकोटिपीठ में संघर्ष के अंकुर—यह सर्वथा सम्भव है, अब तक दोनों मठों के सम्बन्ध सर्वात्मना अनुकूल रहे हों। कुछ पीढ़ियाँ बीत जाने पर जब अपने क्षेत्रीय प्रभाव को लेकर संघर्ष के अंकुर प्रकट हुए, इससे पहले ही किसी विद्वान् ने—मठ की प्राचीन पूर्ण परम्परा के अज्ञात रहने से—आद्य आचार्य शङ्कर के रूप में आचार्य अभिनवशंकर को समझकर उसी का नाम प्रस्तुत किया। आगे आनेवाले लेखकों के लिए वही एक आधार बन गया। उसी के अनुसार अनेक विद्वान् आज आद्य शंकर का वही [३८८९ कलिसंवत्, तदनुसार ७८७/८८ ई० सन्] प्रादुर्भावकाल समझते हैं, जो निश्चित रूप से कामकोटिपीठ के ३८वें आचार्य अभिनवशंकर (५) का अभिषेक-काल उल्लिखित है।

कालान्तर में जब शृंगेरी मठ का कामकोटिपीठ से किसी प्रकार संघर्ष बढ़ गया, तब अतीत परिस्थितियों की उपेक्षा कर शृङ्गेरी के अधिकारियों ने आचार्य नित्यबोधघन के काल से ठीक पहले सुरेश्वर तथा उससे पूर्व आद्य शंकर के नामों को जोड़कर अपने मठ की परम्परा को पूरा कर लिया। इस प्रकार आद्य आचार्य शंकर का जो काल उक्त श्लोकों में तथा शृङ्गेरी मठ के लेखों में दिया गया है, वे दोनों इसी स्थिति के अनुसार हैं, अतः अप्रामाणिक हैं, तथा दोनों परस्पर भिन्न हैं।

शंकर-जन्मकाल, शृंगेरी साहित्य में—हम देखते हैं, वर्तमान शृङ्गेरी मठ-विषयक साहित्य में आद्य आचार्य शङ्कर का जन्म ६८४ ई० सन् में हुआ बताया है, परन्तु पूर्वोक्त श्लोकों के अनुसार जन्मकाल ७८७/८८ ई० सन् है। इसमें लगभग १०३ वर्ष का अन्तर है। अन्तिम (७८८) ई० सन् काञ्ची-कामकोटि के पीठ पर अभिनवशङ्कर (५) का अभिषेककाल है। विद्वन्मूर्द्धन्य एवं मठों के प्रौढ़ प्रचारक होने के कारण सर्वमान्य शंकराचार्य के रूप में इनकी प्रतिष्ठा स्थापित हुई। लगभग एक शती के अन्दर ही भक्त लेखकों ने इनके अभिषेक-

काल का आविर्भावकाल के रूप में उल्लेख किया जो परवर्ती-काल में आद्य शंकराचार्य के प्रादुर्भाव-विषयक समझ लिया गया।

कुछ समय बीत जाने पर जब शृङ्गेरी मठ और कामकोटिपीठ का पारस्परिक संघर्ष प्रबल हो गया, तब उन दिनों प्रसिद्धिप्राप्त शंकर-काल में—शृङ्गेरी मठ के तात्कालिक संचालकों को—परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कारण यह था कि उनकी सुविज्ञात परम्परा के प्रथम पीठाधीश आचार्य नित्यबोधघन का पीठाभिषेक ७७३ ई० सन् में हुआ; तब यह किसी तरह सम्भव न था कि आद्य शङ्कर का प्रादुर्भावकाल ७८७-८८ ई० सन् में माना जा सके। न वे यह सहन करने को तैयार थे कि उनके पीठ का किसी तरह का परम्परा-प्राप्त सम्पर्क कामकोटिपीठ के साथ प्रकट किया जाये। फलतः उन्होंने पूर्वोक्त श्लोकनिर्दिष्ट प्रचलित प्रादुर्भावकाल-परम्परा का परित्याग कर उसमें निम्नरूप से संशोधन किया—

शृंगेरी-निर्दिष्टकाल अप्रामाणिक—आचार्य नित्यबोधघन के पीठाभिषेककाल ७७३ ई० सन् से पूर्व लगभग ५७ वर्ष सुरेश्वर की अध्यक्षता मानकर उसमें आद्य आचार्य शङ्कर की आयु के प्रसिद्ध ३२ वर्ष जोड़कर उन्हें ७७३ में से कम करके ६८४ ई० सन् आद्य शङ्कर का प्रादुर्भावकाल मान लिया। यह संशोधन आचार्य नित्यबोधघन के पीठाभिषेक से पर्याप्त परवर्ती-काल में हुआ है। जैसा कि प्रथम लिखा जा चुका है—नित्यबोधघन आचार्य के पूर्व सुरेश्वर और शङ्कर को बलात् जोड़ दिया गया है। फलतः आद्य शङ्कर के उक्त कालनिर्देश की अप्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है।

आद्य आचार्य शङ्कर के काल के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने का सबसे बड़ा आधार वर्तमान शृङ्गेरी-मठ की अधूरी परम्परा को पूर्ण रूप में मान्यता देना रहा है। तुलना के लिए शृङ्गेरी मठ के आचार्यों की उपलब्ध सूची प्रस्तुत कर देना अवसर प्राप्त है।

शृंगेरीमठ—आचार्य-सूची[1]

क्रम-संख्या	आचार्य-नाम	ईसवी सन् कब से	कब तक	अध्यक्षता-काल
१—	आद्य शङ्कराचार्य	६८४	७१६	
२—	सुरेश्वराचार्य	७१२	७७३	६०/६१ वर्ष

१. शृङ्गेरी मठ से प्राप्त विविध साहित्य के आधार पर यह सूची प्रस्तुत की गई है। इसमें गुरुवंशकाव्यम्, श्रीमज्जगद्गुरुशांकरमठविमर्श, काशी में कुम्भघोणमठविषयक विवाद, आदि ग्रन्थों का नाम उल्लेखनीय है।

क्रम-संख्या	आचार्य-नाम	ईसवी सन् कब से	कब तक	अध्यक्षता-काल
३	नित्यबोधघनाचार्य	७७३	८४८	७५
४	ज्ञानघनाचार्य	८४८	९१०	६२
५	ज्ञानोत्तमाचार्य[1]	९१०	९५३	४३
६	ज्ञानगिर्याचार्य	९५३	१०३८	८५
७	सिंहगिर्याचार्य	१०३८	१०९८	६०
८	ईश्वरतीर्थ	१०९८	११४६	४८
९	नरसिंहतीर्थ[2]	११४६	१२२८	८२
१०	विद्याशङ्करतीर्थ	१२२८	१३३३	१०५
११	भारतीकृष्णतीर्थ	१३३३	१३८०	४७
१२	विद्यारण्य	१३८०	१३८६	६
१३	चन्द्रशेखर भारती (१)	१३८६	१३८९	३
१४	नरसिंहभारती (१)	१३८९	१४०८	१९
१५	पुरुषोत्तमभारती (१)	१४०८	१४४८	४०
१६	शंकरानन्दभारती	१४४८	१४५४	६
१७	चन्द्रशेखरभारती	१४५४	१४६४	१०
१८	नरसिंहभारती (२)	१४६४	१४७९	१५
१९	पुरुषत्तमभारती (२)	१४७९	१५१७	३८
२०	रामचन्द्रभारती (२)	१५१७	१५६०	४३
२१	नरसिंहभारती (३)	१५६०	१५७३	१३
२२	नरसिंहभारती (४)	१५७३	१५७६	३
२३	नरसिंहभारती (५)	१५७६	१५९९	२३
२४	अभिनवनृसिंहभारती (१)	१५९९	१६२२	२३
२५	सच्चिदानन्दभारती (१)	१६२२	१६६३	४१
२६	नरसिंहभारती (६)	१६६३	१७०५	४२
२७	सच्चिदानन्दभारती (२)	१७०५	१७४१	३६
२८	अभिनवसच्चिदानन्दभारती (१)	१७४१	१७६७	२६
२९	अभिनवनरसिंहभारती[3] (२)	१७६७	१७७०	३
३०	सच्चिदानन्दभारती (३)	१७७०	१८१४	४४

१. 'विवाद' में 'ज्ञानोत्तमशिवाचार्य' नाम है, पृ० २५४।

२. 'विवाद' में 'नृसिंहतीर्थ' पाठ है।

३. 'विवाद' में केवल 'नृसिंहभारती (७)' ऐसा पाठ है।

क्रम-संख्या	आचार्य-नाम	ईसवी सन् कब से	कब तक	अध्यक्षता-काल
३१	अभिनवसच्चिदानन्दभारती (२)	१८१४	१८१७	३
३२	नरसिंहभारती[1] (७)	१८१७	१८७९	६२
३३	सच्चिदानन्दशिवाभिनव-नरसिंहभारती	१८७९	१९१२	३३
३४	चन्द्रशेखरभारती[2] (३)	१९१२	१९५४	४२
३५	अभिनवविद्यातीर्थ	१९५४	वर्तमान आचार्य	

शृङ्गेरी के अतिरिक्त—आद्य शङ्कराचार्य के स्थापित—मठ तथा अन्य मान्य संस्थानों की व्यवस्थित परम्परा के आधार पर यह तथ्य प्रमाणित होता है कि आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भावकाल ख्रीस्ट एरा प्रारम्भ होने से ५०९ वर्ष पूर्व है। शृङ्गेरी मठ की परम्परा में विषमता के जो कारण अज्ञानान्धकार में अन्तर्हित व उपेक्षित पड़े थे, गत पृष्ठों में उनको उभार लेने का प्रयास किया गया है। इस मान्यता के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि शृङ्गेरी मठ की अधूरी व सन्दिग्ध परम्परा के आधार पर अन्य समस्त मठों की व्यवस्थित परम्परा को असत्य अथवा भ्रान्त कहा जाये, जबकि उन समस्त मठों की परम्परा परस्पर पूर्णरूप से सन्तुलित व समान है। विभिन्न मठों के साहित्य व अन्य साधनों का पर्यालोचन किसी भी विचारशील व्यक्ति को इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि शृङ्गेरी मठ की परम्परा में अवश्य कहीं न्यूनता रह गई है; उन्हीं को पकड़ लेने का प्रयास गत पंक्तियों में किया गया है। यह स्थिति शृङ्गेरी मठ की परम्परा को अन्य मठों के साथ सन्तुलित कर देती है।

प्रकृति का यह एक नियम है कि कालक्रम के अनुसार प्रत्येक वस्तु में उथल-पुथल व परिवर्तन हुआ करते हैं। मठों की स्थापना के अनन्तर किन्हीं अज्ञात कारणों से बाधित होकर शृंगेरी मठ 'कुडली' में स्थानान्तरित हो गया हो, यह सम्भव है। इसी आधार पर आज **'कुडली'** मठ को शृङ्गेरी की शाखा कहा जाता है; यद्यपि वर्तमान शृङ्गेरी की परम्परा से कुठलीमठ की परम्परा पर्याप्त

१. 'विवाद' में 'नृसिंहभारती (८)' पाठ है।

२. गुरुवंशकाव्य में १५वें आचार्य का नाम 'चन्द्रशेखरभारती (२)' लिखा है, 'काशी में कुम्भकोणमठविषयक विवाद' नामक रचना में दी गई सूची में यह नाम नहीं है। इस कारण गुरुवंशकाव्य के अनुसार २३वीं संख्या पर 'नरसिंहभारती (४)' 'विवाद' के अनुसार २२वें आचार्य हैं, इसके आगे 'विवाद' में 'नरसिंहभारती (५)' नाम जोड़कर संख्या गुरुवंशकाव्य के अनुसार कर दी गई है। फलतः गुरुवंशकाव्य की सूची में यह ३४वाँ नाम चौथी बार आ गया है, तथा 'विवाद' में तीसरी बार।

प्राचीन एवं अन्य समस्त मठों के साथ सामञ्जस्यपूर्ण व सन्तुलित है। शाखा समझे जाने का आधार यही सम्भव है कि कुडली मूल में शृङ्गेरी से स्थानान्तरित हुआ। शृङ्गेरी नष्टप्राय हो गया, कुडली चलता रहा। कुडली आज भी चल रहा है; पर कालान्तर में शृङ्गेरी का जीर्णोद्धार होने पर मूल-मठ होने तथा अधिकारियों के सक्रिय, कर्मठ व परिश्रमी होने के कारण वह शीघ्र ही पुनः उन्नति के शिखर पर आ गया। इस दशा में उसे यह कहने का अधिकार है कि कुडली हमारी शाखा है। अन्यथा शृंगेरी-मठ की वर्तमान परम्परा को यदि यथार्थ माना जाता है, तो यह कहने का कौन साहस करेगा कि एक पुराना वृक्ष नये वृक्ष की शाखा है ? इन मठों की यह स्थिति शृङ्गेरी की परम्परा में न्यूनता को प्रमाणित कर लेती है। शृङ्गेरी मठ नित्यबोधघनाचार्य के काल से पूर्व लगभग सात-आठ सौ वर्ष तक ध्वस्त रहा है।

कुडली-मठ—गत पृष्ठों में यह प्रकट किया गया है कि अपनी स्थापना के अनन्तर कतिपय शताब्दी व्यतीत होने पर शृङ्गेरी मठ किन्हीं अज्ञात कारणों से ध्वस्त हो गया, अथवा विरोधियों द्वारा ध्वस्त कर दिया गया। तात्कालिक प्रबन्धकवर्ग किसी तरह अपनी जान बचाकर वहाँ से भाग खड़ा हुआ; और किन्हीं भक्तजनों के सहयोग से **'कुडली'** नामक स्थान में आश्रय प्राप्त किया। इस स्थान में मठ की परम्परा आज तक चल रही है। शृङ्गेरी कब ध्वस्त हुआ और कितने काल तक उच्छिन्न रहा, नीचे लिखे आधारों पर इसका अनुमान किया जा सकता है।

शृङ्गेरी के लेखों में सुरेश्वराचार्य की मठाध्यक्षता का काल ७२५ वर्ष उल्लिखित है।[1] यथार्थरूप में यह सम्भव नहीं। शृङ्गेरी-मठ की वर्तमान उपलब्ध आचार्य-परम्परा का प्रथम अध्यक्ष नित्यबोधघन है। इससे पूर्व सुरेश्वर की अध्यक्षता के ७२५ वर्ष निर्दिष्ट हैं। इतना जीवनकाल असम्भव होने से अनुमान होता है, इतने काल तक शृङ्गेरी-मठ उच्छिन्न रहा। वर्तमान परम्परा के प्रथम आचार्य नित्यबोधघन ने इसका जीर्णोद्धार किया। इस आचार्य की अध्यक्षता ख्रीस्ट एरा ७७३ में प्रारम्भ होती है। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि इससे पूर्व ७२५ वर्ष मठ उच्छिन्न रहा, तो इसका तात्पर्य है कि [७७३–७२५= ४८] ४८ ई० सन् में शृङ्गेरी को ध्वस्त किया गया। फलतः ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्यकाल से कुडली मठ का प्रारम्भ होता है।

द्वारका पीठ के लेखानुसार शृङ्गेरी-मठ की प्रथम स्थापना युधिष्ठिर-संवत् २६४८ में बताई है, जो ४९२ बी० सी० में आता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शृङ्गेरी-मठ ध्वस्त होने से पूर्व [४८+४९२=] ५४० वर्ष तक संचालित

१. द्रष्टव्य—वेदान्तसूत्रशांकरभाष्य, टीकात्रयसहित की भूमिका, पृ० २६। श्रीवेङ्कटेश्वर बम्बई का संवत् १९७० का संस्करण।

रहा। इतने काल में लगभग १२ से १५ तक आचार्य हुए होंगे, यह अनुमान किया जा सकता है। वर्तमान कुडली मठ की परम्परा में यदि आचार्यों की इस संख्या को जोड़ दिया जाए, तो शृङ्गेरी-परम्परा के सम्पूर्ण आचार्यों की लगभग संख्या का पता लग जाता है। कुडली मठ के आचार्यों की संख्या सम्भवतः ६४ है।[1] इसमें १३ या १४ पूर्ववर्ती आचार्यों की संख्या जोड़ देने से अभी तक ७७/७८ आचार्यों का होना अनुमानित होता है, जो अन्य पीठों की पूर्व-निर्दिष्ट संख्याओं से पूर्णतः सन्तुलित है।

कुडली-मठ के आचार्यों की सूची में आचार्यों की अध्यक्षता के काल का निर्देश नहीं है। अन्यथा यह सरलता से जाना जा सकता था कि आचार्य नित्यबोधघन द्वारा शृङ्गेरी मठ का जीर्णोद्धार करने के समय कुडली-मठ का अध्यक्ष कौन आचार्य था। उससे यह निश्चित हो जाता कि आचार्यों की उक्त संख्या में कितना पूर्ण सन्तुलन है। दो-एक संख्या का अन्तर होने पर भी वह नगण्य रहता है। गोवर्द्धन-पीठ को छोड़कर—जहाँ गृहस्थ के अनन्तर संन्यास ग्रहण कर पीठाध्यक्ष होने की परम्परा है—शेष सभी मठों के आचार्यों की संख्या ६८ से ७७ के अन्तर्गत है, जिसके अनुसार प्रत्येक आचार्य की अध्यक्षता के औसत वर्ष ३० और ३५ के मध्य आते हैं। ब्रह्मचर्य-अवस्था से ही संन्यास की दीक्षा लेकर अध्यक्षता करने वाले आचार्यों के लिए इतना औसतकाल सर्वथा उपयुक्त है।

कुडली-मठ के आचार्यों की नाम-सूची निम्न-प्रकार है[2]—

क्रमसंख्या आचार्यनाम	क्रमसंख्या आचार्यनाम
१. श्री शंङ्कराचार्य	९. ईश्वरभारती
२. विश्वरूपभारती	१०. विद्याशङ्करभारती
(=सुरेश्वराचार्य)	११. श्रीकृष्णभारती
३. चिद्रूपभारती	१२. शङ्करभारती
४. गङ्गाधरभारती	१३. चन्द्रशेखरभारती
५. चिद्घनभारती	१४. सच्चिदानन्दभारती
६. बोधघनभारती	१५. ब्रह्मानन्दभारती
७. ज्ञानोत्तमभारती	१६. चिद्घनभारती
८. नरसिंहभारती	१७. पुरुषोत्तमभारती

१. द्रष्टव्य—वेदान्तसूत्रशांकरभाष्य, टीकात्रयसहित की भूमिका, पृ० २७-२८। यह ग्रन्थ सम्वत् १९७० में छपा; तब आचार्यों की संख्या ६३ लिखी है। सम्भव है, अब उसमें कुछ वृद्धि हो गई हो।

२. पूर्वोक्त वेदान्तसूत्रशांकरभाष्य की भूमिका के पृ० २७-२८ के अनुसार।

क्रमसंख्या आचार्यनाम	क्रमसंख्या आचार्यनाम
१८. मधुसूदनभारती	४१. गङ्गाधरभारती
१६. जगन्नाथभारती	४२. नरसिंहभारती
२०. विश्वानन्दभारती	४३. शङ्करभारती
२१. विमलानन्दभारती	४४. पुरुषोत्तमभारती
२२. विद्यारण्यभारती	४५. रामचन्द्रभारती
२३. विश्वरूपभारती	४६. नरसिंहभारती
२४. बोधघनभारती	४७. विद्यारण्यभारती
२५. ज्ञानोत्तमभारती	४८. नरसिंहभारती
२६. ईश्वरभारती	४६. शङ्करभारती
२७. (विजय) शङ्करभारती	५०. नरसिंहभारती
२८. विद्यातीर्थभारती	५१. शङ्करभारती
२६. भारतीतीर्थ	५२. नरसिंहभारती
३०. विद्यारण्यभारती	५३. शङ्करभारती
३१. नरसिंहभारती	५४. नरसिंहभारती
३२. चन्द्रशेखरभारती	५५. शङ्करभारती
३३. रामचन्द्रभारती	५६. नरसिंहभारती
३४. शङ्करभारती	५७. शङ्करभारती
३५. नरसिंहभारती	५८. नरसिंहभारती
३६. चन्द्रशेखरभारती	५६. शङ्करभारती
३७. पुरुषोत्तमभारती	६०. नरसिंहभारती
३८. नरसिंहभारती	६१. नृसिंहभारती
३६. मधुसूदनभारती	६२. विद्याशङ्करभारती
४०. श्रीविष्णुभारती	६३. शङ्करभारती[1]

शृङ्गेरी-मठ का वर्तमान प्रचारात्मक साहित्य[2] किसी तथ्य को प्रकाशित

१. त्रेसठ आचार्यों के नामों की संख्या केवल २६ है। ज्योतिर्मठ के आचार्यों की नाम-सूची में इस विशेषता का निर्देश प्रथम भी हमने किया है।

२. इस साहित्य में 'श्रीमज्जगद्गुरुशाङ्करमठविमर्श' तथा 'काशी में कुम्भकोण-मठविषयक विवाद' आदि रचनाओं का समावेश है। हमें किसी मठ से कुछ लेना-देना नहीं, न किसी को बुरा या किसी को भला कहने की भावना है। यह केवल ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना लक्ष्य है। ये पद किसी को कटु लग सकते हैं, पर हमारी भावना शुद्ध है।

करने की भावना से लिखा गया हो, इसमें सन्देह है। यह कहा जाना अतिरञ्जन-मात्र न होगा कि जिन तथ्यों को अज्ञान की धूलि ने काल का सहारा पाकर आच्छादित कर लिया था, उनको और गहरा भूमि में उतार देने का प्रयास इस साहित्य द्वारा किया गया है। शृङ्गेरी-मठ की वर्तमान मान्यताओं के आधार पर इन लेखकों ने तथा अन्य पाश्चात्य व भारतीय लेखकों ने जो साधन व उपोद्-बलक भारतीय व भारत से बारह के विस्तृत वाङ्मय आदि से खोज-खोजकर यह सिद्ध करने के लिए एकत्रित किये हैं कि आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल ख्रीस्ट-पूर्व ५०६ वर्ष सम्भव नहीं, उनपर विचार करना आवश्यक है; अन्यथा आचार्य का उक्तकाल अपुष्ट ही कहा जायगा।

द्वादश अध्याय

आचार्य शंकर के उक्त काल में आपत्ति-विवेचन

कहा जाता है—उन विभिन्न कारणों व उपोद्बलकों के आधार पर आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव-काल उक्त पूर्व सीमा से लगाकर ख्रीस्ट की आठवीं शताब्दी तक के इन बारहसौ-तेरहसौ वर्षों के अन्तराल में किसी जगह होना चाहिए। यह अबाध सत्य है—किसी व्यक्ति का प्रादुर्भाव-काल कोई एक हो सकता है। इतने लम्बे अन्तराल में वह कौन-सा केन्द्रबिन्दु है, जहाँ इसे ठहराया जा सके, यही खोजना है। इस विषय में प्रस्तुत किया गया प्रत्येक कारण विचारक को किसी सीमा तक बाध्य करता है कि उसे यहीं ठहर जाना चाहिए, इधर-उधर भटकना व्यर्थ होगा। आवश्यक है, उन कारणों का गहराई से परीक्षण किया जाय। सम्भव है, इस अवगाहन में सच्चे मोती का पता लगाया जा सके।

आधुनिक विद्वानों[1] का कहना है—"शङ्कर के काल-निरूपण के विषय में आलोचना करने के समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(क) शङ्कर के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। ये धर्मकीर्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति से अभिन्न थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। (धर्मकीर्ति का समय प्रायः ६३५ से ६५० [ई० सन्] माना जा सकता है।) **ये धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे** और धर्मपाल के परवर्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये धर्मकीर्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के भी शिष्य थे। इन्होंने प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु प्रभृति ग्रन्थों का निर्माण कर बौद्ध न्यायशास्त्र को विशेष रूप से गौरवान्वित किया था। श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्तिक प्रभृति मीमांसा-ग्रन्थों के रचयिता भट्ट-

१. द्रष्टव्य—श्री गोपीनाथ कविराजकृत 'अच्युत' (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के हिन्दी अनुवाद की भूमिका) के पृ० २७-२८, सटिप्पण।

कुमारिल इनके समकालीन थे, ऐसी प्रसिद्धि है। तिब्बतीय लामा तारानाथकृत बौद्धधर्म के इतिहास से कुमारिल तथा धर्मकीर्ति का परस्पर कैसा सम्बन्ध था, इस विषय में बहुत-सी बातें प्रतीत होती हैं। धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षलक्षण–'कल्पना-पोढमभ्रान्तं' (द्रष्टव्य—न्यायबिन्दु ११, बनारस) का श्लोकवार्तिक[1] में खण्डन किया गया है। यह लक्षण धर्मकीर्ति का ही है, दिङ्नाग का नहीं, क्योंकि दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्तं' यह विशेषण नहीं था। दिङ्नागाचार्य के प्रमाण-समुच्चय नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्षलक्षणकारिका इस प्रकार दी गई है—

नापि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात् स्मृतादिवत्।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥३॥

(द्रष्टव्य—दिङ्नागकृत प्रमाणसमुच्चय, मैसूर संस्करण, पृ० ८)

(ख) शङ्कराचार्य ने स्वयं शारीरकभाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के २८वें सूत्र के भाष्य में धर्मकीर्ति की एक कारिका का कुछ अंश, योगाचार को समालोचना के प्रसंग में, उद्धृत किया है। धर्मकीर्ति की कारिका यह है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

इस कारिका के **'सहोपलम्भनियमादभेदः'** इतने अंश का उल्लेख शंकराचार्य ने किया है। (इस श्लोक की प्रथम पंक्ति धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय तथा दूसरी पंक्ति उनके प्रमाणवार्तिक में मिलती है।)

(ग) दिङ्नाग की आलम्बनपरीक्षा से भी शंकर ने **'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तत्'** इस वचन का उद्धार किया है (२।२।२८)।

(घ) ब्रह्मसूत्र (२।२।२२ तथा २।२।२४) के भाष्य में शंकराचार्य ने जिन दो बौद्धाचार्यों के वचनों का उद्धार किया है, उनमें से पहला वचन गुणमतिकृत (६३०-४० खी०) अभिधर्मकोषव्याख्या में मिलता है।

(ङ) जैनमत-खण्डन-प्रसंग में शंकर ने जिस मत का उद्धार किया है वह दिगम्बराचार्य अकलंक के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसङ्ग में समन्तभद्ररचित आप्तमीमांसा का वचन भी

---

१. प्रत्यक्षसूत्र के श्लोकवार्तिक में पाठ इस प्रकार है—

तदधीनत्वसाम्येऽपि कल्पनाऽपोढशब्दनात्,
प्रत्यक्षं किञ्चिदेवेष्टं यथा तव तथैव नः ॥१३७॥

यहाँ 'अभ्रान्त' पद तो दिखाई नहीं दे रहा। श्लोकवार्तिक में अन्यत्र भी कहीं ऐसा लेख नहीं मिलता, जहाँ 'अभ्रान्तं' पदघटित बौद्ध-प्रत्यक्षलक्षण का विवेचन किया गया हो।

उद्धृत किया है—

'स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥' (२।२।३३)

अकलंक, साहसतुङ्ग राजा के सभासद् थे। यह राजा साहसतुङ्ग राष्ट्रकूटराज दन्तिदुर्ग का नामान्तर है। इनका शासनकाल ६७५ शकाब्द अथवा ७५३ खीस्टाब्द है। वे अकलंक अष्टसाहस्रीकार विद्यानन्द के गुरु थे।"

विवेच्य विवेचन—शंकराचार्य के प्रादुर्भावकाल के विषय में विवेचन करने के लिए वस्तुत: इन बातों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ये पाँचों प्रसंग शंकराचार्य एवं उसके प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य द्वारा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों से सन्दर्भ उद्धृत किये जाने तथा उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों की आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं; किन्हीं आचार्यों के सन्दर्भों के उद्धर्त्ता व समालोचयिता को उन आचार्यों का परवर्ती माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में धर्मकीत्ति आदि के सन्दर्भों का उद्धर्त्ता शंकराचार्य ५०९ वर्ष ईसवी पूर्व प्रादुर्भूत हुआ हो, ऐसा कथन तिरस्कार्य ही होगा। आइये, इन प्रसंगों पर यथाक्रम विचार करें।

(क) इन सभी प्रसंगों के विषय में एक साधारण परिस्थिति यह है कि बौद्ध दार्शनिकों का काल पाश्चात्य एवं भारतीय आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ निर्धारित किया है, वह सर्वथा अभ्रान्त एवं त्रुटिरहित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ में पहले भी इसका निर्देश किया जा चुका है कि प्राय: सभी बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में अपने काल का उल्लेख नहीं किया। आधुनिक लेखकों ने उस विषय में जो कुछ किया है, वह सब बाह्य साधनों के आधार पर उनके काल-निर्धारण का प्रयासमात्र है। यद्यपि शंकराचार्य आदि ने भी अपने काल का उल्लेख नहीं किया, पर उसके स्थापित अनेक मठों की परम्परा अक्षुण्णरूप में आज तक प्रवृत्त है। क्या इतने निश्चित आधार के साम्मुख्य में उन आधुनिक उल्लेखों को प्राधान्य व महत्त्व देना न्याय्य है, जो केवल कल्पना-प्रकल्पनाओं पर आधारित हैं, एवं उन्हीं लेखकों द्वारा सन्देह व वैविध्य के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं? उन लेखों में—"प्रतीत होता है, सम्भव है, ऐसा रहा होगा, यदि ऐसा मान लिया जाय" इत्यादि वाक्यों की भरमार रहती है। निश्चित है—वे लेखक उक्त विषय में स्वयं सन्दिग्ध हैं। यद्यपि उन विषयों में विभिन्न दिशानिर्देशन के लिए ऐसे लेखों का महत्त्व पूर्ण रूप में माननीय रहे, पर इतने से विषय का निर्धारण नहीं हो पाता। इसके विपरीत आचार्य के मठों की परम्परा एक निर्धारित रूपरेखा को प्रस्तुत करती है, जिसपर विश्वास किये जाने में कोई बाधा नहीं। अत: शंकराचार्य का काल निर्धारण करने के लिए बौद्ध दार्शनिकों का कल्पनामूलक तथाकथित स्वीकृत काल, निर्भ्रान्त आधार नहीं माना जा

सकता। शांकर मठों की अक्षुण्ण परम्परा के अनुसार शंकर का प्रादुर्भाव-काल निर्धारित है, तब उसकी अनुकूलता में बौद्ध दार्शनिकों के काल-निर्धारण के लिए प्रयास करना उपयुक्त होगा, न कि शिथिल एवं कल्पनाप्रधान आधारों पर खड़े किये बौद्धदार्शनिक-काल के अनुकूल शंकर का काल निर्धारण करना; यह तो वास्तविकता का शीर्षासन कर देने के समान है।

सुरेश्वराचार्य का लेख—सुरेश्वराचार्य द्वारा धर्मकीर्त्ति के उल्लेख की परीक्षा करनी चाहिए। बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक [आनन्दाश्रम-संस्करण, ४।३।७५३ श्लोक, १५१५ पृष्ठ] में सुरेश्वराचार्य की उक्ति है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्त्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥

बौद्धदर्शन में साध्य की सिद्धि के लिए तीन गमक [-बोधक निमित्त] माने गये हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इन तीन हेतुओं में से दो हेतु [स्वभाव और कार्य] वस्तु की विधि को बतलाते हैं। शेष अनुपलब्धि वस्तु के प्रतिषेध को बताता है। एक स्थान में निसर्गतः इन तीनों के नियत होने पर साधन अर्थ, साध्य अर्थ को बतलाता है। फलतः ये तीन ही साध्य अर्थ को सिद्ध कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। कारण यह है कि जो जहाँ निसर्ग से प्रतिबद्ध नहीं है, उसका अप्रतिबद्ध विषय में अव्यभिचार के नियम का अभाव रहता है। इसलिए स्वभाव से अप्रतिबद्धों में अव्यभिचार नियम अथवा अविनाभाव नियम नहीं बन सकता। गम्य-गमकभाव[1] अविनाभाव नियम से ही होता है।

आचार्य सुरेश्वर ने बौद्धदर्शन के इस सिद्धान्त का एक बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिक के उक्त प्रसंग में प्रत्याख्यान किया है। प्रथम निर्दिष्ट पद्य [७५३] से थोड़ा पहले सुरेश्वर ने इस सिद्धान्त की[2] चर्चा की है, तथा अनेक विकल्पों का

१. इस विषय के बौद्धदर्शनरीति पर उपपादन के लिए द्रष्टव्य—धर्मकीर्त्ति की रचना 'न्यायबिन्दु' द्वितीय परिच्छेद, सन्दर्भ १४ से २५।

२. द्रष्टव्य—बृ०भा०वा०, ४।३ श्लो० ७४२, पृ० १५१२, पूना-संस्करण। सुरेश्वर का श्लोक है—

"अविनाभावसिद्धयर्थं नन्विदं वर्ण्यते त्रयम्।
त्रिष्वेव त्वविनाभावाद्भद्रं तैरपि कीर्तितम्॥"

इसकी व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि ने **'यथाह कीर्तिः'** कहकर यह श्लोक धर्मकीर्त्ति का उद्धृत किया है—

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमाद्धेत्वाभासस्ततोऽपरः॥" इति,

यह पद्य प्रमाणवार्त्तिक [३।१] में उपलब्ध है। वहाँ चतुर्थ चरण का पाठ **'हेत्वाभासास्ततोऽपरे'** दिया है।

उत्थान कर इसका विवेचन किया है। इस प्रसंग में एक स्थिति ऐसी प्रस्तुत की गई है, जिससे 'स्वभाव' और 'कार्य' की एकता अथवा अभिन्नता प्राप्त हो जाती है। उस दशा में तीन में ही अविनाभाव से साध्य की सिद्धि होती है—यह धर्मकीर्त्ति की प्रतिज्ञा उखड़ जाती है।

अपनी रचनाओं में धर्मकीर्त्ति ने इस विषय का उपपादन कहाँ किया है? यह सब यहीं टिप्पणी में निर्दिष्ट कर दिया गया है। आचार्य सुरेश्वर का यह लेख सूर्य के समान इस यथार्थता पर प्रकाश डालता है कि धर्मकीर्त्ति उससे पूर्ववर्ती है। तब धर्मकीर्त्ति के आचार्य शङ्कर से पूर्ववर्ती होने में कोई बाधा नहीं रहती, क्योंकि सुरेश्वर-शङ्कर दोनों समकालिक हैं। कुमारिल और सुरेश्वर के लेखों का सन्तुलन करने से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि धर्मकीर्त्ति इनसे अधिक पूर्ववर्ती नहीं था। कदाचित् वह कुमारिल भट्ट का पूर्व-समकालिक रहा हो; कुमारिल के देहावसान से कुछ पहले ही धर्मकीर्त्ति का देहावसान हो चुका हो। कुमारिल ने अपनी रचनाओं में उसका उल्लेख नहीं किया, जैसाकि अभी आगे विवेचन किया जाएगा। सम्भव है, आयु आदि में कुछ बड़ा होने पर भी समकालिक होने से उसको कुछ महत्त्व न दिया हो। सुरेश्वर आदि के द्वारा ग्रन्थ-रचना किये जाने के काल तक विद्वत्समाज में धर्मकीर्त्ति का सम्मान बढ़ चुका था, तथा बौद्ध समाज का एक मूर्द्धन्य व्यक्ति माना जाने लगा, इस कारण सुरेश्वर ने विशेष रूप से उसका उल्लेख किया।

यह निश्चित है धर्मकीर्त्ति आचार्य शङ्कर से पूर्ववर्ती है; पर इसके साथ यह भी निश्चित है कि धर्मकीर्त्ति का जो तथाकथित काल आज माना जाता है, वह पूर्ण रूप से अशुद्ध है। आचार्य शङ्कर के मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर जो काल शङ्कर का निश्चित होता है, उससे पूर्व धर्मकीर्त्ति का काल मानना प्रामाणिक होगा।[1]

कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक आदि में धर्मकीर्त्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया गया है, यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता। श्लोकवार्त्तिक के **'प्रत्यक्षसूत्र'** प्रसंग में एक कारिका है—

तदधीनत्वसाम्येऽपि कल्पनापोढशब्दनात्।
प्रत्यक्षं किञ्चिदेवेष्टं यथा तव तथैव नः॥१३७॥

धर्मकीर्त्ति के प्रत्यक्ष लक्षण की विशेषता 'अभ्रान्त' पद का लक्षणभाग में प्रयोग बताया जाता है,[2] जो कुमारिल के श्लोक में नहीं है। तब कैसे मान लिया

१. इस विषय का उपयुक्त विवेचन अगले एक अध्याय में किया गया है।
२. **"द्विविधं सम्यग् ज्ञानम्, प्रत्यक्षमनुमानञ्च। तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।"** न्यायबिन्दु, १ परिच्छेद, २–४ सूत्र।

जाय कि यह धर्मकीर्त्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन है ?

(ख) स्वयं शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र [२।२।२८] के भाष्य में धर्मकीर्त्ति की एक कारिका के अंश का उपयोग किया है। कारिका है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।

इसके विषय में स्वयं आधुनिक विद्वानों[1] का यह कहना है कि यह इसी आनुपूर्वी के साथ धर्मकीर्त्ति के किसी ग्रन्थ में एक स्थल पर उपलब्ध नहीं है। इसका पूर्वार्द्ध **'प्रमाणविनिश्चय'** और उत्तरार्द्ध **'प्रमाणवार्त्तिक'** [२।३८९] में मिलता है। पर ज्ञात हुआ है,[2] धर्मकीर्त्ति की **'वादन्याय'** नामक रचना में यह इसी आनुपूर्वी के साथ एकत्र उपलब्ध है।

इसी सूत्र [२।२।२८] की भामती में वाचस्पति ने **'यथाह धर्मकीर्त्तिः'** कहकर यह कारिका उद्धृत की है—

तस्मान्नार्थे न च ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः ।। इति ।

यह कारिका[3] प्रमाणवार्त्तिक में विद्यमान है।

आचार्य शङ्कर के भाष्य और कारिका में केवल **'सहोपलम्भनियमादभेदः'** इतना अंश समान है। धर्मकीर्त्ति के काल से पहले भी बौद्धदर्शन में **'विषय-विज्ञान के सहोपलम्भनियम'** सिद्धान्त को माना जाता रहा है, इस व्यवस्था व नियम का अभिलापन करने के लिए अध्ययनाध्यापन की परम्परा एवं पारस्परिक चर्चाओं आदि में ऐसे पदों का प्रयोग सम्भव है। उस परम्परा से प्राप्त पदों का धर्मकीर्त्ति ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख कर दिया। वही आधार शंकर का हो सकता है। यह सम्भव है, इस आनुपूर्वी का बौद्ध साहित्य में सर्वप्रथम उल्लेख धर्मकीर्त्ति ने किया हो।

जब धर्मकीर्त्ति से पहले इस सिद्धान्त का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो उसे धर्मकीर्त्ति या उसके काल के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। कारिका के 'नीलतद्धियोः' पद इसके उपोद्वलक कहे जा सकते हैं। हेतुपद–सहोपलम्भनियम–के साथ प्रयुक्त होनेवाले परम्परा-प्राप्त 'विषय-विज्ञान' अथवा 'प्रत्यय-विषय'

१. द्रष्टव्य—श्री डॉ० गोपीनाथ कविराजकृत 'अच्युत' के पृष्ठ २८ की टिप्पणी में ३-४ पंक्ति।

२. दिल्ली विश्वविद्यालयान्तर्गत 'बुद्धिस्ट स्टडीज़' विभाग के अध्यक्ष श्री डॉ० आर० सी० पाण्डेय के निर्देशानुसार।

३. प्रमाणवार्त्तिक, २।२११।। वहाँ प्रथम चरण का पाठ **'तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने'** है।

पदों के स्थान पर छन्द में आबद्ध करने की भावना से 'नील-तद्धी' पदों का धर्मकीर्त्ति ने प्रयोग किया; पर आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में साधारण परम्परा-प्राप्त पदों का ही प्रयोग किया है। यह निर्देश इन दोनों बातों का परिचायक है कि धर्मकीर्त्ति के पहले यह सिद्धान्त इन्हीं पद-प्रयोगों के साथ चालू था, और आचार्य शङ्कर द्वारा इस सिद्धान्त का विवरण देने के अवसर पर यह आवश्यक नहीं था कि उसके मस्तिष्क में धर्मकीर्त्ति की उक्त कारिका उभर रही हो।

वस्तुत: धर्मकीर्त्ति ने जिस प्राचीन परम्परा के आधार पर इस सिद्धान्त का उल्लेख किया, आचार्य शङ्कर ने उसी परम्परा के आधार पर इसका विवेचन किया। शङ्कर द्वारा प्रस्तुत विवेचन का आधार धर्मकीर्त्ति का लेख ही रहा हो, यह आवश्यक नहीं है। वैसे इसके लिए हमारा कोई आग्रह भी नहीं है। पर 'सहोपलम्भनियमादभेद:' पदों के शङ्कर द्वारा किये गये प्रयोग को धर्मकीर्त्ति का उद्धरण कहना प्रमाणित प्रतीत नहीं होता।

(ग) दिङ्नाग के नाम से कथित सन्दर्भ अवश्य शांकरभाष्य में उद्धरणरूप से उपलब्ध होता है। ब्रह्मसूत्र [२।२।२८] के शांकरभाष्य में इस प्रसङ्ग का पाठ है—

"अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते प्रत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्[1] बहिर्वदवभासते' इति।"

आगे कारिका के 'बहिर्वत्' पदों का विस्तृत विवेचन किया है। इस सन्दर्भ के उद्धरण होने में किसी प्रकार की बाधा या आशंका नहीं उठाई जा सकती।

उक्त आधार पर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि आचार्य शंकर दिङ्नाग का परवर्ती है। आपत्ति उस स्थल पर है, जहाँ शंकर के निर्धारित काल से दिङ्नाग को परवर्ती बताया जाता है; एवं दिङ्नाग का अशुद्ध काल निर्धारण कर उसके आधार पर शंकर के प्रमाणित व अभिमत काल को झुठलाने का प्रयास किया जाता है। वस्तुत: इस सब घोटाले का मूल कारण है—भगवान् बुद्ध के काल का अशुद्ध निर्धारण। इस ऐतिहासिक विवेचना की अत्यन्त आवश्यकता है कि महाभारत-युद्धकाल के अनन्तर भारत के मुख्य राजवंशों की परम्परा का गम्भीरता के साथ निष्पक्ष भाव से संशोधन तथा साथ ही भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव-काल का भारतीय एवं एशियायी दृष्टिकोण से यथार्थ निर्णय करने का प्रयास किया जाय। यूरोपीय पादरी लेखकों ने अज्ञानान्धकार में आवृत इस विषय को

---

१. दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' नामक रचना में केवल ८ पद्य हैं। वहाँ छठा पद्य इस प्रकार है—

यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते।
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयापि च॥

विवेचन व संशोधन के नाम पर और भी अधिक धूमिल कर दिया है।[1] यहाँ हमारा केवल इतना अभिप्राय है कि दिङ्नाग के तथाकथित काल पर शंकर के काल को नहीं घसीटना चाहिये, प्रत्युत मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर निर्धारित शंकर के काल के अनुसार दिङ्नाग के काल को समझने का प्रयास होना चाहिए।

(घ) ब्रह्मसूत्र [२।२।२२ तथा २।२।२४] के भाष्य में जिन दो वचनों को उद्धरणरूप बताया गया है, और कहा गया है कि पहला वचन गुणमतिकृत अभिधर्मकोशव्याख्या में मिलता है, वस्तुतः वह वचन उद्धरण नहीं है। भाष्य का वह पाठ इस प्रकार है—

"अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति–बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं चेति। तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते।"

श्री डॉ० गोपीनाथ कविराज ने अभिधर्मकोश की गुणमतिकृत व्याख्या में उक्त सन्दर्भ के देखे जाने का उल्लेख किस आधार पर किया है, अपनी रचना [अच्युत, पृ० २८] में निर्देश नहीं किया। उक्त व्याख्या अभी तक अप्रकाशित व अनुपलब्ध है। यदि यह सत्य है कि गुणमति की व्याख्या से यह सन्दर्भ लिया गया है, तो गुणमति को शंकर का पूर्ववर्ती माना जाना चाहिए। पर उस अवस्था में गुणमति का तथाकथित काल [६३०–६४० खी०] असंगत होगा। शंकर के निर्धारित काल के अनुसार गुणमति का काल समझने का प्रयास होना चाहिए। शंकर के मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर शंकर का काल निश्चय किया जाना अधिक प्रामाणिक है।[2]

दूसरे स्थल [२।२।२४] में कतिपय उद्धृत-जैसे वाक्य लिखे गये हैं। पर वे वाक्य आचार्य शंकर ने स्वयं लिखे हैं, या कहीं अन्यत्र से उद्धृत किये हैं? यह विचारणीय है। भाष्य का पाठ इस प्रकार है—**"सौगते हि समये—'पृथिवी भगवः किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन् प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसन्निश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसन्निश्रयः' इति।"**

निश्चित ही यह किसी ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर रूप से कहे गये अर्थ का उल्लेख हुआ है। उसी का अनुवाद करते हुए आचार्य शंकर ने कुछ पद मूलग्रन्थ के यहाँ उद्धृत किये हैं, जो सन्दर्भ के मध्य में 'अन्योक्ति' चिह्न से परिवेष्टित हैं। उसके

१. भगवान् की अनुकम्पा-परम्पराओं से अरोग जीवन ने साथ दिया, तो इस अंश का ऐतिहासिक विवेचन करने का संकल्प है।

२. इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मठों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर आद्य शंकराचार्य का प्रादुर्भावकाल खीस्ट एरा से ५०९ वर्ष पूर्व प्रमाणित किया गया है।

पहले वाक्य में 'भागव:' सम्बोधन-पद यह संकेत करता है, यह रचना किसी बौद्ध ग्रन्थ की होनी चाहिए। प्रश्नोत्तररूप में वर्णित यह सन्दर्भ किस बौद्ध-रचना का है, यह अभी तक ढूँढा नहीं जा सका। ऐसी अनिश्चित व अज्ञात-कालिक रचना का उद्धरण आचार्य शंकर के किसी निश्चित काल में होने का स्वतन्त्र साधक नहीं हो सकता। ग्रन्थ व ग्रन्थकार के काल का निश्चय करने में यह उद्धरण अवश्य विचारणीय होगा।

(ङ) शंकर-काल के विवेचन-प्रसंग में अन्तिम विचारणीय बात कही गई है—**"जैनमतखण्डन प्रसंग में शंकर ने जिस मत का उद्धार किया है, वह दिगम्बराचार्य अकलङ्क के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है।"** इसमें उपोद्बलक हेतु यह दिया गया है—**"भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में समन्तभद्र-रचित आप्तमीमांसा का वचन[1] भी उद्धृत किया है।"**

वस्तुत: लेखक महोदय की यह अपनी कल्पना है। वह स्वयं अपने कथन के प्रति असन्दिग्ध नहीं है। ऐसे कथन से एक अनभिमत स्थिति को शंकर पर बलात् थोपना उसपर अत्याचार के समान है। आचार्य ने एक साधारण सिद्धान्त के रूप में जैन दर्शन के स्याद्वाद का विवेचन प्रस्तुत किया। क्या यह आवश्यक है कि इस विवेचना के लिए शंकर को समन्तभद्र के ग्रन्थ का आश्रय लेना पड़े? जैन-दर्शन का यह वाद उस दर्शन के प्रारम्भिक काल से है। शंकर के लेख में ऐसा कोई संकेत नहीं, जिससे अंशत: भी यह समझा जाये कि उसने समन्तभद्र की किसी रचना का उस प्रसंग में आश्रय लिया है।

वाचस्पति मिश्र ने समन्तभद्र की रचना से उस प्रसंग का कोई वचन उद्धृत किया, तो उसका इतना तात्पर्य हो सकता है कि वाचस्पति मिश्र समन्तभद्र का परवर्त्ती है, एवं प्रस्तुत विषय को उसने किसी रूप में समन्तभद्र की रचना में देखा है। इतने से यह परिणाम निकालना नितान्त अन्याय्य है कि शंकर ने समन्तभद्र की रचना को देखा होगा। प्राचीन दर्शनशास्त्र में पदार्थों की आशुगति का उल्लेख आता है। यदि आज का लेखक प्राचीनशास्त्र के तद्विषयक विवरण-प्रसंगों में उदाहरण के लिए वायुयान, स्पुतनिक अथवा रॉकेट आदि का उल्लेख कर दे, तो उसका यह आशय नहीं निकाला जा सकता कि प्राचीन शास्त्रकारों ने स्पुतनिक आदि को देखकर आशुगति का उल्लेख किया है। आधुनिक स्पुतनिक आदि के कर्ता जैसे आशुगतिज्ञान के उपज्ञ नहीं हैं, इसी प्रकार समन्तभद्र आर्हतदर्शन में **'स्याद्वाद'** का उपज्ञ नहीं है। आचार्य ने सामान्य सिद्धान्त को लेकर अपना

१. **स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः।**
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत्॥
(ब्र० सू० २।२।३३ की भामती)

विवेचन प्रस्तुत किया है, इस सिद्धान्त की जानकारी के लिए किस ग्रन्थ व किन आचार्यों का आश्रय लिया होगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर ऐसे निश्चय में कोई साधक प्रमाण नहीं है कि शंकर ने इस विषय को समन्तभद्र की रचना से जाना।

शंकर की रचना में तथाकथित राजाओं के नाम

कतिपय[1] विद्वानों ने ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य में अथवा शंकर की अन्य रचनाओं में यत्र-तत्र आये व्यक्तिगत अनेक नामों को राजाओं के नाम समझकर तथा इतिहास में उन नामों को अथवा उनमें से किन्हीं नामों को, यदि ठीक नाम न मिल सके तो तत्सम नाम की कल्पना कर उसको—विशिष्ट राजाओं का नाम मानकर उसके काल के अनुसार आचार्य शंकर के काल का निर्णय करने का प्रयास किया है।

कहा जाता है—आचार्य शंकर ने अपनी रचनाओं में इन राजाओं के नामों का उल्लेख किया है–राजा पूर्णवर्मा, राज्यवर्मा, बलवर्मा, कृष्णगुप्त और जयसिंह। इन सब नामों को अनेक आधुनिक विद्वानों द्वारा राजाओं के नाम माना गया है। पर यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि इन सब नामों को राजाओं के नाम किस आधार पर मान लिया गया, जबकि स्वयं शंकर ने किसी नाम के साथ 'राजा' पद का उल्लेख नहीं किया ?

कहा जा सकता है—आचार्य ने जहाँ पूर्णवर्मा का निर्देश किया है, उस लेख से पूर्णवर्मा का राजा होना स्पष्टरूप में सिद्ध होता है। वहाँ का लेख है—**"नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते।"**[2] पूर्णवर्मा के अभिषेक से पहले वन्ध्यापुत्र राजा हुआ, इस प्रकार के मर्यादाकरण से निरुपाख्य वन्ध्यापुत्र राजा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इससे ज्ञात होता है—पूर्णवर्मा नाम के किसी राजा का कभी अभिषेक हुआ, और इस पंक्ति का लेखक शंकर उस घटना से परिचित था।

हमारा निवेदन है, विवेचक विद्वान् इस प्रसंग पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। आचार्य इस प्रसंग में सत्कार्यवाद को पुष्ट कर रहा है। प्रसङ्ग है–कार्य घट अपनी उत्पत्ति से पहले असत् है, अपने कारणों की सत्ता के साथ कार्य घट का सम्बन्ध होना घट-कार्य की उत्पत्ति अथवा आत्मलाभ (अपने घटरूप में अवस्थित

१. द्रष्टव्य—वेदान्तदर्शनेर इतिहास (बंगला ग्रन्थ), प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण (१३७२ बंगला संवत्) पृष्ठ १९१, सन्दर्भ ६। ग्रन्थकार—श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती, वरीशाल शंकरमठ-अधिष्ठाता। सम्पादक—श्री राजेन्द्रनाथ घोष।

२. ब्रह्मसूत्र [२।१।१८] के शांकरभाष्य में।

हो जाना) है। असत्कार्यवादी के इस कथन पर आचार्य आपत्ति करता है--घट-कार्य ने जब तक स्वरूप को प्राप्त नहीं किया, अपने कारणों की सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है ? दो विद्यमान पदार्थों का सम्बन्ध सम्भव है; दोनों असत् अथवा सत-असत् पदार्थों का सम्बन्ध किसी प्रकार सम्भव नहीं। क्षेत्र, गृह आदि विद्यमान पदार्थों के लिए ही मर्यादाकरण का प्रयोग होता है। केवल मर्यादाकरण के असत् घट-कार्य के अस्तित्व का निर्वाह नहीं किया जा सकता। घट-कार्य के आत्मलाभ से पहले उसका कारणों के साथ सम्बन्ध कहना ऐसा ही है, जैसा पूर्णवर्मा के अभिषेक के पहले वन्ध्यापुत्र को राजा कहना। तात्पर्य यह कि पूर्णवर्माऽभिषेक की मर्यादा बतलाने मात्र से असत् वन्ध्यापुत्र का अस्तित्व माना नहीं जा सकता।

इस लेख में आचार्य ने किसी वास्तविक पूर्णवर्मा नामक राजा के अभिषेक की घटना का उल्लेख किया हो, ऐसी भावना अभिव्यक्त नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य के मस्तिष्क में एक साधारण नाम **'पूर्ण'** है; जब इसका उपयोग अभिषेक के साथ राजा के रूप में करना चाहा है, तब इसके साथ **'वर्मा'** पद लगा दिया है। आचार्य ने अन्यत्र[1] इसी **'पूर्ण'** नाम का प्रयोग खेत काटनेवाले किसान अथवा मज़दूर के रूप में किया है; इसके साथ अल्प, ह्रस्व अथवा कुत्सित अर्थ में **'क'** प्रत्यय लगाकर **'पूर्णक'** नाम दिया है। इससे आचार्य की भावना स्पष्ट हो जाती है कि वह प्रथम स्थल में किसी विशिष्ट **'पूर्णवर्मा'** नामक राजा का उल्लेख नहीं कर रहा, प्रत्युत साधारण नाम के रूप में केवल **'पूर्ण'** पद को लेकर एक विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उसके साथ **'वर्मा'** पद जोड़ रहा है; जबकि दूसरी जगह एक अन्य विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए उसी नाम-पद [पूर्ण] के साथ **'क'** प्रत्यय लगाकर अपने अभिमत प्रासंगिक भाव को अभिव्यक्त कर रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है, आचार्य ने उक्त स्थल में किसी विशिष्ट राजा की भावना से **'पूर्णवर्मा'** नाम का प्रयोग नहीं किया। इस रूप में आधुनिक विद्वानों की पूर्णवर्मा को एक विशिष्ट राजा मानकर और अपनी इच्छानुसार इतिहास में इस नाम को खोजकर उसके आधार पर आचार्य शंकर के काल का निर्णय करना—सर्वथा निराधार कल्पना है।

तीन नाम एक जगह—पूर्वोक्त नाम-सूची के तीन नामों का उल्लेख आचार्य

---

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र [१।४।१५] शाङ्करभाष्य। वहाँ का पाठ इस प्रकार है—**"व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्त्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्त्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके लवितरि।"** पूर्ण पद के आगे विभिन्न अर्थों में 'क' प्रत्यय के लिए देखें—अष्टाध्यायी ५।३।७४, ८५-८६॥

ने एक स्थल[1] पर किया है। वहाँ का पाठ है--"**तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते। गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति।**" प्रस्तुत प्रसंग में सगुणब्रह्म की उपासना करनेवाले आत्मज्ञानियों की देहपात के अनन्तर होने वाली गति का वर्णन है। इसका नाम है—उत्तरायण गति अथवा देवयान मार्ग। देह छूट जाने पर आत्मा कहाँ-कहाँ होता हुआ ब्रह्म-लोक पहुँचता है, उस समय कौन इसके मार्ग में सहयोगी अथवा इसको ले-जानेवाले होते हैं, इसका विवरण छान्दोग्य आदि उपनिषदों के आधार पर दिया गया है। वहाँ पर ले-जानेवालों के नाम अर्चि, अह, शुक्लपक्ष आदि दिये गये हैं। वे जो कोई भी हों, उनके नाम-निर्देश से उस गति [गमन-मार्ग] का निर्देश हुआ है। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है, इसी को अभिव्यक्त करने लिए आचार्य ने उक्त पंक्ति लिखी है। आदेष्टा जानेवाले को कह रहा है—तुम यहाँ से पहले बलवर्मा के पास जाओ, वहाँ से जयसिंह के पास और फिर कृष्णगुप्त के पास।

स्पष्ट ही यहाँ ये साधारण नाम हैं। न इनके साथ 'राजा' पद लगा हुआ है, न लेखक के अन्य किसी संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि ये नाम किन्हीं राजाओं के हैं। आधुनिक लेखकों को इनके राजा-नाम होने की गन्ध कहाँ से आ गई, कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः यह निराधार, पर उत्सुकता बढ़ानेवाली देन पाश्चात्य पादरी लेखकों की कृपा का फल है। इन नामों के साथ लेखक ने जिस भावना को अभिव्यक्त किया है, उसी भावना को इससे पिछले सूत्र [४।३।४] के भाष्य में अन्य नाम देकर प्रकट किया है।

स्थानों का नाम—वहाँ का पाठ इस प्रकार है—"**गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसि इति, एवमिहापि-अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह।**" यहाँ मार्ग का निर्देश अर्चि आदि को स्थान का प्रतीक मानकर किया गया है, तथा पूर्वोक्त निर्देश अर्चि आदि को उसके अभिमानी चेतन देवता का प्रतीक मानकर किया गया है। चेतन देवता के उद्देश्य से वहाँ बलवर्मा आदि चेतन के नामों का उल्लेख है; तथा यहाँ अर्चि आदि को स्थान मानकर गिरि-न्यग्रोध-नदी आदि स्थानिक नामों का निर्देश है। स्थान की भावना से कहा जा रहा है—तुम यहाँ से पहले उस पहाड़ की ओर जाना, वहाँ तुम्हें एक न्यग्रोध [बड़-बरगद का पेड़] मिलेगा, उसके आगे एक नदी आयेगी, फिर एक गाँव, उसके आगे तुम नगर में पहुँच जाओगे।

पहले स्थल में जहाँ अर्चि आदि पदों को चेतन देवता के प्रतीक मानकर उनके समान लोकव्यवहार में बलवर्मा आदि चेतन के नामों का निर्देश है, यदि उनको राजा माना जाता है, तो क्या गिरि-नदी-न्यग्रोध-ग्राम और नगर आदि को

---

१. ब्रह्मसूत्र [४।३।५] के भाष्य में।

उनकी राजधानी अथवा शासित प्रदेश माना जायगा ? वस्तुतः इस प्रकार की निराधार कल्पना यथार्थ का उपहास करना है। ऐसे ढंग पर उथले अनुसंधान की पाश्चात्य देन पर आज यहाँ का विद्वन्मण्डल लट्टू है। किसी साधारण नाम को कहीं साहित्य में देखकर उस नाम के किसी राजा के उल्लेख की कल्पना कर ली जाती है। उन नामों के प्रयोग की विशेषता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। नाम देखते ही उसके लिए इतिहास की खान खोद डाली जाती है; कदाचित् कहीं कोई रत्न निकाला गया हो, अधिकतर वह सब राख का ढेर ही रहता है। कोई भी नाम किसी भी व्यक्ति का रक्खा जा सकता है। पूर्ण, जयसिंह, कृष्णगुप्त, बलवर्मा आदि नाम देवदत्त, यज्ञदत्त, आदि के समान इतने साधारण हैं कि आज सहस्रों व्यक्तियों के ये नाम भारत में देखे जा सकते हैं। जैसे आज हैं, ऐसे शंकर के काल में नहीं थे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

नाम-सूची में राज्यवर्मा—पूर्वोक्त नामसूची में एक नाम राज्यवर्मा है। **'वेदान्तदर्शनेर इतिहास'** नामक बंगला पुस्तक के सम्पादक विद्वद्वर भक्तशिरोमणि श्री राजेन्द्रनाथ घोष ने एक स्थल[1] पर लिखा है—"राज्यवर्मा नाम से कोई राजा अभी तक नहीं मिलता। विद्वान् लोग आचार्य के कहे इस राज्यवर्मा को हर्षवर्धन का बड़ा भाई राज्यवर्द्धन मानते हैं। कारण कि लिपिकारों ने **'राज्यवर्द्धन'** पद को **'राज्यवर्मन्'** कर दिया है। यह असम्भव नहीं है। यदि आचार्य का लक्ष्य **'राज्यवर्द्धन'** है, तो आचार्य ईसवी की सातवीं शताब्दी के पहले नहीं जा सकते। आचार्य के कहे राज्यवर्मन् —जो राज्यवर्द्धन है, उसके लिए कारण भी है, क्योंकि आचार्य ने एक स्थान पर पूर्णवर्मा की अल्पदानशीलता और राज्यवर्मा की असीम दानशीलता की बात कही है। वास्तव में पूर्णवर्मा बौद्ध और नाममात्र का राजा था; इस बात को हम ह्यू न्त्सांग के वर्णन से मालूम कर सकते हैं। दूसरी ओर राज्यवर्द्धन महान् दाता और हिन्दुधर्मानुरागी बड़ा राजा था, यह सर्वप्रसिद्ध है। ये दोनों ही समसामयिक भी थे। अतएव आचार्य का **'राज्यवर्मणः'** पद **'राज्यवर्द्धनः'** हो सकता है। ऐसा न होने से आचार्य ईसवी सातवीं शताब्दी से पहले हुए, यह नहीं कहा जा सकता।"[2]

श्री घोष महाशय का यह सुझाव है—इतिहास में 'राज्यवर्मा' नाम का कोई राजा नहीं मिलता, पर **'राज्यवर्द्धन'** मिलता है; हो सकता है कि आचार्य शंकर ने **'राज्यवर्द्धन'** लिखा हो, जो लिपिकारों के द्वारा **'राज्यवर्मन्'** कर दिया गया। वस्तुतः यह कथन गवर्गण्ड राज्य की उस घटना के समान है, जब अपराधी को

---

१. उक्त बंगला ग्रंथ, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १६१ पर सन्दर्भ-संख्या ६।

२. यह मूल बंगला सन्दर्भ का हिन्दी रूपान्तर दिया गया है।

फाँसी लगाई जाने लगी, तो फाँसी का फन्दा उसके गले में ठीक नहीं आया। तब गवर्गण्ड ने हुक्म दिया—एक आदमी को फाँसी लगाना तो ज़रूरी है, इसे छोड़कर ऐसे आदमी को पकड़ लाओ, जिसके गले में फन्दा ठीक फँसाया जा सके। क्योंकि इतिहास में **'राज्यवर्मन्'** नाम का कोई राजा नहीं मिलता और विशेषकर उस काल में जब आप इच्छानुसार शंकर का विद्यमान होना सिद्ध करना चाहते हैं—पर राजा अवश्य होना चाहिए, क्योंकि आचार्य ने उल्लेख किया है, तो राज्यवर्मन् को हटाओ, उसकी जगह राज्यवर्द्धन को खड़ा कर दो; हमारा अभिलषित शंकरलाल सिद्ध है।

बलिहारी जाइये ऐसे अनुसंधानों पर! विचार कीजिये निम्नलिखित परिस्थितियों पर—

(क) आचार्य शंकर ने अपनी रचना में **'राज्यवर्मा'** नाम का कहाँ उल्लेख किया है, इसका आज तक पता नहीं। श्री घोष महोदय ने भी इसका कोई संकेत नहीं दिया।

(ख) यदि कहीं यह नाम लिया गया है, तो उसका प्रयोग किस विभक्ति के साथ हुआ है, इस विषय में कोई जानकारी नहीं दी गई। लिपिकार को वर्ण-विन्यास में भ्रम होने की आशंका तभी हो सकती है, यदि उस पद का प्रयोग **'राज्यवर्मन्'** इस रूप में हुआ हो। **'वर्धन'** और **'वर्मन्'** में लिपिभ्रम सम्भव है। यदि ऐसी विभक्ति के साथ मूल पद का प्रयोग हो, जहाँ दोनों पदों का लिपिसाम्य सम्भव नहीं, तो पद बदले जाने का दोष लिपिकार की अपेक्षा घोष महोदय पर अधिक आता है। मूल पाठ को देखे बिना कुछ नहीं कहा जा सकता; उसका अभी तक पता नहीं। केवल तथाकथित विद्वान् लोगों के कहने मात्र से राज्यवर्मन् को राज्यवर्द्धन नहीं बनाया जा सकता, जब तक आचार्य का इस विषय का मूल लेख उपलब्ध नहीं हो जाता।

(ग) राज्यवर्द्धन ने कब से कब तक राज्य किया, तथा कितने प्रदेश पर उसका शासन था, एवं कितने अतुलराशि धन का उपयोग कर प्रजा के अभ्युदय लिए कार्य किया, इतिहास के आधार पर यह सब जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इतिहास से ज्ञात है, राज्यवर्द्धन जैसे ही शासन-भार सम्भालने वाला था, उसे विशिष्ट कारणवश शत्रु से भिड़ना पड़ा, उसी संघर्ष में वह मारा गया। उसे शासन करने का ऐसा अवसर ही नहीं मिला, जब उसने प्रजा-हित के लिए कोई कार्य किये हों, अथवा अतुल्य धनराशि का दान किया हो।

फलतः ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य में जिन व्यक्तिनामों का प्रयोग हुआ है, वे साधारण नाम हैं, किसी ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं। ऐसे नामों के आधार पर आचार्य शंकर के काल-निर्धारण का प्रयास करना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण एवं अन्याय्य है।

सर्वज्ञात्म मुनि और उसका काल

कहा जाता है—'संक्षेप-शारीरक' नामक वेदान्तग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञात्म-मुनि आचार्य सुरेश्वर के शिष्य थे। परन्तु अपनी रचना में उसने गुरु का नाम देवेश्वर लिखा है।[1] प्रारम्भ में कहा है—जिसके सम्पर्क को केवल प्राप्त कर हम अच्छी तरह कृतार्थ हुए हैं, वे यशस्वी, अनेक शिष्यों को तारनेवाले देवेश्वर-चरणरज संसार में विजयी हैं। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—श्री देवेश्वर के चरण-कमलरजस्पर्श से पवित्र हुए सर्वज्ञात्म नामवाले मुनिवर ने श्रीसम्पन्न, अक्षतशासन (निष्कण्टक राज्य करनेवाले), मनुकुल में आदित्यरूप, क्षत्रिय वंश में उत्पन्न राजा के शासनकाल में सज्जनों की वृद्धि के अलंकारभूत इस 'संक्षेपशारीरक' की रचना की। प्रथमाध्याय के अन्त की पुष्पिका में सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वर लिखा है।

संक्षेपशारीरक के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने **'देवेश्वर'** पद से **'सुरेश्वर'**

---

१. ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेख है—

यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था निरवद्यकीर्त्तयः।
जगत्सु ते तारितशिष्यपंक्तयो जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः॥ [१।८]

ग्रन्थ की समाप्ति पर ग्रन्थकार का लेख है—

श्रीदेवेश्वरपादपंकजरजःसम्पर्कपूताशयः,
सर्वज्ञात्मगिराङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकम्।
चक्रे सज्जनबुद्धिमण्डनमिदं राजन्यवंश्ये नृपे,
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति॥६२॥
"इति श्रीदेवेश्वरपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममहामुनेः कृतौ संक्षेपशारीरके प्रथमोऽध्यायः।"

प्रथमाध्याय की समाप्ति पर पुष्पिका में भी ग्रन्थकार ने लिखा—

इति श्रीदेवेश्वरपूज्यपादशिष्यसर्वज्ञात्मभट्टारकमहामुनिविरचिते संक्षेप-शारीरके साधनलक्षणं तृतीयोऽध्यायः।

इति श्रीदेवेश्वरपूज्यपादशिष्यसर्वज्ञात्ममहामुनिविरचिते संक्षेपशारीरके फललक्षणं चतुर्थोऽध्यायः।

संक्षेपशारीरक के 'अन्वयार्थप्रकाशिका' टीकाकार रामतीर्थ ने 'श्रीमति' पद की व्याख्या लिखी है—

कदा चक्र इत्यपेक्षामाह—राजन्यवंश्य इति। क्षत्रिय इत्यर्थः। नृपे राजनि इति यावत्। तस्य नाम निर्दिशति—श्रीमतीति। श्रीमन्नाम्नि, किंलक्षणे-ऽक्षतशासनेऽप्रतिहताज्ञ इत्यर्थः। तस्य राज्ञो वंशतश्च श्रैष्ठ्यमाह—मनुकुलादित्य इति। मनुवंशप्रकाशक इत्यर्थः। एवम्भूते श्रीमन्नाम्नि नृपे भुवं शासति सति सर्वज्ञात्मगिराऽङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकं चक्र इत्यन्वयः।

का ग्रहण किया है। उसका विचार है, श्रेयस्काम व्यक्ति को गुरु का साक्षात् नाम नहीं लेना चाहिए, इस कारण संक्षेपशारीरककार ने **'सुर'** पद के स्थान में **'देव'** पद का प्रयोग किया है।[1] इससे प्रमाणित किया गया कि संक्षेपशारीरकग्रन्थ का कर्त्ता सर्वज्ञातममुनि आचार्य सुरेश्वर का शिष्य है। सुरेश्वर, आचार्य शंकर के समकालिक व्यक्ति हैं। सुरेश्वर ने अपनी रचना बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक में एक स्थल[2] पर धर्मकीर्त्ति नामक बौद्ध दार्शनिक का उल्लेख किया है। इसका स्पष्ट परिणाम यह है कि आचार्य शंकर बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति का परवर्त्ती होना चाहिए। कहा जाता है—धर्मकीर्त्ति का काल ख्रीस्ट सप्तम शताब्दी का अन्तिम भाग है।[3] ऐसी स्थिति में शंकर का काल ख्रीस्टपूर्व नहीं माना जा सकता।

सर्वज्ञात्मन्-विषयक विकल्प—यह स्थिति गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। सुरेश्वराचार्य द्वारा धर्मकीर्त्ति का उल्लेख निश्चित है, उसको अन्यथा नहीं किया जा सकता। उसके रहते यह भी निश्चित है कि आचार्य शङ्कर धर्मकीर्त्ति का परवर्त्ती है। पर हमें यह कहने का साहस होता है—इस विचार-परम्परा में अनेक भ्रान्तिस्थल हैं, उनका पकड़ना अत्यावश्यक है। उसके लिए निम्नलिखित शीर्षक विचारकोटि में आते हैं—

(क) सर्वज्ञातममुनि कौन है ?

(ख) मधुसूदन सरस्वती का देवेश्वर-सुरेश्वर-विषयक सुझाव कहाँ तक युक्त है ?

(ग) क्या इस विवाद में कुछ सत्यांश है कि सर्वज्ञातममुनि ने अपनी रचना आचार्य शंकर को सुनाई ?

(घ) सर्वज्ञातममुनि ने किस राजा के शासनकाल का संकेत किया है, जब उसने अपने ग्रन्थ की रचना की ?

(ङ) धर्मकीर्त्ति का तथाकथित काल कहाँ तक प्रमाणित है ?

इन विषयों पर यथाक्रम विचार प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. **आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।**
श्रेयस्कामा न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

२. **त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्तिना।**
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥

[आनन्दाश्रम संस्करण, ४।४।७५३ श्लोक, पृ० १५१५]

३. द्रष्टव्य—डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण-रचित 'मध्ययुगीन न्याय इतिहास' History of Mediavel Logic, पृ० १००–१०५। तथा प्रा० कर्न [H. Kern] कृत Manual of Buddhism, पृ० १३०। ('वेदान्तदर्शनेर इतिहास' के अनुसार)।

(क) श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने बताया है[1]—"सर्वज्ञातममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य[2] है। ७५८ ई० में सर्वज्ञातममुनि शृङ्गेरी मठ के पीठाधीश हुए। यह सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य नहीं थे। लगता है, वे देवेश्वराचार्य नामक किसी अन्य महापुरुष के शिष्य थे। देवेश्वर के पास से उन्होंने ७५८ ई० में शृङ्गेरी मठ का कर्तृत्वभार पाया। प्राचीन लेख के अनुसार सुरेश्वर २७ ई० पूर्वाब्द से ७५८ अथवा ७५७ ईसवी तक पीठाधीश थे। किन्तु इसकी सम्भावना नहीं है। प्रतीत होता है कि २७ ई० पूर्व यह तारीख निश्चित है। ७५८ ई० भ्रम से ली गई है।"

इस लेख में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। वस्तुस्थिति यह है कि सर्वज्ञातममुनि का दूसरा नाम 'नित्यबोध' अथवा 'नित्यबोधघन' कभी नहीं रहा। न सर्वज्ञातम-मुनि अथवा केवल सर्वज्ञात्मन् नाम का कोई आचार्य कभी शृङ्गेरी मठ का पीठाधीश हुआ। शृङ्गेरी मठ की उपलब्ध परम्परा 'नित्यबोधघन' नामक आचार्य से प्रारम्भ होती है। 'गुरुवंशकाव्य' आदि शृङ्गेरी मठ के साहित्य में 'सर्वज्ञात्मन्' नाम के आचार्य का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, न कहीं देवेश्वर का है।

इसके विपरीत सुरेश्वर के अनन्तर 'सर्वज्ञात्मन्' नाम का आचार्य काञ्ची-काम-कोटिपीठ संस्थान का सर्वप्रथम पीठाधीश है, जिसका काल उक्त संस्थान के लेखों के अनुसार कलि-सम्वत् २६९६ है, जब आचार्य का पीठाभिषेक हुआ। अध्यक्षताकाल ४२ वर्ष है, जो ख़ीस्टपूर्व ४०६ से ३६४ वर्ष तक आता है। ऐसी स्थिति में 'सर्वज्ञात्मन्' को 'नित्यबोधघन' के साथ जोड़ना सर्वथा असंगत एवं अन्याय्य है। ऐसा गठजोड़ विभिन्न आचार्यों की कालगणना में भयावह भ्रान्ति का जनक बन गया है। यह जान लेने पर कि सर्वज्ञात्मन् का दूसरा नाम नित्यबोध अथवा नित्यबोधघन नहीं है, प्रत्युत विभिन्न काल में होने वाले ये विभिन्न व्यक्ति हैं—स्पष्ट हो जाता है कि सर्वज्ञात्मन् आचार्य का शृङ्गेरी पीठ की अध्यता से कोई सम्पर्क नहीं रहा।

---

१. श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' नामक बंगला ग्रन्थ की रचना की है। उनका मत है—आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल ४४ वर्ष ख्रीस्ट-पूर्व है। उसको प्रमाणित करने के लिए यह विस्तृत विवेचन किया है। देखें उक्त ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृ० ११८–१९२। प्रस्तुत कथन के लिए देखें पृ० १३०।

२. 'The Truth about the Kumbhakonam Mutt' नामक इंग्लिश पुस्तक के पृ० ८१ पर, 'गुरुरत्नमालिका' नामक पुस्तक के आधार पर इस आचार्य का नाम 'स्थिरबोधघन' बताया है। वस्तुतः यह नाम 'नित्यबोधघन' है। नाम के 'नित्य' पद के स्थान पर 'स्थिर' पद रखने का क्या कारण रहा होगा, यह बताना कठिन है।

गत पृष्ठों में इस यथार्थ को स्पष्ट किया गया है कि शृंगेरी की वर्तमान उपलब्ध आचार्य-परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य 'नित्यबोधघन' हैं। इनके पीठाभिषेक से पूर्व अनेक शताब्दियों तक मठ उच्छिन्न रहा। इनके अध्यक्षताकाल के पर्याप्त अनन्तर—सम्भवत: सैकड़ों साल बाद—वह अवसर एक समस्या के रूप में शृङ्गेरी पीठाध्यक्षों के सम्मुख आया कि इस परम्परा को आचार्य शंकर के साथ कैसे सम्बद्ध कर दिया जाय ? क्योंकि इसके लिए कोई ऐतिहासिक साधन-सामग्री उपलब्ध न थी, न आज है। उन्होंने उपलब्ध परम्परा के प्रथम आचार्य नित्यबोधघन के पहले सुरेश्वर और उससे पूर्व शंकर का नाम जोड़कर इसे पूरा कर दिया। सम्भवत: ऐसे ही कारणों से शृङ्गेरी के प्राचीन लेखों में आचार्य सुरेश्वर की पीठाध्यक्षता का काल लगभग ८०० [आठ सौ] वर्ष अंकित किया गया है, जिसका संकेत श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने ऊपर की पंक्तियों में किया है, और उसे अविश्वसनीय बताया है, जो सर्वथा उचित है।

सर्वज्ञात्मन् के गुरु—ऐतिहासिक आधारों पर यह प्रमाणित है कि देवेश्वर अथवा सुरेश्वर सर्वज्ञात्मन् के गुरु थे; सुरेश्वर का सम्बन्ध लगभग आठ सौ वर्ष के लम्बे अन्तराल को भेदकर 'नित्यबोधघन' के साथ जोड़ दिया गया, तब उसे सर्वज्ञात्मन् समझने में क्या रुकावट हो सकती थी! इस प्रकार भिन्न काल के दो व्यक्ति एक बना दिये गए। स्पष्ट है, शृङ्गेरी की अध्यक्षता के साथ सर्वज्ञात्मन् का कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। सर्वज्ञातममुनि का दूसरा नाम 'नित्यबोध' अथवा 'नित्यबोधघन' समझना नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है।

(ख) **सर्वज्ञात्मन् का गुरु देवेश्वर**—सर्वज्ञात्ममुनि ने अपनी रचना 'संक्षेपशारीरिक' नामक ग्रन्थ में अपने गुरु का नाम देवेश्वर[1] लिखा है। इसकी व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती का कहना है, यहाँ 'देवेश्वर' पद 'सुरेश्वर' के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'सुर' पद के स्थान में 'देव' पद का प्रयोग[2] इसलिए किया गया है कि शास्त्र[3] गुरु के साक्षात् नाम लेने का निषेध करता है। इस विषय में मधुसूदन का यह सुझाव है।

एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि कदाचित् छन्दोरचना की दृष्टि से 'सुरेश्वर' के स्थान में—ह्रस्व-दीर्घ मात्रा का विचार करके—'देवेश्वर' पद

---

१. यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था निरवद्यकीर्त्तयः।
जगत्सु ते तारितशिष्यपंक्तयो जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः ॥१।८॥

२. 'सुर' पदस्थाने 'देव' पदप्रयोगः साक्षाद्गुरोर्नाम न गृह्णीयादिति स्मृतः।

३. आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥ (अज्ञातमूलस्थानमिदं पद्यम्। आभाणकरूपेण परम्परया प्रचलति)।

अधिक उपयुक्त रहा हो। परन्तु यह सुझाव सारहीन है; क्योंकि अध्याय-समाप्ति की पुष्पिका में[1]—जहाँ छन्द की रचना नहीं है—'देवेश्वर' नाम का प्रयोग किया गया है। इससे मधुसूदन सरस्वती का सुझाव अधिक बलवान् प्रतीत होता है। यदि छन्दोरचना से बाधित होकर छन्द में 'देवेश्वर' कहना पड़ा, तो अन्यत्र भी नाम के साम्य की भावना से 'देवेश्वर' का प्रयोग उचित समझा गया हो, यह सम्भव है। ऐसी दशा में दूसरा सुझाव भी बलपूर्ण प्रतीत होता है। संक्षेपशारीरक के अन्य व्याख्याकार रामतीर्थ स्वामी ने भी मधुसूदन के सुझाव के अनुसार **'देवेश्वरपादरेणवः'** के 'देवेश्वर' पद से 'सुरेश्वर' का ग्रहण किया है। परन्तु श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने[2] मधुसूदन आदि के सुझाव को स्वीकार नहीं किया, जैसाकि अभी गतपंक्तियों में प्रकट किया गया है। उनका कहना है—सर्वज्ञात्म-मुनि सुरेश्वर के साक्षात् शिष्य नहीं थे; उनके साक्षात् गुरु का नाम देवेश्वर है। इस प्रकार श्री प्रज्ञानानन्दजी के विचार से सुरेश्वर और देवेश्वर दो भिन्न व्यक्ति हैं।

कदाचित् बंगला-लेखक ऐसा मानकर शृङ्गेरी मठ के नित्यबोधघनाचार्य और सुरेश्वराचार्य के अन्तरालवर्त्ती उस लम्बे, लगभग आठ सौ वर्ष के, काल को किसी प्रकार भरना चाहता है, जिसका उल्लेख उसने शृङ्गेरी पीठ के प्राचीन पत्रों में बताया है। इसके लिए वह सर्वज्ञात्मन् अपर नामवाले नित्यबोधघन और सुरेश्वर के बीच में देवेश्वराचार्य नामक एक अन्य व्यक्ति की कल्पना करता है और कहता है कि शृङ्गेरी मठ की अध्यक्षता ७५८ ई० में सर्वज्ञात्मन् ने देवेश्वराचार्य से ग्रहण की।[3] अन्य भी अनेक अज्ञात आचार्य अन्तराल में रहे होंगे; अन्यथा दोनों आचार्यों [सर्वज्ञात्मन्, सुरेश्वर] के अन्तराल का आठ सौ वर्ष का काल कैसे संगत होगा ?

नित्यबोधघन और सुरेश्वर का काल-भेद—इस विषय में अभी स्पष्ट किया जा चुका है, शृङ्गेरी पीठ की आचार्य-परम्परा में सर्वज्ञात्मन् नाम का कोई पीठाधीश नहीं है। नित्यबोधघनाचार्य को सर्वज्ञात्मन् समझना सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है। सर्वज्ञात्मन् काञ्चीकामकोटि संस्थान का प्रथम अध्यक्ष है, जिसका निर्देश वहाँ की आचार्य-वंशावली में सुरेश्वर के अनन्तर किया गया है। शृंगेरी

---

१. **"इति श्रीदेवेश्वर पूज्यपादशिष्य श्रीसर्वज्ञात्ममुनेः कृतौ संक्षेपशारीरके···।"**
२. 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास', बंगला ग्रन्थ, द्वितीय संस्करण, प्रथम भाग, पृ० १०३।
३. वस्तुतः ७५८ ई० नित्यबोधघनाचार्य का संन्यास-दीक्षा लेने का वर्ष सम्भव है। शृङ्गेरीमठविषयक एक ग्रन्थ 'काशी में कुम्भघोणमठविषयक विवाद' के पृ० २५३ पर उक्त आचार्य के विषय में लेख है—"(७५७ ई०) के दिन संन्यासाश्रम ग्रहण किया था और आपका पीठाभिषेक ७७३ ई० में हुआ। इस आचार्य से सर्वज्ञात्मन् का कोई सम्बन्ध नहीं है।"

मठ की उपलब्ध आचार्य-वंशावली के प्रथम पीठाधीश आचार्य नित्यबोधघन और सुरेश्वराचार्य का अन्तराल-काल वस्तुत: आठ सौ वर्ष का न होकर लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष का है, जो द्वारका आदि मठों की परम्परा से प्रमाणित होता है।

गुरुनाम न लेना भावनामात्र—सर्वज्ञात्मन् ने अपने गुरु सुरेश्वर का साक्षात् नाम न लेकर उसके लिए **'देवेश्वर'** पद का प्रयोग किया, इसमें कोई बाधा दिखाई नहीं देती। यद्यपि अनेक विद्वान् लेखकों ने अपनी रचनाओं में अपने गुरुओं के साक्षात् नाम का उल्लेख किया है; यह अपनी भावना की बात है, किसी ने उसे उचित न समझा, तथा किसी को उसमें अनौचित्य का अनुभव न हुआ। यदि इसमें कोई ऐतिहासिक बाधा रही होती, तो उसका विवेचन उपयुक्त था। फिर नाम न लेना, स्मृति में किन प्रसंगों के लिए कहा गया है, यह भी समझना चाहिए। अपना नाम लेना भी वहाँ निषिद्ध है, जो स्वयं ग्रन्थकार ने इसी श्लोक में लिया है। गुरु का या अपना नाम किसी के द्वारा पूछने पर क्या बताने में दोष समझा जाएगा? अत: यह केवल भावना की बात कही जा सकती है। इतिहास में **'देवेश्वर'** नाम के ऐसे किसी अन्य व्यक्ति का पता नहीं लगता, ऐसी स्थिति में मधुसूदन के सुझाव को मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

आचार्य शंकर के कालनिर्धारण में सुरेश्वर और सर्वज्ञात्मन् का काल-निर्णय विशेष महत्त्व रखता है। सुरेश्वर के विषय का विवेचन इसी अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है। सर्वज्ञात्मन् का काल विवेच्य है। यद्यपि मठों की परम्परा के अनुसार उसका काल निश्चित है, पर आधुनिक विवेचन-पद्धति उसमें अनेक बाधाओं का उद्भावन करती है। उन बाधाओं की वास्तविकता को समझना और उनका परिशोधन, विवेचन का मुख्य रूप है।

सर्वज्ञात्मन् के कालनिर्णय का आधार—सर्वज्ञात्ममुनि ने अपनी रचना **'संक्षेपशारीरक'** के अन्तिम भाग में अपने स्थितिकाल का निर्देश निम्न श्लोक द्वारा इस प्रकार किया है—

श्री देवेश्वरपादपंकजरज:सम्पर्कपूताश्रय:,
सर्वज्ञात्मगिरांकितो मुनिवर: संक्षेपशारीरकम्।
चक्रे सज्जनबुद्धिमण्डनमिदं राजन्यवंशे नृपे
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति॥

श्लोक के प्रथम चरण में गुरु [देवेश्वर] का नाम, द्वितीय चरण में अपना [सर्वज्ञात्ममुनि] तथा अपनी रचना का नाम [संक्षेपशारीरक] निर्दिष्ट है। शेष दो चरणों में क्षत्रिय वंश के किसी राजा का संकेत किया है, जिसके शासनकाल में ग्रन्थ की रचना की गई। यह कौन-सा राजा है, इसका युक्तिसंगत निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। विद्वानों के इस विषय में विभिन्न विचार हैं।

सर्वज्ञात्मन् के यथार्थ कालनिर्णय में सबसे बड़ी बाधा है—शृङ्गेरी मठ के आचार्य 'नित्यबोधघन' को 'सर्वज्ञात्मन्' समझना। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विभिन्न काल में होने वाले ये दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। इस दृष्टि के साथ उक्त श्लोक पर विचार करना उपयुक्त होगा।

सर्वज्ञात्मन् के कालविषय में स्वामी प्रज्ञानानन्द का विचार—श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने श्लोक के 'श्रीमति' पद के 'श्रीवाला, लक्ष्मीवाला या लक्ष्मीपति' इस अर्थ को लेकर लक्ष्मीपति के रूप में—विष्णु, नारायण अथवा कृष्ण आदि ऐसे किसी नाम की कल्पना कर, राष्ट्रकूटवंश के 'प्रथम कृष्ण' नामक राजा का यहाँ उद्भावन किया है। इस राजा का राज्यकाल ७६० से ७८० ई० पर्यन्त रहा। सर्वज्ञात्ममुनि इसी राष्ट्रकूटवंशीय राजा 'प्रथम कृष्ण' के समसामयिक थे, और उन्होंने उसके काल में संक्षेपशारीरक की रचना की।[1]

'श्रीमति' पद से उक्त प्रकार की किसी नाम की कल्पना करना सर्वथा क्लिष्ट एवं प्रमाणहीन है। स्वामी महोदय ने शृङ्गेरी पीठाधीश नित्यबोधघन को सर्वज्ञात्मा समझकर उसे पहले के काल में घसीटने का व्यर्थ प्रयास किया है। वस्तुस्थिति यह है कि श्लोक में ग्रन्थलेखन के न किसी काल का संकेत है, और न संकेतित राजा के नाम-विशेष का उल्लेख है।

श्लोक में ग्रन्थरचना के स्थान का भी उल्लेख नहीं है। स्वामी महोदय समझते हैं—संक्षेपशारीरक ग्रन्थ शृङ्गेरी में लिखा गया। पर सर्वज्ञात्मा का नाम सुरेश्वर के अनन्तर काञ्ची-कामकोटि पीठ की आचार्य-वंशावली में देखा जाता है। उससे यह विचार सामने आता है कि ग्रन्थरचना सम्भवतः काञ्ची में हुई। राष्ट्रकूटवंशीय 'प्रथम कृष्ण' राजा किस प्रदेश का शासक था, यह ज्ञातव्य है। शङ्कर के काल और सुरेश्वर-शिष्य सर्वज्ञात्मा के काल में विशेष अन्तर नहीं है। केरलीय शङ्करचरित में लिखा है—आचार्य शङ्कर का घर कोचीन राज्य के अन्तर्गत था। उस समय कोचीन की राजगद्दी पर 'राजराज' नामक राजा आसीन था। उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाने पर 'राजशेखर' नामक राजा उसका उत्तराधिकारी होकर गद्दी पर बैठा। यह आचार्य शङ्कर का समकालिक था।[2]

कामकोटि-पीठानुसार शङ्करचरित के आधार पर काञ्ची में शङ्कर-निवास के समय काञ्ची का राजा 'राजसेन' नामक बताया है।[3] उस काल में प्रायः छोटे-छोटे प्रादेशिक अथवा माण्डलिक राजा होते थे। यह निश्चित है—वर्तमान

१. वेदान्तदर्शनेर इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १३३–३५।
२. पं० बलदेव उपाध्यायकृत माधवीय शंकरदिग्विजय का हिन्दी अनुवाद, परिशिष्ट (क), पृ० ५८५ के आधार पर।
३. वही ग्रन्थ, पृ० ५८२।

काञ्ची नगर वही है, जो शङ्कर के समय में था। यह भी निश्चित है—काञ्ची नगर कोचीन राज्य से बाहर है। उस समय भी ये पृथक् राज्य थे, यह शंकर-चरितों में वर्णित वहाँ के तात्कालिक राजाओं के पृथक् नामों के आधार पर स्पष्ट होता है। राष्ट्रकूट वंश का राजा 'प्रथम कृष्ण' किस काल में दक्षिण भारत के कितने भाग पर शासन करता था, यह निश्चय किया जाना आवश्यक है। आचार्य शंकर से सम्बद्ध स्थान उसके शासित क्षेत्र के अन्तर्गत थे भी या नहीं, इसका अभी तक निश्चय कहाँ है ? क्या यह माना जा सकता है कि शंकर का जन्मस्थान एवं शृंगेरी पीठ तथा काञ्ची नगर एक ही शासक 'प्रथम कृष्ण' के शासित क्षेत्र में थे ? विशेषतः सर्वज्ञात्ममुनि से सम्बद्ध काञ्ची-कामकोटि किस राजा के शासन में था, इसका निश्चय किया जाना अत्यावश्यक है। इतिहास से यह प्रमाणित है कि राष्ट्रकूट वंश के राजा 'प्रथम कृष्ण' का दक्षिण भारत में शासन वर्तमान औरंगाबाद नगर के आस-पास के प्रदेशों पर था। अजन्ता, ऐलोरा आदि के भाग इसी शासन के अन्तर्गत थे। कतिपय समीपवर्ती माण्डलिक राजा इसके [प्रथम कृष्ण के] प्रभाव में अवश्य थे, परन्तु चोल, पाण्डच और केरल आदि के शासक सर्वथा स्वतन्त्र थे। शृंगेरी मठ और काञ्ची-कामकोटि का संस्थान, दोनों 'प्रथम कृष्ण' के शासित प्रदेश से सर्वथा बाहर थे। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञात्मा के द्वारा संकेतित राजा, राष्ट्रकूटवंशीय 'प्रथम कृष्ण' को माना जाना सर्वथा असंगत है। फिर श्लोक के 'श्रीमति' पद से इस नाम की कल्पना करना उक्त मान्यता को और अधिक सारहीन बना देता है।

सर्वज्ञात्मन् के कालविषय में राजेन्द्रनाथ घोष का विचार—श्री राजेन्द्रनाथ घोष[1] ने संक्षेपशारीरक के श्लोक में पठित 'मनुकुलादित्ये' इस समस्तपदान्तर्गत 'आदित्य' पद से चालुक्यवंशीय एक राजा के नाम का उद्भावन किया है—'आदित्यवर्मा'। उनका कहना है—"चालुक्यवंशीय प्रथम विक्रमार्क का एक भाई

१. श्री घोष बाबू का संन्यासी-अवस्था का नाम चिद्घनानन्द सरस्वती है। 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' के द्वितीय संस्करण का आपने सम्पादन किया है। इतिहास के लेखक, स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल ईसा-पूर्व ४४ वर्ष माना है। उसकी मान्यता में एक आधार कोई प्राचीन लेख है, जिसमें १४ विक्रमार्क अब्द आचार्य का प्रादुर्भावकाल बताया है। स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए जितने प्रमाण संकलित किये हैं, सम्पादक के अधिकार से घोष बाबू ने प्रायः सभी ऐसे स्थलों पर अपनी मान्यता के अनुसार आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी हैं। यह लेख उन्हींके आधार पर है। द्रष्टव्य—ग्रन्थ का प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १३३ तथा १३५ की टिप्पणी। अन्तिम भाग के लिए पृ० १२६ की टिप्पणी।

आदित्यवर्मा था, शृङ्गेरी आदि स्थानों में जिसका आधिपत्य था। उसकी राजधानी का नाम 'हरिहर' था। यह शिलालेख[1] से पता चलता है। पण्डित रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत है। 'मनुकुलादित्य' कहने से 'आदित्य'-उपाधिधारी बहुत-से राजाओं से युक्त चालुक्यवंश को लेने से सब ओर से रक्षा होती है।···

आचार्य शंकर के काल में चालुक्यवंशीय प्रथम विक्रमार्क का १४वाँ अब्द होने पर जिस प्रकार सुरेश्वर का काल संगत होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञात्ममुनि का काल भी सङ्गत होता है।···हमने नाना दिशाओं में देखकर आचार्य शंकर का काल ६८६ ईसवी माना है। ४४ ख्रीस्टाब्द-पूर्व होने से ह्वेन्त्सांग और इत्सिंग का आचार्य के विषय में उल्लेख न करना अस्वाभाविक-सा लगता है।"

श्री घोष के विचार का विवेचन—हम देखते हैं, उक्त श्लोक से 'आदित्य-वर्मा' नाम की उद्भावना पहली कल्पना के अनुरूप सर्वथा प्रमाणहीन है। आदित्यवर्मा का शृंगेरी आदि स्थानों में आधिपत्य था, परन्तु सर्वज्ञात्ममुनि का शृंगेरी पीठ से सम्बन्ध बताने में कोई ऐतिहासिक साक्षी नहीं है। शिलालेख का कोई निर्देश नहीं दिया गया। यदि दो-चार व्यक्ति एक असत्य बात को समान रूप से कहने लगें, तो वह प्रसारित भले हो जाये, पर सत्य नहीं हो सकती। 'मनुकुलादित्ये' में 'आदित्य' पद केवल तेजस्विता का द्योतक है–वह राजा मनुकुल में आदित्य के समान तेजस्वी था। इसमें 'आदित्य' उपाधि अथवा नाम-विशेष का संकेत मानने के लिए कोई उपयुक्त प्रमाण व युक्ति नहीं है। निश्चित ही ऐसी कल्पना, किन्हीं भ्रान्त आधारों पर बने अपने पूर्वाग्रहों को स्थिर बनाये रखने के लिए प्रयासमात्र हैं। चालुक्यवंशीय विक्रमार्क के १४वें अब्द में आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव मानकर न केवल सुरेश्वर व सर्वज्ञात्ममुनि का काल असंगत हो जाता है, प्रत्युत आचार्य के समस्त मठों की निर्धारित परम्परा उच्छिन्न हो जाती है। असत्य कल्पनाओं पर बलात् किन्हीं स्वाभिलषित राजाओं के साथ इनके गठजोड़ को संगत कैसे कहा जा सकता है ?

शंकर, सुरेश्वर, सर्वज्ञात्मा, ये समसामयिक व्यक्ति हैं। इनमें सबसे अधिक आयु वाले सुरेश्वर हैं। शंकर का निधन सबसे पूर्व हुआ, अनन्तर सुरेश्वर का। सुरेश्वर के परलोकवासी हो जाने पर सर्वज्ञात्मा काञ्ची-कामकोटि पीठ के अध्यक्ष रहे। अभी गत पंक्तियों में शंकरचरितों में उपलब्ध सामग्री के आधार

---

१. किस शिलालेख के आधार पर ऐसा प्रमाणित होता है, उसका कोई निर्देश घोष बाबू ने यहाँ नहीं दिया। द्वारका आदि मठों की पूर्ण प्रामाणिक परम्पराओं की छाया में ऐसे लेखों की परीक्षा की जानी चाहिए।

पर कहा गया है कि आचार्य शंकर का जन्मस्थान कोचीन राज्य में था। शृङ्गेरी पीठ उसीके अन्तर्गत है; वह भूभाग अब तमिलनाडु में है। शंकरकाल में वहाँ के राजा का नाम 'राजशेखर' था। उसी काल में काञ्ची-कामकोटि पीठ से सम्बद्ध[1] सर्वज्ञात्ममुनि के द्वारा वहाँ के शासक का संकेत किया जाना सम्भव है। सर्वज्ञात्मा के श्लोक में चालुक्यवंशीय आदित्यवर्मा का उद्भावन उक्त लेख के विपरीत जाता है।

ख्रीस्टपूर्व में शंकर का काल क्यों नहीं—घोष बाबू का कहना है, ख्रीस्टपूर्व में यदि आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल माना जाता है, तो चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग और इत्सिंग के द्वारा आचार्य शंकर के विषय में उल्लेख न करना अस्वाभाविक-सा लगता है। इसका तात्पर्य है, उनके यात्रा-विवरणों में आचार्य का उल्लेख अवश्य होना चाहिए था; न होने से स्पष्ट है—आचार्य उनके भारत-आगमन-काल से परवर्त्ती-काल में आविर्भूत हुआ।

ऐसा विचार रखनेवाले सब महानुभावों से पूछा जा सकता है—क्या ह्वेन्त्सांग आदि ने जिनका उल्लेख नहीं किया, उन सबको उनसे परवर्त्ती माना जा सकता है? कहा जाएगा, सबका उल्लेख चाहे न हो, पर जो पूर्ववर्त्ती आचार्य उन यात्रियों के विचारों से उग्र विरोध रखनेवाले हों, अथवा अनुकूल विचार रखते हों, तथा उनके अध्ययनकाल में जिनका साहित्य उनके सन्मुख आया हो, उनका उल्लेख किया जाना तो स्वाभाविक था। क्योंकि इनमें से कोई स्थिति उन यात्रियों के सन्मुख नहीं आई, इससे यही जाना जाता है कि तब तक शंकर और उसके साहित्य का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था।

ह्वेन्त्सांग और शंकर—इस विषय में निवेदन है, चीनी यात्रियों का यहाँ आगमन बौद्ध धर्म की खोज और बौद्ध साहित्य के अध्ययन की[2] भावना से हुआ।

---

१. सर्वज्ञात्मा का शृंगेरी पीठ से सम्बन्ध इन्हीं लेखकों के अनुसार है। श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती और श्री चिद्घनानन्द सरस्वती (घोष बाबू) दोनों ने सर्वज्ञात्मा का सम्बन्ध शृङ्गेरी पीठ से बताया है; यद्यपि वह अशुद्ध है। सर्वज्ञात्मन् का सम्बन्ध काञ्ची-कामकोटि पीठ से है, यह मठों की वंशावली से प्रमाणित होता है।

२. नालन्दा के प्रधानाचार्य शीलभद्र के पूछने पर सुयेन च्वांग [ह्वेन्त्सांग] ने कहा—"मेरा विचार यहाँ आकर केवल अपने देशवासियों के निमित्त धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करना था।" ऐसी बात राजा शिलादित्य से भेंट होने पर कही गई है—"सुयेनच्वांग [ह्वेन्त्सांग] इतने दूर से धर्म की जिज्ञासा के हेतु आया था और उसकी इच्छा योग-शास्त्र अध्ययन करने की थी।" 'चीनी यात्री सुयेनच्वांग' सेम्युअल बील के अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी में श्री सत्य-जीवन वर्मा एम० ए० [श्री भारतीय] द्वारा अनूदित, ईसवी सन् १९४२ में

उस प्रसंग में जो आनुषङ्गिक घटनाएँ व परिस्थितियाँ उनके सामने आईं, उन्हीं का पूर्ण-अपूर्ण वर्णन अपने विवरणों में प्रस्तुत किया। इसके विवेचन के लिए उनके विवरणों की छानबीन करना आवश्यक है, क्योंकि इस युक्ति को शंकर के काल का निर्धारण करने में बहुत प्रबल रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

(१) उन यात्रियों के यात्रा-विवरण हमारे सन्मुख हैं। उन्होंने अपने उस काल में भारत के भीतर बौद्धधर्म के अभ्युत्थान अथवा उसकी उन्नत दशा का निदर्शन न कर प्रायः अनेक विहार-संस्थानों के विध्वस्त हो जाने तथा अनेक रूपों में बौद्धधर्म के ह्रास का अधिक उल्लेख किया है। कतिपय माण्डलिक नरेशों ने ह्वेन्त्सांग का धार्मिक आचार्य के रूप में राजगौरवोचित सम्मान किया अथवा कहीं शास्त्रमूलक धार्मिक चर्चा की गई, उनका खुला वर्णन बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा व प्रभाव स्थापित करने की भावना से किया गया प्रतीत होता है। कुछ प्रसंग बौद्ध साहित्य के अध्ययन-लेखन आदि के हैं। ऐसे सभी प्रसंगों में बौद्धधर्म की श्रेष्ठता और अन्य धर्मों की निम्नता प्रकट करने का प्रयास स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग यात्रा-प्रसंग तथा सुनेसुनाये चमत्कारयुक्त, पर वहम व अज्ञानान्धकार से पूर्ण, कथानकों से भरा हुआ है।

(२) शास्त्रीय चर्चाओं में कतिपय स्थलों पर सांख्य, मीमांसा, व्याकरण आदि का उल्लेख हुआ है, पर इन दर्शनों के रचयिता आचार्यों के नामों का उल्लेख कहीं नहीं है। व्याकरण में केवल पाणिनि नाम का उल्लेख है, पर अनेक बौद्ध वैयाकरणों में किसी का नाम नहीं लिया गया। अनेक बौद्ध दार्शनिकों के नामों का भी उल्लेख नहीं हुआ। यह हम उन्हीं आचार्यों के विषय में लिख रहे हैं, जो निश्चित रूप में ह्वेन्त्सांग से पूर्ववर्त्ती माने जाते हैं।[1] तब क्या उक्त युक्ति के आधार पर उनको भी ह्वेन्त्सांग का परवर्त्ती माना जाना चाहिए? वस्तुतः ऐसी युक्ति में कोई सार नहीं है।

ह्वेन्त्सांग के भारत-आगमन में एक बड़ा आकर्षण था—भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि होना। यह काल भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास का रहा है। अनन्तर भी कभी बौद्धधर्म का अभ्युत्थान नहीं हो पाया। आचार्य शंकर इस काल से बहुत

शारदा प्रैस, प्रयाग से प्रकाशित। द्रष्टव्य—पृ० १७०, १७५॥ २—'ह्वेन्त्सांग का भारतभ्रमण' पृ० २२६, ई० सन् १९२९ का इण्डियन प्रैस लिमिटेड, प्रयाग-संस्करण।

१. प्रायः स्वयूथ्य आचार्यों के नाम हैं, परयूथ्य आचार्यों में से कदाचित् ही किसी का नाम लिया गया हो, शंकर का ही क्यों लिया जाना आवश्यक था। स्वयूथ्यों में भी आर्यदेव, कुमारजीव, बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति, दिङ्नाग आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख चीनी यात्री ने नहीं किया।

पूर्व हो चुका था, जब भारत में बौद्धधर्म का राजा-प्रजा सब पर विस्तृत प्रभाव था। आचार्य के चरित्र-वर्णनों के अनुसार उसके जीवन का लक्ष्य उसी काल में समञ्जस होता है। आचार्य के प्रादुर्भाव को सातवीं-आठवीं शती में बतानेवाले विद्वानों का दृष्टिकोण सर्वथा एकाङ्गी है।

ह्वेन्त्सांग और वेदान्त का अध्ययन—ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी एवं उससे पूर्व वेदान्त का अथवा शांकर सम्प्रदाय के वेदान्त का अध्ययनाध्यापन नहीं होता था, क्योंकि ह्वेन्त्सांग के अधीत तथा चर्चित शास्त्रीय प्रसंगों में इसका उल्लेख नहीं हुआ है,–ऐसी कल्पना करना सर्वथा उपहासास्पद है। चीनी यात्री महायान बौद्ध सम्प्रदाय का अनुयायी था; उसने उसी सम्प्रदाय के ग्रन्थों को अध्ययन करने का विशेष प्रयास रक्खा। पुराने हीनयान तक की उसने खुलकर निन्दा की है। सब शास्त्रों के अध्ययन के लिए उसकी समान रुचि रही हो, ऐसा कोई प्रमाण उसके यात्राविवरण से नहीं मिलता। तब अवश्य वह वेदान्त व उसके आचार्यों का, विशेष रूप से शंकर का उल्लेख करता,–ऐसा विचार चिन्तनीय है। स्पष्ट है, जो उसने पढ़ा और आनुषङ्गिक रूप से जो जानकारी में आ गया, उसी का उल्लेख उसने किया है। उस काल की प्रायः यह परम्परा रही है कि सभी अध्येता अपने सम्प्रदाय के साहित्य का विशेष अध्ययन करते रहे हैं। किसी अंश तक आज भी यह परम्परा चालू है। चीनी यात्री के विवरणों से कोई परिणाम निकालते समय उसकी उन भावनाओं का विशेष ध्यान रखना चाहिए, जिनसे प्रेरित होकर वह इस देश में आया। वेदान्त और उसकी विभिन्न शाखाओं का अध्ययनाध्यापन पर्याप्त प्राचीन है।

(ग, घ) **सर्वज्ञात्मा का संकेतित राजा**—इस सब विवरण के फलस्वरूप सर्वज्ञात्मा के उक्त श्लोक के आधार पर किन्हीं कृष्णवर्मा अथवा आदित्यवर्मा आदि नामों की कल्पना कर उन नामों के राजाओं के काल में 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की रचना बताना किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। इसमें मूलभूत भ्रम यह हुआ है कि शृङ्गेरी के पीठाधीश आचार्य नित्यबोधघन को सर्वज्ञात्मा समझ लिया गया है। सर्वज्ञात्मा काञ्ची-कामकोटि संस्थान के प्रथम अध्यक्ष थे; शृङ्गेरी के नहीं। सुरेश्वर के ठीक अनन्तर सर्वज्ञात्मा काञ्ची-संस्थान के अध्यक्ष बने; परन्तु आचार्य नित्यबोधघन सुरेश्वर के काल से लगभग ११८० वर्ष बाद शृङ्गेरी पीठ के अध्यक्ष-पद पर आये। इस लम्बे अन्तराल-काल में सैकड़ों वर्षों तक शृङ्गेरी पीठ उच्छिन्न रहा, यह गत पृष्ठों में स्पष्ट कर दिया गया है। संक्षेपशारीरक के विषय में यह प्रवाद कि—ग्रन्थ की रचना हो जाने पर आचार्य शंकर ने इसे सुना था—असमंजस प्रतीत नहीं होता। इसमें असामञ्जस्य तभी दिखाई देता है, जब नित्यबोधघन को सर्वज्ञात्मा समझ लिया जाता है।

श्री पं० कोटा वेंकटाचल पाकयाजी ने आन्ध्रवंश के राजाओं का भारतीय-

साहित्य के आधार पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते[1] हुए लिखा है—आन्ध्र-राजवंशावली के १८वें राजा अरिष्ट सातकर्णी के शासनकाल में आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ। महाराज अरिष्ट का शासनकाल खीस्ट-पूर्व [बी० सी०] ५१९ से ४९४ तक २५ वर्ष रहा।[2] इसके अनन्तर हाल सातकर्णी और मन्दालक नाम के दो राजाओं ने खीस्ट-पूर्व ४९४ से ४८४ तक केवल दस वर्ष शासन किया। ४८४ से ४६३ खीस्ट-पूर्व तक २१ वर्ष आन्ध्र के राजसिंहासन पर महाराज पुरीन्द्रसेन का शासन रहा। इसी अन्तराल में आचार्य शंकर का देहावसान हुआ। आचार्य का प्रादुर्भाव-वर्ष ५०९ खीस्ट-पूर्व तथा अवसान-वर्ष ४७७ ई०-पूर्व है। आचार्य का आयुमान ३२ वर्ष ६/७ मास के लगभग रहा। महाराज पुरीन्द्रसेन के शासनकाल में संक्षेपशारीरक ग्रन्थ लिखा गया, यह अधिक सम्भव है। उसी का संकेत सर्वज्ञात्मा ने उक्त श्लोक में किया प्रतीत होता है। आन्ध्रवंश के तात्कालिक राजाओं का शासन-प्रभाव सुदूर दक्षिण के भूभागों तक फैला हुआ था; यह राजवंश प्रसिद्ध सूर्यवंश की एक शाखा के अन्तर्गत था, यह सर्वविदित है।

इन सब विवरणों से स्पष्ट हो जाता है—संक्षेपशारीरक के श्लोक के निर्देश से अन्य राजा-नामों की कल्पना के आधार पर सर्वज्ञातममुनि के काल के अनुसार आचार्य शंकर के काल का निर्धारण करना किसी प्रकार निरापद नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञातममुनि ने किसी भावना से प्रेरित होकर 'सुरेश्वर' गुरुनाम के स्थान पर 'देवेश्वर' पद का प्रयोग किया है। इस नाम का न तो अन्यत्र इतिहास में कहीं पता लगता है और न सुरेश्वर के लिए अन्यत्र कहीं इस पद का प्रयोग देखा जाता है। यद्यपि, सुरेश्वर के एक अन्य नाम—विश्वरूप—का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3] फलतः सुरेश्वर से अतिरिक्त देवेश्वर नाम के किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना करना प्रामाणिक न होगा। इन सब आधारों पर सर्वज्ञात्म-मुनि का काल पीठों की परम्परा के अनुसार मानना निर्बाध कहा जा सकता है। यह काल ईसापूर्व चौथी शताब्दी का आदि-भाग है।

(ङ) धर्मकीर्ति का तथाकथित छठी-सातवीं शताब्दी काल पूर्णरूप से अप्रामाणिक है,–यह अन्यत्र[4] प्रस्तुत किया गया हैं।

भट्ट कुमारिल क्या आचार्य शंकर का परवर्ती है?—श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द

१. Chronology of ANCIENT HINDU HISTORY Part 1, गान्धीनगर, विजयवाड़ा-२ से कलिसंवत् ५०५८ एवं १९५७ ई० सन् में प्रकाशित, पृ० १७८–१९७।
२. वही ग्रन्थ, पृ० १९२।
३. द्रष्टव्य—**विद्यारण्यकृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह'**, विजयनगर-सीरीज़-संस्करण, पृ० ४९।
४. देखें—इस ग्रन्थ का सुरेश्वर-प्रसंग, तथा चतुर्दश अध्याय।

सरस्वती ने **'वेदान्तरदर्शनेर इतिहास'** नामक अपनी बंगला-रचना[1] में लिखा है—"आचार्य शंकर ने वेदान्तसूत्रभाष्य में जहाँ मीमांसामत का उल्लेख व खण्डन किया है, वहाँ सर्वत्र शबरस्वामी के मत का उद्धरण है; कहीं मीमांसासूत्र का उल्लेख हुआ है, पर कुमारिल भट्ट का नहीं। वेदान्तसूत्र [१।१।४] पर पूर्वपक्ष-रूप में मीमांसा का जो मत[2] शंकर ने निर्दिष्ट किया है, उसे आनन्दगिरि [न्यायनिर्णय-टीकाकार] और गोविन्दानन्द [रत्नप्रभा-टीकाकार] ने अपनी टीकाओं में कुमारिल भट्ट का मत बताया है।[3] पर इस स्थल पर दोनों टीकाकार भ्रम में पड़ गये हैं। वाचस्पति ने भामती में ऐसा कोई विशेष निर्देश नहीं किया। वहाँ साधारण रूप से—**'उपसंहरति—तस्मादिति'** यह लेख है। आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द दोनों अनतिप्राचीन व्यक्ति हैं; उन्होंने ऐतिहासिकता की रक्षा न कर केवल व्याख्या की है।

वेदान्तसूत्रों पर भाष्यरचना से पूर्व यदि आचार्य शंकर कुमारिल भट्ट के ग्रन्थों को देख पाता, तो निश्चय ही अपनी रचनाओं में प्रसंगानुसार उनका उल्लेख करता। शबरस्वामी और उपवर्ष का तो शंकर ने नाम लेकर उल्लेख किया है।[4] इसलिए मीमांसामत का निर्देश शबरस्वामी का मत कहा जा सकता है, कुमारिल का नहीं। इसलिए कुमारिल को शंकर का परवर्ती मानना ठीक होगा।"

सम्भवतः श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती के इस सुझाव के पीछे उन्हें यह भय पीड़ित कर रहा प्रतीत होता है कि कुमारिल को आधुनिक अनेक विद्वानों द्वारा धर्मकीर्त्ति का समकालिक बताया जाता है। उनके विचार से धर्मकीर्त्ति का काल ईसा की सातवीं शताब्दी में है। आचार्य शंकर के वेदान्तभाष्यगत जिन लेखों को धर्मकीर्त्ति के लेखों के साथ सन्तुलित कर शंकर को धर्मकीर्त्ति का परवर्ती बताया जाता है, वे लेख भले ही धर्मकीर्त्ति के लेखों की छाया में न लिखे गये हों,

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, पृ० १४२–१४७।

२. **"न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रिया विषयत्वाद्विधेः। तस्मात् कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—।"**
[१।१।४ सूत्र की अवतरणिका]

३. आनन्दगिरि—**'वार्तिककारमतमुपसंहरति—तस्मादिति।**
गोविन्दानन्द—**'भाट्टमतमुपसंहरति—तस्मादिति।'**

४. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र [३।३।५३] का शांकरभाष्य।

पर कुमारिल के लेखों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उसका लेख[1] यह स्पष्ट करता है कि कुमारिल, धर्मकीत्ति से परिचित है। ऐसी दशा में यदि कुमारिल को शंकर का पूर्ववर्ती अथवा समकालिक माना जाता है, तो शंकर ने भले ही स्वयं धर्मकीत्ति का उल्लेख न किया हो, पर कुमारिल द्वारा उसका स्मरण करने से शंकर को धर्मकीत्ति का परवर्त्ती मानना होगा। यह स्थिति श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती को सह्य नहीं, अत: इस भय से बचने के लिए उन्होंने उक्त सुझाव दिया।

इतिहास का शोधन—परन्तु इस सुझाव के साथ अन्य अनेक समस्याएँ सामने आ खड़ी होती हैं। सबसे पहली बात यह है कि शंकर के लेख में चाहे धर्मकीत्ति का नाम अथवा उसके लेख का कोई संकेत न हो, पर आचार्य शंकर ने दिङ्नाग के एक सन्दर्भ[2] को स्पष्ट रूप से उद्धृत किया है। धर्मकीत्ति के आज स्वीकृत तथाकथित-काल से दिङ्नाग का काल थोड़ा पूर्व कहा जाता है।[3] ऐसी दशा में श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती के विचारानुसार शंकर का प्रादुर्भाव-काल ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में कैसे ले-जाया जा सकेगा ?[4]

वस्तुत: आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव-काल आचार्य के स्थापित पीठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर ईसा से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व है। पर आधुनिक पाश्चात्य पादरी पण्डितों ने इस मान्यता के लिए जो बाधा उपस्थित की है, उससे पार पाने के लिए उक्त सुझाव-जैसे साधन सर्वथा शिथिल हैं। ये तो और अधिक बाधाओं को सामने उभार लाते हैं, तथा **'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि:'** की कहावत को चरितार्थ करते हैं। उन बाधाओं की जड़ दूसरी जगह है,

१. पर आज तक कुमारिल का कोई ऐसा लेख उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे कुमारिल को धर्मकीत्ति का परवर्त्ती कहा जा सके। प्रत्यक्षसूत्र के श्लोक-वार्तिक के १३७वें श्लोक में बौद्धदर्शन का जो प्रत्यक्षलक्षण दिया गया है, वह **'अभ्रान्तं'** पदरहित होने से धर्मकीत्सिकृत लक्षण नहीं है। कुमारिल के समस्त वार्तिक में अन्य कोई प्रसंग धर्मकीत्ति के परिचय का उपलब्ध नहीं है।

२. ब्रह्मसूत्र [२।२।२८] के शांकरभाष्य में लिखा है—**"अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते— 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते'** इति।" दिङ्नाग की आठ पद्य की लघुरचना 'आलम्बन-परीक्षा' में छठा पद्य है—**'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते।'**

३. धर्मकीत्ति का काल ईसा की सातवीं शती का पूर्वार्द्ध भाग तथा दिङ्नाग का काल ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध भाग कहा जाता है।

४. श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने अपनी उक्त रचना में शंकर का प्रादुर्भाव-काल ईसा-पूर्व ४४ वर्ष सिद्ध करने का प्रयास किया है। द्रष्टव्य—**'वेदान्त-दर्शनेर इतिहास'**, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ११८–१९२।

उसको खोदने व उखाड़ने की आवश्यकता है; ऊपर के पत्रोपचारमात्र से इस रोग का दूर होना सम्भव नहीं। रोग की वह वास्तविक जड़ है—बौद्ध दार्शनिकों तथा तत्सम्बन्धी अन्य ऐतिहासिक विशिष्ट व्यक्तियों का तथाकथित निर्दिष्ट काल। उनके आज स्वीकृत काल के परिशोधन की अत्यन्त आवश्यकता है; वह काल पूर्णरूप से सन्दिग्ध है। उसके साथ तात्कालिक राजवंशावलियों का परिशोधन भी पूर्णरूप से अपेक्षित है। विशुद्ध भारतीय साधनों के आधार पर भारतीय परम्पराओं का ध्यान रखते हुए भारतीय दृष्टिकोण से इनका परिशोधन होना चाहिए।

इस दिशा में जो विचार सामने आये हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि पूर्वाचार्यों के तथाकथित निर्धारित काल में दस-बीस या सौ-पचास वर्षों तक का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत यह अन्तर लगभग बारह-तेरह शताब्दियों तक का दिखाई दे रहा है। हमें इस विचार को तिलाञ्जलि देनी होगी कि जो कुछ सर्वतोमुखी अभ्युदय की दशा है, वह ईसा के प्रादुर्भावकाल के आस-पास अथवा उसके अनन्तर ही करवट ले सकी है। आधुनिक उपलब्धियों से किसी को नकार नहीं, हमारा लक्ष्य केवल सच्चे इतिहास की खोज करना है। इस विचार-प्रवाह को जिन भ्रान्त धारणाओं पर आधारित कल्पना-बाँधों से बाँध देने—जकड़ देने का प्रयास किया गया है, उसका द्वार खोलना होगा। विकृत-बन्धन के कारण उन विचारों में उभर रही सड़ाँद को दूर करने के लिए उनका पुनः छानना—संशोधन करना आवश्यक है। उस दशा में हम देखेंगे कि ईसा से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व बैठे हुए भी आचार्य शंकर बौद्ध दार्शनिकों की आलोचना में रत हैं, तथा इसमें किसी तरह का कोई असामञ्जस्य नहीं है। तब हमें न कुमारिल को शंकर के अनन्तर लाने की आवश्यकता होगी, और न सुरेश्वर के विषय में कोई चिन्ता होगी।

सुरेश्वर और धर्मकीर्त्ति—श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने कुमारिल को शंकर से पीछे लाकर कदाचित् यह समझा है कि अब शंकर के काल को ईसापूर्व ले-जाने में कोई बाधा नहीं है। पर सुरेश्वर ने—जो निश्चित ही शंकर से पूर्व-समकालिक है—धर्मकीर्त्ति का नाम लेकर 'बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक' नामक अपनी रचना में उल्लेख किया है,[1] उसका क्या होगा ? श्री स्वामीजी इसका सदुत्तर देने में सर्वथा अक्षम रहे हैं। उन्होंने इस बात की दुहाई दी है कि सुरेश्वर

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, आनन्दाश्रम, पूना संस्करण, ४।४।७५३ श्लोक, पृ० १५१५। वार्त्तिक का पाठ इस प्रकार है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्त्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥

ने इसी बौद्ध सिद्धान्त का अन्यत्र[1] विवेचन करते हुए धर्मकीर्त्ति का नाम नहीं लिया; वहाँ केवल **'शाक्यभिक्षु'** कहा है। पर क्या धर्मकीर्त्ति के लिए **'शाक्यभिक्षु'** पद का प्रयोग कर देना कोई अपराध है? फिर जहाँ नाम लिया है, उसका क्या समाधान होगा? श्री स्वामीजी ने इसके लिए एक नई कल्पना यह की है कि सुरेश्वर ने जिस धर्मकीर्त्ति का निर्देश किया है, वह प्रसिद्ध धर्मकीर्त्ति नहीं है, प्रत्युत कोई अन्य प्राचीन धर्मकीर्त्ति है। एक नाम के अनेक व्यक्तियों का होना इतिहास से असिद्ध नहीं है।[2]

विचारणीय है, यह कल्पना कहाँ तक इतिहासानुकूल कही जा सकती है? वस्तुस्थिति यह है–सुरेश्वर से पूर्व अथवा समकाल में जिस धर्मकीर्त्ति की कल्पना की गई है, वह अन्य कोई धर्मकीर्त्ति न होकर प्रसिद्ध धर्मकीर्त्ति ही है।[3] अन्तर केवल इतना है कि उक्त धर्मकीर्त्ति का जो काल आज समझा जाता है, वह असत्य है। उसे वास्तविक रूप में वहीं होना चाहिए, जहाँ किसी अन्य धर्मकीर्त्ति की कल्पना की जा रही है। वस्तुतः इन विद्वानों की वर्त्तमान में स्वीकृत तथाकथित उस पूरी परम्परा को कल्पित काल से उठाकर इतिहास के सच्चे काल में ले-जाना होगा, जहाँ निराधार कल्पना की फिर आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

कुमारिल, शंकर का परवर्त्ती नहीं—श्री स्वामीजी के उपर्युक्त सुझाव में इन दो बड़ी[4] बाधाओं के अतिरिक्त एक यह समस्या सामने आती है कि आचार्य शंकर ने वेदान्तभाष्य में मीमांसा के जिन मतों का उल्लेख किया है, वे सब शबरस्वामी के आधार पर हैं, कुमारिल भट्ट के नहीं; तो क्या कुमारिल भट्ट का मत शबर-स्वामी के मत से कोई भिन्न रहा होगा? वह शबरस्वामी का मत है, भट्ट का नहीं,–ऐसा कहने से उनके परस्पर-विरोध की उक्त भावना प्रकट होती है।

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, उक्त संस्करण, ४।३ श्लो० ७८८, पृ० १५२३। वहाँ का पाठ इस प्रकार है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति योक्ता प्रयत्नतः।
प्रतिज्ञार्थस्य संत्यागो न युक्तः शाक्यभिक्षुभिः॥

२. द्रष्टव्य—वेदान्तदर्शनेर इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १८६-८७।

३. सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, पूना संस्करण [४।४] श्लो० ७५३, पृ० १५१५ में धर्मकीर्त्ति के जिस कथन का उल्लेख किया है, वह प्रसिद्ध धर्मकीर्त्ति की रचना 'न्यायबिन्दु' में उपलब्ध है। तब सुरेश्वर-स्मृत धर्मकीर्त्ति कोई अन्य कैसे?

४. **एक**—शंकर द्वारा स्पष्ट रूप में दिङ्नाग के 'आलम्बनपरीक्षा' ग्रन्थ से उद्धरण देना, तथा **दूसरी**—सुरेश्वर द्वारा धर्मकीर्त्ति का नाम लेकर उल्लेख करना।

वस्तुस्थिति यह है कि दोनों के मतों में कोई अन्तर नहीं है। शंकर के लेखों का आधार कौन है, इसकी पहचान मत-विभिन्नता से हो सकती थी। किन्हीं अन्य विशिष्ट हेतुओं से कुमारिल यदि शंकर का परवर्त्ती सिद्ध होता, तो यह कहा जा सकता था कि शंकर के लेखों का आधार वह सम्भव नहीं। इसके विपरीत समस्त परम्परा और साहित्यिक लेख इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं कि कुमारिल आचार्य शंकर का पूर्व-समकालिक रहा है।

हम यह नहीं कहना चाह रहे कि शंकर के मीमांसाविषयक लेखों का आधार कुमारिल का लेख है। यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि शंकर के लेखों का आधार शवरस्वामी का लेख है; पर इतने से कुमारिल को शंकर का परवर्त्ती नहीं कहा जा सकता। यह सम्भव है, शंकर ने सम-सामयिक होने से कुमारिल के लेख को उतनी मान्यता देना उचित न समझा हो। प्रायः सम-सामयिकता में प्रचार एवं प्रतिष्ठा का अभाव किसी की उपेक्षा का कारण हो जाता है। इसलिए कुमारिल को शंकर का परवर्त्ती मानना किसी समस्या का समाधान नहीं है।

शांकरभाष्य के टीकाकारों ने[1] शंकर द्वारा विवेचित व प्रस्तावित मीमांसक-मत को जो भट्ट कुमारिल का मत बताया है, उसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। यह सम्भव है—आचार्य शंकर ने शवरस्वामी के ग्रन्थ से मीमांसा-मत को प्रस्तुत किया हो; टीकाकारों ने उसे कुमारिल का बताया; यह स्थिति इतिहास-विषयक किसी भ्रान्ति की जनक नहीं है। यदि उन्होंने ऐसा न लिखा होता, तो कुमारिल भट्ट आचार्य शंकर का परवर्त्ती माना जाता,–ऐसी बात नहीं है। हमारे सामने कोई ऐसे आधार नहीं, जिनसे कुमारिल भट्ट आचार्य शंकर का परवर्त्ती सिद्ध होता हो।

कुमारिल भट्ट ने[2] वेदान्त-मत का जो विवेचन किया है, वह आचार्य शंकर की किसी रचना के आधार पर है, ऐसा कोई संकेत कुमारिल के लेख में उपलब्ध नहीं है। शंकर के प्रादुर्भावकाल से पर्याप्त पूर्व वह विचारधारा वेदान्तमत के

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र [१। १।४] के अवतरणिका-भाष्य पर रत्नप्रभा और आनन्दगिरि टीका।

२. श्लोकवार्त्तिक [सूत्र ५, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लो० ८४–८६ चौखम्बा संस्करण, पृ० ६६३] में भट्ट कुमारिल का लेख है—

स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्त्वाच्चान्यवस्तुनः।
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता।।
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते।
स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति।।
विलक्षणोपपाते हि नश्येत् स्वाभाविकी क्वचित्।
न त्वेकात्माऽभ्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः।।

रूप में प्रचलित रही है, जिसको आचार्य शंकर ने चरम सीमा तक पुष्ट करने का प्रयास किया। कुमारिल भट्ट का इस विषय का विवेचन शंकर-पूर्व प्रचलित वेदान्तमत को लक्ष्य करता है, ऐसा मानने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं। उपलब्ध ऐतिहासिक आदि साधनों के रहते कुमारिल भट्ट को शंकर के पूर्व-समसामयिकता से हटाया जाना सम्भव नहीं। श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने शांकरभाष्य के टीकाकारों के विषय में तो लिखा कि वे भ्रम में पड़ गये, उन्होंने इतिहास की रक्षा न कर केवल व्याख्या की है, परन्तु इस विषय में स्वयं श्री स्वामीजी इतिहास की उपेक्षा करते प्रतीत हो रहे हैं। वस्तुतः श्री स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत कुमारिलभट्ट-विषयक विवेचन सर्वथा चिन्त्य है।

इस समस्त विवेचन के फलस्वरूप आचार्य शंकर का प्रादुर्भावकाल ५०९ वर्ष ईसा-पूर्व निश्चित होता है। परन्तु सबसे प्रबल आपत्ति इसमें अशोक के अरमीनियन लिपि में उपलब्ध शिलालेख हैं। उसका विवेचन चतुर्दश अध्याय में किया गया है।

त्रयोदश अध्याय

आचार्य शंकर और बौद्ध दार्शनिक

आचार्य शङ्कर के काल-निर्णायक अन्य आधार—श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने अपनी रचना 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' में निम्नलिखित आधारों से शङ्करकाल-निर्णय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है[1]—

(क) शंकर के ग्रन्थ में महायान और हीनयान प्रभृति बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं है।

(ख) शांकरभाष्य में बौद्धदार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं है।[2]

(ग) वैदान्तिक भास्कर शंकर के परवर्त्ती थे।[3]

(घ) शंकर श्रीकण्ठ से प्राचीन थे।[4]

(ङ) पुराणों में शङ्कर का उल्लेख।[5]

(च) शंकर लंकावतार सूत्र के लेखक से प्राचीन थे।[6]

(छ) शंकर नागार्जुन से पहले हुए।[7]

(ज) सप्तम शताब्दी में अद्वैतवाद का उल्लेख।[8]

इन सब आधारों पर अतिसंक्षेप से विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में बौद्ध सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया है। इसका प्रसंगवश अन्यत्र विस्तृत विवेचन हो जाने से यहाँ निर्देशमात्र पर्याप्त होगा।

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, प्रथम भाग, १४७–८३।

२. वही ग्रन्थ, पृ० १५२–५६।

३. वही ग्रन्थ, पृ० १५७–५९।

४. वही ग्रन्थ, पृ० १६०–६२।

५. वही ग्रन्थ, पृ० १६३–६८।

६. वही ग्रन्थ, पृ० १६८–७६।

७. वही ग्रन्थ, पृ० १७६–८१।

८. वही ग्रन्थ, पृ० १८१–८३।

(क, ख) यह ठीक है, आचार्य शंकर के ग्रन्थों में **'हीनयान-महायान'** पदों का प्रयोग नहीं हुआ। बौद्ध साहित्य में अथवा तदितर साहित्य में इन पदों का प्रचलन बौद्ध सम्प्रदायों के लिए कब से प्रारम्भ हुआ, यह आलोचक विद्वानों द्वारा देखा जा सकता है। परन्तु आचार्य शङ्कर ने बौद्ध सम्प्रदाय के शास्त्रीय भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो बाह्यार्थवादी, विज्ञानवादी और शून्यवादी नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती का विचार है "ईसा की दूसरी शताब्दी में महायान सम्प्रदाय की विशेष उन्नति हुई। महायान सम्प्रदाय ने शंकर के मत से प्रभावित होकर अपने मत का संस्कार और संशोधन किया। ईसवी दूसरी शताब्दी में महायान बौद्ध सम्प्रदाय हिन्दु-प्रभाव से प्रभावित हो गया था। नागार्जुन माध्यमिक दर्शन के प्रधान आचार्य थे। उनके जीवन में हिन्दुप्रभाव प्रस्फुटित है। महायान सम्प्रदाय की इस उन्नति का कारण हिन्दुधर्म का विकास है। हिन्दुधर्म का यह पुनरुत्थान शंकर के अतिमानवीय प्रयत्नों की अभिव्यक्ति है।......निश्चय ही बौद्धदर्शन का विकास ईसवी दूसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी में (१५० ई०—७५० ई०) साधित हुआ।" इत्यादि।

श्री स्वामीजी के इस विचार में अनेक विच्छृङ्खलताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। प्रतीत होता है, कुछ ऐसी असत्य धारणाएँ विचारकों के मस्तिष्क में घर कर गई हैं, जिनके आधार पर हर एक चीज़ की नाप-तोल करने का प्रयास किया जाता है, जिसका परिणाम सर्वथा असत्य होता है; उसका सत्य के साथ सामञ्जस्य कैसे सम्भव है? ऐसी स्थिति में सामञ्जस्य बैठाने के लिए-भले ही वह आपाततः प्रतीत होता हो—अनेक असत्य-परिकल्पनाओं की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी परिकल्पनाएँ श्री स्वामीजी द्वारा प्रादुर्भूत हुई हैं—

(१) उक्त विचार की विच्छृङ्खलता में पहली बात यह समझने की है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से बौद्ध सम्प्रदाय का तो ह्रास हुआ, पर बौद्धदर्शन का उसी काल में विकास होता रहा। शंकर के विचार से प्रभावित होकर यदि बौद्ध सम्प्रदाय के दार्शनिक नेताओं ने अपने सिद्धान्तों में संशोधन किया, तो यह ह्रास की दशा न होकर अभिवृद्धि की दशा होनी चाहिए। श्री स्वामीजी के कथना-

---

१. ब्रह्मसूत्र [२।२।१८] शांकरभाष्य, **'स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदात् विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित् सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यतावादिन इति।**

ब्रह्मसूत्र [२।२।२८]—**'विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते।'**

ब्रह्मसूत्र [२।२।३२]—**'अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं...इति।'**

नुसार तो सम्प्रदाय में जिस चीज़ की कमी समझी गई, उसे पूरा कर लिया गया; फिर यह ह्रास कहाँ हुआ ?

(२) श्री स्वामीजी की यह कल्पना भी असत्य है कि शंकर के विचारों से प्रभावित होकर महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ। हीनयान-महायान नामों का चाहे शंकर ने उल्लेख न किया हो, पर इन नामों के पीछे बौद्ध दर्शन में जो परस्पर भेद हैं, उनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस भेद के आधार पर आचार्य ने भगवान् बुद्ध को लक्ष्य कर बड़ी नुकीली चुटकी ली है।[1] इससे स्पष्ट है, बौद्धदर्शन में परस्पर वे सब भेद आचार्य से पूर्व विद्यमान हैं, जिनको आचार्य के प्रभाव से बौद्धदर्शन में आया कहा गया है।

वस्तुस्थिति यह है—यदि उन विचारों के उपज्ञ शंकर होते, तथा उनसे प्रभावित होकर बौद्धदार्शनिकों ने वे अपनाये होते, तो यह सम्भव न था कि आचार्य शंकर और उनके समकालिक अन्य आचार्य अपने परवर्त्ती बौद्ध दार्शनिकों के संदर्भ-उद्धरण देकर तथा नामोल्लेख कर उनका स्मरण करते। इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में शंकर का अनुकूल या प्रतिकूल रूप से कहीं उल्लेख किया दृष्टिगोचर नहीं[2] होता। तब हीनयान-महायान पदों का उल्लेख शंकर की रचनाओं में न होने से यदि यह कहा जाता है कि इन सम्प्रदायों के प्रादुर्भावकाल से शंकर पूर्ववर्त्ती है, तो यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध दार्शनिकों की रचनाओं में शंकर का उल्लेख न होने से वे रचना शङ्करकाल से पूर्ववर्त्ती हैं ? स्पष्ट है, माहायानिक सिद्धान्त शंकर के प्रभाव का परिणाम नहीं हैं; यह एक प्रकार से वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर दिया गया है।

(३) इसी रूप में तीसरी विच्छृङ्खलता यह है कि उक्त विचार के विपरीत अभी तक की भारतीय परम्परा तथा पौराणिक लेख यह स्पष्ट करते हैं कि

१. 'अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति।' ब्रह्मसूत्र [२।२।३२] शांकरभाष्य।

२. 'तर्कज्वाला' नामक बौद्ध रचना के 'औपनिषददर्शनविमर्श' प्रसंग में गौडपादकारिका के कतिपय उद्धरण उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ का कर्त्ता है—भावविवेक अथवा भव्यविवेक। इसका काल ख्रीस्ट एरा की पाँचवीं शती बताया जाता है। द्रष्टव्य—'**इण्डोईरानियन जर्नल**' के १९६३-६४ के किसी अंक में प्रकाशित श्री डॉ० गोखले का लेख। [श्री डॉ० आर० सी० पाण्डेय के कथनानुसार]। परन्तु आचार्य शंकर का उल्लेख प्रसिद्ध बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता।

शंकर के सिद्धान्त बौद्ध सिद्धान्तों से प्रभावित हैं।[1] दोनों की तुलना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है—बौद्धदर्शन के क्षणिक-विज्ञानवाद को नित्यविज्ञान का रूप देकर तथा शून्यवाद के शून्य तत्त्व के स्थान पर ब्रह्म को स्थापित कर आचार्य शंकर ने बौद्धदर्शन की मान्यताओं को वैदिक रूप देने का प्रयास किया। अपने इस प्रयास की पुष्टि व सफलता के लिए आचार्य ने जिन उपनिषदों को आधार बनाया, उनमें आचार्य के इन विचारों के विपरीत पुष्कल सामग्री उपलब्ध है, जिसकी आचार्य ने उपेक्षा की है, अथवा उसको अन्यथा विवृत किया है। उपनिषदों के जो कतिपय लेख औपचारिक व वैकल्पिक हैं, उनको यथार्थता का महत्त्व देकर उन विचारों को वैदिक रूप में सँवारा है। महायान-सिद्धान्त शंकर-विचार से प्रभावित हैं, यह कथन एक उज्ज्वल परिकल्पनामात्र है।

(४) आचार्य शंकर ने **'हीनयान-महायान'** पदों का प्रयोग नहीं किया। उन सम्प्रदायों के रहते भी आचार्य के लिए उनका उल्लेख करना प्रयोजनहीन था। कारण यह है कि हीनयान-महायान बौद्ध सम्प्रदाय का धार्मिक भेद है। इस आधार पर उनके दर्शन का भेद अनन्तर-काल में हुआ। शंकर द्वारा किया गया बौद्धदर्शन-खण्डन दार्शनिक भित्ति पर आधारित है, धार्मिक भित्ति पर नहीं। आचार्य शंकर ने बौद्ध-सम्प्रदाय के पूजा-पाठ व धार्मिक विधि-विधानों का कहीं खण्डन नहीं किया। उसका समस्त प्रयास बौद्धदर्शन के खण्डन में सीमित है। ऐसी स्थिति में आचार्य द्वारा हीनयान-महायान के उल्लेख का अवसर ही न था।

(५) इस प्रसंग में एक ध्यान देने की बात है—यह कहना कहाँ तक सत्य है कि आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भावकाल में हिन्दुधर्म अथवा वैदिकधर्म जीर्ण-शीर्ण, सर्वथा क्षीण व मरणासन्न था? बौद्धधर्म ही उस समय यहाँ का सार्वभौम धर्म हो चुका था। आचार्य शङ्कर ने अपने अतिमानवीय प्रयत्नों से उसका जीर्णोद्धार किया।

हिन्दुधर्म का क्षय—इतिहास और वर्त्तमान हिन्दुसमाज इस तथ्य का सबसे बड़ा साक्षी है कि इस धर्म का अर्थात् वैदिकधर्म का कभी इतना ह्रास अथवा क्षय नहीं हुआ, जिससे उसे मरणासन्न व मरणप्राय कहा जा सके। भारतीय वैदिकधर्म के विषय में इस प्रकार के विवरण आधुनिक विदेशी व देशी पादरी लेखकों की लेखनी के चमत्कार हैं। इस धर्म को ये महानुभाव **'ब्राह्मणधर्म'** के

---

१. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।**
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव कथितं देवि! जगतां नाशकारणात्॥
—पद्मपुराण, उत्तर खण्ड, २६३।७२, ७६॥

नाम से प्रचारित करते रहे हैं। पर भारतीय साहित्य में किसी ऐसे सार्वजनिक सर्वमान्य धर्म का नाम **'ब्राह्मणधर्म'** नहीं मिलता। भारतीय शास्त्रों में इस नाम से केवल उन कर्त्तव्यों का उल्लेख हुआ है, जो ब्राह्मण वर्ण के लिए आवश्यक समझे गये हैं। इसी प्रकार शास्त्रों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, जो उनके धर्म बताये गये हैं। पर इन भलेमानसों ने समस्त वैदिक परम्पराओं व अनुष्ठानों को **'ब्राह्मणधर्म'** नाम देकर ब्राह्मणेतरों में उनके प्रति द्वेष व घृणा की भावना पैदा करने का एक आधार बनाकर अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय दिया है।

किसी भी देश के समाज में विभिन्न अवसरों पर विशिष्ट व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। उनकी विशिष्टता या महत्ता उन्हीं आधारों पर नापी-तोली जाती है, जो उन्होंने अपने राष्ट्र व समाज के अभ्युदय के लिए कार्य किये होते हैं। ऐसी महान् आत्माओं का कभी किसी समाज में प्रादुर्भाव होना समाज के सुदृढ़ अस्तित्व को प्रकट करता है, उसकी जीर्णता व क्षीणता को नहीं। भारतीय समाज ने अपने वास्तविक सन्तुलन को कभी नहीं खोया। समाज की स्थितियाँ किसी व्यक्ति के प्रादुर्भाव-काल का निर्णय करने में आधार नहीं होतीं।

(६) **कनिष्क-काल में बौद्ध सम्मेलन**—श्री स्वामीजी ने ['ख' भाग में] लिखा है—"कनिष्क के काल में बौद्धों का तीसरा सम्मेलन हुआ, नागार्जुन और कनिष्क समकालिक थे। नागार्जुन ईसवी दूसरी शताब्दी में हुए। तीसरे सम्मेलन के सभापति वसुबन्धु ने महाविभाषाशास्त्र का प्रणयन किया।

इससे आगे के सन्दर्भ में लिखा है—"चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग में योगाचार सम्प्रदाय के प्रधानतम आचार्य असङ्ग और उनके भाई वसुबन्धु का आविर्भाव हुआ।"

इन दोनों लेखों में परस्पर विरोध है। पहला सन्दर्भ वसुबन्धु को कनिष्क-कालिक तृतीय बौद्ध सम्मेलन का सभापति बताकर उसका काल कनिष्क के साथ ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रथम भाग में रखता[1] है। इसके विपरीत दूसरा सन्दर्भ स्पष्टरूप से वसुबन्धु का प्रादुर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में बता रहा है। चौथी शताब्दी के अन्त में प्रादुर्भूत व्यक्ति द्वितीय शताब्दी के आदि भाग में होने वाले तृतीय बौद्ध सम्मेलन का सभापति बने, यह कैसे हो सकता है? यह विच्छृङ्खलता इस लेख में स्पष्ट है। अनेक बार कहा जा चुका है, बौद्धदार्शनिकों का तथाकथित काल पूर्णरूप से संदिग्ध है। यही कारण है कि

१. कनिष्क का यह समय यद्यपि सर्वथा निर्धारित नहीं है। कनिष्क के विषय में यह एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि उसका काल अभी तक अनिश्चित है।

लेखक इस विषय में अपने विचारों के अनुसार गड़बड़ लिखते रहते हैं।

(७) **आगे 'ख' भाग में इस आशय का लेख है**—"हीनयान-महायान पदों के समान उनके अवान्तर भेद–सौत्रान्तिक, वैभाषिक तथा माध्यमिक, योगाचार पदों का प्रयोग भी आचार्य शङ्कर की रचनाओं में नहीं देखा जाता। आर्यदेव, उसके शिष्य भदन्त धर्मत्रात तथा भदन्त वसुमित्र आदि वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं। भदन्त वसुमित्र कनिष्क के पुत्र हुविष्क के समकालिक थे। हुविष्क १५० ई० में सिंहासन पर आसीन हुए।···शङ्कर ने जिस मत का खण्डन किया, वह प्राचीन मत है।···नागार्जुन और परवर्त्ती दार्शनिकों ने जो मत स्थापित किया, उसका शङ्कर ने खण्डन नहीं किया" इत्यादि।

श्री स्वामीजी का यह लेख भी आचार्य शङ्कर के काल को ईसापूर्व स्थापित करने में समर्थ नहीं है। कारण यह है कि आचार्य ने चाहे **'वैभाषिक'** आदि नाम लेकर खण्डन न किया हो, पर **'वैभाषिक'** नाम से प्रतिपादित सिद्धान्त, सर्वास्तिवादी नाम से प्रतिपादित सिद्धान्तों से भिन्न नहीं है। किसी नाम को लेकर उस विचार के खण्डन किये जाने का दोनों नामों पर लागू होने में क्या बाधा है? क्या आर्यदेव, वसुमित्र आदि ने उस वाद को 'वैभाषिक' आदि नाम दिया? ऐसा माने जाने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

इसके अतिरिक्त भले ही आचार्य ने 'वैभाषिक' आदि पदों का उल्लेख न किया हो, पर आर्यदेव, वसुमित्र आदि के लगभग समानकाल में प्रादुर्भूत कहे जानेवाले आचार्य दिङ्नाग के ग्रन्थ का एक सन्दर्भ आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट रूप में उद्धृत किया है।[1] वस्तुस्थिति यह है कि इन आधारों पर आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भावकाल ईसापूर्व सिद्ध किया जाना कठिन है, क्योंकि मूल में हम एक अशुद्ध आधार को लेकर चल पड़े हैं। जब तक उसे ठीक नहीं किया जायेगा, तब तक ये असामञ्जस्य हटाये नहीं जा सकते; ऊपर की लीपापोती और जहाँ-तहाँ थेगलियाँ लगाने से वास्तविक स्वरूप का उभार लेना सम्भव नहीं है। मूल को सँवारना होगा। वह है—प्रायः समस्त बौद्ध दार्शनिकों का काल ईसा के पूर्ववर्त्ती होना। इसमें विदेशी यात्रियों के लेख भी बाधक नहीं हैं। पूर्णरूप से उनके पुनः परिशीलन की एवं यथायथरूप में उनको समझने की आवश्यकता है।

इस प्रसंग में संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का जो काल ईसा की आठवीं

---

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र [२।२।२८] शांकरभाष्य—"यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते—**'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् ('तु' मूलपाठ) बहिर्वदव-भासते' इति।**" यह मध्यगत उद्धृत सन्दर्भ दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' नामक रचना के छठे श्लोक का भाग है।

शताब्दी बताया गया है, वह किसी प्रकार संगत नहीं है। इस विषय का गत पृष्ठों में विवेचन कर दिया गया है।

(ग, घ) वैदान्तिक भास्कर तथा श्रीकण्ठ, आचार्य शंकर के परवर्त्ती हैं, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। परन्तु विल्सन, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य लेखकों ने एकाङ्गी साधनों के आधार पर आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव-काल ७८८ ई० माना है; उसको असंगत सिद्ध करने की भावना से श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने चालू प्रसंग को प्रस्तुत किया है।

श्रीकण्ठ और वैदान्तिक भास्कर दोनों आचार्यों का काल निश्चित ही ७८८ ई० से पूर्व है।[1] ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गये भाष्य के प्रारम्भ में दोनों आचार्यों ने जैसा उल्लेख किया है[2], उससे स्पष्ट है कि शंकर का काल उनके काल से पर्याप्त पूर्व होना चाहिए। फलतः ७८८ ई० शंकर का प्रादुर्भाव-काल किसी प्रकार सम्भव नहीं।

(ङ) पुराणों में शंकर का उल्लेख होना कोई असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। लेखक का यहाँ केवल इतना आशय है कि अन्य कारणों से भी शंकर का काल ईसा से पहले मानना ठीक होगा। इस प्रसंग के लेख का सार इतना है—पुराणों में अनुकूल या प्रतिकूल भावनाओं के साथ शंकर और उसके मत का उल्लेख हुआ है। पुराणों का सम्पादन आधुनिक विचारकों के अनुसार गुप्त-साम्राज्य-काल में हुआ। गुप्त-साम्राज्य का तथाकथित काल प्रायः ३५०–६०० ईसवी शती माना जाता है। पुराणों में शंकर-मतविषयक उल्लेख इस काल अथवा इससे कुछ पूर्वकाल में प्रक्षिप्त किये गये, यही कहा जा सकता है। इससे प्रमाणित होता है—आचार्य का काल इससे पूर्व कहीं होना चाहिए। अन्य आधारों के सहयोग से ईसापूर्व ४४ वर्ष आचार्य का प्रादुर्भाव-काल हमने स्वीकार किया है।

---

१. द्रष्टव्य—'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' बंगलाग्रन्थ, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५७–१६२। रचयिता—श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वती।

२. भास्कर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥

भाष्य के प्रारम्भ में श्रीकण्ठ का लेख है—

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने।
पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते॥५॥

प्रारम्भ के १,२,३ सूत्रों के भाष्य में श्रीकण्ठ ने अनेक स्थलों पर शांकरभाष्य का उल्लेख व खण्डन किया है।

पाश्चात्य लेखकों द्वारा ७८८ ई० आचार्य का प्रादुर्भाव-काल बताना प्रस्तुत आधार पर भी असंगत है।

इस विषय में यह विचारना अपेक्षित है कि श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने गुप्त-साम्राज्य का तथाकथित काल स्वीकृत करके आचार्य का काल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में कहा है। परन्तु गुप्त-साम्राज्य का वह काल पूर्णरूप से निश्चित कहाँ है ? अनेक विद्वानों[1] ने गुप्त-साम्राज्य के उक्त काल को मानने में विविध बाधाओं का प्रस्ताव किया है। यह निश्चित है कि गुप्त-साम्राज्य को तथाकथित काल से और परवर्त्ती काल में होना नहीं माना जा सकता। पूर्वकाल की ओर उसका हटाया जाना सम्भव है। उक्त विद्वानों ने सुझाव दिये हैं कि भारतीय राजवंशों के अनुक्रमविषयक तिथि-लेखों के अनुसार गुप्त-साम्राज्य का समय ईसा से कई शती पूर्व माना जाना चाहिए। राजवंशानुक्रमों के पूर्ण परीक्षण व परिशोधन के फलस्वरूप यदि गुप्त-साम्राज्य का यह समय स्वीकार्य होता है, तो इस आधार पर शङ्कर का प्रादुर्भाव-काल न केवल ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में, अपितु ईसा से अनेक शताब्दी पूर्व चला जाता है। यह काल आचार्य के मठों में सुरक्षित सामग्री के आधार पर अवगत काल के साथ पूर्णरूप में संगत है, यह कहने में कोई बाधा नहीं।

(च, छ) बौद्धों के प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ 'लङ्कावतारसूत्र' में कतिपय ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये लेख शांकरमत से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। जैसे—एकत्ववाद पर[2] कटाक्ष; आचार्य शंकर द्वारा—बौद्ध साहित्य से उद्धृत[3] सन्दर्भों का 'लंकावतारसूत्र' में उपलब्ध न होना; अध्यारोप, अपवाद, माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा आदि पदों का 'लंकावतारसूत्र' में प्रयोग व विवेचन; शंकर के मायावाद को बौद्धदर्शन के शून्यवाद में परिणत कर लिया जाना। ये सब ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे प्रतीत होता है—आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव 'लंकावतारसूत्र' लिखे जाने से पूर्व होना चाहिए।

---

१. श्री पं० कोट्टा वेंकटाचलम् पाकयाजी, विजयवाड़ा (आंध्रप्रदेश) का लिखित साहित्य, Chronology of Ancient Hindu History, Age of Buddha Milinda & Amtiyoke आदि। नारायण शास्त्री, मद्रास का Age of Shamkara। न० जगन्नाथ राव का Age of Mahabharata War।

२. लंकावतारसूत्र, पृ० ९२, सतीशचन्द्र विद्याभूषण सम्पादित, सन् १९०० ई० का संस्करण।

३. द्रष्टव्य—ब्र० सू० २।२।२२, २४ का शांकरभाष्य।

श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती का उक्त विचार परीक्षा-प्रहार को सहन करने योग्य प्रतीत नहीं होता। प्रथम विचारणीय यह है कि 'लंकावतारसूत्र' का रचयिता कौन है ? इसके लिए शाक्यमुनि का नाम लिया जाता है।[1] यह ज्ञातव्य है कि इस नाम का कोई विशेष व्यक्ति हुआ है, अथवा इस प्रसंग में भगवान् बुद्ध के लिए इस नाम का प्रयोग हुआ है ? इतिहास में इस नाम के किसी अतिरिक्त विशिष्ट व्यक्ति का अभी तक पता नहीं लगता। लंकावतारसूत्र ग्रन्थ का रचना-काल इस ग्रन्थ के सम्पादक महानुभावों ने ईसा की तीसरी शती के आस-पास अनुमान किया है।[2] यदि इस ग्रन्थ का प्रवक्ता शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध है, तो ग्रन्थरचना का उक्तकाल सर्वथा कल्पनामात्र निराधार कहा जायगा। यह स्थापना भी असंगत होगी कि उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल आचार्य शंकर के परवर्ती है। प्रतीत होता है, श्री स्वामीजी ने उक्त ग्रन्थ की रचना का—आधुनिक विद्वानों द्वारा अनुमित—काल स्वीकार कर अपना विचार अभिव्यक्त किया है।

आचार्य शंकर से पर्याप्त पूर्व अध्यात्मपरम्परा में एकत्ववाद का उद्भव हो चुका था, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। शंकर ने उस प्राक्प्रचलित वाद को केवल परिमार्जित किया, अथवा कहना चाहिए—उसे वैदिक रूप देने का प्रयास किया। इसलिए 'लंकावतारसूत्र' में एकत्ववाद पर कटाक्ष आचार्य शंकर के मत की भावना से किया गया है, ऐसा असन्दिग्ध कथन किया जाना कठिन है।

बौद्ध साहित्य से जो सन्दर्भ आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत हुए हैं, उनमें से एक सन्दर्भ का मूल स्थल असन्दिग्धरूप से ज्ञात हो चुका है।[3] कुछ स्थल सन्दिग्ध और कुछ अभी अज्ञात हैं। यदि उनमें से कोई सन्दर्भ 'लंकावतारसूत्र' का नहीं है, तो इसका यह तात्पर्य कदापि सम्भव नहीं कि यह रचना शंकर के परवर्ती काल की है। आचार्य शंकर इसके लिए बाध्य नहीं था कि अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों से सन्दर्भ उद्धृत करे।

जहाँ तक अध्यारोप-अपवाद आदि पदों के प्रयोग का प्रश्न है, यह भले ही हो कि आचार्य शंकर और उसके परवर्ती अनुयायी आचार्यों ने इन पदों का अधिक व्यवहार किया, पर यह कहना कदापि संगत न होगा कि इनका उपज्ञ

---

१. द्रष्टव्य—सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर-संस्करण, सूची-परिशिष्ट।

२. द्रष्टव्य—सतीशचन्द्र विद्याभूषण की रचना—"History of Medieval School of Indian Logic, पृ० १२।" आर्यदेव ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उसका काल ख्रीस्ट की तीसरी शताब्दी कहा जाता है। इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद सन् ४४३ ई० में किया गया।

३. ब्र०सू० २।२।२८ शांकरभाष्य में—**'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते'** उद्धृत श्लोकार्द्ध दिङ्नाग की **'आलम्बनपरीक्षा'** के छठे श्लोक का भाग है।

आचार्य शंकर है, और इनका अन्यत्र प्रयोग आचार्य के मत की छाया के बिना सम्भव नहीं। वस्तुतः इन पदों का व्यवहार भारतीय दर्शन में शंकरकाल से पूर्व माने जाने में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा आदि पदों का प्रयोग शंकर-पूर्व-काल में बराबर होता रहा है।[1]

यह कहना कि शंकर के मायावाद को 'लंकावतारसूत्र' आदि में अथवा बौद्ध-दर्शन में शून्यवाद रूप से परिणत कर लिया है, एक वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देना है। आचार्य शंकर के अनन्तरकाल में आज तक यह विचार प्रकाश में नहीं आया। इसके विपरीत ऐसे लेख उपलब्ध हैं, जिनमें शंकर के मायावाद को बौद्धमत का वैदिक संस्करण कहा गया है।[2] इस विवेचन से हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि आचार्य शंकर के काल का निर्णय करने से ये उपोद्वलक कोई महत्त्व नहीं रखते। यदि 'लंकावतारसूत्र' अथवा इसी प्रकार के अन्य साधन असंदिग्ध रूप में सामने आते, तो इस विषय में सहयोग दे सकते थे। यदि निर्बाध प्रमाणों के आधार पर इनका काल निश्चित होता है, वह चाहे शंकर से पूर्व हो अथवा पर, उसी अवस्था में इनका अनुकूल व प्रतिकूल सहयोग सम्भव है।

नागार्जुन का प्रसंग—आचार्य शंकर का काल बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से पूर्व है, ऐसा विचार श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने प्रस्तुत किया है। नागार्जुन का काल विभिन्न विचारकों की दृष्टि के अनुसार चौथी शती ईसा-पूर्व से लगाकर ईसा की चौथी शताब्दी तक के अन्तराल में बताया जाता है।[3] यह कहना अभी

---

१. न्यायसूत्र, **'मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा'** ४।२।३२।। 'माया' पद तो वैदिक साहित्य तक में बहुप्रयुक्त है।

२. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत् ।**
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ।
मयैव कथितं देवि ! जगतां नाशकारणात् ।।
—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २६३।७२, ७६ ।।

३. (क) विजयवाड़ा (आन्ध्र) के कोट्टा वेंकटाचलम् की रचना 'क्रॉनोलॉजी ऑफ एंशन्ट हिन्दु हिस्ट्री' भाग १, पृ० १९३ पर यज्ञश्री सातकर्णी का काल ३६२–३४३ बी० सी०; उसका समकालिक नागार्जुन।

(ख) विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय की रचना 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दु कैमिस्ट्री' आन्ध्रवंशीय राजा यज्ञश्री सातकर्णी का काल ईसा की दूसरी शती; उसका समकालिक नागार्जुन।

(ग) बौद्ध इतिहास, दूसरी शती बी० सी० नागार्जुनकाल।

(घ) प्रा० कॅर्न 'मैन्युअल ऑफ बुद्धिज्म' पृ० १२२-२३; नागार्जुनकाल ईसा की दूसरी शती।

कठिन है कि इनमें से कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है, अथवा कोई भी सत्य नहीं है। सम्भवतः नागार्जुन के कालविषयक ये सभी विचार कल्पना पर अधिक आधारित हैं, जिनकी सत्यता पर विश्वास करना स्पष्ट भ्रान्ति में पड़ना होगा। परन्तु श्री स्वामीजी ने प्रफुल्ल बाबू और प्रा० कॅर्न के अनुसार नागार्जुन का समय ईसा की द्वितीय शती स्वीकार कर लिया है। उन्हें मैक्समूलर आदि द्वारा कथित आचार्य शंकर के काल-विषयक विचार को असत्य सिद्ध करना अपेक्षित है, जो नागार्जुन का यह काल मानकर सम्भव है।

गौडपाद और नागार्जुन—श्री स्वामीजी की स्थापना है, नागार्जुन की 'माध्यमिककारिका' आदि रचनाओं में जो शून्यवाद का उपपादन हुआ है, वह आचार्य गौडपाद आदि के मायावाद से प्रभावित है। उनकी यह भी मान्यता है कि नागार्जुन हिन्दु भावनाओं से बहुत प्रभावित था। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने नागार्जुन को गीताप्रतिपादित भावनाओं से प्रभावित माना है। परन्तु गीता के प्रभाव से प्रभावित होकर नागार्जुन माध्यमिक दर्शन की स्थापना न कर पाता; गीता में मायावाद स्पष्ट नहीं है। गौडपादकारिका एवं शांकरभाष्य में मायावाद मूर्तिमान् विग्रह के रूप में प्रकाशित हुआ है। अतः शंकर के मायावाद के प्रभाव से नागार्जुन का प्रभावित होना स्वाभाविक है। नागार्जुन पर हिन्दु-प्रभाव को स्मिथ साहब और कॅर्न साहब ने स्वीकार किया है। नागार्जुन की रचना 'माध्यमिककारिका' में गौडपाद की माण्डूक्यकारिकाओं के साथ अनेक प्रसंगों में साम्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। नागार्जुन की रचना के प्रारम्भ में एक श्लोक है—

यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदताम्वरम्॥

यह भाव गौडपदीय माण्डूक्यकारिका के निम्न पद्य का छायारूप प्रतीत हो रहा है। वहाँ चतुर्थ प्रकरण का प्रारम्भिक पद्य है—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदाम्वरम्॥

दोनों श्लोकों में अर्थसाम्य तो है ही, उत्तरार्द्ध में पदों की समता भी दिखाई दे रही है। श्री स्वामीजी का कहना है–नागार्जुन के पद्य में 'प्रपञ्चोपशमं शिवम्' पद साक्षात् माण्डूक्य उपनिषद् [७] के अनुसार है। इससे ज्ञात होता है, नागार्जुन ने अपनी रचना में गौडपादीय माण्डूक्यकारिकाओं का आश्रय लिया। इन दोनों रचनाओं के अन्य अनेक[1] प्रसंग परस्पर सन्तुलित होते हैं। फलतः ईसा

१. 'माध्यमिक कारिका' के (क) ५म प्रकरण धातुपरीक्षा, पृ० ४०; (ख) ७म प्रकरण, ५७२ श्लोक; (ग) ११वाँ प्रकरण; (घ) पृ० ९७; (ङ) १९वाँ

की दूसरी शती में होने वाले नागार्जुन के पूर्ववर्ती गौडपाद के पर-समकालिक आचार्य शंकर का काल मैक्समूलर आदि लेखकों द्वारा ईसा की आठवीं शताब्दी में बताया जाना सर्वथा असत्य है।

नागार्जुन का काल असत्य—श्री स्वामीजी की यह स्थापना सर्वथा सत्य है कि आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव-काल ईसा की आठवीं शती न होकर ईसा से पूर्व है। परन्तु यह प्रमाणित करने के लिए जिस आधार को अपनाया गया है, वह अत्यन्त शिथिल है।

नागार्जुन का काल ईसा की दूसरी शताब्दी बताया गया। न केवल नागार्जुन का अपितु प्रायः समस्त बौद्ध दार्शनिकों का आधुनिक पाश्चात्य लेखकों द्वारा बोधित तथाकथित काल सर्वथा असत्य है। एक असत्य का आश्रय लेकर दूसरा असत्य स्थापित कर दिया गया कि शंकर नागार्जुन का पूर्ववर्ती है। वस्तुस्थिति यह है कि नागार्जुन का पूर्ववर्ती नहीं है शंकर; प्रत्युत नागार्जुन का यह काल अशुद्ध है।

यदि पाश्चात्य लेखकों द्वारा बोधित बौद्ध दार्शनिकों का तथाकथित काल ठीक माना जाता है, तो यह कदापि सम्भव नहीं कि शंकर को नागार्जुन का पूर्ववर्ती कहा जा सके। नागार्जुन का समय ईसा की दूसरी शती बताया गया, उसी के अनुसार दिङ्नाग का काल चौथी शती का अन्त व पाँचवीं का प्रारम्भ कहा जाता है। दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' नामक रचना से एक[1] श्लोकार्द्ध आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र [२।२।२८] के भाष्य में स्पष्ट उद्धृत किया है। इस उद्धरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब शंकर को नागार्जुन से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का क्या लाभ हुआ, जबकि नागार्जुन से भी परवर्ती दिङ्नाग का सन्दर्भ आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत हुआ है। इस दशा में **'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः'** न्याय चरितार्थ होता है।

ऐसी स्थिति में श्री स्वामीजी का यह प्रयास सर्वथा निराधार है कि गौडपाद व शंकर के मायावाद की छाया पर नागार्जुन ने शून्यवाद को स्थापित किया। यह एक प्रकार से वास्तविकता का शीर्षासन कर देने का प्रयास किया गया है। भारतीय परम्परा पूर्णरूप से इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि आचार्य शंकर ने वेदधर्म के पुनरुद्धार की भावना से तात्कालिक सुविधाओं को सामने रख, बौद्ध

प्रकरण, पृ० १२४; स्थलों का यथाक्रम सन्तुलन करें—गौडपादीय माण्डूक्यकारिका के (क) २।३०, ३३; (ख) २।३१; (ग) २।६; (घ) ३।२१; (ङ) २।३८ के साथ।

१. **'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते'** [श्लो० ६], मूल ग्रन्थ में **'तद्'** पद के स्थान पर **'तु'** पाठ है।

शून्यवाद को वैदिक मायावाद के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। एक प्रकार से शत्रु के हथियार से शत्रु को धराशायी करने के समान था। इस विधि से आचार्य शंकर ने अपने कार्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

माध्यमिक व माण्डूक्य-कारिका—नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' और गौडपाद की 'माण्डूक्यकारिका' के सन्तुलन का जहाँ तक प्रश्न है, वह स्पष्ट करता है, गौडपाद ने नागार्जुन की प्रक्रिया को स्वीकार किया। पूर्वोक्त नमस्कार-श्लोक की तुलना सामने है। इस श्लोक में **'सम्बुद्धः'** और **'वदताम्वरम्'** अथवा **'द्विपदाम्वरम्'** पद विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। पिछले दो पदों में पहला पाठ नागार्जुन का और दूसरा गौडपाद का है।

श्लोक में **'संबुद्धः'** पद साधारणरूप से किसी भी **'सम्यक्ज्ञानी'** और पूर्णज्ञान की अवस्था को प्राप्त भगवान् बुद्ध, दोनों का निर्देश करता है। आचार्य शंकर ने इस पद का अर्थ यद्यपि **'नित्यज्ञान परमेश्वर'** अथवा ब्रह्म किया है, परन्तु इसके साथ गौडपाद के **'द्विपदांवरम्'** का सामञ्जस्य बैठाने में वे अक्षम जैसे रहे हैं। यह पद मनुष्य-वर्ग में श्रेष्ठ व्यक्ति का निर्देश करता है; ब्रह्म को **'द्विपदांवर'** नहीं कहा जा सकता। नागार्जुन का पाठ उसकी भावनाओं के अनुसार पूर्ण सार्थक है। समाज में उपदेष्टा अनेक हैं, पर वह सब उपदेष्टाओं में बुद्ध को श्रेष्ठ मानता है; इसलिये उसने **'वदतांवरम्'** कहा, उपदेष्टाओं में सर्वश्रेष्ठ।

गौडपाद आन्तरिक भावना से बुद्ध का आदर करता अवश्य प्रतीत होता है, पर इस भावना को वह नग्न रूप में अभिव्यक्त नहीं करना चाहता। वह बुद्ध को अपना उपदेष्टा नहीं मानता। फिर भी आन्तरिक भावना से नमस्कार हो जाए, यह अवश्य चाहता प्रतीत होता है; फलतः उसने नागार्जुन के **'वदतांवरम्'** को अपनी भावना से **'द्विपदांवरम्'** की कोटि में रक्खा। बुद्ध हमारे उपदेष्टा [**वदतांवरम्**] नहीं हैं, हम केवल उन्हें मानव-समाज में श्रेष्ठ [**द्विपदांवरम्**] मान सकते हैं। गौडपाद ने नागार्जुन की **'देशयामास'** क्रियापाद की उपेक्षा की है; यह पद नागार्जुन की उस भावना को स्पष्ट करता है, जहाँ उसने भगवान् बुद्ध को अपना श्रेष्ठ उपदेष्टा माना है। ऐसा न मानने के कारण गौडपाद ने श्लोक से स्पष्ट क्रियापद को हटा दिया है। उस पाठ में अर्थपूर्ति के लिए क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है। यह स्थिति स्पष्ट करती है—गौडपाद ने नागार्जुन का अनुकरण किया है। दोनों ग्रन्थों के अन्य सन्तुलनों में यही स्थिति समझनी चाहिए।

लोकमान्य तिलक व स्मिथ आदि पाश्चात्य लेखकों की इस मान्यता में कोई विशेष आपत्ति नहीं दिखाई देती कि नागार्जुन हिन्दु [अबौद्ध=औपनिषद] भावनाओं से प्रभावित था। पर इस 'हिन्दु' को गौडपाद न कहकर उपनिषद् कह दिया जाए, तो इसमें क्या आपत्ति है? तिलक आदि की उक्त मान्यता के पीछे

एक रहस्य छिपा प्रतीत हो रहा है। जब हम यह कहते हैं कि महायान सम्प्रदाय औपनिषद भावनाओं से प्रभावित है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि शून्यवाद और मायावाद के मूलभूत आधार उपनिषदों में विद्यमान हैं।

नागार्जुन आदि बौद्ध दार्शनिकों ने उपनिषत्साहित्य के जिन विचारों को लेकर बौद्धदर्शन में शून्यवाद को प्रस्तुत किया, वैसे ही विचारों को लेकर आचार्य गौडपाद, व शंकर ने मायावाद को प्रस्फुटित किया। इसमें मायावाद, शून्यवाद की झूठन से साफ बच निकलता है। पर यह कहने में कोई संकोच नहीं कि उपनिषदों के समझे जाने की जो प्राचीन परम्परा प्रवृत्त रही है, बौद्ध विद्वानों ने सर्वप्रथम उसको एक नवीन मोड़ दिया। गौडपाद के मायावाद का जो रूप उपनिषद् के आधार पर आचार्य शंकर ने प्रस्तुत किया है, उसका प्रथम श्रेय बौद्ध विद्वानों को दिया जाना चाहिए। शून्यवाद और मायावाद प्रायः एक स्तर पर खड़े हैं। गौडपाद द्वारा बुद्ध भगवान् को संकेतित नमस्कार, तथा भारतीय विद्वत्समाज में मायावाद को प्रच्छन्न बौद्ध समझे जाने की परम्परा इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

(ज) सातवीं शताब्दी में अद्वैतवाद का उल्लेख होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है; इस वाद का उल्लेख और अधिक प्राचीन देखा जाता है। परन्तु श्री स्वामीजी ने आचार्य शंकर के प्रादुर्भावकाल के विषय में मैक्समूलर आदि के कथन को असत्य सिद्ध करने के लिए इस प्रसंग का उद्धार किया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। इसी अनुक्रम में भर्तृहरि का काल, और इससे आगे **'आपत्ति-खण्डन'** शीर्षक के नीचे बौद्ध विद्वान् गुणमति का जो काल श्री स्वामीजी ने अंकित किया है, वह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के काल के विषय में प्रथम भर्तृहरि-प्रसंग में विस्तृत विवेचन कर दिया गया है।

बौद्ध विद्वान् गुणमति का काल विवेच्य है। श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने इसे चीनी यात्री हुएन्त्सांग (सुएनच्वांग) का समकालिक मानकर ईसवी सन् ६३० से ६४० के बीच नालन्दा में विद्यमान बताया है।[1] परन्तु श्री स्वामीजी ने यह किस आधार पर लिखा है, इसका इन्होंने कोई निर्देश नहीं किया।

'हुएनसांग[2] का भारतभ्रमण' पुस्तक हमारे सन्मुख है। इसके तीन प्रसंगों में

---

१. वेदान्तदर्शनेर इतिहास' बंगला ग्रन्थ, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १८५, सन्दर्भ-३।

२. हिन्दी अनुवादक—श्रीयुत ठाकुरप्रसाद शर्मा (सुरेश) सीतापुर (अवध), प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग; सन् १९२९ का प्रथम संस्करण। एक अन्य अनुवाद भी हमारे सामने है।

गुणमति का उल्लेख हुआ है। पहला प्रसंग पृ० ३९९ से ४०७ तक है। इसमें 'माधव' नामक सांख्याचार्य के साथ गुणमति के शास्त्रार्थ का वर्णन है।[1] इस प्रसंग में हुएन्त्सांग ने इस घटना को प्राचीनकाल की कहकर लिखा है। इससे स्पष्ट है कि गुणमति हुएन्त्सांग का समकालिक न था।

उक्त ग्रन्थ के दूसरे प्रसंग [पृ० ४९४] में गुणमति और स्थिरमति का एकत्र निर्देश है। यहाँ टिप्पणी में बताया गया है कि यह आचार्य असङ्ग का शिष्य था। तीसरे स्थल [पृ० ६३०] में पुनः उक्त दोनों विद्वानों का सह-निर्देश है। यहाँ टिप्पणी में दोनों को वसुबन्धु का शिष्य बताया। यह भी लिखा है कि इन्होंने वसुबन्धु की रचना **'अभिधर्मकोष'** पर व्याख्याग्रन्थ लिखे थे। कहा जाता है, असङ्ग और वसुबन्धु दोनों सगे भाई थे। गुणमति इनमें से किसी एक का अथवा दोनों का शिष्य रहा हो, ऐसा सम्भव है। आधुनिक इतिवृत्त-लेखकों ने असङ्ग और वसुबन्धु का काल ईसा की दूसरी शती का पूर्वार्द्ध अनुमान किया है। यद्यपि यह संशोधन व परीक्षण की अपेक्षा रखता है, फिर भी इसके अनुसार गुणमति का वही काल सम्भव है। उसे हुएन्त्सांग का समकालिक नहीं माना जा सकता।

आचार्य शंकर द्वारा [ब्र० सू० २।२।२२ पर] उद्धृत एक बौद्धदार्शनिक-सन्दर्भ के विषय में कहा जाता है, यह गुणमतिकृत अभिधर्मकोष-व्याख्या में उपलब्ध है। इस आधार पर आचार्य शंकर का काल गुणमति से परवर्ती होना चाहिए। श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने आचार्य शंकर का काल ईसा-पूर्व मानते हुए इस आपत्ति का समाधान किया है कि आचार्य ने इस सन्दर्भ को किसी अन्य प्राचीन मूलग्रन्थ से लिया होगा। यह भी सम्भव है कि गुणमति ने किसी मौलिक ग्रन्थ से यह सब लिया हो। वही आधार शंकर के लिए सम्भव है।

प्रतीत होता है, श्री स्वामीजी ने गुणमति की रचना को स्वयं नहीं देखा। यह रचना हमारे भी दृष्टिगोचर नहीं हुई है। यह जानना आवश्यक है कि गुणमति ने उक्त सन्दर्भ को उद्धृतरूप में निर्दिष्ट किया है, अथवा मौलिकरूप में। दूसरे रूप में निर्देश करने पर यह जानना आवश्यक है कि यह प्रसंग किस अन्य प्राचीन ग्रन्थ में मौलिकरूप से प्रस्तुत किया गया है। इसके अभाव में श्री स्वामीजी की कल्पना केवल कल्पना मानी जाएगी। इस सन्दर्भ के मूलस्थान की खोज आवश्यक है।

आचार्य शंकर के निर्धारित काल में इस प्रकार की आपत्तियों का निराकरण

---

१. इसका निर्देश हमने अपनी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के अन्तिम पृष्ठों में किया है।

बौद्धदार्शनिकों के यथार्थ कालनिर्णय में ढूँढा जा सकता है। निराधार कल्पनाओं पर बताए गए बौद्धदार्शनिकों के असत्य काल का सहारा लेकर अन्य असत्य की स्थापना को ही अवसर मिलता है। इन लेखकों ने अपने झूठ को सत्य प्रचारित कर इतिहास के सत्य साधनों को असत्य बताने का दुस्साहस किया है। वास्तविक तथ्य को सामने लाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

हरिभद्रसूरि और वेदान्तदर्शन—आर्हत दार्शनिक विद्वान् हरिभद्र सूरि की अनेक रचनाओं में एक रचना है—**'षड्दर्शनसमुच्चय'**। इसमें अतिसंक्षेप से छह दर्शनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह रचना पद्यमय है। इसकी दो व्याख्याएँ मेरी दृष्टि में आई हैं—एक, गुणरत्नसूरि-कृत, जो बहुत काल पहले कलकत्ता[1] से प्रकाशित हुई थी; अब वह बाज़ार में उपलब्ध नहीं। दूसरी है—परम आर्हत मणिभद्र-कृत। यह व्याख्या ई० सन् १९५७ [वि० सं० २०१३] में वाराणसी[2] से प्रकाशित हुई है, जो इन दिनों बाज़ार में उपलब्ध है।

हरिभद्र सूरि की इस रचना में निम्न छह दर्शनों की गणना की गई है–बौद्ध[3], नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक, जैमिनीय। भारतीय दर्शनों में से योग और वेदान्त को यहाँ नहीं गिना गया। इस आधार पर कतिपय आधुनिक विद्वानों का विचार है कि हरिभद्र सूरि के समय तक सम्भवतः वेदान्तदर्शन प्रादुर्भाव में नहीं आया था; अन्यथा अन्य भारतीय दर्शनों के समान वह उसका भी उल्लेख अवश्य करता। हरिभद्र सूरि का समय आधुनिक लेखकों[4] के अनुसार ख्रीस्ट की पाँचवीं शती माना जाता है। सर्वदर्शनसंग्रह के अभ्यंकर-संस्करण की सूची में ९०० तथा ९६० ख्रीस्ट लिखा है।[5]

डॉ० कीथ ने अपने **'संस्कृत साहित्य का इतिहास'** ग्रन्थ की भूमिका [पृ० २१-२२] में लिखा है—"···ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य में तथाकथित प्रक्षेपों का ज्ञान वाचस्पति मिश्र को था, जबकि मेरे द्वारा स्वीकृत शंकर-काल ७००-७७० ख्रीस्ट एरा में पड़ता है, जिसकी पुष्टि जिनविजय द्वारा दी गई इस युक्ति से होती

---

१. रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से ख्रीस्ट सन् १९०५ में प्रकाशित संस्करण।

२. चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१ से प्रकाशित।

३. **बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।**
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥३॥

४. षड्दर्शनसमुच्चय (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी से प्रकाशित) की भूमिका, श्री दामोदरलाल गोस्वामी कृत, पृ० २।

५. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर-संस्करण की ग्रन्थकार-सूची (४)

है कि हरिभद्र का उपयोग शंकर ने किया है ।"[१]

इन लेखों के आधार पर दो बातें सामने आती हैं—

१ हरिभद्र सूरि ने अपनी रचना **'षड्दर्शनसमुच्चय'** में वेदान्तदर्शन का किसी प्रकार का कोई निर्देश व संकेत नहीं किया है। इस आधार पर आधुनिक लेखकों का कहना है कि हरिभद्र सूरि के समय तक आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था ।

२. दूसरी बात है, आचार्य शङ्कर ने अपनी रचना में हरिभद्र सूरि का उपयोग किया है। यह स्थिति निश्चित रूप से शङ्कर को हरिभद्र सूरि से परवर्ती काल में ला बैठाती है ।

इनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना अपेक्षित है । पहली समस्या के विषय में निवेदन है—

१. षड्दर्शनसमुच्चय में वेदान्त की चर्चा न होने का प्रभाव केवल शंकर पर नहीं, प्रत्युत सूत्रकार बादरायण पर भी पड़ता है । क्या यह निःशंक माना जाना चाहिए कि हरिभद्र के द्वारा वेदान्तसूत्रों की कोई चर्चा न होने के कारण उन सूत्रों की रचना हरिभद्र के समय तक नहीं हुई थी ? मेरे विचार से ऐसा माना जाना सत्य के सर्वथा विपरीत होगा। कारण यह है कि इन सूत्रों पर—हरिभद्र के प्रादुर्भावकाल से शताब्दियों पूर्व—बोधायन और उपवर्ष आदि आचार्यों की व्याख्या लिखी जा चुकी थी । सम्भवतः वह काल इतना अधिक पूर्ववर्ती था कि हरिभद्र के समय तक वेदान्त पर लिखे गये अन्य प्राञ्जल भाष्यों ने उन प्राचीन व्याख्याओं को क्षीणप्राय कर दिया था ।

इसी सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि हरिभद्र ने अपनी उक्त रचना में पातञ्जल योगदर्शन का कोई संकेत नहीं किया है । क्या उसको हरिभद्र के काल से परवर्ती माना जा सकता है ? ऐसा मानना नितान्त निराधार होगा। कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं, जिसके आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि को हरिभद्र के तथाकथित काल [ख्रीस्ट एरा की अष्टम या पञ्चम शताब्दी] से परवर्ती सिद्ध किया जा सके । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक विचारणीय हो जाता है कि हरिभद्र ने इनका उल्लेख क्यों नहीं किया, यदि वे दर्शन उसके काल में विद्यमान थे ?

---

१. मूल पाठ इस प्रकार है—"……The alleged interpolations in Cankara's Bhasya are known to Vacaspati Micra, while the date adopted by me for Cankara is supported by Jinavijaya's proof that Haribhadra, whom Cankara used, falls in the period A.D. 700–770."

हरिभद्र सूरि के आस्तिक दर्शन—हरिभद्र की उक्त रचना का गम्भीरता से विचार करने पर इस प्रश्न का उत्तर उसी रचना से मिल जाता है। छह दर्शनों का विवरण देते हुए छठे जैमिनीय दर्शन के विवरण के अन्त में बताया है—"यह आस्तिक वादों का संक्षेप से कथन किया गया।"[1] इसके आगे कहा कि "कोई आचार्य नैयायिक और वैशेषिक का परस्पर भेद नहीं मानते; उनके मत में आस्तिकवादी दर्शन पाँच ही रह जाते हैं। तब उस मत में छह दर्शनों की संख्यापूर्ति के लिए लोकायत मत का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।"[2]

विचारकों को अपना ध्यान उक्त कथन में इस ओर आकृष्ट करना चाहिए कि हरिभद्र ने बौद्ध आदि विवृत छह दर्शनों को 'आस्तिकवादी' कहा है। आगे न्याय-वैशेषिक को एक अथवा अभिन्न मानने पर जब हरिभद्र के आस्तिकवादी दर्शनों में एक की कमी पड़ गई, तब उसने आस्तिकवादी स्वाभिमत दर्शनों की छह संख्या पूरी करने के लिए लोकायत मत को उस वर्ग में गणना की। इसका तात्पर्य यह निकला कि हरिभद्र इन दर्शनों को 'आस्तिकवादी' दर्शन मानता है।

विचारना चाहिए, इनको आस्तिकवादी मानने का आधार क्या हो सकता है जो हरिभद्र की दृष्टि में अभिमत रहा हो? पुण्यापुण्य-कर्मानुसार नित्य आत्मा की गति के रूप में पुनर्जन्म अथवा परलोक की मान्यता इस आस्तिकवाद का आधार नहीं कही जा सकती, क्योंकि हरिभद्र का छठा आस्तिकवादी लोकायतदर्शन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। वेदों का अप्रामाण्य भी इस 'आस्तिकवाद' का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस मान्यता में न्याय, सांख्य व जैमिनीय दर्शन की आस्था प्रतीत नहीं होती। तब इन दर्शनों के 'आस्तिकवाद' कहे जाने के लिए एक ही आधार रह जाता है और वह है—ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करना।

हरिभद्र के काल में तथा उसके कुछ आगे-पीछे भी वैशेषिक, सांख्य, जैमिनीय दर्शनों को निरीश्वरवादी कहा व माना जाता रहा है। न्याय, वैशेषिक के अन्तर्गत है, अतः वह भी उसी कोटि में है। बौद्ध, जैन, लोकायत-दर्शन इस

---

१. जैमीनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥७७॥

२. नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥
षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ॥
लोकायतमतक्षेपात् कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

मान्यता के प्रौढ़ प्रतिपादक हैं। इस रूप में हरिभद्र के अभिमत 'आस्तिकवादी' दर्शनों में जिनका समावेश था, उन्हीं का उसने विवरण प्रस्तुत किया है। अपने काल में होने पर भी पातञ्जल योगदर्शन और बादरायण के वेदान्तदर्शन का विवरण देने की उसने उपेक्षा की। उसने अपने दृष्टिकोण से 'आस्तिकवादी' दर्शनों का विवरण दिया है। ईश्वरास्तित्व को स्वीकार करनेवाले दर्शनों को वह आस्तिकवादी नहीं मानता, अतः उनकी उपेक्षा की।

पातञ्जल योगदर्शन ईश्वर के स्वरूप का निर्देश कर उसके नाम का जप और उसकी उपासना का विधान करता है।[1] फिर हरिभद्र के काल और आगे-पीछे 'सेश्वर सांख्य' के नाम से पातञ्जल योगदर्शन प्रसिद्ध रहा है; तब हरिभद्र के 'आस्तिकवादी' दर्शनों में उसकी गणना कैसे होती? बादरायण का वेदान्त-दर्शन तो मुख्य रूप से ब्रह्म का निरूपण करता है; हरिभद्र के आस्तिकवाद-वर्ग में उसका नाम आने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः हरिभद्र द्वारा वेदान्त-दर्शन का अपनी रचना में विवरण न देने से आचार्य शंकर के काल पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अन्य प्रमाणित आधारों पर शंकर का काल तथा-कथित हरिभद्रकाल से पर्याप्त पूर्व है।

किसी रचना में अन्य का उल्लेख उसके पूर्ववर्ती होने का निमित्त सम्भव है, पर किसी का अनुल्लेख उसके परवर्ती होने का कारण नहीं माना जा सकता। हरिभद्र ने लोकायत मत का विवरण दिया है; परन्तु शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में उसका कहीं अनुकूल-प्रतिकूल निर्देश नहीं किया। तब शङ्कर को हरिभद्र से परवर्ती माननेवाले लेखक क्या यह स्वीकार करेंगे कि शङ्कर के समय तक लोकायत मत का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था?

२. दूसरी बात शङ्कर के द्वारा हरिभद्र के उपयोग की है। डॉ० कीथ ने श्री जिनविजय[2] के आधार पर हरिभद्र का समय खीस्ट ७००–७७० के मध्य स्वीकार कर अपनी इस युक्ति को महत्त्व दिया है, और उसके अनुसार आचार्य शङ्कर का समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया है।

इस विषय में ज्ञातव्य है—आचार्य शंकर ने अपनी रचना में हरिभद्र का उपयोग कहाँ किया है? इसका संकेत न तो डॉ० कीथ ने स्वयं इस प्रसंग के अपने ग्रन्थ में दिया और न श्री जिनविजय के उक्त लेख में ऐसा कोई संकेत है। आचार्य शंकर ने किस स्थल पर अपनी रचना में हरिभद्र का उपयोग किया है,

---

१. योगदर्शन, पाद १, सूत्र २३, २४ तथा २७-२८।

२. द्रष्टव्य—प्रोसीडिंग्स्, ऑल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेंस, पूना १९१९ ई०, श्री मुनि जिनविजय का 'दि डेट् ऑफ हरिभद्र सूरि' शीर्षक लेख, पृ० १२४–२६।

यह अज्ञात है। यदि हरिभद्र का काल ईसा की ७००–७७० शताब्दी निश्चित है, तो यह असम्भव है कि आचार्य शंकर हरिभद्र का उपयोग कर सके।

हम जिज्ञासा करते हैं, ऐसा विचार रखनेवाला कोई विद्वान् शङ्कर की प्रामाणिक रचना में हरिभद्र के उपयोग को स्पष्ट करे। अन्यथा शङ्कर के द्वारा हरिभद्र का उपयोग किया जाना विना सिर-पैर की वात है, सर्वथा निराधार,– यही कहना न्याय्य होगा।

चतुर्दश अध्याय

भगवान् बुद्ध और बौद्ध दार्शनिकों का तथाकथित काल

गत अध्याय में यह संकेत दिया गया है कि आचार्य शंकर के वास्तविक प्रादुर्भाव-काल का पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि बुद्ध एवं बौद्ध दार्शनिकों के यथार्थ काल का प्रथम निश्चय किया जाय। यद्यपि इसमें भगवान् बुद्ध के काल का साक्षात् इतना उपयोग नहीं है, पर जब बौद्ध दार्शनिकों का वह काल—अथवा उससे भी पूर्ववर्ती काल—सम्भावना किया जाता है, जो बुद्ध के प्रादुर्भाव का काल मान लिया गया है, तब आवश्यक हो जाता है कि भारतीय साधनों के आधार पर भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भावकाल को जानने का प्रयास किया जाय। प्रथम, अपेक्षित कतिपय बौद्ध दार्शनिकों के प्रादुर्भावकाल के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

यह निश्चित है, आचार्य शङ्कर और उसके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति आदि कतिपय बौद्ध दार्शनिकों के वचनों का उद्धरण एवं नाम-कीर्तन अपनी रचनाओं में किया है। इससे शङ्कर और सुरेश्वर की अपेक्षा दिङ्नाग व धर्मकीर्त्ति आदि का पूर्ववर्ती होना सिद्ध है। ऐसी स्थिति में इन बौद्ध दार्शनिकों का वास्तविक काल कौन-सा सम्भव है? इसकी खोज करना आवश्यक हो जाता है।

अनुमानित तथाकथित काल—महान् ऊहापोह के साथ अनेक आधुनिक विद्वानों ने इस विषय का मन्थन कर, जो परिणाम प्रकट किये हैं, वे एकरूप नहीं हैं। यह स्थिति इस विषय की सन्देहात्मकता को स्पष्ट करती है। सन्देह-दशा में विवेचन आवश्यक हो जाता है। नया सुझाव सन्देह की शृंखला को आगे बढ़ाने में सहायक कहा जा सकता है, पर आगे विवेचन का मार्ग भी बन्द नहीं है। उक्त विषय में जो अनुमान अब तक किये गए हैं, वे हमें बौद्ध दार्शनिकों के काल के विषय में यहाँ तक पहुँचाते हैं—

दार्शनिक-नाम	ख्रीस्ट एरा-काल
अश्वघोष	१२०; कनिष्क-समकालिक होने से ७८ ई०
नागार्जुन	१५०
नन्दीश्वर	१७०
वसुबन्धु	२८०–३१०
असङ्ग	३२०–३३०
असङ्गभद्र	३२०
आर्यदेव	३००–३५०
कुमारजीव	३८०
बुद्धघोष	४००
बुद्धपालित	४००
दिङ्नाग	४८०
चन्द्रकीर्ति	५५०
भावविवेक	६००
धर्मकीर्त्ति	६३५
गुणमति	अज्ञात

यह पन्द्रह बौद्ध आचार्यों की नाम-सूची कालक्रमानुसार दी गई है। यह कालक्रम आधुनिक विद्वानों ने विविध अनुमानों के आधार पर निर्धारित किया है।[1] इस निर्धारण में पाश्चात्य लेखकों का विशेष योग रहा है। यह निश्चित है—इन बौद्ध दार्शनिकों में से किसी ने भी अपनी रचनाओं में अपने काल का निर्देश कहीं नहीं किया। इनकी विविध रचनाओं में एक-दूसरे का निर्देश, सन्दर्भों के उद्धरण, शैली की समानता व क्रमिक परिवर्तन आदि के आधार पर इनके कालिक-क्रम का अनुमान किया गया है। इनके मध्यकाल का जो अन्तर रक्खा गया है, वह भी व्यवस्थित नहीं है। उसमें किन्हीं अंशों तक न्यूनाधिकता की पूरी

१. बौद्ध आचार्यों के कालक्रम की उक्त सूची सर्वदर्शनसंग्रह के अभ्यंकर-संस्करण में दी गई 'ग्रन्थकार सूची' के आधार पर है। वहाँ टिप्पणी में सूची-निर्माता ने लिखा है—"( ) एतच्चिह्नान्तर्गता अङ्का ख्रिस्ताब्दद्योतकाः। समयश्चायं न प्रमाणविशेषैरवधारितः। किन्तु केवलं सम्भावनामात्रेण निर्दिष्ट इति क्वचिदीषन्न्यूनाधिकभावोऽपि स्यात्। क्वचिच्च सम्भावनयापि समयो न निर्दिष्टः। तथा च प्रेक्षावद्भिः प्रमाणानि निरीक्ष्य समयनिर्णयः कार्यः।"

सम्भावना है, जैसे अश्वघोष और नागार्जुन के काल के मध्य में तीस वर्ष का अन्तर दिखाया गया। इसका न्यूनाधिक होना पूर्णरूप से सम्भव है। इन विषयों को घोर अन्धकार में से निकालकर प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है, इस रूप में यह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

हमारा लक्ष्य इन दार्शनिकों के इतिहास का उल्लेख न होकर केवल उतने अंश का विवेचन करना है, जो आचार्य शंकर के पूर्वनिर्धारितकाल में बाधक प्रतीत होता है। इस अवसर पर स्वभावतः यह प्रश्न जाग उठता है कि इन बौद्ध दार्शनिकों के कालक्रमनिर्देश में सर्वप्रथम निर्दिष्ट अश्वघोष को ख्रीस्ट एरा के १२०वें वर्ष में किस आधार पर रक्खा गया है ? उन आधारों की परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है, जिनके अनुसार अश्वघोष का उक्त काल निर्धारित किया गया। इस परीक्षा का उपयुक्त परिणाम सम्मुख आ जाने पर अन्य आचार्यों का काल अनायास अभिव्यक्त हो सकता है।

अश्वघोष और कनिष्क—कहा जाता है, अश्वघोष को महाराज कनिष्क के काल से अलग नहीं हटाया जा सकता। वह दरबार का राजकवि था, यह इतिहास से सिद्ध है। कनिष्क का काल ही अश्वघोष का काल है, यह माने जाने पर आवश्यक है कि कनिष्क के काल को जानने का प्रयास किया जाय।

आधुनिक इतिहास-लेखकों का इस विषय में ऐकमत्य नहीं है। अभी तक अभिव्यक्त किये गए इस विषय के विचारों के आधार पर यह परिणाम प्रकट होता है कि ख्रीस्ट एरा प्रारम्भ होने से पूर्व लगभग सौ-सवा सौ वर्ष से लगाकर सौ-सवा सौ वर्ष पीछे तक के ढाई सौ वर्ष के अन्तरालकाल में किसी समय कनिष्क का वर्तमान होना समझना चाहिए। कनिष्क के काल का इस प्रकार का विवरण किसी एक स्थिति का निश्चायक न होकर सन्देह की दशा को ही दृढ़ करता है। इस विचार के अन्तिम परिणाम के रूप में आधुनिक दृष्टिकोण से कनिष्क का काल ख्रीस्ट एरा के ७८ वर्ष बीतने पर अथवा उसके आस-पास कहा जाने लगा है।[1] तब अश्वघोष का समय भी ईसा की द्वितीय शती में न मानकर साधारण रूप से प्रथम शती में स्वीकार करना होगा।

---

१. इस विषय में गहरी रुचि रखनेवाले स्नेही मित्र श्री प्रो० महेशस्वरूप भटनागर, एम० ए० महोदय ने मेरे निवेदन पर, इस विषय के सरकारी विभागों में कार्य करनेवाले उच्चकोटि के प्रतिष्ठित विद्वानों से पत्रव्यवहार द्वारा यह जानने का प्रयास किया कि कनिष्क का निश्चित काल क्या होना चाहिए ? इसके परिणामस्वरूप लखनऊ राज्यसंग्रहालय के निदेशक श्री डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी एम्० ए०, पी-एच्० डी० के अन्तिम

टिप्पणी में दिये गए डॉ० जोशी के पत्र के अनुसार यह स्पष्ट है कि आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् कनिष्क के उक्त काल [७८ वर्ष A. D.] को असन्दिग्ध नहीं मानते। इस विषय में उनके सामने एक महत्त्वपूर्ण बाधा है—राजतरंगिणी-वर्णित कश्मीर के राजाओं का वंशानुक्रम। राजतरंगिणी के ऐतिहासिक वर्णनों के विषय में प्रायः सभी विद्वान् अनुकूल सम्मति रखते हैं। उसके राजवंशानुक्रम-विषयक लेख इतिहास की कसौटी पर खरे बताये जाते हैं। हमें देखना चाहिए, कनिष्क के विषय में राजतरंगिणी का लेख क्या है।

राजतरंगिणी में कनिष्क एवं बुद्ध—प्रथम तरंग के प्रारम्भिक भाग[1] में कल्हण ने लिखा है कि तुरुष्क वंश के हुष्क, जुष्क और कनिष्क का शासन कश्मीर पर जब प्रारम्भ हुआ, उससे लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध परमधाम को को प्राप्त हो चुके थे।

आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के विचारानुसार अब यदि कनिष्क आदि तुरुष्क-वंशी राजाओं के राज्यारोहण का काल ख़ीस्ट एरा का ७८वाँ वर्ष माना जाता है, तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उक्तकाल से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध परलोकवासी हुए; इसके अनुसार बुद्ध का मृत्युकाल ईसापूर्व बहत्तर वर्ष आता है। उनका आयुमान पूर्ण अस्सी वर्ष माना जाता है, फलतः बुद्ध का प्रादुर्भावकाल [७२ + ८० = १५२] एक सौ बावन वर्ष ईसा-पूर्व माना जाना चाहिए। परन्तु पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय लेखकों ने बुद्ध का काल ईसा-पूर्व की पाँचवीं-छठी शताब्दी माना है, जो अशुद्ध होना चाहिए, क्योंकि इस विचार की पुष्टि के लिए कोई भी सुनिश्चित प्रमाण—सिक्कों, उत्कीर्ण लेखों, प्राचीन भवनों व अभिलेखों के रूप में— उन लेखकों द्वारा प्रस्तुत नहीं किये गए। इन्हीं परिस्थि-तियों को देखते हुए कतिपय पाश्चात्य लेखकों[2] ने भी बुद्ध के प्रादुर्भाव की उक्त

पत्र का अपेक्षित अंश इस प्रकार है—

प्रिय श्री भटनागर जी, लखनऊ, जनवरी १७।१९६९

आपके दिनांक १७।१२।६८ के पत्र के लिए अनेक धन्यवाद ....कुषाण-काल का प्रारम्भ या दूसरे शब्दों में कनिष्क की तिथि बड़ा वादग्रस्त विषय है। सन् ७८ ई० कनिष्क की राज्यारोहण-तिथि मानी जाती है। इस सम्बन्ध की कॉर्बन डेटिंग का मुझे पता नहीं है। यह सत्य है कि इस विषय पर अन्तिम मत देना अभी सम्भव नहीं है।

—भवन्निष्ठ नी० पु० जोशी।

१. **तदा भागवतः शाक्तसिंहस्य परिनिर्वृत्तेः। अस्मिन् महीलोकधातौ सार्धं वर्ष-शतं ह्यगात्॥** [राज०, १।१७२]

२. द्रष्टव्य—Cambridge History of India, Page 171, Vol. I, By

तिथि [ई० पू० पाँचवीं शताब्दी] को अनिश्चित एवं केवल कल्पनामूलक स्वीकार किया है।

कश्मीर के उक्त राजाओं के विषय में राजतरंगिणी के अनुसार यह ज्ञात होता है कि तुरुष्क वंश में उत्पन्न हुए भी ये शासक राजा बड़े पुण्यात्मा और प्रजापालक थे। इन्होंने अपने नाम से विभिन्न नगर बसाये। प्रजा की धार्मिक भावनाओं के अनुसार अनेक स्थलों पर मठ, चैत्य आदि का निर्माण कराया; बौद्ध विहारों की स्थापना कराई। जुष्क ने जुष्कपुर और जयस्वामिपुर नामक नगर बसाये। इनके विस्तृत शासनकाल में कश्मीर प्रदेश का पर्याप्त भाग बौद्धों से प्रभावित था। बौद्ध नेताओं ने प्रव्रज्या—संन्यास व त्याग की भावनाओं से अपूर्व तेजस्विता का अर्जन किया था।[1]

राजतरंगिणी के अनुसार तुरुष्कवंशीय इन शासकों से पूर्व कश्मीर के राज-सिंहासन पर पचास शासक आरूढ़ हो चुके थे। इनमें प्रथम राजा **'गोनन्द'** नामक है, जो महाभारतकाल में विद्यमान था। जरासन्ध की सहायता के लिए कृष्ण के विरोध में इसने मथुरा को जा घेरा; वहाँ युद्ध में बलराम के हाथों मारा गया। तब कश्मीर के सिंहासन पर उसका पुत्र दामोदर बैठा। अपने पिता के वध का स्मरण कर वह सदा बेचैन रहता। उन्हीं दिनों गान्धार-निवासी जनों ने कन्या के स्वयंवर की घोषणा की; उसमें वृष्णिवंश आमन्त्रित किया गया था। कृष्ण के नेतृत्व में वे गान्धार की ओर आ रहे थे। जब कश्मीर की सीमा के समीप पहुँचे, तो दामोदर ने अपने पिता का बदला लेने का यह अच्छा अवसर समझा। उसने वृष्णिवंशियों पर आक्रमण किया, पर वह कृष्ण के हाथों मारा गया। उसकी गर्भवती पत्नी यशोवती को कृष्ण के सहयोग से कश्मीर के राज्यसिंहासन पर बैठाया गया। उसके पुत्र का नाम **'गोनन्द'** रक्खा गया। यह द्वितीय गोनन्द,

---

F. J. Rapson. तथा The Oxford Students' History of India, By V. A. Smith, Ed. 1915, Page 41.

१. "अथाभवन् स्वनामाङ्कपुरत्रयविधायिनः।
हुष्कजुष्ककनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः॥
स विहारस्य निर्माता जुष्को जुष्कपुरस्य यः।
जयस्वामिपुरस्यापि शुद्धधीः संविधायकः॥
ते तुरुष्कान्वयोद्भूता अपि पुण्याश्रया नृपाः।
शुष्कलेत्रादिदेशेषु मठचैत्यादि चक्रिरे॥
प्राज्ये राज्यक्षणे तेषां प्रायः कश्मीरमण्डलम्।
भोज्यमास्ते स्म बौद्धानां प्रव्रज्योर्जिततेजसाम्॥"

[राजतरंगिणी, १।१६८–१७१]

राजतरंगिणीवर्णित कश्मीर-राजवंश का चौथा राजा है। कौरवों और पाण्डवों का जब युद्ध हुआ, यह छोटा बालक था; युद्ध में सहायता के लिए इसे नहीं बुलाया गया।[1]

कल्हण लिखता है कि इसके अनन्तर ३५ राजाओं के नाम व उनके कार्यों का कुछ पता नहीं लगता, क्योंकि उस सम्बन्ध के लिखित प्रामाणिक साधन नष्ट हो चुके हैं।[2] इसके अनन्तर चालीसवाँ राजा 'लव' नामक हुआ। इसके आगे वंशानुक्रम का उल्लेख इस प्रकार है—

४१—कुश
४२—खगेन्द्र
४३—सुरेन्द्र
४४—गोधर
४५—सुवर्ण
४६—जनक
४७—शचीनर
४८—अशोक
४९—जलौक
५०—दामोदर (२)
५१—हुष्क
५२—जुष्क
५३—कनिष्क
५४—अभिमन्यु
५५—गोनन्द (३)

राजतरंगिणी में प्रस्तुत वंशानुक्रम के अनुसार कश्मीर के सिंहासन पर कनिष्क ५३वाँ राजा है।[3] हुष्क, जुष्क, कनिष्क इन तीन तुरुष्कवंशीय शासकों ने कश्मीर पर साठ (६०) वर्ष शासन किया। कनिष्क के अनन्तर अभिमन्यु का शासन होता है। अभिमन्यु कनिष्क का पुत्र नहीं था। यह क्षत्रिय-कुल के उसी वंश का राजकुमार था, जो तुरुष्कवंशीय शासकों से पूर्व, कश्मीर का शासन करता रहा। राजतरंगिणी में स्पष्ट लिखा है[4] कि यह राजा दूसरे इन्द्र के समान भयरहित और निष्कण्टक था। इन विशेषणों का यही तात्पर्य संगत होता है कि कुछ काल से जो विदेशी राजा कश्मीर में घुस आये थे, उन कण्टकों का उच्छेद कर राज्य को निष्कण्टक बना दिया, अब उसे शत्रु की ओर से किसी प्रकार के भय की आशंका नहीं थी [—अभीः]। इससे स्पष्ट है, अभिमन्यु कश्मीर के

---

१. द्रष्टव्य—राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक ५७–८२।

२. वही ग्रन्थ, तरंग १, श्लोक ८३।

३. प्रतीत होता है, विदेशी तुरुष्क राजाओं को एक इकाई मानकर राजतरंगिणीकार ने कनिष्क को ५१वाँ राजा माना है। कल्हण ने आदि गोनन्द से अभिमन्यु तक ५२ राजा लिखे हैं [१।४४] जबकि कनिष्क के पूर्ववर्ती हुष्क और जुष्क को जोड़कर राजाओं की ५४ संख्या बनती है।

४. **अथ निष्कण्टको राजा कण्टकोत्साग्रहारदः।**
अभीर्बभूवाभिमन्युः शतमन्युरिवापरः॥ [१।१७४]

प्राचीन क्षत्रिय राजवंश का ही कुमार था। नामों की रचना से भी यह तथ्य पुष्ट होता है।

अभिमन्यु के अनन्तर गोनन्द (३) राज्यसिंहासन सम्भालता है। ऐतिहासिक विद्वानों ने गणना कर निर्णय किया है कि राजतरंगिणी के विवरणानुसार गोनन्द (३) ईसापूर्व ११८२ में राजगद्दी पर बैठा। उससे पूर्व अभिमन्यु ने ५२ वर्ष शासन किया। इस प्रकार ११८२+५२=१२३४ वर्ष ई० पू० अभिमन्यु सिंहासनारूढ़ हुआ। इससे पूर्व तुरुष्कवंशीय तीन राजाओं ने ६० वर्ष राज्य किया। यदि इसमें पच्चीस अथवा बीस वर्ष ही कनिष्क-शासन के मान लिये जाएँ, तो १२३४+२०=१२५४ वर्ष ईसा-पूर्व कनिष्क के राज्यारोहण का समय आता है। आधुनिक लेखकों ने जो काल [७८ ईसवी] कनिष्क के राज्यारोहण का बताया है, उसमें कल्हण-निर्दिष्ट काल से [१२५४+७८= १३३२ वर्ष का अन्तर है।

कल्हण की राजतरंगिणी लिखे जाने का काल ११४८ ईसवी सन् बताया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कनिष्क के राज्यारोहण-काल और कल्हण के काल में [१२५४+११४८=] २४०२ वर्ष का अन्तर है, अर्थात् इन दोनों घटनाओं का अन्तराल-काल २४०२ वर्ष है। अब यदि पाश्चात्य लेखकों के अनुसार कनिष्क का राज्यारोहणकाल ७८ ईसवी सन् माना जाता है, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि कनिष्क के काल में कल्हण के अन्तराल-काल को जोड़-कर [७८+२४०२=] २४८० ईसवी सन् में कल्हण का समय आयेगा। यदि हम १९७० ईसवी सन् में विद्यमान हैं तो इसके अनुसार [२४८० – १९७० =] ५१० वर्ष के अनन्तर कल्हण पैदा होगा, और राजतरंगिणी लिखेगा। क्या कोई सुविचारक इस स्थिति को स्वीकार कर सकता है?

यदि हम पाश्चात्य लेखकों द्वारा निर्दिष्ट ७८ ईसवी सन् को कनिष्क का राज्यारोहणकाल स्वीकार करते हैं, और कल्हण का काल ११४८ ईसवी सन् स्वीकृत है, तो इन दोनों का अन्तराल-काल [११४८ – ७८ =]१०७० वर्ष बनता है। कल्हण ने गोनन्द (३) से लगाकर अपने काल तक ८६ राजाओं का विवरण दिया है, और उनका राज्यकाल २१९० वर्ष लिखा है। तब [२१९० — १०७० =] ११२० वर्ष का इतिहास कहाँ खपाया जायगा? वस्तुस्थिति यह है कि पाश्चात्य लेखकों के कनिष्कविषयक निर्देश निराधार एवं प्रमाणशून्य हैं। भारतीय इतिहास के विषय में पाश्चात्य लेखकों ने जिस प्रक्रिया को अपनाया है, वह सर्वथा अपूर्ण है; उसमें अनेक भारतीय अभिलेखों की उपेक्षा की गई है।

अभी गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया कि राजतरंगिणी और आधुनिक लेखकों द्वारा निर्दिष्ट कनिष्क के काल में परस्पर लगभग १३३२ वर्ष का अन्तर है। यदि स्थूल रूप से इसे सवा तेरह सौ या केवल तेरह सौ वर्ष का अन्तर भी

स्वीकार किया जाय, तो कहना होगा कि आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय इतिहास-काल के लगभग तेरह सौ वर्षों का घोटाला किया है। भगवान् बुद्ध और अनन्तर के बौद्ध दार्शनिकों आदि का जो काल पाश्चात्य लेखकों ने निर्दिष्ट किया है, यदि उसको लगभग तेरह सौ वर्ष पीछे हटा दिया जाय, तो वह अपने यथार्थ समय के आस-पास पहुँच जाता है, जो भारतीय इतिहास-सम्बन्धी अभिलेखों से समन्वित होता है। इसके अनुसार भगवान् बुद्ध का काल लगभग १८०० वर्ष ईसा-पूर्व, तथा मौर्य राजवंश का काल लगभग १५०० वर्ष ईसा-पूर्व समझना चाहिए।

अश्वघोष का काल—बुद्ध के अनन्तर बौद्ध दार्शनिकों का जो कालिक-अनुक्रम आधुनिक विद्वानों ने निर्धारित किया है, वह प्रायः ठीक है। उनके पारस्परिक अन्तराल-काल में कुछ न्यूनाधिकता का होना सम्भव है। उस काल को लगभग तेरह सौ वर्ष पीछे हटाना, यह एक सिद्धान्त-सूत्र है। अन्तराल-काल के सामञ्जस्य के लिए इसमें किसी अंश तक न्यूनाधिकता हो सकती है। इसके अनुरूप तथा राजतरंगिणी के निर्देशानुसार कनिष्क का काल ईसापूर्व तेरहवीं शताब्दी आता है। तब अश्वघोष का काल भी वही माना जायगा, क्योंकि अश्वघोष को कनिष्क का समकालिक एवं राज्यसभा-पण्डित कहा जाता है। सम्भवतः अश्वघोष ने अपनी रचनाओं में इस स्थिति का संकेत किया हो, पर राजतरंगिणी के कनिष्क-प्रसंग में अश्वघोष का उल्लेख नहीं है, यद्यपि कनिष्क के काल और उसके पूर्वापर काल में भी कश्मीर पर प्रभूत बौद्ध-प्रभाव का उल्लेख है।[1]

नागार्जुन का काल—बौद्ध दार्शनिकों के कालानुक्रम में अश्वघोष के अनन्तर नागार्जुन का नाम लिया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने इस आचार्य का काल १५० ईसवी सन् के आस-पास माना है, जैसाकि चालू अध्याय के प्रारम्भ में निर्देश किया गया है। पर यह निर्देश तब है, जब अश्वघोष का काल १२० ई० सन् लिखा है। अश्वघोष से ३० वर्ष अनन्तर नागार्जुन का काल माना। परन्तु अश्वघोष को कनिष्क के साथ रखने से कनिष्क के काल ७८ ईसवी में अश्वघोष आ जाता है। तीस वर्ष अनन्तर होने से नागार्जुन का काल १०८ ई० सन् आता है। पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त-सूत्र के अनुसार यदि इसे लगभग तेरह सौ वर्ष पीछे हटा दिया जाय, तो नागार्जुन का समय ईसापूर्व बारहवीं शताब्दी का अन्तिम तथा तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग आता है। यह समय, राजतरंगिणी में निर्दिष्ट नागार्जुन-काल के साथ पूर्ण रूप से संगत है।

कल्हण ने इस प्रसंग[2] में नागार्जुन का पर्याप्त विवरण दिया है। यह एक

---

१. द्रष्टव्य—राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक १०२, १५२, १७०, १७१, १७७।
२. द्रष्टव्य—वही ग्रन्थ, १।१७३, १७७, १७८।

अच्छे भूभाग का स्वामी था, बौद्ध आचारों का श्रद्धापूर्वक पालन करता और एकान्त जंगल में निवास करता था। बुद्धिमान् नागार्जुन के द्वारा सुरक्षित बौद्ध उस समय कश्मीर प्रदेश में अपनी प्रबल दशा में थे। आगमद्वेषी उन बौद्धों ने समस्त विद्वान् वादियों को शास्त्रचर्चा द्वारा पराजित कर दिया था, तथा नील-पुराण-प्रतिपादित समस्त क्रियाओं को उच्छिन्न कर दिया था।

यह राजा अभिमन्यु का राज्यकाल था। अभिमन्यु का शासन ११८२ वर्ष ईसापूर्व में समाप्त हुआ। ५२ वर्ष अभिमन्यु ने शासन किया, जो १२३४ वर्ष ईसापूर्व से प्रारम्भ हुआ था। इसके अनुसार नागार्जुन का काल ईसापूर्व तेरहवीं शती के प्रारम्भ तथा बारहवीं शती के अन्त का भाग आता है, जैसाकि अभी पूर्व-पंक्तियों में प्रकट किया गया है। अश्वघोष, राजा कनिष्क का समकालिक है, जो अभिमन्यु से पहला राजा था। इस प्रकार इन दोनों बौद्ध दार्शनिकों का काल और अनुक्रम उक्त रूप में प्रमाणित एवं युक्तियुक्त है।

राजा अभिमन्यु वेदानुयायी क्षत्रिय वंश का था। उसने कश्मीर में बढ़ते हुए बौद्धों के उपप्लव को जाँचा। तब उत्तर भारत से चन्द्र नामक आचार्य को कश्मीर बुलाया गया; अथवा आकस्मिक रूप से वह उस अवसर पर कश्मीर पहुँचा। लिखा है, उसने वहाँ पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य का प्रचार किया, और अपना भी एक व्याकरण बनाया। उसने शास्त्रचर्चाओं द्वारा बौद्धों की बाढ़ को भी रोका।[1]

राजतरंगिणी के स्पष्ट लेख एवं अन्य निर्दिष्ट विवरणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बुद्ध का जो काल [५०० वर्ष ईसापूर्व के लगभग] पाश्चात्य लेखकों ने अनुमान किया है, वह सर्वथा अशुद्ध है। जब नागार्जुन बौद्ध दार्शनिक का काल ईसापूर्व बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं का प्रारम्भ है, तब भगवान् बुद्ध का काल ईसापूर्व पाँचवीं-छठी शती कहना सर्वथा निराधार है। पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्तसूत्र यहाँ भी लागू होता है, और उसके अनुसार [५००+१३००=] १८०० वर्ष ईसापूर्व के लगभग भगवान् बुद्ध का समय प्रमाणित होता है।

इसी के अनुसार अन्य बौद्ध दार्शनिकों का काल सरलता से अनुमान किया जा सकता है, जो उनके वास्तविक काल के अधिकाधिक समीप होना सम्भव है। चालू अध्याय के प्रारम्भ में बौद्ध दार्शनिकों की जो सूची–पाश्चात्य लेखकों द्वारा प्रचारित काल-निर्देश के साथ–दी गई है, उसे काल-निर्देश की भावना से इस रूप में समझना चाहिए—

१. इस सब के लिए देखें—राजतरंगिणी, १।१७६–१८४॥

आचार्य-नाम	पाश्चात्य लेखकों द्वारा अनुमानित काल		हमारे द्वारा अनुमानित काल, ईसापूर्व के लगभग	
अश्वघोष	१२० अथवा ७८ ई० सन्		१२५० वर्ष	
नागार्जुन	१५०	"	१२००	"
नन्दीश्वर	१७०	"	११५०	"
वसुबन्धु	२८०—३१०	"	११००	"
असङ्ग	३२०—३३०	"	१०७५	"
असङ्गभद्र	३२०	"	१०५०	"
आर्यदेव	३००—३५०	"	१०००	"
कुमारजीव	३८०	"	९००	"
बुद्धघोष	४००	"	८९०	"
बुद्धपालित	४००	"	८५०	"
दिङ्नाग	४८०	"	७४०	"
चन्द्रकीर्त्ति	५५०	"	६६०	"
भावविवेक	६००	"	६००	"
धर्मकीर्त्ति	६३५	"	५५०	"
गुणमति	अज्ञात			

अश्वघोष से लगाकर धर्मकीर्त्तिपर्यन्त ये बौद्ध विद्वान् ईसापूर्व तेरहवीं शती से छठी शती के अन्त तक के अन्तराल-काल में हो चुके हैं। इनमें कनिष्क का सहयोग अश्वघोष के—तथा राजतरंगिणी में स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक अभिमन्यु-कालिक निर्देश बोधिसत्त्व नागार्जुन के—समय को प्रायः निर्धारित कर देते हैं; उसी के अनुसार अन्य बौद्ध विद्वानों के काल का अनुमान किया गया है। इसमें अनुक्रम और अन्तराल-काल को जानने के लिए उस पद्धति को स्वीकार कर लिया गया है, जिसका आधार पाश्चात्य लेखकों ने लिया।

आचार्यों के इस कालक्रम के अनुसार ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में होनेवाले आद्य शंकराचार्य द्वारा दिङ्नाग-साहित्य से अपनी रचनाओं में उद्धरण का दिया जाना किसी आपत्ति या बाधा का द्योतक नहीं रहता। इसी प्रकार यदि सुरेश्वर धर्मकीर्त्ति का उल्लेख करता है, तो उसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। यदि कुमारिल भट्ट इन विद्वानों में से किसी का कहीं विवेचन करता है, तो उसमें भी क्या आपत्ति है ? पर यह कहना सर्वथा असंगत है कि कुमारिल भट्ट ने अपनी रचना में धर्मकीर्त्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन किया है। श्लोक-वार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक आदि में ऐसा कहीं कोई निर्देश नहीं है।

पाश्चात्य लेखकों द्वारा उक्त काल-निर्देशन का आधार—यह कुएँ में भाँग

ऐसे पड़ गई कि एक तथाकथित विदेशी लेखक के टूटे-फूटे बिखरे हुए कल्पनापूर्ण सन्दर्भों को निराधार महत्त्व दिया गया—भारत का इतिहास लिखने के लिए; साथ ही भारतीय साधनों की उपेक्षा की गई। मेगस्थनीज़ के लेखों पर विश्वास करनेवाले लेखकों ने आज तक इस विषय के कोई सुपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये कि वह भारत में आया भी था, या नहीं; उसने भारत देश का कहाँ तक पर्यटन किया; यहाँ की सामाजिक, प्रशासनिक आदि परिस्थितियों का कहाँ तक ज्ञान प्राप्त किया। उसके नाम से आज प्रकाशित रचना का आधे से अधिक भाग खुराफ़ात से भरा हुआ है। कोई भी विचारशील व्यक्ति उसे पढ़कर यह कभी विश्वास नहीं कर सकता कि इसका लेखक भारत में आया हो। उसी के कुछ पदों को भारत के तात्कालिक भाग्यविधाता परहितकातर सभ्यताप्रशिक्षक तत्त्वान्वेषी (?) खोजियों ने उछाला। **'सैण्ड्राकोट्टस'** या **ऐण्ड्राकोट्टस'** चन्द्रगुप्त बना दिया गया, और **'पालिबोथ्रा'** पाटलिपुत्र। इनके साथ मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त को जोड़ दिया गया, यद्यपि मेगस्थनीज़ के सन्दर्भों के अनुसार भी यह गठजोड़ सर्वथा निराधार एवं असंगत है; उस रचना में 'मौर्य' पद का कहीं संकेत तक नहीं है, पर इस खूँटे को प्रयत्नपूर्वक दृढ़ता के साथ इतिहास के आँगन में गाड़ दिया गया।

अब क्या था! इसी खूँटे के इधर-उधर भारतीय इतिहास की घटनाओं को चस्पां करने का उद्योग किया गया। जब मौर्यवंश का आरम्भ सिकन्दर के आक्रमण के साथ जोड़ दिया गया, तो उससे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बुद्ध को बैठा दिया गया। पर भारतीय पुरावृत्त-साधनों के अनुसार मौर्यवंश के आरम्भ और सिकन्दर के आक्रमण में लगभग बारह सौ वर्ष से अधिक का पूर्वापर-अन्तर था। तब इस काल में होने वाले राजवंशों एवं विशिष्ट विद्वान् व्यक्तियों को कहाँ समाया जाय? यह समस्या उन पाश्चात्य लेखकों के सामने थी। पर उनके परिश्रम व बुद्धिचातुर्य की अभिवन्दना करनी चाहिए; उन्होंने भारत के उस सब इतिहास-भाग को ईसा की पीछे की शताब्दियों में समेट दिया। भारतीय इतिवृत्त-साधनों को सन्दिग्ध कह दिया। इसी भ्रान्ति पर आधारित भारी-भरकम साहित्य आज बाज़ार में पटा पड़ा है।

यह सब हमारा इस समय विवेच्य विषय नहीं। पर इसके अनुसार कनिष्क को जहाँ बैठाया गया है, उसका अपेक्षित विवेचन आवश्यक व अवसर-प्राप्त है।

कनिष्क कालविवेचन—गत पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया—आधुनिक ऐतिहासिक कनिष्क-काल को अनिश्चित मानते हुए भी उसके राज्याधिरोहण को ईसवी सन् के ७८वें वर्ष में बताते हैं। साथ में यह भी कहा जाता है—शालिवाहन के नाम से जो संवत् प्रचलित है, उसको प्रवृत्त करनेवाला कनिष्क

ही था। अपने राज्यारोहण की स्मृति में उसने यह संवत् चालू किया।[1]

यह एक आश्चर्य की बात है—जो विद्वान् इतिहास की सचाई को सिक्के, शिलालेख अथवा अन्य स्थायी अभिलेखों के आधार पर परखते हैं, वे जब इतिहास-सम्बन्धी अपने किसी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं, तो उसमें उक्त साधनों का प्राय: अभाव रहता है। ऐसे अवसरों पर केवल अटकल से काम लिया जाता है। आज तक कोई भी स्पष्ट अभिलेख इस विषय का प्रस्तुत नहीं किया गया, न उपलब्ध है कि शालिवाहन नाम से प्रचलित संवत् का प्रवर्त्तन कनिष्क ने किया। अंग्रेज़ी शासनकाल में जब ऐतिहासिक अनुसन्धान व खोज की बाढ़ आई थी, तो प्रत्येक इस विषय का लेखक अपनी एक नई बात कहकर इस बहती गंगा में गोता लगाना चाहता, और ऐतिहासिक विशेषज्ञता का दावा करने का अधिकारी बन जाता था। परिणामस्वरूप कनिष्क के विषय में भी 'जितने मुँह उतनी बात' कहावत चरितार्थ हुई है।

(१) **तथाकथित कनिष्ककालविषयक भ्रान्ति**—कनिष्क के तथाकथित-काल के विषय में एक भ्रान्ति यह हुई है कि इतिहास में उसका जहाँ स्थान है, वहाँ से उसे उठाकर पर्याप्त अनन्तर-काल में स्थापित कर दिया गया है।

कनिष्क शक जाति के एक कबीले में उत्पन्न व्यक्ति था। यह जाति अनेक कबीलों में बँटी थी। कहा जाता है, उस काल में इनका कोई स्थायी निवास न था, ये इधर-उधर घूमते-फिरते रहते थे। ऐसा भूप्रदेश 'शकस्थान' के नाम से ज्ञात रहा, जिसका कुछ भाग अब 'सीस्तान' नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिकों ने यह माना है, खीवा और खुरासान प्रदेश के ईरानी कृषक उन शक कबीलों में से अपने एक पड़ौसी कबीले को दाह (दास या दस्यु) विशेषण से भी पुकारा करते थे। तूरान इन्हीं दाहों का घर था। इन सब शक-कबीलों की बस्तियाँ ८वीं शताब्दी ईसवी पूर्व से निश्चय से विद्यमान थीं।[2]

इस मान्यता से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि और भी शताब्दियों पूर्व इन शक कबीलों का उन प्रदेशों में निवास सम्भव है। हो सकता है, ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व ये जातियाँ वहाँ निवास करती हों; क्योंकि काश्यप सागर (कास्पियन सी) के चतुर्दिक् प्रदेश उस काल में मानव-निवास से रहित थे, ऐसी कल्पना के लिए कोई प्रमाण नहीं है। उस समय मानव-निवास के साधन—मुद्रा, शिलालेख आदि—भले ही न हों, पर अन्य साधनों से यह निश्चित रूप में प्रमाणित है। मुद्रा, बर्त्तन आदि साधन भूमि में धँसे पड़े रह सकते हैं, जिनका कदाचित् कभी

१. इस सबके लिए देखिये, श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकारकृत 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ, भाग २, कनिष्क तथा शक जातियों का प्रसंग।

२. देखें, श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', जिल्द १, पृ० ४०६।

पता न लगे, पर ग्रन्थ या साहित्य के रूप में लिखित साधन परम्परा द्वारा बने रहते हैं।

कल्हण ने राजतरंगिणी में कनिष्क और उसके काल का जो उल्लेख किया है, वह निराधार व भ्रान्तियुक्त नहीं है। वहाँ कनिष्क का काल ईसापूर्व बारह सौ वर्ष से कुछ अधिक बताया है।[1] चीन का वर्तमान **'सिङ् कियांग'** प्रदेश और उसके दक्षिण-पश्चिम का पर्याप्त भूभाग उस समय **'उत्तर कुरु'** नाम से भारतीय साहित्य में ज्ञात है।[2] उत्तरापथ द्वारा भारतीय व्यापारियों का परिचय उस प्रदेश और उसके निवासियों के साथ पर्याप्त प्राचीन काल से बराबर बना रहा है। मध्य में राजनैतिक उथल-पुथल भले रही हो, पर व्यापार का मार्ग खुला रहा, और थोड़ा-बहुत व्यापार घटते-बढ़ते निरन्तर चलता रहा।[3] इस सम्पर्क ने दोनों प्रदेशों के निवासियों को एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट रखा है।

यह समझना कि ईसापूर्व आठ सौ वर्ष से पहले उक्त प्रदेशों में शकजाति के लोगों का निवास नहीं था, नितान्त भ्रान्ति है। इतिहास में कोई ऐसे सुपुष्ट

---

१. सम्भव है, इसका काल और अधिक पहले हो, क्योंकि यह गणना गर्गसंहिता के जिस लेख के आधार पर की गई है, कल्हण द्वारा उसके समझने में कुछ भ्रान्ति प्रतीत होती है, जिसका उल्लेख अभी आगे की पंक्तियों में किया जाएगा।

२. द्रष्टव्य—भास कवि का 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक, अंक ४, विदूषक-उक्ति **'अनप्सरः संवास उत्तरकुरुवासोमयानभूयते।'** भारवि ने किरातार्जुनीय [१।३१] में लिखा है—

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥

महाभारत [सभा०, १८।७।११] के अनुसार उत्तरदिशा-विजय के अवसर पर अर्जुन 'उत्तर कुरु' देश तक गया था; वहाँ के निवासियों को युधिष्ठिर का राजभक्त और करदाता बनाया।

३. देखें—श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालकृत 'पाणिनिकालीन भारत' पृ० ५१, १४६,२३६॥ पाणिनिकाल से पूर्व भी इस मार्ग द्वारा भारतीय व्यापारियों का उत्तरीय देशों में जाना, और उधर के व्यापारियों का इधर आना निरन्तर रहा है। सम्भव है, उसी काल से उधर के अनेक सार्थ भारत में बस गये। उनमें काम्बोज (वर्तमान नाम—कम्बोह) और शाकद्वीपी परिवारों का नाम मैं ले सकता हूँ। ये उत्तर भारत के अनेक प्रदेशों में फैले हैं। इनमें से पहले व्यापारी और कृषक हैं। इनका विस्तार शिवालक की तराई में विभिन्न स्थानों पर दूर तक है। नगरों में अनेक परिवार हैं, गाज़ियाबाद में भी हैं। दूसरे ब्राह्मण हैं। बीकानेर व राजस्थान के अन्य नगरों में निवास है। बीकानेर के परिवारों को मैं जानता हूँ। सम्भव है, शाकद्वीपी अब्राह्मण परिवार भी हों। भारत में इन परिवारों का आगमन

प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, जिनके आधार पर उन प्रदेशों में इस जाति के निवास को काल-सीमित किया जा सके। कल्हण ने कश्मीर-राजवंश के अनुक्रम में जिस स्थान पर कनिष्क को बताया है, उसको वहाँ से हटाये जाने का कोई न्यायोचित समाधान दिखाई नहीं देता। अन्यथा उस समस्त अनुक्रम को असंगत सिद्ध करना होगा, जो दुष्कर प्रतीत होता है। वह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अपने में इतना सुव्यवस्थित है कि जिससे उसकी सचाई को आज तक किसी ने चुनौती नहीं दी; प्रत्युत उसके उल्लेखों की सभी प्रकार के विद्वानों द्वारा प्रायः प्रशंसा की जाती है। इस प्रकार एक ही कनिष्क, काल के इतने लम्बे अन्तराल के साथ दो स्थानों पर नहीं बैठाया जा सकता। इनमें से एक को अवश्य चिन्त्य मानना होगा। ७८ ईसवी सन् के कथन में आधार केवल कल्पना व जोड़-तोड़ है; दूसरी ओर एक सुस्थिर स्पष्ट लेख है। भारतीय इतिहास के लगभग तेरह सौ वर्ष के इस घोटाले के कारण ही एतद्विषयक पाश्चात्य विचारधारा के लेखकों ने लगभग बारह सौ वर्ष ईसापूर्व के कनिष्क को ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम भाग में ला बिठाया है।

इतिहास के जाने-माने विद्वान् श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस विषय के समस्त पाश्चात्य एवं पौरस्त्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत—पाश्चात्य विचारधारा-मूलक—साहित्य-क्षीरसागर का आलोडन व मन्थन कर जो नवनीतामृत निकाला है, वह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—"तो भी यह विषय अभी निर्विवाद नहीं कहा जा सकता, और जो तिथिक्रम यहाँ स्वीकार किया गया है, उसे आरज़ी ही मानना होगा।"[1]

काश्मीरिक शक राजाओं का अनुक्रम—राजतरंगिणी में शक[2] जाति के तीन राजाओं का उल्लेख—हुष्क, जुष्क, कनिष्क इस क्रम से हुआ है। इन तीनों ने अपने नाम के नगर वहाँ बसाये, और अनेक चैत्य, मठ एवं विहार आदि का निर्माण कराया। कश्मीर के बारामूला दर्रा [वराहमूल द्वार] के ठीक अन्दर पुरानी बस्ती के चिह्न पाये गये हैं; साथ ही वहाँ बसे गाँव का नाम आज **'उस्कूर'** कहा जाता है। सम्भवतः यह हुष्कपुर अथवा जुष्कपुर का ही अवशेष है।[3]

उसी काल में सम्भव है, जब यहाँ और वहाँ के प्रदेशों में किसी प्रकार का धार्मिक भेद-भाव न था—महात्मा ईसा व मूसा आदि के प्रादुर्भाव से बहुत पूर्व। तब भारत और उन प्रदेशों में एक ही धर्म का होना सम्भव है; अन्यथा शाकद्वीपी ब्राह्मण कहाँ से आते?

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ८७३।

२. रा० त०, १।१६८-६९॥

३. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ८५० के आधार पर।

आधुनिक लेखक इन राजाओं का अनुक्रम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

कनिष्क
वासिष्क-वासेष्क-वाझेष्क
कनिष्क (द्वितीय) समकालिक हुविष्क
वासुदेव

इन दोनों अनुक्रमों में स्पष्ट विपर्यास दृष्टिगोचर हो रहा है। इस दशा में कौन किसका उत्तराधिकारी हुआ, यह निश्चय करना कठिन है। एक प्राचीन अभिलेख में वाझेष्क-पुत्र कनिष्क का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह अभिलेख सिन्धु नदी के दक्खिन किनारे पर अटक से १० मील नीचे **'आरा'** नाम के एक नाले में पाया गया।[1] वह अभिलेख इस रूप में है—**'महाराज राजाधिराज देवपुत्र कइसर** (Caesar) **वाझेष्क पुत्र कनिष्क**···—' आदि। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अभिलेख का **'वाझेष्क'** पद राजतरंगिणी के **'जुष्क'** का रूपान्तर है, अथवा राजतरंगिणी का **'जुष्क'** अभिलेख के **'वाझेष्क'** का रूपान्तर। तात्पर्य यह कि वाझेष्क एवं जुष्क एक नाम एक व्यक्ति का है। यदि इन नामों की एकता को संगत माना जाय, तो राजतरंगिणी-निर्दिष्ट अनुक्रम से प्रमाणित होता है कि जुष्क के अनन्तर कनिष्क ने कश्मीर का शासन सँभाला।

आधुनिक लेखकों द्वारा शालिवाहन संवत् के प्रवर्त्तक के रूप में कनिष्क की कल्पना कर, और उसका सामञ्जस्य अन्य अभिलेखों के साथ न होने पर उसे प्रथम कनिष्क और वाझेष्क-पुत्र कनिष्क को द्वितीय मान लिया गया है। वासेष्क या वासिष्क, मूल पद के अन्य विकृत रूप हैं।

इस वंश के वासुदेव का कोई प्रसंग राजतरंगिणी में नहीं है। यदि वासुदेव नामक व्यक्ति को बलात् इस वंश के साथ नहीं जोड़ दिया है, और वस्तुतः वह इसी राजवंश का व्यक्ति है, तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कश्मीर उसके शासन में नहीं रहा।

आधुनिक लेखकों द्वारा प्रस्तुत अनुक्रम में कनिष्क (२) और हुविष्क को समकालिक माना गया है। उनका कहना है—"हुविष्क के राज्यकाल के बीच कनिष्क (दूसरे) का ४१वें बरस का लेख पड़ता है। उस सम्बन्ध में भी हम··· यह मान लेते हैं कि ३०वें से ४२वें बरस तक कनिष्क पुरुषपुर में राजाधिराज था, और हुविष्क मथुरा में उसके अधीन महाराज।"[2]

उक्त लेख में बरसों के दिये गये अंक शालिवाहन संवत् के हैं, जिसका प्रवर्त्तक आधुनिक लेखकों द्वारा कनिष्क को कल्पना कर लिया गया है। कनिष्क

---

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ८४६ के अनुसार।
२. द्रष्टव्य—वही ग्रन्थ, पृ० ८४८।

दूसरे और हुविष्क के विषय में यह निश्चय नहीं है कि ये बड़े-छोटे भाई थे, अथवा पिता-पुत्र। हुष्क और हुविष्क पद एक-जैसे प्रतीत होते हैं। मैं नहीं कह सकता, इनमें वास्तविक मूलनामपद कौन-सा है; किसी भी एक पद का दूसरे में रूपान्तर सम्भव है। यदि यह एक नाम एक ही व्यक्ति का माना जाता है, तो आधुनिक लेखकों के और राजतरंगिणी के लेख में स्पष्ट व्यतिक्रम है। राजतरंगिणी में हुष्क सबसे प्रथम है, आधुनिक अनुक्रम में सबसे पीछे। इसके साथ और भी कुछ समस्याएँ सामने आती हैं—

(क) आधुनिक इतिहास-लेखकों ने कनिष्क नाम के दो राजा माने हैं। पहली समस्या यह है कि इन दोनों में से कश्मीर पर कौन-से कनिष्क का शासन रहा ? अथवा दोनों का रहा ? राजतरंगिणी में एक का उल्लेख किया गया है।

(ख) राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीराधिपति कनिष्क का पूर्ववर्त्ती जुष्क है। जैसाकि अभी पहली पंक्तियों में कहा गया है, जुष्क और वाझेष्क[1] पद समान हैं; एक ही व्यक्ति का यह नाम है; आधुनिक लेखकों ने भी वाझेष्क को कनिष्क-(२) का पूर्ववर्त्ती माना है। दोनों वर्णनों की इस समानता के आधार पर यदि केवल द्वितीय कनिष्क को कश्मीर का शासक माना जाता है, और हुविष्क उससे अनन्तर आता है तो कल्हण इसी अनुक्रम के अनुसार **'जुष्क-कनिष्क-हुष्कानां'** ऐसा पाठ लिख सकता था; उसकी पद्य-रचना में इन तीनों पदों को आगे-पीछे रखने से कोई बाधा नहीं थी। तब उसके द्वारा निर्दिष्ट अनुक्रम को सर्वथा उपेक्ष्य नहीं समझना चाहिए।

(ग) द्वितीय कनिष्क को कश्मीर का शासक मानने पर क्या आधुनिक इतिहास-लेखक यह स्वीकार करेंगे कि कनिष्क प्रथम का कश्मीर पर शासन नहीं रहा ? जबकि उक्त साम्राज्य की स्थापना करनेवाला यही व्यक्ति था, तथा इसी को आधुनिक पुरावृत्तविदों ने एक संवत् का प्रवर्त्तक माना है।

फलतः इन राजाओं का—आधुनिक लेखकों द्वारा वर्णित—वंशानुक्रम व काल आदि के निर्देश सर्वथा असंदिग्ध हैं, यह नहीं कहा जा सकता। राजतरंगिणी-वर्णित कश्मीर-इतिहास के सामञ्जस्य के साथ इसकी विवेचना होनी चाहिए। इस रूप में कनिष्क को आधुनिक लेखकों ने कालक्रम में जहाँ बैठाया है, वह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं है।

कतिपय शिलालेख—शक राजाओं के बहुत-से सिक्के और कुछ खण्डित

१. 'अझेष्' नामक शकराजा का उल्लेख कतिपय पुरावृत्त-लेखकों ने किया है। वाझेष्क, अझेष्, एक-जैसे नाम प्रतीत होते हैं। कहा जाता है, अझेष् का शासन एशिया माइनर में पाँच सौ ई० वर्ष पूर्व था। द्रष्टव्य—पं० कोट्टा-वेंकटाचलम् की रचना—"Age of Buddha Milinda & Amtiyoka" Appendix—युगपुराण, पृ० ३५॥

शिलालेख आदि भारत के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। जिन स्थानों से ये वस्तुएँ उपलब्ध हुईं, समझा जाता है कि वहाँ पर उन-उन शक राजाओं का शासन रहा। उसी के आधार पर इतिहास की शृंखला में जोड़-तोड़ करने का प्रयास किया जाता है।

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सिक्कों का किसी स्थान पर मिलना, इस स्थिति का पूर्ण निश्चायक नहीं होता कि उन सिक्कों के प्रवर्त्तक का उस स्थान पर शासन अवश्य होना चाहिए। व्यापार के आधार पर सिक्कों का एक राज्य से दूसरे राज्य में जाना साधारण बात है। यह क्रम अब भी है और पहले भी चालू रहा है। वर्तमान भारत का सिक्का भारत से अतिरिक्त अनेक देशों में उपलब्ध रहता है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार अनेक विदेशी सिक्के भारत में विद्यमान हैं।

पहले भी ऐसा होता रहा है, यह इतिहास से ज्ञात होता है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने अपनी रचना में अनेक स्थलों पर 'दीनार' सिक्के का उल्लेख किया है। यह विदेशी सिक्का था; यहाँ उसका व्यापारिक परिवर्तन व दान आदि में उपयोग होता था। पर यह निश्चित है, जिस देश का वह सिक्का था, उसका शासन भारत के उस प्रदेश पर नहीं था, जहाँ दुर्ग के काल में इस सिक्के का प्रचलन रहा। भरुकच्छ के शोर्पारक (वर्त्तमान सोपारा, सौराष्ट्र-गुजरात का पुराना वन्दरगाह) पत्तन से भारतीय व्यापारी समुद्रमार्ग द्वारा पश्चिमी देशों के साथ व्यापार करते थे। भारतीय माल के परिवर्तन में विदेशी स्वर्णमुद्रा दीनार यहाँ पर्याप्त मात्रा में आती थी, जिसका उपयोग उस समय साधारण प्रजा तक में प्रचलित था।

किसी भी देश के शासन के उथल-पुथल हो जाने पर ऐसे सिक्कों के मालिक के सामने मुख्य मार्ग एक रहता है---उन्हें गलाकर सामान्य धातु के रूप में कर लिया जाय। कभी-कभी कुछ सिक्के सुरक्षा की भावना से भूमि में गाड़ दिये जाते हैं, अथवा शत्रुभय से दौड़-भाग में छूट जाते और मकानों के ढह जाने से मट्टी में दब जाते हैं। कालान्तर में जब ये हाथ आते हैं, तो इतिहास का एक साधन बन जाते हैं। इस रूप में सिक्कों का मिलना उस स्थान पर उस शासन का निःसन्दिग्ध निश्चायक नहीं रहता।

विचारना चाहिए, क्या ऐसी स्थिति, प्रस्तर-खण्डों अथवा मूर्त्तियों आदि पर उत्कीर्ण अभिलेखों के विषय में भी सम्भव है? देखने से ज्ञात होता है कि ऐसा सम्भव है। दिल्ली नगर में अनेक स्तम्भ और अभिलेख आदि अन्य स्थानों से लाकर स्थापित किये गए हैं। सुदूर भविष्य में इनका क्या हश्र होगा, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, ये किसी इतिहास के निर्माण में उस समय सहायक हों। पर इसे रहने दीजिये, ये एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाये

गये हैं। हम देखते हैं, आज भारतीय मूर्त्तिकला एवं चित्रकला की पुष्कल सामग्री विदेशों में जा रही है, पर्याप्त मात्रा में जा चुकी है। ये विशाल संग्रह, सम्भव है, कुछ शताब्दियों या सहस्राब्दियों के अनन्तर वहाँ के किसी नये इतिहास के निर्माण में सहायक बना लिये जाएँ।

इसी परिप्रेक्ष्य में मथुरा से उपलब्ध एक अभिलेख विचारणीय है। इसके विषय में श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपनी रचना 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा'[1] में जो लिखा है, अविकलरूप में प्रस्तुत है—

'सन् १८६९ में पं भगवानलाल इन्द्रजी को मथुरा में सीतला माई के एक चबूतरे की सीढ़ियों में दबा हुआ एक सिंहध्वज मिला था, जिसकी सिंह-मूर्तियों पर आगे-पीछे तथा नीचे कई पंक्तियों में एक खरोष्ठी लेख था। उन पंक्तियों का क्रम मिलाना और उन्हें परस्पर जोड़ना भी एक बड़ी समस्या थी। मथुरा के शकों के इतिहास के लिए वह लेख बड़े काम का है। पिछले साठ बरस में अनेक विद्वानों ने उस लेख को पढ़ने और उसका अर्थ करने के जतन किये हैं। डॉ० स्टेन कोनौ ने जो उनकी अन्तिम व्याख्या की है, उसके अनुसार उस लेख का अभिप्राय यों है—

"महाक्षत्रप रजुल की अग्र-महिषी, युवराज खरओस्त की बेटी···की माँ, अयसिअ[2] कमुइअ[3] ने अपनी माँ···दादी···भाई···और भतीजी सहित राजा मुकि और उसके घोड़े की भूषा करके शाक्यमुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया, और स्तूप और संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए।

युवराज खरओस्त कमुइअ ने कुमार···को भी इस कार्य में सहमत किया। महाक्षत्रप रजुल के बेटे क्षत्रप शुडस ने गुहाविहार को यह पृथिवी-प्रदेश दिया, महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक मेवकि मियिक क्षत्रप की पूजा के लिए, सर्वास्तिवादियों के परिग्रह में, सब बुद्धों, धर्म और संघ की पूजा के लिए, समूचे सकस्तान की पूजा के लिए···।"

'इस लेख में महाक्षत्रप रजुल तथा क्षत्रप शुडस की चर्चा है। खरओस्त इस क्षत्रपवंश का नहीं, शक महाराजा का युवराज दीखता है।'[4]

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ७६५-६६।
२. खरोष्ठी लेखों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद न होने से नाम का ठीक रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। [उक्त ग्रन्थकार की टिप्पणी]
३. अर्थात् कम्बोज देश की [उक्त ग्रन्थकार की टिप्पणी]
४. दुहरे अन्योक्ति चिह्न (" ") के बीच शिलालेख का पाठ है। शेष इकहरे चिह्न में ग्रन्थकार का पाठ है।

'रूपरेखा'-ग्रन्थकार ने इस अभिलेख के विषय में दो बातें विशेष लिखी हैं। एक—इस लेख की पंक्तियों का क्रम मिलाना और उन्हें परस्पर जोड़ना एक बड़ी समस्या रही है। दूसरा—गत साठ बरसों में अनेक विद्वानों ने इसको पढ़ने और समझने का यत्न किया है। ग्रन्थकार ने डॉ० स्टेन कोनो की व्याख्या के अनुसार उसका अभिप्राय प्रस्तुत किया है, जो प्रथम निर्दिष्ट है।

अभिलेख के विषय में मेरा विचार—(क) 'रूपरेखा'-ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के प्रस्तुत प्रयोजन की सिद्धि के लिए इस अभिलेख का केवल इतने अंश में उपयोग किया है कि इसमें महाक्षत्रप रजुल तथा क्षत्रप शुडस की चर्चा है। जैसा कि ग्रन्थकार ने कहा, इस लेख की पंक्तियों का क्रम मिलाना और उन्हें परस्पर जोड़ना एक बड़ी समस्या रही है। मेरे विचार से पंक्तियों का क्रम—डॉ० स्टेन कोनो की व्याख्या के अनुसार जो दिया गया है—अब भी ठीक नहीं है। दूसरे सन्दर्भ की प्रारम्भिक पंक्तियाँ—"युवराज खरओस्त कमुइअ ने कुमार···को भी इस कार्य में सहमत किया। महाक्षत्रप रजुल के बेटे क्षत्रप शुडस ने गुहाविहार को यह पृथिवी-प्रदेश दिया" ये अस्थान में आ पड़ी हैं। इन पंक्तियों के पूर्वापर भाग को गम्भीरता से देखने पर स्पष्ट होता है, उन पाठों के बीच में और कोई अंश नहीं आना चाहिए।

ऊपर के सन्दर्भ की अन्तिम पंक्ति है—"स्तूप और संघाराम भी सर्वास्ति-वादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए," इसके अनन्तर पाठ आना चाहिए—"महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक मेवकि मियिक क्षत्रप की पूजा के लिए, सर्वास्तिवादियों के परिग्रह में सब बुद्धों, धर्म और संघ की पूजा के लिए, समूचे सकस्तान की पूजा के लिए···।"

(ख) यह अभिलेख किसने उत्कीर्ण कराया ? कहाँ कराया ? मथुरा से इसका क्या सम्बन्ध है ? इन तीन आवश्यक बातों का किसी ने स्पष्टीकरण नहीं किया है। यह मथुरा में मिला, केवल इतने आधार पर मथुरा के क्षत्रपों का इतिहास निर्माण कर लिया गया है। अभिलेख के आधार पर पहली बात की परीक्षा करनी चाहिए।

अभिलेख के प्रथम सन्दर्भ में क्रियापद है—"प्रतिष्ठापित किया" [—शाक्यमुनि बुद्ध का शरीरधातु—कर्मपद]। इस क्रिया का कर्ता कौन है, अभिलेख में ढूँढना चाहिए। प्रथम सन्दर्भ के प्रारम्भिक भाग से स्पष्ट होता है,—इसको प्रतिष्ठापित करनेवाली युवराज खरओस्त की पत्नी—'अयसिअ कमुइअ' है। 'अयसिअ' उसका नाम है, अगले पद का अर्थ है—कम्बोज देश की रहने-वाली। रूपरेखाकार ने इसका यही अर्थ किया है, जो सर्वथा ठीक है। अभिलेख के अनुसार वाक्य इस प्रकार बनता है—"···अयसिअ कमुइअ ने···शाक्य-मुनि बुद्ध का शरीरधातु प्रतिष्ठापित किया।"

अभिलेख से स्पष्ट होता है, युवराज खरओस्त की बेटी महाक्षत्रप रजुल को ब्याही थी। उसका नाम अभिलेख में नहीं है। जहाँ नाम का प्रसंग आया है, वहाँ स्थान रिक्त छोड़ा है। सम्भवत: अभिलेख में नाम के अक्षर पढ़े न गये हों। इस अभिलेख के उत्कीर्ण कराने में रजुल का कोई सम्पर्क प्रतीत नहीं होता, सिवाय इसके कि उत्कीर्ण करानेवाली 'अयसिअ' [युवराज खरओस्त की पत्नी] का वह दामाद था। अभिलेख में रजुल के मथुरा-सम्पर्क का कोई संकेत नहीं है।

(ग) यह अभिलेख कहाँ उत्कीर्ण कराया गया, इसका स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति में किसी निश्चित धारणा का अभिव्यक्त करना कठिन है। अभिलेख के कतिपय निर्देश इस दिशा में सहयोग देते प्रतीत होते हैं—

(१) शाक्य-मुनि बुद्ध के शरीरधातु की प्रतिष्ठापना करानेवाले कम्बोज देश के निवासी हैं। युवराज खरओस्त और उसकी पत्नी दोनों के लिए अभिलेख में 'कमुइअ' विशेषण दिया गया है।

(२) वहाँ के राजा का नाम अभिलेख में 'मुकि' दिया गया है, जिसका प्रतिष्ठापूर्वक उल्लेख है। उसका सम्बन्ध मथुरा आदि से नहीं माना गया।

(३) लेख खरोष्ठी लिपि में है। उस काल में जहाँ इस लिपि का व्यवहार होता था, वहीं इसके उत्कीर्ण कराये जाने की सम्भावना उचित है।

(४) जिनकी पूजा, मंगलकामना व समृद्धि आदि के लिए यह कार्य किया गया, उनमें 'शकस्तान' का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है। इन सब निर्देशों से प्रतीत होता है, यह अभिलेख शकस्तान में किसी जगह उत्कीर्ण कराया गया।

(घ) अभिलेख के अनेक पद अभी अस्पष्ट हैं। द्वितीय सन्दर्भ में—**"महा-क्षत्रप कुसुलुक पतिक मेवकि मियिक क्षत्रप"** ऐसे ही पद हैं। ये दो व्यक्तियों के नाम प्रतीत होते हैं—एक महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक और दूसरा क्षत्रप मेवकि मियिक। क्षत्रप और महाक्षत्रप ये पृथक् दो पद इस तथ्य के द्योतक हैं, ये विभिन्न दो व्यक्तियों के नाम होने चाहिएँ। मथुरा के इतिहास से इनका कुछ सम्पर्क है, या नहीं? यह मैं नहीं कह सकता; पर अभिलेख की भावना के अनुसार इनका सम्बन्ध शकस्थान से अभिलक्षित होता है। भारतीय इतिहास में इनका नाम किस रूप में ज्ञात है, और इनका कहाँ स्थान है, यह इतिहासविदों को स्पष्ट करना चाहिए।

(ङ) गत पंक्तियों में कहा गया है, अभिलेख के दूसरे सन्दर्भ का प्रारम्भिक भाग, डॉ० स्टेन कोनौ की व्याख्या के अनुसार अस्थान में जुड़ गया है। सम्भव है, यह लेख का अन्तिम भाग रहा हो। सन्दर्भ की पहली पंक्ति है—"युवराज खरओस्त कमुइअ ने कुमार···को भी इस कार्य में सहमत किया।" इससे पूर्व-कथन को पुष्टि मिलती है कि इस कार्य को करनेवाले मुख्य व्यक्ति थे—युवराज खरओस्त और उसकी पत्नी—अयसिअ। ये दोनों कम्बोज देश के निवासी हैं

[कमुइअ]। इसका कुछ पता नहीं लगता कि वह कुमार कौन था, जिसको युवराज खरओस्त ने इस कार्य के लिए सहमत किया। अभिलेख की प्रतिलिपि में 'कुमार' पद के आगे स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है। सम्भव है, मूल अभिलेख में वह पद पढ़ा न गया हो।

यदि कुमार का तात्पर्य रजुल के बेटे शुडस से है, तो यह अधिक सम्भव है कि इस अभिलेख में वर्णित समस्त व्यक्ति भारत से बाहर कहीं सकस्तान आदि प्रदेशों के निवासी हों, और वहीं पर कहीं भगवान् बुद्ध का शरीरधातु प्रतिष्ठापित किया गया हो, तथा अभिलेख उत्कीर्ण कराया गया हो। मथुरा में इस प्रकार के अभिलेखों के उपलब्ध होने का कारण यही सम्भव है कि वहाँ बाहर से आयात हुई इस प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं का कोई संग्रहालय रहा हो। ऐसा संग्रह किसी राज-शक्ति के द्वारा किया गया सम्भव है, अथवा इस विषय में रुचि रखनेवाले किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा किया भी हो सकता है। कालान्तर में अव्यवस्था हो जाने से संग्रह की समस्त वस्तुएँ इधर-उधर विकीर्ण व विच्छिन्नप्राय हो गईं, जो अब जहाँ-तहाँ से प्राप्त हो रही हैं। इन अभिलेखों का—मथुरा में शकशासन के इतिहास-निर्माण के लिए—उपयोग करना स्पष्ट रूप से सन्दिग्ध है।

इस अभिलेख की खरोष्ठी लिपि में जिस भाषा का उपयोग किया गया है, उसे प्राकृत कहा जाता है। पर वह किस देश की प्राकृत है, यह किसी विद्वान् ने नहीं बताया। जिस अभिलेख में संस्कृत भाषा नहीं होती, उस प्रत्येक अभिलेख को प्राकृत भाषा का बता दिया जाता है। यह आश्चर्य है, अभिलेखों की उन प्राकृत भाषाओं की पारस्परिक विशेषताओं की ओर विद्वानों ने क्यों ध्यान नहीं दिया। उन अभिलेखों को ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न अभिलेखों की प्राकृत भाषाओं में परस्पर पर्याप्त भेद है। यदि उन विशेषताओं की परीक्षा की जाय, तो यह अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त किया जा सकता है कि वह अभिलेख मूल रूप में कहाँ का रहा होगा।

प्रस्तुत अभिलेख में जो प्राकृत कही जाती है, वह किस प्रदेश की प्राकृत है, इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् बताएँ। मुझे वह मथुरा प्रदेश की तात्कालिक प्राकृत प्रतीत नहीं होती।

संख्या (१) के अन्तर्गत कनिष्क-कालविषयक इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जिन आधारों पर कनिष्क को ७८ ई० सन् में बैठाया गया है, वे अत्यन्त शिथिल हैं, भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस विषय में प्रस्तुत किये गये शिलालेख आदि का भी गम्भीरतापूर्वक पुनः अध्ययन किया जाना अत्यन्त अपेक्षित है। जो कार्य इस दिशा में अभी तक हुआ है, अभिनन्दनीय है, पर सर्वात्मना पूर्ण नहीं है। फलतः कनिष्क का काल राजतरंगिणी के अनुसार बारह सौ वर्ष ई० पू० से ऊपर

मानना अधिक प्रामाणिक होगा। इसके साथ दूसरी बात शिलालेख आदि में उपलब्ध अंकों के विषय में विवेचनीय है।

अभिलेखों में उपलब्ध अङ्क

नहपान, रुद्रदामा, कनिष्क आदि के तथाकथित सिक्कों व अभिलेखों में कुछ अङ्क निर्दिष्ट पाये जाते हैं। समझा गया है, वे अङ्क किसी संवत् का निर्देश करते हैं। पर वे सब अङ्क किस संवत् का निर्देश करते हैं, यह अभी तक भी पूर्णरूप से निश्चित नहीं है। उस काल के इतिहास का परिशोध करनेवाले पाश्चात्य व पौरस्त्य लेखक उन अङ्कों का किसी एक संवत् के साथ सामञ्जस्य करने में असमर्थ रहे हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने एक प्राचीन संवत् की कल्पना की, और उसका प्रारम्भ—तथाभिमत ख्रीस्ट एरा के आरम्भ होने से—१२३ वर्ष पूर्व माना। इसका तात्पर्य हुआ, प्रचलित शालिवाहन संवत् से २०१ वर्ष पूर्व उस प्राचीन संवत् का प्रारम्भ हुआ; क्योंकि ख्रीस्ट एरा प्रारम्भ होने के ७८ वर्ष पीछे शालिवाहन संवत् का प्रारम्भ हुआ—[१२३+७८=२०१]।

इसके अनुसार यह कल्पना की गई कि नहपान आदि के सिक्कों व अभिलेखों में प्राचीन संवत् के अङ्क हैं, और कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों आदि पर नये संवत् के, जो ख्रीस्ट एरा के ७८ वर्ष पीछे आरम्भ होता है। इस संवत् का प्रवर्तक भी कनिष्क को मान लिया गया। यह सब कल्पना इस कारण की गई कि नहपान और कनिष्क के अभिलेखों आदि में जो संख्याएँ दी गई हैं, वे गणना के रूप में परस्पर इतने अधिक समीप हैं कि उन्हें किसी एक संवत् के साथ जोड़ा जाना सम्भव नहीं; न इनके शासकों के कालिक दृष्टि से इतने समीप होने की सम्भावना है।[1]

प्राचीन संवत्—भारतीय इतिहास में प्रचलित शालिवाहन संवत्, आज 'शक-संवत्' नाम से भी कहा जाता है। यह शब्द इसके साथ कैसे और कब जुड़ा? यह प्रमाणपूर्वक नहीं कहा जा सकता; पर पाश्चात्य विचारधारा के अनुयायी लेखकों ने इस संवत् के प्रवर्त्तक के रूप में कनिष्क को जोड़कर इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है। यह भी कहा जाता है कि भारतीय ज्योतिष-साहित्य में 'शककाल' अथवा 'शकनृपतिकाल' आदि पदों से जिस संवत् या काल का निर्देश हुआ है, वह यही संवत् है, जो ख्रीस्ट एरा से ७८ वर्ष पीछे प्रचलित किया गया।

विचारणीय है, आज तक कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, जिसके

---

१. इस सबके लिए द्रष्टव्य—श्री जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' जिल्द २, नहपान तथा कनिष्क आदि के प्रसंग।

आधार पर यह माना जा सके कि इस संवत् का प्रारम्भ कनिष्क ने किया। इसी प्रकार तथाकथित प्राचीन संवत् के लिए भी कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गए कि वह किसने चलाया, और उसके मूल में कौन-सी विशेष घटना है, जिसे लक्ष्य कर यह संवत् प्रवृत्त किया गया। १२३ वर्ष ईसापूर्व से प्रारम्भ यह संवत् पूर्ण-रूप से केवल कल्पनामूलक है। उस काल का इतिहास लिखनेवाले आधुनिक लेखकों ने 'प्राचीन शक संवत्' उसका नामकरण किया है। 'प्राचीन' पद इसके साथ इसीलिए जोड़ा गया है कि यह प्रचलित शालिवाहन संवत् से पुराना है।

'शककाल' अथवा 'शकनृपतिकाल'—वृद्धगर्ग की संहिता एवं वराहमिहिर की बृहत्संहिता में किसी एक संवत् के निर्देश के लिए **'शककाल'** आदि पदों का प्रयोग हुआ है। जिज्ञासा होती है, यह संकेत कौन-से संवत् के लिए किया गया? कतिपय आधुनिक विद्वानों ने यह समझा है कि ये पद प्रचलित शालिवाहन संवत् का ही निर्देश करते हैं। यह समझकर तात्कालिक इतिहास को उसी के अनुसार अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास ने अनेक वास्तविकताओं का विपर्यास कर दिया है। उसमें सबसे पहला विपर्यास वृद्धगर्ग और वराहमिहिर के काल का आ जाता है। यह निश्चित है कि वृद्धगर्ग वराहमिहिर से प्राचीन हैं; बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने **'शककाल', 'शकनृपतिकाल', 'शकभूपकाल', 'शकेन्द्रकाल'** आदि पदों का प्रयोग वृद्धगर्ग के अनुसार किया है। क्या किन्हीं सुपुष्ट आधारों पर वराहमिहिर के काल का यथायथ अनुमान किया जा सकता है? कुछ आधार इस प्रकार हैं, जो इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं—

(क) भारतीय परम्परा में दृढ़ता के साथ यह मान्यता चली आती है कि प्रचलित विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक राजा की सभा में नौ प्रसिद्ध विद्वान् थे, जिनको सभा के प्रचलित नवरत्न कहा जाता था।[1] उन विद्वानों में प्रसिद्ध एक वराह-

---

१. **धन्वन्तरिः - क्षपणकोऽमरसिंहशंकु - वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।**
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्यः॥

[ज्योतिर्विदाभरण]

ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ सर्वथा कल्पित व मिथ्या रचना नहीं है, जैसाकि अनेक आधुनिक विद्वान् समझते हैं। यदि इस ग्रन्थ का लेखक कल्पना से ही नवरत्नों के नाम लिखता, तो वह कालक्रम का विचार न कर अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वानों—पाणिनि, भास, पतञ्जलि, अश्वघोष आदि के नाम नव-रत्नों में गिना सकता था। शंकु, घटखर्पर, वेतालभट्ट जैसे सर्वथा अप्रसिद्ध विद्वानों का नाम क्यों लेता?

बृहत्संहिता के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका में प्राध्यापक कर्न महोदय ने वि० संवत् १०१५ [९५८ ई० सन्] के बुद्धगया से प्राप्त उस अभिलेख का निर्देश किया है, जिसमें विक्रमादित्य के 'नवरत्नानि' में से एक अमरदेव

मिहिर था। यदि इस परम्परा को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में कुछ महत्त्व दिया जाता है, तो यह निश्चित है कि वर्त्तमान शालिवाहन संवत् प्रारम्भ होने से अनेक वर्ष पूर्व वराहमिहिर ने बृहत्संहिता लिखी। उसमें इस संवत् का **'शक-काल'** आदि पदों से उल्लेख होना सम्भव नहीं। फिर मूलरूप में संवत् के लिए इन पदों का प्रयोग करनेवाला वृद्धगर्ग तो वराहमिहिर से भी प्राचीन है; वहाँ इन पदों से शालिवाहन सम्वत् का निर्देश सर्वथा असम्भव है।

(ख) कहा जाता है, वराहमिहिर का काल ५५० ई० सन् के आसपास है। शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार वराहमिहिर ने बृहत्संहिता शक संवत् [प्रचलित शालिवाहन संवत्] ४२७ में लिखी। श्री एस० नारायण अय्यंगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा कि ४२७ शालिवाहन शक न होकर विक्रम संवत् है। एक अन्य मत के अनुसार वराह-मिहिर विक्रम सम्वत् ४२७ में व दूसरे मत के अनुसार विक्रम संवत् ५६२ में हुए थे।[1] वस्तुत: देखा जाय, तो ये सब कथन केवल अटकल हैं। वराहमिहिर ने अपना समय स्वयं कहीं नहीं लिखा। **'शककाल'** आदि पदों से जिस संवत् का उसने उल्लेख किया है, और शककाल के प्रारम्भ एवं युधिष्ठिर के शासन-काल का जो अन्तर २५२६ वर्ष बताया है,[2] यह सम्भव है कि वह विक्रम या शालि-

---

की प्रशंसा की गई है। विद्वानों की मान्यता है कि यह अमरदेव प्रसिद्ध कोश-कार अमरसिंह ही है। यह कथन सन्देहरहित है कि अब से एक सहस्र वर्ष से भी पूर्व विक्रमादित्य के नवरत्नों का अस्तित्व माना जाता था। यह स्वीकार करना सर्वथा समुचित है कि ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता ने इस विषय में परम्परा से जो जानकारी प्राप्त की, वह लिख दी। उसने स्वयं कल्पना करके बिना किसी आधार के ऐसा लिख दिया हो, यह नहीं है। इसके विपरीत आधुनिक कतिपय लेखक उन समकालिक विद्वानों को विभिन्न कालिक बताने का कल्पनामूलक प्रयास करते प्रतीत होते हैं। इसके अनुसार अपने-अपने असत्य को सत्य कहकर दूसरे के सत्य को असत्य प्रकट करना चाहते हैं। भारतीय साधनों के अनुसार इनका निर्णय सत्य से अधिक समीप होना सम्भव है।

१. द्रष्टव्य—'विक्रमस्मृति ग्रन्थ'—गत, श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी का लेख 'श्री विक्रम के नवरत्न' पृ० २६५।

विद्वान् लेखक महोदय का विचार है कि बृहत्संहिता आदि में प्रयुक्त 'शक-काल' आदि पदों से बोधित वर्ष विक्रम या शालिवाहन के न होकर किसी दूसरे संवत् के हों, यह सम्भव है।

२. **आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।**
षट् द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्यस्य॥

वराहमिहिर ने इसको गर्गसंहिता के अनुसार दिया है।

वाहन संवत् न होकर कोई अन्य संवत् हो। कारण यह है कि वहाँ इन संवतों को मानने से भारतीय वाङ्मय में वर्णित घटनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य नहीं हो पाता।

(ग) बृहत्संहिता के व्याख्याकार आचार्य भट्टोत्पल ने वराहमिहिर की अन्य रचना **'पञ्चसिद्धान्तिका'** के एक श्लोक [३।५६] का निर्देश कर बृहत्संहिता [२।४१, तथा ३।२३] की व्याख्या में बताया है कि वराहमिहिर के काल में सूर्य उत्तरायण व दक्षिणायन किन नक्षत्रों के कितने अंश में होता था। अयनगति की गणना के अनुसार यह परिणाम सामने आता है कि अब से [१९७० ई० सन् से] लगभग साढ़े उन्नीस सौ वर्ष पूर्व वराहमिहिर का अस्तित्व होना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य है कि ख्रीस्ट एरा प्रारम्भ होने के आसपास वराहमिहिर विद्यमान था। उसी काल में उसने बृहत्संहिता आदि ग्रन्थों की रचना की। यह उपपादन विक्रमादित्य के काल और उसके 'नवरत्नों' की स्थिति से सामञ्जस्य रखता है। इस दशा में वराहमिहिर की कृतियों का **'शककाल'** शालिवाहन संवत् माना जाना सर्वथा निराधार है।

इतिहास की पर्तों पर खोजना चाहिए, वह कौन-सा संवत् हो सकता है, जिसका **'शककाल'** आदि पदों से वृद्धगर्ग एवं वराहमिहिर आदि ने अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है।

शककाल का आरम्भ—ऐतिहासिकों ने बताया है, ईसापूर्व सातवीं शताब्दी में हखामनि नामक व्यक्ति ने एक राजवंश की स्थापना की। ईरान प्रदेश का यह राजवंश आगे चलकर सम्राटों का वंश बन गया। इसी वंश में दिग्विजयी सम्राट् कुरु हुआ। यूनानी उच्चारण के अनुसार इसे कुरुष् (Cyrus) लिखा जाता है।[2] इस सम्राट् का समय ईसापूर्व ५७५ वर्ष के आसपास माना गया है। इसने न केवल पच्छिम और मिस्र एवं एशिया की अन्तिम यूनानी बस्तियों तक का समस्त प्रदेश अपने साम्राज्य में मिला लिया, प्रत्युत पूरब की ओर के शकों, मकों, पक्यों और थतगु कबीलों के भारतीय प्रदेशों को भी जीत लिया। भारत का पर्याप्त पश्चिमोत्तर भाग कुरु के अधीन हो गया।

विश्व के इतिहास में सम्राट् कुरु के वे विजय एक नये युग के आरम्भ को

---

१. इस विषय का स्पष्टीकरण श्री पं० जगन्नाथ राव ने अपनी रचना 'एज ऑफ़ महाभारत वार' में वराहमिहिर-प्रसंग में किया है।

२. यूनानी रूप Cyrus का उच्चारण 'कुरुष्' या 'कुरुस्' ही है। अन्तिम ष् अथवा स् कर्त्तृकारक एकवचन का प्रत्यय संस्कृत के अनुसार है। जैसे अगली पंक्तियों में प्रयुक्त 'थतगु' पद का यूनानी रूप सत्तगुदी [Sattagy-dae] में 'gy' का उच्चारण 'गु' है। आधुनिक उच्चारण इसका 'साइरस' बन गया है।

सूचित करते हैं। प्राचीन हामी और सामी साम्राज्यों की शक्ति आर्य जातियों के हाथ में चली जाना एक महान् घटना थी, जिसके कारण छठी शताब्दी ईसवी पूर्व को मानव-इतिहास में एक युगान्तर का समय माना जाता है। इसी वंश में आगे दारयवहु नाम का सम्राट् हुआ, जो अपने शिलालेखों में बड़े अभिमान से स्वयं को 'ऐर्य ऐर्यपुत्र' कहता है; अर्थात् ऐर्यान (ईरान का निवासी) आर्यपुत्र= आर्यवंशोद्भव।[1]

सम्राट् कुरु ने अपने इन युगान्तरकारी विजय-प्रसंगों की स्मृति में एक संवत् का प्रारम्भ किया, जो उसके राज्यारोहण-वर्ष से चालू किया गया, यद्यपि ये विजय उसने राज्यप्राप्ति के अनन्तर किये थे। सम्राट् कुरु शक नामक उप-जाति का था, जो आर्यों की एक शाखा थी। इस संवत् का प्रारम्भ ई० पू० ५७५वें वर्ष से हुआ। कुरु क्योंकि शक जाति का था, इस कारण यह संवत् 'शककाल, शकनृपति काल, शकभूपकाल, शकेन्द्र काल' आदि नामों से जनता में प्रचलित रहा। शक जाति के आर्यवंशीय होने, तथा उस विशाल भूभाग पर आर्य-वंशियों का नवीन साम्राज्य स्थापित होने से भारतीय आर्यों ने उत्सुकता व आत्मीयता से उस संवत् का अपने समाज में प्रयोग अङ्गीकार किया। उसी शक-काल का गर्गसंहिता में उपयोग किया गया है। वराहमिहिर ने गर्गसंहिता से अपने ग्रन्थ में लिया है। युधिष्ठिर-राज्य के अवसान और इसी शककाल के प्रारम्भ का अन्तरालकाल २५२६ वर्ष इन संहिताकारों ने बताया है।

शककाल और कल्हण—कल्हण के काल [११४८ खीस्ट] से बहुत पहले यह संवत् भूला जा चुका था। लगभग इसी काल में भारत आनेवाले अरब यात्री महान् ज्योतिषी अलबेरूनी ने भी इस संवत् की जानकारी के विषय में सन्देह रूप से ऐसा भाव प्रकट किया है कि इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। सम्भवतः इसका प्रारम्भ विक्रम संवत् से लगभग चार-पाँच शती पूर्व हुआ था। उस समय में इस संवत् की जानकारी न रहने के कारण ही गर्गसंहिता तथा बृहत्संहिता आदि में उपयुक्त **'शककाल'** को कल्हण ने अपने समय में प्रसिद्ध 'शालिवाहन संवत्' समझा। उसी के प्रारम्भ-काल से २५२६ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर-राज्यकाल की अन्तिम सीमा का निर्धारण कर दिया।

कल्हण ने बलपूर्वक लिखा है[2] कि केवल लोकप्रवाद से मोहित हुए लोगों

---

१. इस सबके लिए द्रष्टव्य, श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'भारतीय इति-हास की रूपरेखा' जिल्द १, पृ० ४०७–०६।।

२. **भारतं द्वापरान्तेऽभूद् वार्त्तयेति विमोहिताः।**
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥१।४६॥
शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन् कुरुपाण्डवाः ॥१।५१॥

ने महाभारतयुद्ध की गणना अशुद्ध कर डाली है। वस्तुतः कलियुग के ६५३ वर्ष बीत जाने पर कौरव-पाण्डवों का युद्ध हुआ। वास्तविकता यह है कि इस विषय में स्वयं कल्हण को भ्रान्ति हुई है, जो संहिताओं में प्रयुक्त प्राचीन 'शककाल' को अपने समय का प्रचलित शालिवाहन संवत् समझकर उसी के अनुसार अशुद्ध गणना कर डाली। यह वस्तुस्थिति है कि महाभारत-युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ।[१]

प्रस्तुत प्रसंग में हमारा केवल यह प्रकट करना अभिप्राय है कि नहपान, कनिष्क आदि के लेखों व सिक्कों में जो अंक प्रयुक्त हुए बताए जाते हैं, उनके अध्ययन की अभी और आवश्यकता है। अभी तक का विवेचन एकाङ्गी तथा अपूर्ण है। उतने आधार पर एकटूक निश्चय किया जाना सम्भव नहीं। यदि वैसा मान लिया गया, तो वह हमें कुछ अयथार्थ की ओर ही ले-जायगा। ईसा-पूर्व १२३वें वर्ष से किसी पुराने शक संवत् की कल्पना, जो कतिपय आधुनिक विद्वानों ने की है, वह निराधार है।

अशोक के अभिलेख अरमइक लिपि में

भारत के अनेक स्थानों में नैसर्गिक चट्टानों-शिलाओं तथा निर्मित स्तम्भों पर सम्राट् अशोक के आदेश-अभिलेख उत्कीर्ण हुए उपलब्ध होते हैं। इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी [खरोष्ट्री] लिपियों का उपयोग किया गया है। भारत के पश्चिमोत्तर भाग के लेख खरोष्ठी में, शेष ब्राह्मी लिपि में पाये जाते हैं। पिछले दिनों अफगानिस्तान में कतिपय अभिलेख अरमइक लिपि के प्राप्त हुए हैं।[२] अरमइक लिपि के उद्गम के विषय में जो कथा बनाई गई है, वह इस प्रकार है—

आठवीं शती ईसा-पूर्व के आस-पास अरमइक और ग्रीक लिपि का उद्गम फ़िनिशियन लिपि से हुआ। फ़िनिशियन लिपि से पूर्व एक और लिपि थी, जिसका नाम कैनानाइट [Canaanite] कहा जाता है। इस लिपि के अभिलेख तेरह सौ वर्ष ईसापूर्व से मिलते हैं। अनुमान किया जाता है कि ईसा-पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास केनानाइट लिपि से फ़िनिशियन लिपि का उद्गम हुआ।

कैनानाइट लिपि से पूर्व दो लिपियों का अस्तित्व और जाना गया है—

(क) सिनआइटिक [Sinaitic], ईजिप्ट की लिपि।

(ख) एक अन्य अज्ञात लिपि। अभी तक इसका नामकरण नहीं हुआ, इसी

---

१. महाभारतयुद्धकाल में विद्वानों का बहुत वैमत्य है। पर इस विषय का विवेचन हमारा यहाँ लक्ष्य नहीं है।

२. द्रष्टव्य—Selected Insciiptions Bearing on Indian History and Civilization. प्रथम भाग। सम्पादक—दीनेशचन्द्र सरकार, एम० ए०, पी-एच० डी०; प्रकाशक, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९६५ ई० सन्।

रूप में यह अज्ञात है। फ़िलस्तीन (पैलेस्टाइन, Palestine) में इसके तीन शिलालेख मिले हैं। इनका समय ईसा-पूर्व पन्द्रह सौ वर्ष से अठारह सौ वर्ष के बीच अनुमान किया गया है। ये शिलालेख जिन स्थानों पर मिले हैं, उनके नाम हैं—१. गैंझर–Gezer, २. शैचैम–Shechem, ३. लॉचिश–Lachish। यह लिपि १४ अक्षर की जाँची गई है। इन १४ अक्षरों में से, तीन सिनआइटिक लिपि के अक्षरों से मिलते हैं, पर अभी तक उनकी ध्वनियों को नहीं पहचाना गया।

कैनानाइट लिपि का उद्गम लगभग चौदह सौ वर्ष ईसा-पूर्व में सिनआइटिक लिपि से हुआ, यह अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार सिनआइटिक लिपि का उद्गम ईजिप्ट [मिस्र] की प्राचीन चित्रलिपि से हुआ। चित्रलिपि का प्रारम्भ साढ़े तीन हज़ार वर्ष ईसा-पूर्व से माना जाता है। कहा जाता है, उस प्रदेश में लाखों ईंटें ऐसी मिली हैं, जिनपर यह लिपि अंकित है। उक्त विवरण के अनुसार इन लिपियों के उद्गम का कालक्रम इस प्रकार समझना चाहिए—

नाम-लिपि	अनुमानित आरम्भ व उद्गम-काल
चित्रलिपि (ईजिप्ट)	साढ़े तीन हज़ार वर्ष ईसा-पूर्व
सिनआइटिक	१५ सौ से १८ सौ वर्ष ईसा-पूर्व
कैनानाइट	१४ सौ वर्ष ईसा-पूर्व के आस-पास
फ़िनिशियन	११ सौ वर्ष ईसा-पूर्व के आस-पास
अरमइक	आठवीं शती ईसा-पूर्व

यह निर्दिष्ट समय का अनुमान खुदाई में उपलब्ध बर्तन आदि सामग्री तथा खुदाई के स्तर आदि के आधार पर किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त उपलब्ध

१. लिपियों का यह विवरण परमस्नेही मित्र कैलाशचन्द्र वर्मा के सहयोग से प्रस्तुत किया गया है। उसका आधारभूत साहित्य निम्न प्रकार है—
(क) H. R. Hall—Ancient History of the Near East, 1961.
(ख) Sir Alan Gardiner—Egypt of the Pharaohs, 1961, pp. 25, 46–65, 394–402।
(ग) A. Weegall—A History of the Pharaohs, Vol. I, pp. 1–78।
(घ) Cambridge Ancient History, Vol. I, Chapter XVIII, pp. 17-18।
(ङ) W. F. Albright—Archaelogy of Palestine, (Penguin Series, No. A—199, 1960) pp. 177—204।
(च) Companion to Homer, सम्पादक A. J. B. Woce and Stubbings, 1961, pp. 545–559।

अंकित ईंटों पर दिये गये विवरण तथा अन्य साधनों के आधार पर अनेक राजवंशों का पता लगता है, जो उस प्रदेश पर लम्बे समय तक शासन करते रहे। उनके शासन के औसत वर्षों के आधार पर भी निर्दिष्ट काल को जाँचा गया है। पर अभी तक उन अभिलेखों में तथा अन्यत्र भी किसी संवत् आदि का उल्लेख नहीं मिला है, न स्वतन्त्ररूप से वहाँ प्रयुक्त होनेवाले किसी संवत् आदि का अंकन उपलब्ध होता है।

यह विवरण उस विचारधारा को बाधित कर देता है, जिसमें यह माना गया कि बुद्ध का प्रादुर्भाव १८०० वर्ष पूर्व, मौर्यवंश का १५०० ई० पूर्व, कनिष्क का १२०० और आचार्य शंकर का ५०९ वर्ष ई०पूर्व है। कारण यह है कि अरमइक और खरोष्ठी लिपियों का उद्गम ही जब ई० पूर्व आठवीं शती के अनन्तर हुआ, तो उन लिपियों में आदेश उत्कीर्ण करानेवाला मौर्यवंशीय अशोक चौदह सौ-पन्द्रह सौ वर्ष ई० पूर्व में कैसे हो सकता है? फलतः शंकर का प्रादुर्भाव-काल भी ई० पूर्व ५०९ वर्ष कहना निराधार है।

लिपियों का कालिक विवरण कहाँ तक यथार्थ है—यह सत्य है, लिपियाँ बदलती रही हैं और बदलती रहती हैं। इस परिवर्तन में पौर्वापर्य का होना आवश्यक है। लिपि क्या है? विशिष्ट ध्वनियों के लिए चिह्न-विशेष। इनमें परिवर्तन का होते रहना नैसर्गिक है। पर यहाँ विचारना यह है कि लिपि का उद्गम कब हुआ होगा? पाश्चात्य एवं तदनुयायी अन्य विद्वानों का कहना है कि सर्वप्रथम चित्र-लिपि का उद्गम हुआ होगा। स्वभावतः मानव ने जिन वस्तुओं, पशु-पक्षियों को अपने चारों ओर देखा, अपने भावों को प्रकट करने व स्थायित्व देने के लिए उनको उसी रूप में अंकित करने का प्रयास किया। सम्भवतः पहले वह अटपटा रहा हो, कालान्तर में परिष्कृत हो गया। इस लिपि के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनके चित्र देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लिपि की अत्यन्त परिष्कृत अवस्था है। उसको देखकर यह अनुमान करने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि इन अवशेषों के अंकन-काल से अनेक सदियों पूर्व से ही यह परम्परा चालू रही होगी।

जो परिष्कृत लेख व अंकन उपलब्ध हैं, वह रूप भी उनका इस अंकन से कितनी सदियों अथवा कितने काल पूर्व सम्पन्न हो चुका होगा, यह स्वीकार करने में भी कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। कोई भी बुद्धिमान् विचारक इस स्थिति को नहीं मानेगा कि जो परिष्कृत अभिलेख चित्रलिपि के उपलब्ध हैं, उनका इस रूप में परिष्कार उसी दिन हुआ, जिस दिन वे अंकित किये गये। पर इस विषय का आधुनिक पाश्चात्य लेखक ऐसे अभिलेख को देखकर किन्हीं आधारों पर उसके अंकन व निर्माण के काल का निर्धारण करता है, और उसी काल को उस अंकित लिपि के उद्गम का काल मान लेता है। वस्तुतः इस विषय में यह

मूलभूत मति-भ्रम है। वह इस बात को भूल जाता है कि इसके यहाँ तक परिष्कृत होने में कितना लम्बा समय लगा होगा। जब उपलब्ध चित्रलिपि के अवशेषों का काल ईसा-पूर्व साढ़े तीन हज़ार वर्ष माना जाता है, तो यह निश्चित है कि उससे अनेक सदियों पूर्व लिपि का उद्गम हो चुका था। कितने काल पूर्व हो चुका था? यह कहना सम्भव नहीं, पर उस काल के मानव की सामाजिक दशा की मन्दातिमन्द रूप में प्रगति की कल्पना कर काल का कुछ-न-कुछ अनुमान किया जा सकता है। इस आधार पर चित्रलिपि के उद्गम का काल अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व बताना पूर्ण सत्य नहीं है।

आगे लिपियों के कालिक विवरण में आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने उत्कीर्ण लेखों की उपलब्धि को आधार मानकर अपना निर्णय दिया है। किसी लिपि में कुछ अभिलेख मिले, उनका किन्हीं आधारों पर काल-निर्णय किया गया; उसके अनुसार सौ-पचास वर्ष पूर्व उस लिपि का उद्गम मान लिया गया। यह सिद्धान्त पूर्णरूप में विश्वसनीय नहीं है। स्थायी वस्तु पर उत्कीर्ण व अंकित न किए जाने पर भी अन्य वस्तुओं पर लिपि का अस्तित्व सम्भव है। यह भी पूर्णरूप से विवाद-रहित नहीं है कि सर्वप्रथम संसार में चित्रलिपि का उद्गम हुआ।

यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि जिसको चित्रलिपि मान लिया गया है, वस्तुतः वह कोई लिपि है भी, या नहीं। सम्भव है, वह विशेष प्रकार की सजावट आदि के लिए ही अंकन किया गया हो। लिपिरूप में वह लेखन मान्य है, जिससे कोई व्यवस्थित विवरण प्राप्त हो। तथाकथित चित्रलिपि के जो अंकन दृष्टिगोचर हुए हैं, उनमें कौन-से व्यवस्थित विवरण निर्दिष्ट हैं, यह आज तक पूर्णरूप से जाना नहीं जा सका। उनकी व्यवस्था में अधिकतर कल्पना का ही आश्रय लिया गया प्रतीत होता है।

भारत में लिपि का उद्गम—गत पंक्तियों में हैमेटिक् या सैमेटिक् लिपियों के विषय में कहा गया, जो दाएँ से बाएँ को लिखी जाती हैं। आज यूरोप आदि पश्चिम देशों में जो लिपि प्रचलित है, उसका उद्गम सैमेटिक् लिपियों से माना गया है; पर वह दाएँ से बाएँ को न लिखी जाकर भारतीय लिपियों के समान बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है। इस लिपि का पश्चिम देशों में रोम से प्रचार होने के कारण आज यह 'रोमन लिपि' कही जाती है। अपनी मातृ-लिपि से लिखावट में विपर्यास के क्या कारण रहे होंगे, इस विवेचना में जाना सम्प्रति अनपेक्षित है, पर इस मोड़ में क्या कोई रहस्य छिपा है?

भारत में अतिप्राचीन काल से लिपि का प्रचलन रहा है। कहा जाता है, अशोक के शिलालेख आदि भारत में सबसे प्राचीन उत्कीर्ण लेख हैं। यद्यपि उसके पहले के भी कतिपय लेख उपलब्ध हुए हैं, पर इसका यह तात्पर्य कदापि सम्भव नहीं कि उससे पूर्व भारत में लेखन-कार्य न होता था, या उस समय लिपि की

जानकारी नहीं थी। भारत में प्रकृति के प्रसादरूप भोजपत्र और ताड़पत्र आदि लेखन का आधार विपुल मात्रा में अनायास उपलब्ध था। उनपर विशाल ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। यह ठीक है कि ये साधन पाषाण आदि के समान स्थायी नहीं; गर्मी-सर्दी एवं वर्षा आदि का इनपर प्रतिकूल प्रभाव होने से जब ये जीर्ण होने लगते, तो उन ग्रन्थों की प्रतिलिपि कर ली जाती। इसी आधार पर आज भारत में प्राचीन से प्राचीन साहित्य सुरक्षित है। ऋग्वेद [१०।७१।४] में वाणी के दो रूप बताए—एक दृश्य, दूसरा श्रव्य। पहला लिपि के बिना अन्य कोई रूप सम्भव नहीं, दूसरा रूप ध्वनि है।

भारत में अध्ययनाध्यापन की परम्परा अतिप्राचीन है। यह कार्य सार्वजनिक रूप में लिपि या लेखन के बिना साध्य नहीं होता। पाश्चात्य आधुनिक ईसाई लेखकों ने बड़ी आरभटी के साथ इसका प्रचार किया है कि भारत में तब पढ़ाई मौखिक हुआ करती थी, वे लिखना नहीं जानते थे। वस्तुतः यह भयावह मिथ्या प्रचार हुआ है। इन लेखकों का यह पूर्ण मति-भ्रम है। पढ़ाई आज भी सर्वात्मना मौखिक होती है। प्रत्येक अध्यापक बोलकर (मौखिक) ही छात्र को पढ़ाता है; वह पुस्तक को खोलकर केवल दिखा नहीं देता, और न उसके हाथ में पकड़ा देता है। कोई भी भाषा मौखिक (उच्चारण द्वारा) ही पढ़ाई जा सकती है। लिपि उसका आधार जैसा आज है, वैसा तब भी था। विश्वविद्यालयों में तो आज भी प्राध्यापक श्रेणी में जाकर केवल प्रवचन करता है। शिक्षित होने के लिए किसी अंश का रटाना जैसा तब था वैसा आज भी है। रटाने के लिए संस्कृत को बदनाम किया जाता है, पर सचाई यह है कि संस्कृत की अपेक्षा इंग्लिश में रटना बहुत अधिक पड़ता है। एक-एक शब्द का प्रत्येक वर्ण रटना पड़ता है। इस सब विवेचन से हमारा तात्पर्य यह प्रकट करना है कि केवल पाषाण या पकी ईंट पर अंकित लेख ही लिपिज्ञान का अन्तिम या एकमात्र प्रमाण नहीं है।

सार्वजनिक अध्ययनाध्यापन केवल पत्थर या ईंट पर लिखे जाने के द्वारा किया जाना असम्भव है। अन्य देशों में जहाँ लेखन के आधाररूप में प्रकृतिदत्त सुलभ साधन न थे, वहाँ पॅपायरस (एक प्रकार की छाल) का प्रयोग होता रहा। पर वह अनायास सुलभ न था; उसे कृषि द्वारा प्राप्त करने के लिए कष्टपूर्ण श्रम किया जाता रहा है। मैं नहीं कह सकता, कागज़ पर लिखी पुस्तक आज अन्य देशों में कितनी पुरानी मिलती है, पर भारत में कागज़ पर लिखी पुस्तक लगभग आठ सौ वर्ष पुरानी उपलब्ध है ?[1]

भारत में लिपि की प्राचीन परम्परा होने पर हमें देखना चाहिए, अशोक के

१. द्रष्टव्य—(क) जैसलमेर प्रदेश से प्राप्त—जैनग्रन्थभण्डार में कतिपय पुस्तक। (ख) विश्वेश्वरानन्द 'वैदिक अनुसन्धान संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर' के पुस्तकालय में सुरक्षित 'कादम्बरी' ग्रन्थ।

अरमइक एवं खरोष्ठी लिपि के लेखों का कालिक अनुक्रम में स्थान कहाँ है ?

(क) यह निश्चित है, अशोक के काल में उन प्रदेशों की जनता अरमइक व खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग जानती व करती थी, जिसके लिए उन लिपियों में अशोक ने अपने आदेश उत्कीर्ण कराए।

(ख) प्रश्न है, अशोक का काल क्या है ? पाश्चात्य लेखक उन प्रदेशों में प्रचलित लिपि के कालिक अनुक्रम का केवल कल्पनामूलक अनुमान कर उसके आधार पर अशोक का काल निर्धारित करना चाहते हैं। इसमें मूलभूत मतिभ्रम तथाकथित मेगस्थनीज़ के 'सैण्ड्राकोटस' या 'पालिबोथ्रा' आदि पदों के उस निराधार विवरण में है, जिसके अनुसार मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त का सिकन्दर के आक्रमण के साथ गठजोड़ करने का प्रयास किया गया है। उस असत्य को सच्चा बनाने के लिए यह लिपियों के कालिक-अनुक्रम का दुर्ग खड़ा किया गया। पर इस कथन में कोई लिखित प्रमाण नहीं है कि ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से पहले अरमइक लिपि का अस्तित्व न था।

(ग) अशोक भारत का सम्राट् था। उसके साम्राज्य में भारत से पच्छिम-उत्तर की ओर वे प्रदेश भी थे, जिनमें अरमइक व ग्रीक भाषा-भाषी जनता का निवास था। भारत का सम्राट् होने के नाते हमें उसके विषय की भारतीय तिथि-गणना की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वह भी उस दशा में, जबकि भारतीय तिथिगणना के लिखित प्रमाण विद्यमान हैं, जिनका लिपियों के कालक्रम में सर्वथा अभाव है।

(घ) आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण का विचारक पाषाण आदि पर उत्कीर्ण लेख को किसी बात की सचाई के लिए प्रबल प्रमाण मानता है। भारतीय तिथि-लेखा के अनुसार अशोक का काल चौदह सौ वर्ष ईसा-पूर्व है, तो उसके उत्कीर्ण लेखों को उसी काल का मानने के लिए पाश्चात्य विचारक तैयार नहीं; यहाँ उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। इसमें ऐतिहासिक प्रमाण का इतना कार्य नहीं, जितना राजनीति का। जिन भारतीय विद्वानों ने उस समय का तिथि-लेखा प्रस्तुत किया, उनके सामने आज के जैसा राजनैतिक दृष्टिकोण कोई न था। सम्भव है, उन गणनाओं में कहीं अन्यथाभाव हो; पर इससे समस्त भारतीय तिथि-लेखा पर हरताल नहीं फेरी जा सकती।

इस सब विवेचन के निगमन-रूप में हम इतना निवेदन कर देना चाहते हैं— इस दिशा में आज तक जितना कार्य हुआ है, वह महान् है, अभिनन्दनीय है। हम उन विद्वानों के सन्मुख नत-मस्तक हैं, जिन्होंने इस दिशा में यह उज्ज्वल मार्ग प्रशस्त किया। पर हमें इस अध्ययन को सम्पन्न और समाप्त हुआ नहीं समझ लेना चाहिए; पहले की अपेक्षा अभी और अधिक अध्ययन एवं परिशोधन की आवश्यकता है।

परिणामस्वरूप यह सम्भव है, जब विद्वत्समाज इस यथार्थता को समझेगा—

१. भगवान् बुद्ध विक्रम एरा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व हुआ।

२. मौर्य राज्य का प्रारम्भ लगभग १५०० वर्ष पूर्व हुआ।

३. प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक लगभग तेरह सौ वर्ष विक्रम पूर्व से छह सौ वर्ष पूर्व के अन्तराल-काल में हुए।

४. आद्य आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव ४५२ वर्ष विक्रमपूर्व [५०९ ख्रीस्ट-पूर्व] में हुआ।

इस विषय में निष्पक्ष परिशोधन की भावना से जो विद्वान् कोई बाधा प्रस्तुत करेंगे, उसे समझने के लिए हम अत्यन्त विनीतभाव से प्रयत्नशील रहेंगे।

पञ्चदश अध्याय

दो विद्वानों के विशिष्ट लेख

कुछ समय व्यतीत हुआ, एक लेख[1] श्री पं० इन्द्रनारायण जी द्विवेदी का 'कल्याण' मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ था। उसमें आद्य शङ्कराचार्य के प्रादुर्भाव-काल का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह सम्भव है, लेखक की कतिपय स्थापनाओं व युक्ति-प्रमाणों की पूर्ण यथार्थता से कोई सहमत न हो; पर लेख में पर्याप्त सामग्री ऐसी है, जो प्रतिपाद्य विषय पर उपयुक्त प्रकाश डालती है। उस लेख को अविकल रूप में हम यहाँ दे रहे हैं, इस भावना से कि उसपर विद्वानों द्वारा यथावसर और अधिक अपेक्षित विचार किया जा सके—

प्रथम लेख

"यद्यपि भारतीय इतिहास की सामग्री की प्रचुरता और इस दिशा में देश और विदेश के विद्वानों के गवेषणापूर्ण विचारों की अधिकता से इतिहास-प्रसिद्ध स्वामी आदिशंकराचार्य के समान महापुरुष के समय का निरूपण करना एक सरल एवं सुखसाध्य कार्य था, तथापि विदेशीय इतिहास-लेखकों के दृष्टिकोण ने और उनके ही पदानुगामी भारतीय इतिहास-लेखकों के विचारों ने इस कार्य को ऐसा जटिल बना दिया है, इस मार्ग को ऐसा अन्धकारमय और कण्टकाकीर्ण बना दिया है कि साधारण व्यक्तियों को उसका सुलझाना अथवा उस मार्ग की ओर बढ़ना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो गया है।

एक ओर आचार्य का समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी का अन्तिम समय सिद्ध किया जाता है, तो दूसरी ओर ईसवी सन् के आरम्भ के पाँचवीं शताब्दी में आचार्य का होना बतलाया जाता है। इतना ही नहीं, इन चौदह सौ वर्षों के बीच में और भी न जाने कौन-कौन-से समय आचार्य के आविर्भाव के

१. गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' मासिक पत्र के वर्ष ११, अंक ८ में मुद्रित।

लिए निश्चित किये जाते हैं। इन विभिन्न समयों के निरूपण करनेवाले विद्वान् अपने-अपने विचार के लिए कारण भी बतलाते हैं और प्रमाण भी दिखलाते हैं। अवश्य ही इस प्रकार का मतभेद बड़े-बड़े विद्वानों के विचारों में और लेखों में देखकर साधारण व्यक्तियों का साहस टूट जाता है और लोग सोचने लगते हैं कि यह विषय हम लोगों के बूते का नहीं है।

किन्तु हम इस कार्य में इस आशा से प्रवृत्त हो रहे हैं कि जो कार्य बड़े-बड़े प्राणी नहीं कर पाते, उस कार्य को छोटे-छोटे जीव कर डालते हैं।...

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् रा०ब० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने प्राचीन इतिहास की सामग्री को चार भागों में बाँटा है—

(१) हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।
(२) यूरोप, चीन, तिब्बत और सीलोनवालों की तथा मुसलमानों की लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें।
(३) प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्र।
(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा तथा शिल्प।

अवश्य ही इन्हीं चार भागों के अन्तर्गत प्राचीन इतिहास की अधिकांश सामग्री आ जाती है, किन्तु हमारे विचार में जनश्रुति भी एक विशेष बात है। इसी जनश्रुति के आधार पर प्राचीन काल के विदेशीय यात्रियों ने हमारे देश के अधिकांश वृत्तान्तों को लिखा है, जो आज दिन हमारे देश के पुष्टतर प्रमाणसिद्ध वृत्तान्तों से भी अधिक आदरणीय और प्रामाणिक माने जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जनश्रुतियों में प्रायः असत्य, अत्युक्ति और न्यूनोक्तियों की भरमार रहती है और इसी कारण विदेशीय यात्रियों की लिखी हुई उन प्राचीन पुस्तकों में जो वृत्तान्त जनश्रुति के आधार पर ही लिखे गये हैं, वास्तविकता से बहुत ही दूर हो रहे हैं; फिर भी यदि अन्यान्य प्रमाणों के साथ-साथ जनश्रुति को भी हम मिला लें, तो इतिहास की खोज में कम सहायता नहीं मिल सकती।

हमारे आचार्य के समयनिर्णय के सम्बन्ध के सिक्के, मुद्रा तथा शिल्प हमको नहीं मिलते; अद्यावधि प्राचीन शिलालेख भी हमको नहीं मिले। हाँ, दो ताम्रपत्र ऐसे पाये गये हैं जिनसे स्वामी आदिशंकराचार्य अथवा शंकराचार्य नाम के किन्हीं आचार्य के समय का ज्ञान होता है। विदेशीय विद्वानों की पुस्तकों, विधर्मियों की पुस्तकों में भी हमको शंकराचार्य का नाम और इस नाम के व्यक्ति के समय का पता चलता है, और कुछ प्राचीन पुस्तकों से भी हमको शंकराचार्य के समय का ज्ञान होता है। किन्तु उपर्युक्त ऐतिहासिक सामग्रियों से विदेशीय विद्वानों ने तथा भारत के इतिहासप्रेमी विद्वानों ने जो आदिशंकराचार्य के समय का विचार किया है, उसमें बहुत बड़ा मतभेद है।

हुएनसांग नाम के एक चीनी यात्री ने सातवीं ईसवी शताब्दी में भारत की

यात्रा की थी। उसने शंकराचार्य की चर्चा अपनी यात्रा की पुस्तक में नहीं लिखी, अतएव श्रीयुत अक्षयकुमार दत्त ने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ—'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' में शंकराचार्य के समय के सम्बन्ध में लिखा है कि—"चीन देश के तीर्थयात्री 'हुएनसांग' ने सप्तम ख्रीस्टाब्द के पूर्वार्द्ध में भारत में अनेक वर्ष तक रहकर सभी स्थानों का भ्रमण करके भारतवर्षीय ज्ञान, धर्म तथा अन्यान्य नाना विषयों के सम्बन्ध में जो सविशेष वर्णन किया है, यदि उस समय अथवा उससे कुछ समय पूर्व हिन्दुसमाज में तादृश धर्मविप्लव संघटित होता या धर्मान्दोलन उपस्थित होता [जैसा कि स्वा० शंकराचार्य के समय में हुआ है] तो उस यात्री के भ्रमण-विवरण में उस विषय का प्रसंग न आता, यह सम्भव नहीं। क्योंकि उस भ्रमण-विवरण में इस प्रकार के धर्मान्दोलन का कुछ भी निदर्शन नहीं है, अतएव उस समय के पश्चात् किसी समय में शंकराचार्य का प्रादुर्भाव सब प्रकार से संगत प्रतीत होता है। जहाँ तक बुद्धि जाती है, यही विचार में आता है कि शांकरभाष्य की रचना का समय सन् ८०४ ई० का है।" यही मत 'बौद्धधर्म' नामक पुस्तक के लेखक श्री सत्येन्दुनाथ ठाकुर का भी है [देखो—'बौद्धधर्म' पृष्ठ २६]।

उपर्युक्त दोनों वंगीय विद्वानों के मत से हमारे आदिशंकराचार्य के प्रादुर्भाव का समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग प्रमाणित होता है। किन्तु विचार-दृष्टि से देखें, तो 'हुएनसांग' के लेख से ही प्रतीत होता है, उसकी भारत-यात्रा के समय अथवा उसकी यात्रा के कुछ समय पूर्व नहीं, बहुत दिन पूर्व ही आदिशंकराचार्य ने बौद्धधर्म-विरोधी नहीं, वैदिक धर्म-प्रतिपादक वेदान्त धर्म का डंका बजाया था, और उसी के प्रभाव से 'हुएनसांग' के समय में अनेकानेक बौद्ध-स्थान भग्नावस्था में, खण्डहर के रूप में तथा अनेक स्थान वैदिक-धर्मावलम्बियों के अधिकार में हो गये थे, किन्तु फिर भी बौद्धों और वैदिकों में उस समय विरोध की अधिक चर्चा न थी। यद्यपि पाश्चात्य विद्याभिमानी जन 'हुएनसांग' की यात्रा-पुस्तक को अधिक महत्त्व देते हैं, और उसके द्वारा तत्कालीन भारत की बहुत-सी बातों का पता भी चलता है, तथापि विवेकपूर्वक उस पुस्तक को पढ़ें, तो प्रतीत होता है कि उसने अधिकांश बातें एक स्थान पर बैठे-बैठे लोगों की दन्तकथाओं के आधार पर और अपनी तथा अपने महायान-पक्षीय बौद्धों की प्रशंसा के हेतु कल्पित लिखी हैं, जबकि देश-भर के भ्रमण में उसने बौद्धतीर्थों और बौद्धधर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त हमारे तीर्थों की चर्चा तक नहीं की, हमारे वैदिक विद्वानों का नाम तक नहीं लिया; तब क्या यह सम्भव नहीं कि उस समय के बौद्धधर्म-विरोधी देशव्यापी प्रबल आन्दोलन को भी उसने नहीं लिखा? सारांश यह कि 'हुएनसांग' की यात्रा-पुस्तक में आदिशंकराचार्य की चर्चा न आने से यह अनुमान करना सर्वथा अनुचित है कि उसकी यात्रा के

पश्चात् आठवीं शताब्दी में आदिशंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ है।

लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' के परिशिष्ट के पाँचवें भाग में लिखा है कि—"**प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक** ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर **श्री शंकराचार्य का जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् निश्चित** किया है, परन्तु हमारे मत से इस काल को सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिए, क्योंकि महानुभाव पन्थ के 'दर्शनप्रकाश' नामक ग्रन्थ में यह कहा है – '**युग्मपयोधिरसान्वितशाके**' अर्थात् शक ६४२ [विक्रमी संवत् ७७७] में श्री शंकराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी, अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० [वि० संवत् ७४५] में हुआ। हमारे मत में यही समय प्रोफेसर पाठक द्वारा निश्चित किये हुए काल से कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।"

लोकमान्य तिलक ने 'दर्शनप्रकाश' के कर्त्ता महानुभाव पन्थजी के वचन में क्या विशेषता पायी, और क्यों पाठकजी की अपेक्षा पन्थजी के लेख को अधिक सयुक्तिक लिखा, यह तो भगवान् जानें, किन्तु प्रोफेसर पाठकजी के पक्ष में हमको अधिक प्रमाण मिलते हैं। 'आर्यविद्यासुधाकर' में यज्ञेश्वर शास्त्री ने लिखा है कि—

शंकराचार्यप्रादुर्भावस्तु विक्रमार्कसमयादतीते पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशती-मिते [८४५] संवत्सरे केरलदेशे कालपीग्रामे···। **तथा च** साम्प्रदायिका आहुः—'**निधिनागेभवन्ह्यब्दे विभवे मासि माधवे। शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः॥ इति ३८८९। तथा च** शंकरमन्दारसौरभे **नीलकण्ठभट्टा अपि एवमाहुः—'प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्यामेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्र्याम्' ॥३८८९॥**

अर्थात्—शंकराचार्य का प्रादुर्भाव ८४५ विक्रम संवत् में केरल देश के कालपी ग्राम में हुआ था, जैसाकि सम्प्रदाय के जाननेवालों ने कहा है कि ३८८९ [कलियुगीय] गताब्द में, विभव नामक संवत्सर, वैशाख मासे, शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार 'शंकरमन्दारसौरभ' में नीलकण्ठ भट्ट ने भी लिखा है कि कलियुगीय चार हज़ार गताब्द में से एक सौ ग्यारह वर्ष घटा देने से जो संख्या शेष रहती है, उतने कलिगताब्द में शंकराचार्य प्रादुर्भूत हुए हैं। इन सबके मत से **शंकराचार्य का प्रादुर्भाव-काल वि० संवत् ८४५ ही होता है।**

श्री उपेन्द्रचन्द्र मुखोपाध्याय ने अपने '**बंगीय चरिताभिधान**' ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, उसका सारांश यही है कि वेदान्तसूत्र के भाष्यकर्त्ता स्वामी शंकराचार्य सन् ७८८ ई० [वि० संवत् ८४५] के वैशाख शुक्ल द्वादशी तिथि को दाक्षिणात्य देश के अन्तर्गत केरल राज्य के चिदम्बर ग्राम में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का

नाम 'शिवगुरु' और माता का नाम 'विमला' था। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में भाष्य की रचना की, और सन् ८२० ई० [वि० संवत् ८७७] में ३२ वर्ष की अवस्था में कैलास पर्वत पर निर्विकल्प समाधि के द्वारा मोक्षगामी हुए। सारांश यह कि इस मत से भी वही प्रो० पाठकजी का मत पुष्ट होता है।

'भारतवर्ष की सभ्यता' नामक पुस्तक में सर रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है कि—"प्रसिद्ध शंकराचार्य जो कि आठवीं शताब्दी के अन्त में हुआ, हिन्दू-धर्म [वैदिक धर्म] को पुनर्जीवित करने का बड़ा भारी पक्षपाती और बौद्धधर्म का सबसे बड़ा विरोधी हुआ।" [पौराणिक काल की सभ्यता का चौथा भाग] इससे भी प्रो० पाठक का मत पुष्ट होता है।

रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक पुस्तक में लिखा है कि—"यदि शंकराचार्य का जन्म ई० सन् ७८८ [वि० संवत् ८४५] और देहान्त ३८ वर्ष की अवस्था में [केरलोत्पत्ति के अनुसार] माना जावे, तो उनका देहान्त ई० सन् [७८८+३८] ८२६ में होना स्थिर होता है।" सारांश यह कि ओझाजी के मत से भी आचार्य का जन्मकाल प्रो० पाठक के अनुरूप ही आता है।

श्री प्रियादासजी के भक्तमाल की टीका में श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला जी ने श्री शंकराचार्य जी का जन्म-समय वही ८४५ वि० संवत् लिखा है, जो प्रो० पाठक जी ने लिखा है, किन्तु अन्त में यह भी लिख दिया है कि 'किसी ने **कलि संवत्** २५०० ही लिखा है।' पता नहीं रूपकला जी ने किसके मत से कलि-सं० २५०० का उल्लेख किया है। सारांश यह कि रूपकला जी का मत भी प्रो० पाठक के अनुरूप ही है।

सरस्वती मासिक पत्रिका के भाग १२ सं० २ के पृष्ठ ७३–७५ में एक लेख छपा था, जो मद्रास के 'इण्डियन रिव्यू' नामक अंग्रेज़ी मासिक पत्र की जुलाई सन् १९१० ई० की संख्या में लिखित कोचीन गवर्नमेण्ट के ज्योतिषी मि० सी०-पी० पिचु ऐयर के लेख का सारांश था। उस लेख में दक्षिण देश की प्रसिद्ध **जनकथा और 'शंकर विजय काव्य'** के आधार पर शंकराचार्य का समय निश्चित किया गया था। मि० सी० पी० पिचु ऐयर ने शंकराचार्य की जन्मपत्रिका का उल्लेख भी किया था, जो इस प्रकार है—

विक्रम संवत् ८६३ कलिवर्ष ३९०७ वैशाख शुदि ५ सोमवार, आर्द्रा नक्षत्र, कर्क लग्न और कलि से सौर अहर्गण १४२६७१५ घटी १७ पल २५।

जन्मकुण्डली के ग्रह

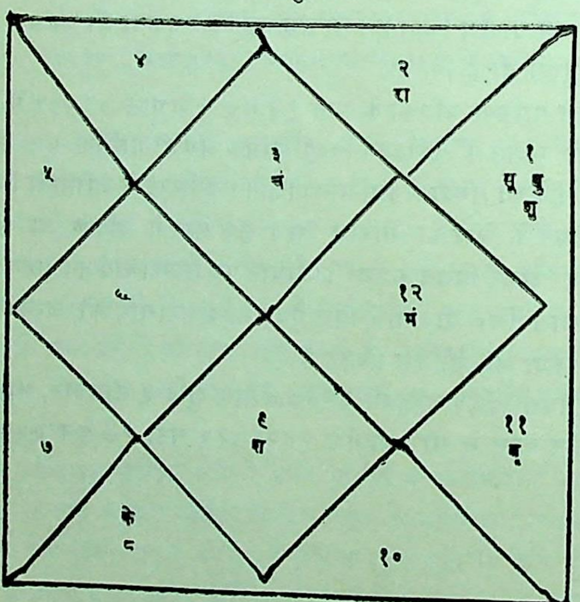
सू०	चं०	मं०	बु०	बृ०	शु०	श०	रा०	के०
०	२	९	१	३	१	६	६	०
१६	६	२९	१	१९	२९	१३	७	७
३६	४५	५०	५८	४१	२७	२७	४४	४४

इस लेख के द्वारा भी आचार्य का जन्म आठ सौ वर्ष विक्रम संवत् के बाद ही सिद्ध होता है, और प्रो० पाठक के जन्मकाल से केवल १८ वर्ष अधिक होता है; किन्तु महानुभाव पन्थ के समय से ११८ वर्ष का अन्तर पड़ता है।

पूना से निकलने वाले मराठी भाषा के साप्ताहिक पत्र 'मुमुक्षु' [१६-१०-१३] के अङ्क ३७ में शंकराचार्य की एक दूसरी जन्मपत्री छपी थी, जिसका सारांश इस प्रकार है—

कलि गताब्द ३०५८ ईश्वर संवत्सर वैशाख शुक्ल १५ रविवार आर्द्रा नक्षत्र इष्टकाल ११।१५ मिथुन लग्न में जगद्गुरु आदिशंकराचार्य का जन्म।

जन्मकुण्डली



इस जन्मपत्री के अनुसार आचार्य की जो जन्मतिथि १५ दी गई है, वह अशुद्ध है; वस्तुतः ५ तिथि मालूम होती है, क्योंकि वै० शु० १५ को कभी भी आर्द्रा नक्षत्र हो नहीं सकता, और ५मी को होता है। सम्भवतः लेखक-प्रमाद से ५ के स्थान में १५ का उल्लेख हो गया है। इस कुण्डली के अनुसार आचार्य का जन्म विक्रम संवत् १४ में प्रमाणित होता है। दोनों जन्मपत्रियों में ८३१ वर्ष का अन्तर पाया जाता है।

'मुमुक्षु' की जन्मपत्री के साथ ही नीलकण्ठ भट्ट के शंकरमन्दारसौरभ का श्लोक भी उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या-
मेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्र्याम् ।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्त्ते,
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशम्याम् ॥
अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥
द्वात्रिंशता गणनया गतवत्सरेषु
श्रीशंकरार्यगुरुरद्भुतसच्चरित्रः ।
राधे सिते 'हिगुरौ' रविपूर्णिमायां ['हिमगिरौ' पा०]
नारायणेति वचसा स गुहां विवेश ॥

अर्थात् ३८८९ कलिगताब्द में विभव नामक संवत्सर के वैशाख शुक्ल १० तिथि को शुभ मुहूर्त्त में शिवगुरु की स्त्री ने शंकराचार्य को उत्पन्न किया। वे शंकराचार्य ८ वर्ष में चारों वेदों के वेत्ता, १२ वर्ष में सर्वशास्त्र के ज्ञाता होकर सोलहवें वर्ष में वेदान्तसूत्र के भाष्यकर्ता हुए, और ३२वें वर्ष में मुनि परम पद को गये। शंकराचार्य जी अपने ३२वें वर्ष के वैशाख शुक्ल १५ रविवार को नारायण नाम का उच्चारण करते हुए परम पद को प्राप्त हुए। इसके अनुसार भी विक्रम संवत् ८४५ ही आचार्य का जन्मसमय प्रमाणित होता है, किन्तु जन्म-तिथि में अन्तर है। अन्यान्य लेखों में वैशाख शुक्ल ५ जन्मतिथि मानी गई है, किन्तु इस लेख में १० तिथि मानी गई है, और मोक्षतिथि वैशाख शुक्ल १५ रविवार। उपर्युक्त श्लोक में अन्तिमार्ध कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि 'हि-गुरौ' का कुछ अर्थ ही नहीं होता, और एक मात्रा की छन्द में न्यूनता भी पाई जाती है। बात कुछ भी हो, इस श्लोक में विशेषता केवल यह है कि मोक्षतिथि का भी उल्लेख है, जो अन्यान्य लेखों में नहीं है।

माधवाचार्यजी ने 'शंकरदिग्विजय' नामक काव्य के दूसरे सर्ग में शंकराचार्य के जन्मकालीन ग्रहों का वर्णन इस प्रकार किया है—

लग्ने शुभे शुभयुते सुषुवे कुमारं
श्रीपार्वतीव सुखिनी शुभवीक्षिते च।
जाया सती शिवगुरोर्निजतुंगसंस्थे
सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे।।

अर्थात् शुभग्रह से युत और दृष्ट शुभलग्न में तथा सूर्य, कुज, शनि एवं गुरु के उच्चस्थ तथा केन्द्रवर्ती होने पर शिवगुरु की सती भार्या पार्वती के सदृश सुखिनी ने शंकर नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

इस माधव के श्लोक के अनुसार जो जन्मपत्री बनती है, वह ठीक मि० ऐयर की वि० संवत् ८६३ वाली जन्मपत्री के अनुरूप होती है, अतएव इस जन्मपत्री के ग्रहों के साथ संवत् का उल्लेख न होने पर भी सिद्ध होता है कि माधव के मत से भी आचार्य का जन्म संवत् वि० ८६३ है, जो प्रो० पाठक के समीप और महानुभाव पन्थ के समय से अति दूर है। अनुमान से पता चलता है कि कोचीन-गवर्नमेण्ट के ज्योतिषी जी ने इसी शंकरदिग्विजय के आधार पर ही जन्मपत्र की रचना कर डाली है।

शंकराचार्य के किसी शिष्य के लिखे कुछ श्लोक परम्परा से प्रसिद्ध चले आते हैं, उनसे भी जन्म-समय का पता चलता है। श्लोक इस प्रकार है—

ऋषिवीरास्तथा भूमिर्मर्त्याक्षौ व्योममेलनात्।
एकत्वेन भवेदंकस्ताम्राक्षस्तर्हि वत्सरः।।
विश्वजिच्च पिता यस्य निर्यातश्च चिदम्बरे।
तस्य भार्याम्बिका देवी शंकरं लोकशंकरम्।।
प्रासूत सर्वलोकस्य तारणाय जगद्गुरुम्।

अर्थात् युधिष्ठिर के संवत् २१५७ और ताम्राक्ष नामक गुरुचान्द्रवर्ष में विश्वजित् नाम के शंकर पिता चिदम्बर में हुए थे, उनकी स्त्री अम्बिका देवी ने समस्त लोक के उद्धार के लिए लोक के कल्याणकारी जगद्गुरु शंकराचार्य को उत्पन्न किया।

प्रतीत होता है, उपर्युक्त श्लोक के लेखक ने राजतरंगिणी के अनुसार युधिष्ठिर का संवत् २१५७ लिखा है, जो विक्रम संवत् के आरम्भ से पूर्व २३४ वर्ष होता है, और ईसवीय सन् से पूर्व २९१ वर्ष होता है।

इतना ही नहीं, स्वामी आदिशंकराचार्य के जन्म-काल के द्योतक और भी प्रमाण मिलते हैं, जिनमें **मुख्य हैं ताम्रपत्र**, जो समय-समय पर शंकराचार्य के

मठाधिपति शंकराचार्यों को दानवीर नरेशों द्वारा दिये गए हैं। इसी प्रकार के एक **ताम्रपत्र का उल्लेख संस्कृतचन्द्रिका** [कोल्हापुर] **के खण्ड १४ की सं० २-३ में हमको मिला है।** इस दानपत्ररूपी ताम्रपत्र को **सुधन्वा** नाम के राजा ने शंकराचार्य[1] को युधिष्ठिर संवत् २६६३ [वि० संवत् पूर्व ३८१ वर्ष] में दिया था।

एक दूसरे ताम्रपत्र का उल्लेख भी उसी संस्कृतचन्द्रिका के खण्ड १४ की सं० २-३ में हुआ है। इस ताम्रपत्र में लिखा है कि गुजरात के महाराजा सर्वजिद्वर्मा ने द्वारका जी के शारदापीठ के स्वामी श्री नृसिंहाश्रम महाराज को दिया है। दानपत्र में शारदापीठ के सबसे प्रथम आचार्य श्री सुरेश्वर शंकराचार्य से लेकर श्री नृसिंहाश्रम शंकराचार्य तक २८ आचार्यों के शासनकाल का सविवरण वर्णन है। उस दानपत्र में श्री सुरेश्वराचार्य के शासन के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का संवत् २६४९ लिखा है, और उनके शासन का समय ४२ वर्ष लिखा है। दसवें आचार्य के सम्बन्ध में शासनारम्भ युधिष्ठिर संवत् ३०४० और शासनकाल १५ वर्ष, तथा शासन के अन्त में विक्रम संवत् ९ का उल्लेख है। इस ताम्रपत्र के दान का समय ईसवीय सन् की दशवीं शताब्दी बतलाया जाता है। ताम्रपत्र के अनुसार आदिशंकराचार्य[2] का शासनारम्भ-काल विक्रम-संवत् के आरम्भ से पूर्व ३९५ होता है, और यदि शासनारम्भकाल में आचार्य की अवस्था १६ वर्ष मान लें, तो आदिशंकराचार्य का जन्म-समय ४११ वर्ष विक्रम संवत् के आरम्भ से पूर्व का होता है। यह समय ईसवीय सन् से पूर्व ४६८ वर्ष का प्रमाणित होता है।

संस्कृतचन्द्रिका [कोल्हापुर] मासिक पत्रिका में एक विद्वान् ने लिखा था कि पारसियों के धर्मग्रन्थों में सिकन्दर यूनानी के वृत्त में लिखा है कि—'जब सिकन्दर भारतवर्ष में आया, तब शंकराचार्य नामक एक साधु धर्मोपदेश में कटिबद्ध थे।' सिकन्दर ने भारत पर ईसवी सन् से पूर्व ३२६ वर्ष में चढ़ाई की थी। इस हिसाब से पारसियों के धर्मग्रन्थानुसार भारतवर्ष में उस समय भी एक कोई शंकराचार्य नामक धर्मोपदेशक थे।

प्रसिद्ध इतिहासलेखक विद्वान् डॉ० विन्सेंट साहब ने अपने ग्रन्थ में लिखा है, जिसका भावार्थ होता है कि—'स्वामी शंकराचार्य, गौतम बुद्ध की मृत्यु के ६० वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए।' उन्हीं डॉ० विन्सेंट साहब के मत से गौतम बुद्ध का

---

१. यह शंकराचार्य कौन-से हैं, विचारणीय है। द्वितीय ताम्रपत्र के अनुसार २६४९ युधिष्ठिर संवत् में शारदापीठ पर सर्वप्रथम सुरेश्वराचार्य बैठे; तब २६६३ युधिष्ठिर संवत् में आदिशंकराचार्य का होना विचारणीय है। [लेख के पृ० ४५३ का दूसरा सन्दर्भ तुलना करें]

२. यह तो शारदापीठ के सुरेश्वराचार्य का काल है, उनके गुरु आदिशंकराचार्य का नहीं।

होना ई० सन् से पूर्व ५५० वर्ष पाया जाता है;[1] अतएव शंकराचार्य का समय उनके मत से ई० सन् के पूर्व लगभग ४६० वर्ष अथवा इसके थोड़े ही समय पश्चात् का हो सकता है।

भविष्यपुराण के मध्यम पर्व, चतुर्थ खण्ड के १०वें अध्याय में भी शंकराचार्य के अवतार की संक्षिप्त कथा है। उसमें लिखा है कि—"भैरवदत्त विप्र के पुत्ररूप से शंकर का अंशावतार हुआ, पुत्र शंकराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसने शांकर-भाष्य लिखकर शैवमार्ग का समर्थन किया।" यद्यपि भविष्यपुराण में इस प्रकार की कथा पीछे से मिलाई गई इसमें सन्देह नहीं, तथापि जिस किसी समय में यह कथा लिखी गई, उस समय लोगों के जो विचार थे, लेखक ने उन्हीं को कथा के रूप में —भविष्य-कथा के रूप में लिखे होंगे। अतएव मानना पड़ेगा कि किसी समय किसी के मत से शंकराचार्य नाम के किसी[2] आचार्य के पिता का नाम भैरवदत्त भी था, और उन शंकराचार्य ने शैवमत का प्रचार भी किया था।

श्रीरामकृष्ण सोमयाजी धर्मानन्दजी ने एक 'गुरुपरम्परा चरित्र' नाम का काव्यग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ दो खण्डों में और १०८ सर्गों में समाप्त हुआ है। इस पुस्तक में लेखक ने अपने गुरुवर श्री मयूरेश्वरानन्द तक १३१ आचार्यों के नाम दिये हैं, और उनके चरित्रों का भी दिग्दर्शन कराया है। आदि आचार्य का नाम भाष्यकार आदिशंकराचार्य आया है। इसी प्रकार शंकरदिग्विजय, शंकर-विजय और शंकरदिग्विजयसार आदि अनेक ग्रन्थों में हमारे आदिशंकराचार्य के सम्बन्ध की कथायें वर्णित हैं, और देश तथा विदेश के सभी इतिहास-लेखक विद्वानों ने आदिशंकराचार्य के समय-सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ लिखा है; किन्तु हम देखते हैं कि उनमें से बहुत कम ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र विचार भी किया है। जिन लोगों के विचारों को हमने अभी तक दिखलाया है, उन्हीं के आधार पर हम यथाशक्ति सिद्ध करेंगे कि प्रायः सभी विद्वानों के लेख और प्रमाण सत्य के समीप ही हैं, किन्तु मतभेद का कारण कुछ और ही बात है।

अब तक हमने जिन विद्वानों के लेखों, विचारों का उल्लेख किया है, अथवा जिन श्लोकों तथा ताम्रपत्रों के सम्बन्ध के लेख उद्धृत किये हैं, उनमें बहुत अधिक लोगों के मत से शंकराचार्य के जन्म का समय वि० संवत् ८४५ आता है।···

उपर्युक्त विद्वानों के विचार का आधार क्या है, और वह आधार सत्य की

१. यद्यपि गौतम बुद्ध के स्वर्गवास का समय ईसवी सन् से पूर्व ४८० वर्ष माना जाता है, तथापि इस प्रसंग में हमने उन्हीं के वर्षों को प्रमाण माना है जिसका लेख है।

२. भविष्यपुराण का लेख आदिशंकराचार्य के विषय में सम्भव है, अन्य किसी शंकराचार्य के लिए नहीं, क्योंकि वहाँ शांकरभाष्य लिखने का निर्देश है।

नींव पर है, अथवा किसी कल्पना की नींव पर, यह विषय विचारणीय है। इन लेखकों ने प्राय: एक साम्प्रदायिक श्लोक को ही आधार माना है। अब देखना यह है कि जिस साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर ये सब गतानुगतिक हुए हैं, वह है कैसा।

आर्यविद्यासुधाकर में उसको यज्ञेश्वर शास्त्री ने इस प्रकार लिखा है—

निधिनागेभवन्ह्यब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः॥

अर्थात्—३८८९ कलिवर्ष में, विभव नामक गुरुचान्द्रवर्ष में, वैशाख शुक्ल १० तिथि को शंकराचार्य का उदय [प्रादुर्भाव] हुआ। प्रथम तो यह पता नहीं कि यह श्लोक कहाँ का है, इसको किसने किस समय बनाया, और किस आधार पर बनाया ? दूसरे, यदि इस श्लोक को हम ठीक मान लें, तो इसमें कहीं भी यह नहीं आया कि इस समय में आदिशंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसी दशा में जब हम देखते हैं कि आदिशंकराचार्य की गद्दियों पर प्रत्येक मठ की गद्दियों पर बैठनेवाले आचार्यों के नाम के साथ शंकराचार्य शब्द लगा रहता है, और सदा से यही प्रथा चली आ रही है, तब कोई कारण नहीं है कि बिना किसी प्रमाण के हम उक्त श्लोक अथवा किसी भी श्लोक के आधार पर आदिशंकराचार्य के वास्तविक समय की उपेक्षा करके मनगढ़न्त समय को स्वीकार करें।

इस सम्बन्ध में हम ज़ोर देकर कहते हैं कि जिन लोगों ने आदिशंकराचार्य का समय वि० सम्वत् ८४५ माना है, उनका भ्रम है; और यदि कोई इस सम्बन्ध का प्रामाणिक श्लोक अथवा लेख मिलता है, तो वह किन्हीं दूसरे गद्दीधर शंकराचार्य के सम्बन्ध का है, आदिशंकराचार्य के सम्बन्ध का नहीं। इतना ही नहीं, इसी समय से मिलता-जुलता समय भी लोगों ने आदिशंकराचार्य के लिए निश्चय किया है। इस विचार के लोगों में लोकमान्य तिलक, महानुभाव पन्थ, अक्षयकुमार दत्त, सत्येन्द्रनाथ ठाकुर, मि० सी० पी० पिचु ऐय्यर और माधवाचार्य के नाम ही विशेष उल्लेखनीय हैं। लोकमान्य तिलक नें इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार नहीं किया, और 'दर्शनप्रकाश' के लेखक महानुभाव पन्थ के मत को स्वीकार करके आचार्य के जन्म-समय को वि० सम्वत् ७४५ मान लिया।

माधवाचार्य का जो श्लोक है, जिसके द्वारा आचार्य का जन्म-समय ८६३ विक्रमी संवत् सिद्ध किया जाता है, उसका आधार क्या है, यह बात विचारणीय है। प्रथम तो यह कि जिस प्रकार के ग्रहों का उस श्लोक में वर्णन है, उस प्रकार के ग्रह विक्रमी संवत् ८६३ में थे ही नहीं। दूसरी बात यह है कि माधवाचार्य ने कवि कालिदास के रघुवंश के सर्ग तीसरे के १३वें श्लोक का अनुकरण किया है, वास्तविक ग्रहों का उनको ज्ञान न था; और तीसरी बात यह है कि यदि वे सारे

श्लोक के योग ठीक हों, तो भी यह समय किन्हीं अन्य शंकराचार्य का मानना उचित है; आदिशंकराचार्य का जन्म-समय यह कदापि नहीं हो सकता।

कोचीन गवर्नमेंट के ज्योतिषी मि० सी० पी० पिचु ऐय्यर ने जो शंकराचार्य की जन्मपत्री लिखी है, वह इन्हीं माधवाचार्य के श्लोक के आधार पर लिखी है; और जब माधवाचार्य का श्लोक ही अप्रामाणिक है, तब उसके आधार पर बनी हुई जन्मपत्री और उस जन्मपत्री का समय कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? दूसरी बात मि० ऐय्यर के लेख में दक्षिण देश की प्रसिद्ध जनकथा का आधार लिया गया है; किन्तु इतने प्राचीन समय के सम्बन्ध में जनकथाओं-दन्तकथाओं का प्रमाण मानना, और पुष्ट प्रमाण के विरुद्ध दन्तकथा का प्रमाण मानना एक गण्यमान्य ज्योतिषी के लिए उपयुक्त नहीं है। सारांश यह कि मि० ऐय्यर की जन्मपत्री—जो माधवाचार्य के श्लोक के आधार पर रची गई है—वह इस कारण अशुद्ध है कि माधवाचार्य के श्लोक के ग्रहों की बातें काल्पनिक हैं—कविता हैं। अतएव माधवाचार्य तथा मि० ऐय्यर के मत से जो आचार्य का जन्म वि० संवत् ८६३ माना जाता है, वह ठीक नहीं है।

अक्षयकुमार दत्त ने अपने पाण्डित्यपूर्ण 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' में जिस युक्ति के आधार पर शांकरभाष्य के रचनाकाल के लिए वि० संवत् ८६१ ठहराया है, वह युक्तिप्रमाण शून्य है। दत्त जी ने अनुमान किया है कि चीनी यात्री 'हुएनसांग' ने अपने भारत-वृत्तान्त में इस बात की चर्चा नहीं की कि भारत में शंकराचार्य ने बौद्धधर्म का घोर विरोध किया है अथवा इस समय कर रहे हैं; अतएव उस समय—जब चीनी यात्री यहाँ आया था और उसके कुछ पूर्व समय भी—शंकराचार्य नहीं हुए थे; क्योंकि हुए होते, तो 'हुएनसांग' उनका उल्लेख न करता—यह असम्भव है।

अवश्य ही यह अनुमान उस समय ठीक हो सकता था, जब 'हुएनसांग' की यात्रा-पुस्तक को प्रामाणिक मान लिया जाय; और उसकी यात्रा-पुस्तक को कोई भी इतिहासप्रेमी विद्वान् इतिहास के लिए प्रामाणिक मान नहीं सकता, क्योंकि उसकी पुस्तक में भारत को केवल बौद्धधर्ममय बतलाने और बौद्ध भिक्षुओं से परिपूर्ण असंख्य संघारामों के वर्णन के साथ ही अपनी विद्वत्ता, अपने दिग्विजयी होने और जैनियों, हीनयानवाले बौद्धों तथा नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के वर्णन के अतिरिक्त अन्य बातों को स्थान ही नहीं मिला है। वैदिक ब्राह्मणों का तो उसने नाम तक नहीं लिया। हाँ, नास्तिक शब्द के अन्तर्गत यदि उसने ब्राह्मणों को मान लिया हो, तो नास्तिकों के अस्तित्व की चर्चा उसने स्थान-स्थान पर अवश्य की है। क्या ऐसी दशा में भी हम आशा करें कि वह बौद्धधर्म के मूलोच्छेदन करनेवाले शंकराचार्य अथवा कुमारिलभट्ट की चर्चा कर सकता था? कदापि नहीं।

'हुएनसांग' ने भारतभ्रमण किया, किन्तु उसने हमारे पवित्र तीर्थों की चर्चा नहीं की। मथुरा की कृष्ण-महिमा, काशी की विश्वनाथ-महिमा और द्रविड़ देश की भगवद्भक्ति तथा वैदिकधर्म-श्रद्धा की चर्चा नहीं की। क्या इन बातों से हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि उस समय तक मथुरा में श्रीकृष्ण-चर्चा न थी, काशी में विश्वनाथ-महिमा न थी, और द्रविड़ देश में भगवद्भक्तों का अस्तित्व न था? चीनी यात्री ने भारत से २० घोड़ों पर लादकर ६५७ पुस्तकों के ले-जाने की बात लिखी है; किन्तु उसने कहीं पर हमारे वेदान्तसूत्र, गीता, उपनिषदों तथा अन्यान्य वैदिक धर्मानुयायी ग्रन्थों की चर्चा नहीं की; क्या इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उस समय तक ये ग्रन्थ भारत में थे ही नहीं, पीछे से बनाये गये हैं? यदि नहीं, ऐसा अनुमान करना भूल है, तो अक्षयकुमार दत्त जी का यह अनुमान भी भ्रमजनक है कि 'हुएनसांग' के समय तक आदिशंकराचार्य हुए ही न थे।

हाँ, 'हुएनसांग' के लेख से ही हम अनुमान कर सकते हैं कि इस समय भारत में बौद्धधर्म अपने अस्तित्व को मिटा रहा था, और बौद्धधर्म के घोर विरोधी लोग उत्पन्न होकर अपना काम कर रहे थे। यह अनुमान हम 'हुएनसांग' के उस लेख के आधार पर कर सकते हैं, जिसमें उसने 'मञ्जुश्रीबुद्धसत्त्व' की भविष्यवाणी का उल्लेख किया है, जिसमें 'बुद्धसत्त्व' की भविष्यवाणी का इस प्रकार वर्णन है कि—'उस दिव्य पुरुष ने कहा कि मैं मञ्जुश्रीबुद्धसत्त्व हूँ। अभी तेरे कर्म ऐसे नहीं हैं कि तू मुझ तक आ सके। परन्तु तू [हुएनसांग] अब यहाँ से [भारत से] चला जा, क्योंकि दश वर्ष के बाद शिलादित्य मृत्यु को प्राप्त होगा, और उसके पश्चात् भारतवर्ष नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, और चारों ओर भयानक खून-खराबी होगी, एवं मनुष्य एक-दूसरे को मार डालेंगे।'

इस भविष्यवाणी से प्रतीत होता है कि 'हुएनसांग' के समय ही भारत में बौद्धों के नष्ट-भ्रष्ट करने और मार डालने के कार्य आरम्भ हो गये थे, और जैसा कि सायण माधव ने लिखा है कि सुधन्वा राजा का आदेश था कि—

आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानां वृद्धबालकान्।
न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः॥

अर्थात्—'सेतु से लेकर हिमालय-पर्यन्त बौद्धधर्मावलम्बी जनों को—चाहे वे बूढ़े हों और चाहे बालक—मार डालो; जो बौद्धों को न मारेगा—उनको बचायेगा, वह भी मार डालने के योग्य समझा जायेगा।' यह आज्ञा राजा सुधन्वा ने अपने नौकरों को दी थी। इसी प्रकार के भाव लोगों में उत्पन्न हो गये थे, और शिलादित्य के समान दो-एक राजा ही बौद्धधर्म के पक्षपाती रह गये थे। अवश्य ही उस समय बौद्धों के साथ-साथ उनके धर्मग्रन्थ भी नष्ट किये जा रहे

होंगे, अतएव उन धर्मग्रन्थों को सुरक्षित रखने के हेतु ही शिलादित्य की सहायता से 'हुएनसांग' भी २० घोड़ों पर लादकर ६५७ पुस्तकें साथ ले गया, और अपने धर्मग्रन्थों की रक्षा की।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि 'हुएनसांग' की लिखी हुई उपर्युक्त 'मञ्जुश्री-बुद्धसत्त्व' की भविष्यवाणी की घटनाएँ उस समय की वर्तमान घटनाएँ थीं जिनको 'हुएनसांग' ने दूसरे रूप में लिखा है। अस्तु, बातें कुछ हों, श्रीयुत अक्षयकुमार दत्त का अनुमान ठीक नहीं, और यह मानने योग्य बात नहीं कि जो आदिशंकराचार्य, उससे सहस्र वर्ष से भी प्रथम अवतरित हुए थे, उनका उल्लेख करना अथवा उनके जन्म का वृत्तान्त विदित होना, और उसको अपनी यात्रा-पुस्तक में लिखना 'हुएनसांग' के लिए आवश्यक था, और इस प्रकार उल्लेख न होने से उस समय तक आचार्य का न होना मानना सर्वथा भूल है।

सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'बौद्धधर्म' पुस्तक में केवल दत्तजी के विचार को ही दोहराया, और प्रमाण मानकर शांकरभाष्य का समय ईसवी सन् ८०४ [वि० संबत् ८६१] लिखा है, अतएव दत्तजी के विचारों की समालोचना हो जाने और भ्रमजनक प्रमाणित होने से सत्येन्द्रनाथ के विचार भी स्वतः निर्मूल हैं।

'मुमुक्षु' साप्ताहिक पत्र [१६-१०-१३] की जन्मपत्री के अनुसार आचार्य का जन्म-सम्वत् १४ विक्रमी होता है। जन्मपत्री का आधार क्या है? कब बनी? किसने बनायी? इन बातों का जब तक ठीक-ठीक पता न चले, इस सम्बन्ध में अधिक विचार करना व्यर्थ है। एक तो जन्मपत्री का प्रमाणित होना सम्भव नहीं, दूसरे यह कि संन्यासाश्रमी किन्हीं आचार्य की जन्मपत्री का सुरक्षित होना सम्भव नहीं। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि जन्मपत्री शंकराचार्य की है, तो भी हमको यही मानना पड़ेगा कि विक्रम संवत् १४ में हमारे शंकराचार्य की गद्दी के कोई आचार्य उत्पन्न हुए होंगे; क्योंकि जन्मपत्री में जो आदिशंकराचार्य जगद्गुरु का जन्म लिखा है, यह कोई प्रामाणिक लेख नहीं है। इतना ही नहीं, इस जन्मपत्री में अवतारी पुरुषों के समान कोई उत्तम ग्रह भी नहीं हैं—बहुत ही साधारण ग्रह हैं। अतएव इस जन्मपत्री को हम आदिशंकराचार्य की जन्मपत्री नहीं मान सकते, और न आदिशंकराचार्य का जन्म-संवत् विक्रमी १४ माना जा सकता है।

'ऋषिवीरा' इत्यादि श्लोक जो किसी शंकर-शिष्य के नाम से लिखा मिलता है, उसके सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसको किसने कब बनाया, और इसका आधार क्या है। ऐसे श्लोक नित्य ही बनाये जा सकते हैं। अतएव जब तक कोई पुष्ट प्रमाण न मिले, हम इस श्लोक के आधार पर आदिशंकराचार्य का समय विक्रम-संवत् से २३४ वर्ष पूर्व भी मानने के लिए तैयार नहीं। हाँ, उस समय भी कोई आचार्य हुए हों, और उनके ही सम्बन्ध का यह श्लोक हो,

तो आश्चर्य नहीं।

संस्कृतचन्द्रिका में जिन पारसियों के धर्मग्रन्थों के आधार पर सिकन्दर के भारताक्रमण के समय शंकराचार्य नामक साधु के धर्मोपदेश की चर्चा है, उन धर्मग्रन्थों के लेख अथवा उनके अनुवाद जब तक देखे न जाएँ, तब तक उस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। किन्तु संस्कृतचन्द्रिका के लेख को यदि हम यथार्थ मान लें, तो मानना पड़ेगा कि विक्रम-संवत् से पूर्व ३८३ वर्ष पर—जब सिकन्दर भारत में आया था—उस समय शंकराचार्य नाम के साधु यहाँ विद्यमान थे। यदि उस समय उन साधु की अवस्था २० वर्ष की रही हो, तो मानना पड़ेगा कि उनका प्रादुर्भाव वि० संवत् से पूर्व ४०३ वर्ष में हुआ होगा।

प्रसिद्ध इतिहासलेखक डॉ० विन्सैंट की बात यदि हम मान लें कि बुद्ध के निर्वाणकाल के पश्चात् ६० वर्ष पर आदिशंकराचार्य हुए, तो आदिशङ्कराचार्य का जन्म-समय लगभग ४२० वर्ष वि० संवत् से पूर्व का होता है। पारसियों के धर्मग्रन्थों के लेख और डॉ० विन्सैंट साहब के विचार में कोई बड़ा अन्तर नहीं है; किन्तु इस सम्बन्ध में हम अपना मत अभी देना नहीं चाहते, क्योंकि इन सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण पर अभी हमको विचार करना है।

राजा सुधन्वा ने जो ताम्रपत्र के द्वारा शङ्कराचार्य को दान दिया था, उसमें युधिष्ठिर-संवत् २६६३ लिखा हुआ है। यदि उस दानपत्र के लिखे जाने के समय आचार्य की अवस्था ३० वर्ष की मान लें, तो आचार्य के जन्म का समय युधिष्ठिर-संवत् २६३३ होता है, और यह समय वि० संवत् से पूर्व ४११ वर्ष का होगा। इसी प्रकार दूसरे ताम्रपत्र के अनुसार द्वारका के शारदापीठ के आदि-आचार्य श्री सुरेश्वर शङ्कराचार्य के शासनारम्भ का युधिष्ठिर-संवत् २६४९ लिखा है, जो विक्रम-संवत् से पूर्व ३९५ वर्ष का समय होता है। यदि आचार्य के शासनारम्भ के समय उनकी अवस्था १६ वर्ष मान ली जाय, तो उनका जन्म-समय भी ठीक वही विक्रम-संवत् से पूर्व ४११ वर्ष का होता है।

डॉ० विन्सैंट साहब के मत से आदिशंकराचार्य का जन्म-समय विक्रम-सम्वत् के पूर्व ४२० और पारसियों के धर्म-पुस्तकों के अनुसार ४०३ वर्ष के लगभग आता है। विदेशियों के लेखों में यदि इतने प्राचीन समय के निरूपण में इतना अधिक सादृश्य मिलता है, तो इसको हम दोषपूर्ण नहीं मानते; क्योंकि डॉ० विन्सैंट साहब का यह लिखना कि आचार्य का प्रादुर्भाव बुद्धनिर्वाण के ६० वर्ष पश्चात् हुआ है, आनुमानिक लेख है। इससे यदि उसमें ६० के स्थान में हम ५० ही रख लें, तो आपत्ति नहीं; और उनका लेख भी ताम्रपत्र के अनुरूप समय का बोधक हो जाय, तथा पारसियों की धर्मपुस्तकों के आधार पर हम यह मान लें कि धर्मोपदेश के समय हमारे आचार्य की अवस्था २८ वर्ष की थी,

तो उनका लेख भी ताम्रपत्रों के समय के अनुसार ही समय का बोधक हो जाता है।

इतना ही नहीं, यदि गोवर्द्धनपीठ और शारदापीठ की गुरुपरम्परा को आप देखें, तो विदित हो जाता है कि हमारा उपर्युक्त समय ही यथार्थ है। गोवर्द्धन-पीठ के आदि-आचार्य से अब तक के १४३ आचार्य हुए हैं। क्या इतनी बड़ी परम्परा के लिए २४०० वर्ष का समय अधिक है ? यदि नहीं, तो आनुमानिक विमानों की दौड़ और भारतीय सभ्यता के समय को आधुनिकता प्रतिपादित करनेवाले दृष्टिकोण को बदल के देखिए कि जो हमने समय-निरूपण किया है, इसमें कितनी सत्यता है। हमारे विचार में जितना अधिक सच्चा प्रमाण हमको मठों की परम्परा से, उनके कागज़-पत्रों से, उनके दानपत्रों से चल सकता है, उतना सच्चा प्रमाण विदेशीय विद्वानों की यात्रापुस्तकों के वृत्तान्त के आधार पर अनुमान करने और आधुनिक ग्रन्थों के वर्णनों से नहीं मिल सकता।

आदिशंकराचार्य ने किन-किन ग्रन्थों की रचना की, और उन्होंने कौन-कौन-से कार्य किये, इस सम्बन्ध में विद्वानों को विचार करना चाहिए; क्योंकि हमारे आचार्य की पीठों पर जितने आचार्य हुए हैं, उन सबका उपनाम शंकराचार्य था; अतएव जो ग्रन्थ आज शंकराचार्यकृत मिलते हैं, उनमें कौन-से किन शंकराचार्य के बनाये ग्रन्थ हैं, यह निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। अन्त में हम फिर एक बार दोहराते हैं कि हमको अपने इतिहास के लिए सबसे प्रथम अपने घर के प्रमाणों को देखना चाहिए, उसके पश्चात् दूसरे लोगों के आनुमानिक प्रमाणों की ओर ध्यान देना चाहिए। आदिशंकराचार्य का सर्वतोभाव से जन्म-समय का प्रामाणिक निर्णय हो चुका कि अब से लगभग २४०० वर्ष प्रथम वि० सम्वत् से पूर्व लगभग ४०० से ४२० वर्ष पर उनका प्रादुर्भाव हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[1]

यदि इस सम्बन्ध में किन्हीं सज्जन के पास ताम्रपत्रों से अधिक पुष्ट प्रमाण किसी दूसरे समय के सम्बन्ध में हों; तो वे प्रकट करें। हम लोग उनके प्रमाणों पर बड़ी श्रद्धा के साथ विचार करने के हेतु प्रस्तुत हैं।"

इस लेख द्वारा विद्वान् लेखक ने आचार्य शंकर का काल विक्रम-सम्वत् के प्रारम्भ होने से लगभग चार सौ-सवा चार सौ वर्ष पूर्व माना है। इस लेख में जिस सामग्री का उपयोग किया गया है, उससे अतिरिक्त सामग्री आचार्य के

१. आचार्य की जन्मतिथि के सम्बन्ध में भी मतभेद है—किसी ने वैशाख शुक्ल ५, किसी ने १०, किसी ने १२ और किसी ने १५ तिथि लिखी है। ऐतिह्य प्रमाण से वै० शु० ५ ही आचार्य की अवतार-तिथि मानी जाती है; और दक्षिण के पञ्चांगों में वै० शु० ५ ही को आचार्य की जन्मतिथि लिखते हैं।

स्थापित मठों में सुरक्षित है। आचार्य के काल-निर्धारण के लिए उस सामग्री का विवेचनापूर्ण उपयोग अभी तक किसी लेखक द्वारा नहीं किया गया। प्रस्तुत रचना में उस सामग्री का यथोपलब्ध उपयोग किया गया है, जो गत अध्यायों में आ गया है। उसके आधार पर आद्य-आचार्य शंकर का काल ख्रीस्ट एरा प्रारम्भ होने के ५०९ वर्ष पूर्व तथा विक्रम-संवत् प्रारम्भ होने से ४५२ वर्ष पूर्व आता है, जो उक्त लेख-सामग्री पर आधारित परिणाम से पर्याप्त सीमा तक सन्तुलित है। यह अल्प अन्तर भी लेखक द्वारा कलि-संवत् को युधिष्ठिर-संवत् मान लेने से हुआ है।

द्वितीय लेख

उक्त लेख के अतिरिक्त एक अन्य लेख इसी विषय पर वाराणसी से प्रकाशित होनेवाली मासिक पत्रिका **'वेदवाणी'** में प्रकाशित हुआ है।[1] उसे मननीय समझकर यहाँ अविकल रूप में दिया जाता है। लेख है—

"भारतीय दर्शन का 'क ख ग' प्रारम्भ करने के साथ जो नाम सामने आता है, वह है—श्री आदिशंकराचार्य; किन्तु शंकराचार्य के काल-निर्धारण में और उनकी कृतियों के मूल्यांकन में आज भी वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेने की आवश्यकता है। देश के प्रतीकपुरुष शंकराचार्य के जन्मकाल के सम्बन्ध में अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित ७७८ ई० को प्रामाणिक मानकर कई विश्वविद्यालय-शोधकों ने डॉक्टरेट की उपाधियाँ भी प्राप्त कर ली हैं। हम मानते हैं कि जहाँ यूरोपियन विद्वानों ने संस्कृत पढ़कर हमारी संस्कृति का उद्धार किया है, वहीं हम यह भी कहना चाहते हैं कि पाश्चात्य पण्डितों के अधकचरे ज्ञान के कारण हमारे वेद, पुराण, इतिहास आदि विदेशों में ग़लत ढंग से पेश किये गये हैं और आश्चर्य है कि हमने भी उन्हें सचाई का प्रमाणपत्र दे दिया।

वास्तविकता तो यह है कि शृंगेरी के शंकराचार्य श्री नृसिंहभारती के पूर्व ये शोधक श्रीशंकराचार्य के जन्मस्थान तक का पता नहीं लगा सके थे, जबकि शंकराचार्य के जन्मकाल से अधिक विवादग्रस्त विषय भारत के इतिहास में शायद ही और कुछ हो। विदेशी और भारतीय शोधकों ने इतिहास को अप्रामाणिक मानकर निम्नांकित प्रमाणों के आधार पर शंकराचार्य को ८वीं शती का माना है और आज उन्हीं प्रमाणों का क्रमशः विश्लेषण करके हम देखेंगे कि वे कहाँ तक उचित ठहरते हैं। इस दिशा में सर्वश्री कोट्टा वेंकटाचलम्, नारायण शास्त्री, नटराज अय्यर और लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री ने पर्याप्त शोध करके इन प्रमाणों की

१. 'वेदवाणी' वर्ष १९, अंक ५; फाल्गुन सम्वत् २०२३, मार्च १९६७ ई०। अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील), वाराणसी-१ से प्रकाशित। लेखक—श्री पं० देवव्रत जी, अरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी—२।

अप्रामाणिकता सामने रख दी है—

(१) सर्वप्रमुख प्रमाण है—कम्बोडिया का शिलालेख। कम्बोडिया बृहत्तर भारत का एक अंश था और वहाँ शिवसोम-लिखित ८वीं शती के शिलालेख में कहा गया है—

येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छङ्कराह्वयात् ।
निश्शेषसूरिमूर्द्धालिमालालीढाङ्घ्रिपंकजात् ।।

शिवसोम ने जयवर्मन् के पौत्र इन्द्रवर्मन् को देखा था। जयवर्मन् का काल ८०२ ई० है और ८७८ ई० में इन्द्रवर्मन् का राज्य होने के कारण यह शिवसोम शंकराचार्य का सबसे छोटा शिष्य रहा होगा और शंकराचार्य इन्द्रवर्मन् के कुछ पहले तक अवश्य रहे होंगे। श्री टाइल के श्री पाठक द्वारा समर्थित इस मत को इस शिलालेख से पूरा समर्थन प्राप्त होता है कि शंकराचार्य का समय ७८८–८२० ई० था।

किन्तु, यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या यहाँ शंकराचार्य से आशय आदि-शंकर से है या किसी पीठ के अन्य शंकराचार्य से? परम्परानुसार इस काल में हम अभिनवशंकर को काञ्ची में मठाधिपति के रूप में पाते हैं। इनका काल ७८७–८४० ई० है। ये ३८वें आचार्य हैं और पाँचवें व्यक्ति हैं, जिनके नाम के साथ मठाधीशों में शंकर शब्द जुड़ा है। वाक्पति भट्ट ने इनकी जीवनी प्रसिद्ध ग्रन्थ **'शंकरेन्द्रविलास'** में लिखी है और ये कई अन्य विद्वानों द्वारा भी भूल से आदि-शंकराचार्य समझ लिये गये हैं। आदि-शंकर के नाम पर प्रचलित 'आनन्दलहरी' और 'सौन्दर्यलहरी' कृतियाँ वास्तव में आदि-शंकर की नहीं, अभिनवशंकर की हैं।

अभिनवशंकर **'चिदम्बरम्'** के एक ब्राह्मण विश्वजित् के पुत्र थे और सन्त व्याघ्रपाद ने इनका यज्ञोपवीत कराया था। (मनोरञ्जक बात यह है कि **'कलादी'**[1] की खोज के पूर्व विद्वान् चिदम्बरम् को ही शंकराचार्य का जन्म-स्थान मानते थे।) मठ पर आने के बाद इन्होंने दिग्विजय किया। कश्मीर-दरबार के प्रसिद्ध पण्डित वाक्पति भट्ट को शास्त्रार्थ में हराया और तीस वर्ष मठाधीश रहने के बाद वे कैलास गये और आत्रेय पर्वत की दत्तात्रेय गुफा में विलीन हो गये। यही गुहाप्रवेश बाद में आदि-शंकर के गुहाप्रवेश के रूप में प्रसिद्ध हो गया, जबकि आदि-शंकर ने ४७७ ई० पूर्व में काञ्ची में ही देहत्याग किया था। अतः शिवसोम के जीवनकाल ७८८ से ८४८ ई० के बीच तो अभिनवशंकर ही काञ्ची के शंकराचार्य थे। अभिनवशंकर आदि-शंकर के समान ही प्रतापी थे और शिवसोम

१. आदि-शंकर के इस जन्मस्थान का नाम आधुनिक प्रकाशित साहित्य में प्रायः 'कालटी' लिखा जाना उपलब्ध होता है। (ग्रन्थ-लेखक)

ने इन्हीं का उल्लेख शिलालेख में किया है। रहा शब्द भगवान्, तो प्रत्येक शिष्य को अधिकार है कि अपने गुरु को भगवान् माने और यह भी सम्भव है कि काञ्ची से कम्बोडिया जाते-जाते शिवसोम ने अभिनव शब्द को भगवान् कर दिया हो।

(२) पूर्वमीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल भट्ट से शंकर की भेंट एक ऐतिहासिक घटना है, और पूर्वमीमांसा का काल ७०० ई० के पूर्व नहीं माना जाता। कुमारिल से छोटे होने के कारण शंकराचार्य ७वीं शती के अन्त में रहे होंगे। यह उनका दूसरा प्रमाण है।

इतिहास में कुमारिल भट्ट का समय निश्चित नहीं है। कुमारिल के विरोधियों ने आक्रोशपूर्ण शब्दों में उनका समय निश्चित कर दिया है। जैनों के ग्रन्थ **'जिनविजय'** के अनुसार—

> **आन्ध्रोत्कलानां संयोगे पवित्रे जयमङ्गले।**
> **ग्रामे तस्मिन् महानद्यां भट्टाचार्यकुमारकः॥**
> **आन्ध्रजातिस्तैत्तिरीयो माता चन्द्रगुणा सती।**
> **यज्ञेश्वरः पिता यस्य..................॥**

अब आक्रोशपूर्ण शब्द सुनिए—

> **महावादिर्महाघोरः श्रुतीनां चाभिमानवान्।**
> **जिनानामन्तकः साक्षाद् गुरुद्वेष्यतिपापवान्॥**

स्पष्ट है कि कुमारिल आन्ध्र ब्राह्मण यज्ञेश्वर और चन्द्रगुणा के पुत्र थे। इसी ग्रन्थ में पारम्परिक रूप से कुमारिल की जन्मतिथि भी ठहरती है—

> **ऋषिर्वारस्तथा पूर्णं मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।**
> **एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी स्यात्तत्र वत्सरः॥**
> **भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डैकवादिनः।**
> **ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठरे शके॥**

इस श्लोक का अर्थ समझने से पहले भारतीय इतिहास-परम्परा में प्रयुक्त संवतों से परिचय आवश्यक है—

(क) कलि-संवत्—यह ३१०२ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

(ख) हिन्दू युधिष्ठिर-संवत्—कलि से ३६ वर्ष पूर्व या ३१३८ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

(ग) जैन युधिष्ठिर-संवत्—४६८ कलि या २६३४ ई० पूर्व से प्रारम्भ होता है।

अब श्लोक देखें—ऋषि = ७, वार = ७, पूर्ण = ०, मर्त्याक्षौ = २, इन्हें बाईं तरफ से रखने पर (अंकानां वामतो गतिः) जैनों का २०७७ युधिष्ठिर-

संवत् आता है।

अब २६३४ ई० पूव से २०७७ युधिष्ठिर-संवत् घटा देने पर ५५७ ई० पूर्व को हमें कुमारिल भट्ट का जन्मकाल मानना होगा।

शङ्कराचार्य के सहपाठी और प्रथम जीवनीकार एवं शिष्य चित्सुखाचार्य ने बृहत्शङ्करविजय ग्रन्थ में लिखा है कि शङ्कराचार्य से कुमारिल ४८ वर्ष बड़े थे, यानी ५५७ से ४८ निकाल दीजिये, तो शंकराचार्य का जन्मकाल ५०९ ई० पूर्व ही ठहरता है।

जिनविजय में शंकराचार्य की मृत्युतिथि इस प्रकार दी गई है—

ऋषिर्बाणस्तथा भूमिर्मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।
एकत्वेन लभेताङ्कस्ताम्राक्षा तत्र वत्सरः॥

अर्थात् ऋषि = ७, बाण = ५, भूमि = १, मर्त्याक्षौ = २, इन्हें बाईं ओर से देखिये, तो २१५७ युधिष्ठिर-संवत् आया। अब २६३४ — २१५७ = ४७७ ई०पूर्व शंकराचार्य का मृत्युवर्ष निश्चित हुआ।

पुण्यश्लोकमञ्जरी के अनुसार भी शंकराचार्य का देहावसान २६२५ कलि या ३१०२ — २६२५ = ४७७ ई० पूर्व में हुआ। क्या जैन तथा 'पुण्यश्लोकमञ्जरी के संकलनकार एकसाथ मिलकर यह असतर्कता कर रहे थे ?

(३) अब ज़रा अन्तःसाक्ष्य पर दृष्टिपात कीजिये। पद्मपादाचार्य शंकर के शिष्य थे और उन्होंने पञ्चपादिका में बुद्धधर्म के परवर्ती विकास महायान का उल्लेख किया है—'अतः स एव महायानिकपक्षः समधिगतः'।

वास्तव में यहाँ 'पद्मपाद' शब्द के द्वारा बुद्ध को ही सम्बोधित कर रहे हैं। दूसरे कि भगवान् बुद्ध का तथा महायान का कालनिर्णय क्या है, इसका भी अकाट्य सिद्धान्त अभी निश्चित नहीं हुआ है।

(४) शंकराचार्य ने स्वयं सूत्रभाष्य[1] में पाशुपत-सम्प्रदाय का नाम लिया है और उन पुराणों से उद्धरण लिये हैं, जो चौथी शती में बनाए गए थे।

पर इस बात का प्रमाण मिलना अत्यन्त कठिन है कि ये पुराण किसी-न-किसी रूप में शंकर के समय में नहीं थे और पाशुपत-सम्प्रदाय की भी प्राचीनता अभी तक असिद्ध नहीं की जा सकती।

(५) शंकराचार्य के सूत्रभाष्य[2] में—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते' अंश शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ पर कमलशील के भाष्य का माना जाता है। पर इस प्रमाण की तर्कहीनता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि इस बात की पूरी सम्भावना है कि परवर्ती युग में हुए कमलशील ने शंकराचार्य के सूत्रभाष्य से ही

---

१. वेदान्तदर्शन के २।२।३७ सूत्र के भाष्य में।
२. वेदान्तदर्शन के २।२।२८ सूत्र के भाष्य में।

यह अंश लिया हो।[1]

(६) शंकराचार्य ने असंग, नागार्जुन तथा दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ये आचार्य तीसरी शती के पूर्व के नहीं माने जाते।

वास्तव में इन आचार्यों के कहे गये सिद्धान्त इनके नहीं हैं, बल्कि इनके परम्परागत सम्प्रदाय के हैं, जिनके ये पोषक थे; शंकराचार्य ने वैसे सिद्धान्तों का ही खण्डन किया है, खण्डन में आचार्यों का नामोल्लेख कहीं नहीं है। श्री कोट्टा-वेंकटाचलम् ने तो नागार्जुन का समय १२९४ ई० पूर्व निश्चित कर दिया है (नेपाली इतिहास की परम्परा)।

(७) 'सौन्दर्यलहरी' के ७५वें पद में 'द्रविड़शिशु' शब्द से सम्भवतः तमिलकवि ज्ञानसम्बन्धर का उल्लेख होने से शंकराचार्य का समय सचमुच आठवीं शती हो जाता है।

पर आज यह सिद्ध हो चुका है और शंकर-मठों द्वारा भी मान्य है कि 'सौन्दर्यलहरी' का अधिकांश किसी अन्य मठाधिपति (सम्भवतः अभिनवशंकर) के द्वारा रचित है।[2]

(८) सबसे अधिक कठिन प्रमाण है श्रृङ्गेरी पीठ का तिथि-पत्र—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥
निधिनागेभवह्न्यब्दे[3] विभवे शङ्करोदयः॥

निधि = ९, नाग = ८, इभ = ८, वह्नि = ३,—इसे उलटा करने पर हमें ३८८९ कलि-संवत् मिलता है और इसमें से ३१०२ निकाल देने से ७८७ वा

---

१. माननीय लेखक का यह तर्क युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में इसे उद्धरणरूप से प्रस्तुत किया है। वहाँ का पाठ है—**"यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते'** इति।" भाष्य के गद्यपाठान्तर्गत पद्यरूप में प्रस्तुत यह अंश अन्यत्र से लेकर उद्धृत किया गया है, यह निश्चित है। शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' का टीकाकार कमलशील शांकरभाष्य से इस अंश को ले, यह आवश्यक नहीं। वस्तुतः यह पद्यांश मूलरूप से दिङ्नाग की 'आलम्बन-परीक्षा' नामक रचना में श्लोक-संख्या ६ पर उपलब्ध है।

२. इसके अतिरिक्त यह कैसे प्रमाणित किया जाता है कि उक्त शब्द से तमिल-कवि ज्ञानसम्बन्धर ही अभिप्रेत है।

३. आचार्य की इस तिथि को बतानेवाले एक अन्य श्लोक—

'निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः॥'

का उल्लेख गत पृष्ठों में किया गया है। कहा जाता है कि यह श्लोक

७८८ ई० शंकराचार्य का जन्मकाल मिल जाता है।

किन्तु इन्हीं पंक्तियों में आगे मिलता है—'विभवे माधवे मासे दशम्यां शंकरोदयः'; पर आज भी शंकर की जन्मतिथि, शृंगेरी पीठ द्वारा भी, नन्दन मास में पञ्चमी तिथि को मनाई जाती है।

वास्तव में इस श्लोक में आई तिथि आदिशंकर का जन्मदिन नहीं, अभिनव-शंकर का है। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र द्वारा संकलित 'गुरुरत्नमालिका' की व्याख्या में अभिनवशंकर की जन्मतिथि दी गई है—'विभवे वृषमासे शुक्लपक्षे दशमीदिन-मध्ये' आदि-आदि। श्री आत्मबोध की सुषमा व्याख्या का समर्थन 'पुण्यश्लोक-मञ्जरी' के रचनाकार सर्वज्ञान 'सदाशिवबोध' ने भी किया है—

वैशाखे विभवे सिते च दशमीमध्ये विवस्वानिव।
स्वावासायितकुञ्जपुञ्जिततमस्काण्डार्भटीखण्डनः॥

वास्तव में, इसी शंकराचार्य का देहावसान 'कल्यब्दे चन्द्रनेत्राङ्कवह्न्यब्दे' अर्थात् ३९२१ में गुहाप्रवेश के रूप में पाकर और इसे ८२० ई० में देखकर आदि-शंकर के देहत्याग का काल यही मान लिया गया। शृंगेरी पीठ की कुण्डली के अनुसार निम्नस्थिति में 'आर्याम्बा' ने शंकर को जन्म दिया—

जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे,
सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे।

	सू बु शु	राहु	चंद्र लग्न
गुरु	कलि २५९३		
कुज			
	केतु	शनि	

'शङ्करमन्दारसौरभ' नामक ग्रन्थ का है। 'वेदवाणी' में प्रकाशित लेख के लेखक ने उपर्युक्त पंक्ति का पाठ—'निधिनागे भववन्ह्यब्दे' दिया है। 'भव' शब्द का अर्थ ८ दिया है, जो 'आठ लोक' पर आधारित है। पर इस पाठ में एक चरण के नौ अक्षर हो जाते हैं, जो चिन्त्य हैं।

अब शृङ्गेरी पीठ का आधिकारिक दिनांक देखें—जन्म ३०५८ कलि ईश्वर संवत्सर, वैशाख शुद्ध पञ्चमी, रविवार।

दुर्भाग्यवश ७८८ के आसपास राशियों का यह रूप बिलकुल ही ज्योतिष में नहीं मिलता। आगे हम बतायेंगे कि कुण्डली ठीक है, केवल वर्ष ग़लत है। और यह सारी गड़बड़ी माधवीय शंकरविजय को आधिकारिक मान लेने से हुई, नहीं तो शंकराचार्य के सहपाठी चित्सुखाचार्य ने इस विषय पर पहले ही लिख दिया था—

ततः सा दशमे मासे सम्पूर्णशुभलक्षणे।
षड्विंशे शतके श्रीमद्युधिष्ठिरशकस्य वै॥
एकत्रिंशेऽथ वर्षे तु हायने नन्दने शुभे।
मेषराशिं गते सूर्ये वैशाखे मासि शोभने॥
शुक्लपक्षे च पञ्चम्यां तिथ्यां भास्करवासरे।
पुनर्वसुगते चन्द्रे लग्ने कर्कटकाह्वये॥
मध्याह्ने चाभिजिन्नाममुहूर्त्ते शोभने क्षिते(?)।
स्वोच्चस्थे केन्द्रसंस्थे च गुरौ मन्दे कुजे रवौ॥
निजतुङ्गगते शुक्रे रविणा सङ्गते बुधे।
प्रासूत तनयं साध्वी गिरिजेव षडाननम्॥

स्पष्ट है कि शंकराचार्य २६३१ युधिष्ठिर शक, यानी कलि २५९३, यानी ५०९ ई० पू० में उत्पन्न हुए थे। इस मत का समर्थन हमें काँची-कामकोटि पीठ की गुरु-परम्परा से मिलता है, जिसमें आदिशंकर से वर्तमान शंकराचार्य तक के नाम दिये हुए हैं, उसमें आदि शंकर से अभिनवशंकर तक का कालक्रम यह है…।[1]

धार्मिक भावावेग से मुक्त होकर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हमें शृङ्गेरी की अप्रामाणिकता (?, प्रामाणिकता) में अविश्वास करना होगा। वैसे कुछ पाश्चात्य प्रभाव में आये विद्वानों ने किसी का ११२ वर्ष तक आचार्य रहना असम्भव मानकर प्रत्येक आचार्य को ६० वर्ष का नियत समय देना चाहा है, पर भारत में बहुत-से ऐसे योगी हो चुके हैं जो दो-तीन सौ वर्ष देह धारण किये रहे।[2]

१. इसके आगे लेख में काँची-कामकोटि पीठ के आचार्यों की अधूरी नाम-सूची दी गई है। पर हमने गत पृष्ठों [३२३–३२५] में वह पूर्ण सूची दे दी है। पाठक वहाँ से देख लेवें। सूची में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है।

२. लेख में दी गई आचार्य-नाम-सूची में तीसरे आचार्य का अध्यक्षताकाल ११२ वर्ष तथा चौथे का १०४ वर्ष दिखाया है, उसी का यह समाधान है। पर हमें जो सूची उपलब्ध हुई है, उसमें उक्त आचार्यों का क्रमशः ४२ व ९६ वर्ष अध्यक्षता-काल लिखा है।

द्वारकापीठ के पूर्व-आचार्य ने 'विमर्श' के पृष्ठ २९ पर राजा सुधन्वा का जो ताम्रपत्र प्रकाशित कराया है, उसका काल भी ४७८-४७७ ई० पूर्व ठहरता है। ताम्रपत्रानुशासन में शंकर के समकालीन राजा सुधन्वा का आदेश है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

निखिलयोगिचक्रवर्त्ती श्रीमच्छङ्करभगवत्पादपद्मयोः भ्रमरायमाणसुधन्वनो मम सोमवंशचूडामणियुधिष्ठिरपारम्पर्यपरिप्राप्तभारतवर्षस्य अञ्जलिबद्ध-पूर्विकेयं राजन्यस्य विज्ञप्ति ··युधिष्ठिरशके २६६३ आश्विनशुक्ल १५।

गोवर्धनपीठ के आचार्य योगेश्वरानन्दतीर्थ[1] ने अपने ग्रन्थ में ५०९ ई० पूर्व ही जन्म माना है। शारदापीठ और गोवर्धनपीठ की परम्पराएँ बिल्कुल मिलती हैं।

शृङ्गेरीमठ के नाम से दो स्थान हैं, एक तो कुडली शृङ्गेरी और दूसरा (नव) शृङ्गेरी। इसमें से कौन-सा मठ मूल है यह तो किसी अन्य लेख का विषय होगा, पर इतना बता देना पर्याप्त है कि **'कुडलीमठ'** पर भी ६८ आचार्य हो चुके हैं। काञ्ची के आचार्य भी ६८वें हैं। गृहस्थों के संन्यासी होकर आचार्य होने के कारण गोवर्धनपीठ पर १४५ आचार्य[2] हो गये हैं, और द्वारका में भी ७९ आचार्य[3] हो चुके हैं। केवल **'नव शृङ्गेरी'** में ही ३५वें आचार्य हैं और इनमें भी सुरेश्वराचार्य को ७८५ वर्ष का आचार्य-काल[4] दिया गया है।

वास्तव में शङ्कर के बाद सुरेश्वराचार्य सभी मठों के अधिकारी हैं और उनका नाम काञ्ची आचार्य-परम्परा के ७० वर्ष तक और द्वारका में भी उनका नामोल्लेख मिलता है। वास्तव में, जिस मठ पर वे गये उसी ने उनका नाम अपने साथ जोड़ दिया और मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य होकर सर्वत्र-व्यापी हो गये।

अब स्थिति यह है कि जिस मठ की प्राचीनता के विषय में सन्देह किया जाय, उनके कालक्रम-निर्धारण को हम ठीक कैसे मान सकते हैं? साथ ही कुडली-शृङ्गेरी की गुरु-परम्परा शास्त्रीय समय-निर्धारण का पूर्णतया समर्थन करती है।

---

१. गोवर्धनपीठ की आचार्य-सूची में ३८वें आचार्य का **'योगीश्वर'** नाम दिया गया है। सम्भव है, यह **'योगेश्वर'** नाम रहा हो। प्रस्तुत लेख के लेखक ने उक्त आचार्य के ग्रन्थ का नाम आदि कुछ प्रकट नहीं किया।

२. गोवर्धनपीठ के वर्तमान आचार्य श्री निरञ्जनदेवतीर्थ १४४वें हैं। लेख में दी गई संख्या सन्दिग्ध है। सम्भवतः इसमें आद्य शङ्कराचार्य का नाम जोड़-कर उक्त संख्या दी गई हो। पर आद्य आचार्य स्वयं किसी पीठ के अध्यक्ष नहीं बने।

३. द्वारकापीठ के वर्तमान आचार्य श्री अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ ७७वें हैं।

४. यह स्थिति स्पष्ट करती है कि (नव) शृङ्गेरी मठ लगभग ८०० वर्ष तक ध्वस्त रहा।

(९) इसके बाद की समस्याएँ शुद्ध ऐतिहासिक समस्याएँ हैं जिन्हें अन्तःसाक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम पाद, द्वितीय अध्याय की भूमिका में लिखा है—**'न हि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानः तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते···।'**

इसका अर्थ है कि पाटलिपुत्र शङ्कर के युग में था; पर पाटलिपुत्र ७५६ ई० में बाढ़ से नष्ट हो गया था। अतः शङ्कराचार्य इसके पूर्व में नहीं हो सकते।[1]

स्पष्ट है कि शंकराचार्य पाटलिपुत्र का नाम केवल सन्दर्भवश ले रहे हैं और नगर के नष्ट होने का उनके काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी बात है कि पाटलिपुत्र बुद्ध के समय में बसा। बुद्ध का समय भी मेरे विचार से विवादास्पद है। इनका समय ईसा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व होना चाहिए।

(१०) इसी भाष्य में दूसरा अन्तःसाक्ष्य है—**न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकात्**—और पूर्णवर्मन् का नाम आते ही मान लिया गया कि या तो शंकराचार्य पूर्णवर्मन् के समकालीन थे या उनके बाद के थे। पूर्णवर्मन् एक तो जावा के ताम्रपत्र में मिलता है, दूसरा पूर्वी मगध के शासल के रूप में। ह्वेन्त्सांग के यात्रा-विवरण तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पूर्णवर्मन् का समय सातवीं शती में है।

पर, यह पूर्णवर्मन् नाम भाष्य में उसी तरह आ गया है जैसे कोई अन्य नाम आ जाता है। वास्तव में शंकर के समय में आन्ध्र-कुल का राजा हाल था। इसका काल ५१९–४९० ई० पू० है (**अपि हालपालपालितम्—गुरुरत्नमालिका**)। यह राजा कश्मीर के गोनन्दकुल के **'नर'** का समकालीन था। वैसे इसके भी प्रमाण मिलते हैं, आन्ध्र के ७४वें शासक **'हाल'** का एक नाम **'पूर्ण'** भी था। वायुपुराण का श्लोक है—

ततः संवत्सरो पूर्णो हालो राजा भविष्यति।

(११) श्री तैलंग ने एक तमिल-ग्रन्थ **'कोगुन्देशकाल'** के आधार पर राजा त्रिविक्रम के शंकर द्वारा शैवधर्म में दीक्षित होने की बात कही है। डॉ० देवसेन और भण्डारकर ने त्रिविक्रम का समय छठी शती माना है।

पर शंकराचार्य मिशनरी नहीं थे; शैव-वैष्णव का भेद तो उन्होंने कभी किया ही नहीं। सम्भव है किसी परवर्त्ती शंकराचार्य (**सम्भवतः सच्चिदानन्दघन**) ने

---

१. लेखक महोदय ने यह परिणाम अपने पूर्व-कथन के विपरीत प्रकट कर दिया है। पाठ होना चाहिए—'अतः शंकराचार्य इसके पूर्व में ही हो सकते हैं', अथवा 'अतः शंकराचार्य इसके पश्चात् नहीं हो सकते'। **'इसके'** यह सर्वनाम बाढ़ से पाटलिपुत्र के नष्ट होने का निर्देश करता है। अर्थात् शंकराचार्य पाटलिपुत्र के नष्ट होने के पश्चात् नहीं हो सकते, पूर्व ही हो सकते हैं; क्योंकि अपने काल में आचार्य ने पाटलिपुत्र का उल्लेख किया है।

यह मत-परिवर्तन कराया हो और स्वभाववश अपने इतिहास के शोधकों ने इसे आदिशंकर का ही कर्म मान लिया हो।

इस तरह यूरोपीय इतिहासकारों के सारे प्रमाण परीक्षण की कसौटी पर निर्मूल प्रमाणित हुए हैं और उनके पीछे दौड़नेवाला विदेशी डिग्रियों का मोहधारी अध्यापक-वर्ग बहुत पीछे रह गया है। आवश्यकता है कि हम अपने इतिहास को अपने शास्त्रों या प्रमाण-ग्रन्थों के, अंग्रेजी के आधार पर नहीं, मूल में बैठकर ढूंढें, और उनके आधार पर नये[1] इतिहास की रचना करें। पर, श्री कोट्टा वेंकटाचलम् के अतिरिक्त इस क्षेत्र में कोई मौलिक कदम अब तक नहीं उठाया गया है।

हमारा तर्क निम्नांकित तथ्यों पर आधृत होते हुए शंकर का जन्म ५०९ वर्ष ई०-पूर्व घोषित करता है—

(१) प्राचीन शंकर विजय का द्वारका, काञ्ची और पुरी-मठों द्वारा स्वीकृत तिथिपत्र—

तिष्ये प्रयात्यनलशेवधिबाणनेत्रे,
ये नन्दने दिनमणावुदगध्वभाजि।
राधेऽदितेरुडुविनिर्गतमङ्गलग्ने—
ऽस्याहूतवान् शिवगुरुः स च शंकरेति॥

अनल = ३, शेवधि = ९, बाण = ५, नेत्र = २ = ३९५२; इसे उल्टा कीजिए, २५९३ कलि-संवत्। कलि-संवत् ३१०२ ई० पू० से प्रारम्भ होने के कारण ३१०२ से २५९३ निकालने पर ५०९ ई० पू० ही बचता है। बाकी का विवरण भी ज्योतिष से ठीक-ठीक मिल जाता है।

(२) कामकोटिपीठम् का तिथि-वार-वर्ष-संयुक्त गुरु-परम्परा-विवरण—जिसमें पुण्यश्लोकमञ्जरी (काञ्ची के ५४वें आचार्य सर्वज्ञान सदाशिवबोधकृत), परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिवब्रह्मेन्द्र की गुरुरत्नमालिका और उसपर आत्मबोधकृत सुषमा-व्याख्या सम्मिलित है।

(३) जिनविजय आदि विरोधी पक्षों के ग्रन्थ।

(४) चित्सुखाचार्य-कृत बृहत्शंकरविजय के श्लोक।

(५) शृंगेरी मठ की प्राचीन परम्परा, यानी कुडलीमठ की परम्परा तथा उसके आचार्यों के समय-समय पर प्रकाशित विचार।

(६) श्री कोट्टा वेंकटाचलम् द्वारा उद्धृत शंकराचार्य के द्वारकापीठम् द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण जीवन की कार्यतिथि।

ऐसी बात नहीं है कि ये प्रमाण हमारे यूरोपीय इतिहासज्ञों को ज्ञात नहीं थे;

---

१. हमारे विचार से **'नये'** पद के स्थान पर **'सच्चे'** पद का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा।

पर उनकी उपेक्षा-नीति के दो ही कारण हमारे सामने आते हैं। एक तो उन्होंने ज्योतिष तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों को बिना कारण अप्रामाणिक माना; क्योंकि प्रत्येक अपना जन्म सृष्टि के आरम्भ से मानता था। दूसरा यह कि अचेतन मनोविज्ञान की दृष्टि से वे लोग किसी भी तथ्य को ईसा के पूर्व मानने में असमञ्जस दिखाते थे।

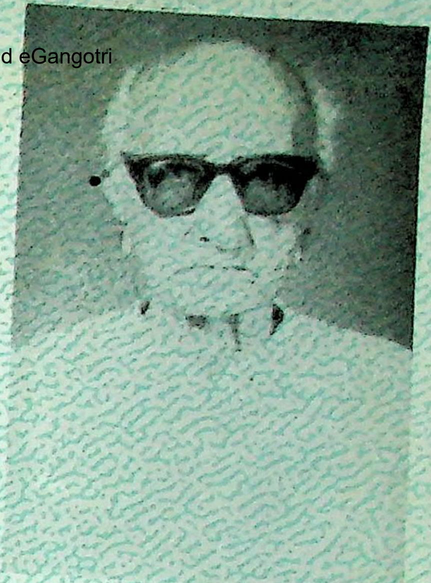
इस तरह, शंकर की जन्मतिथि ५०९ ई० पू० में होने का प्रमाण प्रस्तुत करने के बाद हमें एक ही काम करना है और वह है बुद्ध की जन्मतिथि का निर्धारण। यदि बुद्ध के वर्तमान जन्मकाल को स्वीकार कर लिया जाय, तो ये सारे प्रमाण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं।''

मुनिलोचनखनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे ।
ज्येष्ठे मास्यसिते पक्ष एकादश्यां तिथौ तथा ।।
आदित्यवासरे श्रेष्ठे ग्रन्थः पूर्त्तिमगादयम् ।
तेन स्वर्ग गता मान्याः प्रीयन्तां पितृदेवताः ।।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता' - वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना-उदयवीर-शास्त्रिणा सुनिबद्धः,
आर्यभाषामयो 'वेदान्तदर्शन का इतिहास'
इत्यभिधो ग्रन्थः सम्पन्नतां गतः।

ग्रन्थ-संकेत

अथर्व० = अथर्ववेद संहिता
अष्टा० = अष्टाध्यायी [पाणिनीय]
ऋ० = ऋग्वेद संहिता
ऐ०, ऐत० = ऐतरेय उपनिषद्
कठ० = कठ उपनिषद्
कौ० अ० = कौटलीय अर्थशास्त्र
गो० पु० = गोरखपुर [स्थाननाम]
गो० पु० सं० = गोरखपुर संस्करण
गौ० का० = गौडपादीय कारिका
च० व्यू० = चरणव्यूह
छा० = छान्दोग्य उपनिषद्
जा० = जातक [बौद्ध ग्रन्थ]
जै० मी० = जैमिनीय मीमांसा
तैत्ति० = तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्ति० आर० = तैत्तिरीय आरण्यक
न्या० सू० = न्यायसूत्र
पद्म० उ० ख० = पद्मपुराण उत्तर खण्ड
पा० यो० सू० = पातञ्जल योगसूत्र
पू० भं० सं० = पूना भंडारकर संस्करण
प्र०, प्रश्न० = प्रश्न उपनिषद्
बृ०उ०शां०भा० = बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
वि० पु०, विष्णु० = विष्णुपुराण
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
शां० भा० = शांकर भाष्य (ब्रह्मसूत्र)
श्लो० वा० = श्लोकवार्त्तिक
बृ०, बृ०उ०, बृह० = बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० भा०वा० = बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य वार्त्तिक
बृ० शां० भा० = बृहदारण्यक शांकर-भाष्य
बौ० गृ० = बौधायन गृह्यसूत्र
बौध० श्रौ० = बौधायन श्रौतसूत्र
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० शां० भा० = ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य
म० भा० = महाभारत
मा० का० = माध्यमिक कारिका [नागार्जुनीय]
मी० सू० = मीमांसासूत्र
मु० मुण्ड० = मुण्डक उपनिषद्
यजु० = यगुर्वेद संहिता
या० स्मृ० = याज्ञवल्क्य स्मृति
रा० त० = राजतरंगिणी
वा० प० = वाक्यपदीय
वा० रा० = वाल्मीकीय-रामायण
श्वेता० = श्वेताश्वतर उपनिपद्
स० वि० = सरस्वतीविलास
साम० = सामवेद संहिता
सु० पा० = सुन्दरपाण्ड्य (व्यक्तिनाम)



आचार्य उदयवीर शास्त्री का जन्म ६ जनवरी १८९४ को बुलन्दशहर जिले के बनैल ग्राम में, मृत्यु १६ जनवरी १९९१ को अजमेर में।

प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल सिकन्द्राबाद। १९१० में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रवेश यहाँ से विद्याभास्कर की उपाधि प्राप्त की। १९१५ में कलकत्ता से वैशेषिक न्यायतीर्थ १९१६ में सांख्य-योग तीर्थ की परिक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। गुरुकुल महाविद्यालय में इनके वैदुष्य तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की। जगन्नाथ पुरी के भूतपूर्व शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने आपके प्रौढ़ पाण्डित्य से मुग्ध होकर आपको शास्त्र-शेवधि तथा वेदरत्न की उपाधियों से विभूषित किया।

स्वशिक्षा संस्थान गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् नेशनल कॉलेज, लाहौर में और कुछ काल दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में अध्यापक तथा बीकानेर स्थित शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ में आचार्य पद पर कार्य।

अन्त में 'विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान' में दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६